संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

(पहला भाग)

युधिष्ठिर मीमांसक

❧ ओम् ❧

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

[तीन भागों में पूर्ण]

प्रथम भाग

[इस संस्करण में बहुविध परिष्कार तथा परिवर्धन के कारण ५८ पृष्ठ बढ़े हैं]

—युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

संस्करण	प्रकाशनकाल	पृष्ठ संख्या	परिवर्धन
प्रथमभाग—			
अधूरा मुद्रित	सं० २००४	३००	लाहौर में नष्ट
प्रथम संस्करण	सं० २००७	४५७	१५० पृष्ठ
द्वितीय संस्करण	सं० २०२०	५८२	१२५ पृष्ठ
तृतीय संस्करण	सं० २०३०	६४०	५८ पृष्ठ
द्वितीय भाग—			
प्रथम संस्करण	सं० २०१९	४०६	
द्वितीय संस्करण	सं० २०३०	छप रहा है	लगभग १५०
तृतीय भाग—			
प्रथम संस्करण	सं० २०३०	छप रहा है	

मूल्य

प्रथम भाग—२५-००
द्वितीय भाग—२०-००
तृतीय भाग—१५-००

मुद्रक—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

शुभाशंसनम्

अनेकेषु शास्त्रेषु कृतभूरिपरिश्रमेण युधिष्ठिर-मीमांसकेन वैदिक-वाङ्मये संस्कृतव्याकरणे च चिरकालं परिश्रमय्य ये विविधाः शोध-पूर्णा ग्रन्था विरचिता सम्पादिताश्च, तैरस्य महानुभावस्य पाण्डित्यं शोधकार्यविषयकं प्रावीण्यं च पदे-पदे परिलक्ष्यते ।

अहमेतादृशस्य युधिष्ठिर-मीमांसकस्य चिरायुष्यं स्वास्थ्यं साफल्यं च भगवतो विश्वनाथात् कामये, येनैकाकिनानेन विदुषा निष्कारणं प्रारब्धस्य सुरभारत्या रक्षणात्मकं ज्ञान-सत्रं पूर्णतां भजेत् ।

के. माधवकृष्ण-शर्मा
संचालक—
राजस्थान संस्कृत-शिक्षा विभाग, जयपुर [वि० सं० २०२०]

—०—

संस्कृत शुभाशंसन का अभिप्राय

अनेक शास्त्रों में कृतभूरि-परिश्रम पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने वैदिक वाङ्मय और संस्कृत व्याकरणशास्त्र में चिरकाल तक परिश्रम करके जो विविध ग्रन्थ लिखे वा सम्पादित किए, उनसे इन महानुभाव का पाण्डित्य और शोधकार्य-सम्बन्धी प्रवीणता का परिचय पद-पद पर मिलता है ।

मैं भगवान् विश्वनाथ से पं० युधिष्ठिर मीमांसक के चिरायुष्य, स्वास्थ्य और कार्य की सफलता की कामना करता हूं, जिससे इस प्रकार के एकाकी असहाय विद्वान् के द्वारा निष्कारण आरम्भ किया गया संस्कृत वाङ्मय की रक्षा करनेवाला ज्ञान-सत्र पूर्ण हो ।

के. माधवकृष्ण शर्मा
संचालक—
राजस्थान संस्कृत-शिक्षा विभाग, जयपुर [वि० सं० २०२०]

टि०—श्री पण्डितप्रवर 'के. माधवकृष्ण शर्मा' मेरे परम मित्र एवं सहायक थे । आपका लगभग ३ वर्ष पूर्व हृद्रोग से स्वर्गवास हो गया ।

प्राक्कथन

(प्रथम-संस्करण)

पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक का यह ग्रन्थरत्न विद्वानों के सम्मुख उपस्थित है। कितने वर्ष कितने मास और कितने दिन श्री पण्डितजी को इसके लिये दत्तचित्त होकर देने पड़े, इसे मैं जानता हूं। इस काल के महान् विघ्न भी मेरी आंखों से ओझल नहीं हैं।

भारतवर्ष में अंग्रेजों ने अपने ढङ्ग के अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किए। उनमें उन्होंने अपने ढङ्ग के अध्यापक और महोपाध्याय रक्खे। उन्हें आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करके अंग्रेजों ने अपना मनोरथ सिद्ध किया। भारत अब स्वतन्त्र है, पर भारत के विश्वविद्यालयों के प्रभूत-वेतन-भोगी महोपाध्याय scientific विद्या-संम्बन्धी और critical तर्कयुक्त लेखों के नाम पर महा अनृत और अविद्या-युक्त बातें ही लिखते और पढ़ाते जा रहे हैं।

ऐसे काल में अनेक आर्थिक और दूसरी कठिनाइयों को सहन करते हुए जब एक महाज्ञानवान् ब्राह्मण सत्य की पताका को उत्तोलित करता है, और विद्या-विषयक एक वज्रग्रन्थ प्रस्तुत करके नामधारी विद्वानों के अनृतवादों का निराकरण करता है, तो हमारी आत्मा प्रसन्नता की पराकाष्ठा का अनुभव करती है। भारत शीघ्र जागेगा, और विरोधियों के कुग्रन्थों के खण्डन में प्रवृत्त होगा।[1]

ऐसा प्रयास मीमांसकजी का है। श्री ब्रह्मा, वायु, इन्द्र, भरद्वाज आदि महायोगियों तथा ऋषियों के शतशः आशीः उनके लिये हैं। भगवान् उन्हें बल दें कि विद्या के क्षेत्र में वे अधिकाधिक सेवा कर सकें।

मैं इस महान् तप में अपने को सफल समझता हूं। इस ग्रन्थ से भारत की एक बड़ी त्रुटि दूर हुई है। जो काम राजवर्ग के बड़े-बड़े लोग नहीं कर रहे, वह काम यह ग्रन्थ करेगा। इससे भारत का शिर ऊंचा होगा।

श्री बाबा गुरुमुखसिहजी का भवन[2]
अमृतसर
कार्तिक शुक्ला १५ सं० २००७ वि०

आर्य विद्याका सेवक
भगवद्दत्त

---

१. स्वतन्त्रता के बाद २५ वर्ष के सुदीर्घ काल में भी भारतीयों में योरोपियन लेखकों का अन्धानुकरण पूर्ववत् ही विद्यमान है।

२. वर्तमान में—दयानन्द सरस्वती अनुसन्धान आश्रम, १/२८ पञ्जाबी बाग, रोहतक रोड़, देहली।

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

भारतीय आर्यों का प्राचीन संस्कृत वाङ्मय संसार की समस्त जातियों के प्राचीन वाङ्मय की अपेक्षा विशाल और प्राचीनतम है। अभी तक उसका जितना अन्वेषण, सम्पादन और मुद्रण हुआ है, वह उस वाङ्मय का दशमांश भी नहीं है।[1] अतः जब तक समस्त प्राचीन वाङ्मय का सुसम्पादन और मुद्रण नहीं हो जाता, तब तक निश्चय ही उसका अनुसन्धान कार्य अधूरा रहेगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके उसका इतिहास लिखने का प्रयास किया है। परन्तु वह इतिहास योरोपियन दृष्टिकोण के अनुसार लिखा गया है। उसमें **यहूदी ईसाई पक्षपात, विकासवाद** और **आधुनिक अधूरे भाषाविज्ञान** के आधार पर **अनेक मिथ्या कल्पनाएं** की गई हैं।[2] भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की न केवल उपेक्षा की है, अपितु उसे सर्वथा **अविश्वास्य** कहने की धृष्टता भी की है।

हमारे कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी प्राचीन भारतीय वाङ्मय का इतिहास लिखा है, पर वह योरोपियन विद्वानों का अन्ध-अनुकरणमात्र है। इसलिये भारतीय प्राचीन वाङ्मय का भारतीय ऐतिहासिक परम्परा तथा भारतीय विचारधारा से क्रमबद्ध यथार्थ इतिहास लिखने की महती आवश्यकता है। इस क्षेत्र में सब से पहला परिश्रम तीन भागों में 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' लिख-

---

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस क्षेत्र में महती गिरावट आई है। प्राचीन मुद्रित ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये हैं। नये ग्रन्थों का प्रकाशन होना तो दूर रहा, पूर्व मुद्रित ग्रन्थों के पुनः संस्करण भी नही हुए।

२. देखो—श्री भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद इतिहास' भाग १ पृष्ठ ३४—६८ तक 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' नामक तृतीय अध्याय।

कर श्री माननीय पं० भगवद्दत्तजी ने किया। उसी के एक अंश की पूर्ति के लिये हमारा यह प्रयास है।

संस्कृत वाङ्मय में व्याकरण-शास्त्र अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका जो वाङ्मय इस समय का उपलब्ध है, वह भी बहुत विस्तृत है। इस शास्त्र का अभीं तक कोई क्रमबद्ध इतिहास अंग्रेजी वा किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ। चिरकाल हुआ सं० १९७२ में डा० बेल्वाल्करजी का **'सिस्टम्स् आफ दी संस्कृत ग्रामर'** नामक एक छोटा सा निबन्ध अंग्रेजी भाषा में छपा था। संवत् १९९५ में बंगला भाषा में श्री पं० गुरुपद हालदार कृत **'व्याकरण दर्शनेर इतिहास'** नामक ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। उसमें मुख्यतया व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है। अन्त के अंश में कुछ एक प्राचीन वैयाकरणों का वर्णन भी किया गया है। अतः समस्त व्याकरण-शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का यह हमारा **सर्व प्रथम प्रयास** है।

इतिहास-शास्त्र की ओर प्रवृत्ति

आर्ष ग्रन्थों के महान् वेत्ता, महावैयाकरण आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की, भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी के साथ पुरानी स्निग्ध मैत्री थी।[1] आचार्यवर जब कभी श्री माननीय पण्डितजी से मिलने जाया करते थे, तब वे प्रायः मुझे भी अपने साथ ले जाते थे। आप दोनों महानुभावों का जब कभी परस्पर मिलना होता था, तभी उनकी परस्पर अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण शास्त्रचर्चा हुआ करती थी। मुझे उस शास्त्रचर्चा के श्रवण से अत्यन्त लाभ हुआ। इस प्रकार अपने अध्ययन काल में सं० १९८६, १९८७ में श्री माननीय पण्डितजी के संसर्ग में आने पर आपके महान् पाण्डित्य का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। और भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन तथा उनके इतिहास जानने की मेरी रुचि उत्पन्न हुई, और वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

आपकी प्रेरणा से मैंने सर्व प्रथम **दशपादी-उणादि-वृत्ति** का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ व्याकरण के वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और

---

१. अब दोनों ही स्वर्गत हो चुके हैं।

प्राचीन है। इसका प्रकाशन संवत् १९९९ में राजकीय संस्कृत महा-विद्यालय काशी[1] की सरस्वती भवन प्रकाशनमाला की ओर से हुआ[2]। अध्ययनकाल में व्याकरण मेरा प्रधान विषय रहा। आरम्भ से ही इसमें मेरी महती रुचि थी। इसलिये श्री माननीय पण्डितजी नें संवत् १९९४ में मुझे व्याकरणशास्त्र का इतिहास लिखने की प्रेरणा की। आपकी प्रेरणानुसार कार्य प्रारम्भ करने पर भी कार्य की महत्ता, उसके साधनों का अभाव, और अपनी अयोग्यता को देखकर अनेक बार मेरा मन उपरत हुआ। परन्तु आप मुझे इस कार्य के लिये निरन्तर प्रेरणा देते रहे, और अपने संस्कृत वाङ्मय के विशाल अध्ययन से संगृहीत एतद्ग्रन्थोपयोगी विविध सामग्री प्रदान कर मुझे सदा प्रोत्साहित करते रहे। आपकी प्रेरणा और प्रोत्साहन का ही फल है कि अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी मैं इस कार्य को करने में कथंचित् समर्थ हो सका।

इतिहास की काल गणना

इस इतिहास में भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार भारतयुद्ध को विक्रम से ३०४४ वर्ष प्राचीन माना है।[3] भारतयुद्ध से प्राचीन आचार्यों के कालनिर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। जब तक प्राचीन युग-परिमाण का वास्तविक स्वरूप ज्ञात न हो जाए, तब तक उसका काल-निर्धारण करना सर्वथा असम्भव है। इतना होने पर भी हमने इस ग्रन्थ में भारतयुद्ध से प्राचीन व्यक्तियों का काल दर्शाने का प्रयास किया है। इसके लिये हमने कृत युग के ४८००, त्रेता के ३६००, द्वापर के २४०० **दिव्य वर्षों को सौरवर्ष**[4] मान कर

---

१. वर्तमान (सं० २०२०) में वाराणेय संस्कृत विश्वविद्यालय।

२. अब वह दुष्प्राप्य हो चुका है।

३. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का इतिहास' द्वितीय संस्करण पृष्ठ २०५–२०६। तथा रावबहादुर चिन्तामणि वैद्य कृत 'महाभारत की मीमांसा' पृष्ठ ८९–१४०। ४. तुलना करो—सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले। सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्। सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्॥ वायु पुराण अ० ९९, श्लोक ४१९। अन्यत्र बिना दिव्य विशेषण के साधारण रूप में २७०० वर्ष कहा है।

काल-गणना की है। इसलिये भारतयुद्ध से प्राचीन आचार्यों का इस
इतिहास में जो काल दर्शाया है, वह उनके अस्तित्व की उत्तर सीमा
है। वे उस काल से अधिक प्राचीन तो हो सकते हैं, परन्तु अर्वाचीन
नहीं हो सकते, इतना निश्चित है।

पाश्चात्य तथा उनके अनुकरणकर्ता भारतीय ऐतिहासिकों का
मत है कि भारत में आर्यों का इतिहास ईसा से २५०० वर्ष से अधिक
प्राचीन नहीं है। इसकी असत्यता हमारे इस इतिहास से भले प्रकार
ज्ञात हो जायगी।

हमने अभी तक भारतीय प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जितना
विचार किया है, उसके अनुसार भारतीय आर्यों का प्राचीन क्रमबद्ध
इतिहास लगभग १६००० वर्षों का निश्चित रूप से उपलब्ध होता
है। उस इतिहास का आरम्भ वर्तमान चतुर्युगी के सत्ययुग से होता
है। उससे पूर्व का इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इसका एक महत्त्व-
पूर्ण कारण है। हमारा विचार है कि सत्ययुग से पूर्व संसार में एक
महान् जलप्लावन आया, जिस में प्रायः समस्त भारत जलमग्न हो
गया था। जलप्लावन में भारत के कुछ एक महर्षि ही जीवित रहे।
यह वही महान् जलप्लावन है, जो भारतीय इतिहास में मनु के
जलप्लावन के नाम से विख्यात है। इस भारी उथल-पुथल मचा देने
वाली महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख न केवल भारतीय वाङ्मय में है,
अपितु संसार की सभी जातियों के प्राचीन ग्रन्थों में नूह अथवा नोह
का जलप्लावन आदि विभिन्न नामों से स्मृत है। अतः इस महान्
जलप्लावन की ऐतिहासिकता सर्वथा सत्य है। इस जलप्लावन का
संसार के अन्य देशों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अभी अन्वेषणीय है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान

भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसार संस्कृतभाषा विश्व की
आदि भाषा है। परन्तु आधुनिक भाषाविज्ञानवादियों के मतानुसार
संस्कृतभाषा विश्व की आदि भाषा नहीं है, और उसमें उत्तरोत्तर
महान् परिवर्तन हुआ है।

संवत् २००१ में मैंने पं० बेचरदास जीवराज दोशी की '**गुज-
राती भाषानी उत्क्रान्ति**' नामक पुस्तक पढ़ी। उसमें दोशी महोदय ने
लगभग १०० पाणिनीय सूत्रों को उद्धृत करके वैदिक संस्कृत और

प्राकृत की पारस्परिक महती समानता दर्शाते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत का मूल कोई प्रागैतिहासिक प्राकृत भाषा थी। यद्यपि मैं उससे पूर्व आधुनिक भाषाविज्ञान के कई ग्रन्थ देख चुका था, तथापि उक्त पुस्तक में सप्रमाण लेख का अवलोकन करने से मुझे भाषाविज्ञान पर विशेष विचार करने की प्रेरणा मिली। तदनुसार मैंने दो ढाई वर्ष तक निरन्तर भाषाविज्ञान का विशेष अध्ययन और मनन किया। उससे मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि **आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रासाद अधिकतर कल्पना की भित्ति पर खड़ा किया गया है।** उसके अनेक नियम, जिनके आधार पर अपभ्रंश भाषाओं के क्रमिक विकार और पारस्परिक सम्बन्ध का निश्चय किया गया है, **अधूरे एकदेशी हैं।** हमारा भाषा-विज्ञान पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का विचार है।[1] उसमें हम आधुनिक भाषाविज्ञान के स्थापित किये गये नियमों की सम्यक् आलोचना करेंगे। प्रसंगवश इस ग्रन्थ में भी भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण नियम का अधूरापन दर्शाया है।[2]

संस्कृतभाषा विश्व की आदि भाषा है वा नहीं, इस पर इस ग्रन्थ में विचार नहीं किया। परन्तु भाषाविज्ञान के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि **संस्कृतभाषा में आदि (चाहे उसका आरम्भ कभी से क्यों न माना जाय) से आज तक यत्किंचित् परिवर्तन नहीं हुआ है।** आधुनिक भाषाशास्त्री संस्कृतभाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं, वे सत्य नहीं हैं। हां, आपाततः सत्य प्रतीत अवश्य होते हैं, परन्तु उस प्रतीति का एक विशेष कारण है। और वह है—**संस्कृतभाषा का ह्रास।** संस्कृतभाषा अतिप्राचीन काल में बहुत विस्तृत थी। शनैःशनैः देश काल और परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण म्लेच्छ भाषाओं की उत्पत्ति हुई, और उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि के साथ-साथ संस्कृतभाषा का प्रयोगक्षेत्र सीमित होता गया। इसलिये विभिन्न देशों में प्रयुक्त होनेवाले संस्कृतभाषा के विशेष शब्द संस्कृतभाषा से लुप्त होगये। भाषाविज्ञानवादी

---

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस विषय पर 'भाषा का इतिहास' नामक एक ग्रन्थ लिखा है।

२. देखो पृष्ठ १२, १३ (द्वि० सं० में पृष्ठ १४–१६)।

संस्कृतभाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं, वह सारा इसी शब्दलोप वा संस्कृतभाषा के संकोच (=ह्रास) के कारण प्रतीत होता है। **वस्तुतः संस्कृतभाषा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ।** हमने इस विषय का विशद निरूपण इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में किया है। अपने पक्ष की सत्यता दर्शाने के लिये हमने १८ प्रमाण दिये हैं। हमें अपने विगत **३० वर्ष के** संस्कृत अध्ययन तथा अध्यापनकाल में **संस्कृतभाषा का एक भी ऐसा शब्द नहीं मिला, जिसके लिये कहा जा सके कि अमुक समय में संस्कृतभाषा में इस शब्द का यह रूप था, और तदुत्तरकाल में इसका यह रूप हो गया।**[1] इसी प्रकार अनेक लोग संस्कृतभाषा में मुण्ड आदि भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व मानते हैं, वह भी मिथ्याकल्पना है। वे वस्तुतः संस्कृतभाषा के अपने शब्द हैं, और उसके विकृत रूप मुण्ड आदि भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं। इस विषय का संक्षिप्त निदर्शन भी हमने प्रथमाध्याय के अन्त में कराया है।

इतिहास का लेखन और मुद्रण

मैं इस ग्रन्थ के लिये उपयुक्त सामग्री का संकलन संवत् १९९९ तक लाहौर में कर चुका था, और इसकी प्रारम्भिक रूपरेखा भी निर्धारित की जा चुकी थी। संवत् १९९९ के मध्य से संवत् २००२ के अन्त तक परोपकारिणी सभा अजमेर के ग्रन्थसंशोधन कार्य के लिये अजमेर में रहा। इस काल में इस ग्रन्थ के कई प्रकरण लिखे गये, और भाषाविज्ञान का गम्भीर अध्ययन और मनन किया। इसके परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय लिखा गया। कई कारणों से संवत् २००३ के प्रारम्भ में परोपकारिणी सभा अजमेर का कार्य छोड़ना पड़ा, अतः मैं पुन लाहौर चला गया। वहां श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट में कार्य करते हुए इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का चार पांच वार संशोधन करने के अनन्तर मुद्रणार्थ अन्तिम प्रति (प्रेस

---

१. इस तृतीय संस्करण तक ५० वर्ष के संस्कृत अध्ययन-अध्यापन-काल में भी हमें एक भी ऐसा शब्द नहीं मिला, और न किसी विद्वान् ने इस विषय का एक भी उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किया। जिसका रूपान्तर हो गया हो, और वह रूपान्तर भी संस्कृतभाषा का ही अङ्ग बन गया हो।

कापी) तयार की। श्री माननीय पण्डित भगवद्दत्तजी ने, जिनकी प्रेरणा और अत्यधिक सहयोग का फल यह ग्रन्थ है, अपने व्यय से इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था की। संवत् २००३ के अन्त में, जब सम्पूर्ण पञ्जाब में साम्प्रदायिक गड़बड़ आरम्भ हो चुकी थी, इसका मुद्रण आरम्भ हुआ। साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण अनेक विघ्न होते हुए भी आषाढ़ संवत् २००४ तक इस ग्रन्थ के १६ फार्म अर्थात् १५२ पृष्ठ छप चुके थे। श्रावण संवत् २००४ में भारत-विभाजन के कारण लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने से इस ग्रन्थ का मुद्रित भाग वहीं नष्ट होगया। उसी समय मैं भी लाहौर से पुनः अजमेर आ गया।

उक्त देशविभाजन से श्री मानवीय पण्डितजी की समस्त सम्पत्ति, जो डेढ़ लाख रुपए से भी ऊपर की थी, वहीं नष्ट होगई। इतना होने पर भी आप किञ्चिन्मात्र हतोत्साह नहीं हुए, और इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण के लिये बराबर प्रयत्न करते रहे। अन्त में आप और आपके मित्रों के प्रयत्न से फाल्गुन संवत् २००५ में इस ग्रन्थ का मुद्रण पुनः प्रारम्भ हुआ। मैंने इस काल में पूर्वमुद्रित अंश का, जिसकी एक कापी मेरे पास बच गई थी, और शेष हस्तलिखित प्रेस कापी का पुनः परिष्कार किया। इस नये परिष्कार से ग्रन्थ का स्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ बना, और ग्रन्थ भी पूर्वापेक्षया ड्योढ़ा हो गया।

इस प्रकार अनिर्वचनीय विघ्न-बाधाओं के होने पर भी श्री माननीय पण्डितजी के निरन्तर सहयोग और महान् प्रयत्न से यह प्रथम भाग छपकर सज्जित हुआ है। इसके लिये मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूं, अन्यथा इस ग्रन्थ का मुद्रण होना सर्वथा असम्भव था। इस ग्रन्थ का दूसरा भाग भी यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित होगा[1], जिसमें शेष १३ अध्याय होंगे।

स्वल्प त्रुटि

विद्या की दृष्टि से अजमेर एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ नगर है। यहां कोई ऐसा पुस्तकालय नहीं, जिसके साहाय्य से कोई व्यक्ति अन्वेषण-कार्य कर सके। इसलिये इस ग्रन्थ के मुद्रणकाल में मुझे

---

१. यह भाग भी सं० २०१६ में प्रकाशित हो चुका है।

अधिकतर अपनी संगृहीत टिप्पणियों पर ही अवलम्बित रहना पड़ा। मूल ग्रन्थों को देखकर उनके पाठों की शुद्धाशुद्धता का निर्णय न कर सका। अतः सम्भव है कुछ स्थलों पर पाठ तथा पते आदि के निर्देश में कुछ भूल हो गई हो। किन्हीं कारणों से इस भाग में कई आवश्यक अनुक्रमणियां देनी रह गईं हैं, उन्हें हम तीसरे भाग के अन्त में देंगे।

कृतज्ञता-प्रकाश

आर्ष ग्रन्थों के महाध्यापक पदवाक्यप्रमाणज्ञ महावैयाकरण आचार्यवर श्री पूज्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु को, जिनके चरणों में बैठकर १४ वर्ष निरन्तर आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, भारतीय वाङ्मय और इतिहास के अद्वितीय विद्वान् श्री माननीय पं० भगवद्दत्तजी को, जिनसे मैंने भारतीय प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया, तथा जिनकी अहर्निश प्रेरणा उत्साहवर्धन और महती सहायता से इस ग्रन्थ के लेखन में कथंचित् समर्थ हो सका, तथा अन्य सभी पूज्य गुरुजनों को, जिनसे अनेक विषयों का मैंने अध्ययन किया है, अनेकधा भक्तिपुरःसर नमस्कार करता हूं।

इस ग्रन्थ के लिखने में सांख्य-योग के महापण्डित श्री उदयवीर जी शास्त्री, दर्शन तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी, पुरातत्त्वज्ञ श्री पं० सत्यश्रवाः जी एम० ए०, श्री पं० इन्द्रदेवजी आचार्य, श्री पं० ज्योतिस्वरूपजी, और श्री पं० वाचस्पतिजी विभु (बुलन्दशहर निवासी) आदि अनेक महानुभावों से समय-समय पर बहुविध सहायता मिली। मित्रवर श्री पं० महेन्द्रजी शास्त्री (भूतपूर्व संशोधक वैदिक यन्त्रालय, अजमेर) ने इस ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन में आदि से ४२ फार्म तक महती सहायता प्रदान की। उक्त सहयोग के लिये मैं इन सब महानुभावों का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मैंने इस ग्रन्थ की रचना में शतशः ग्रन्थों का उपयोग किया, जिनकी सहायता के विना इस ग्रन्थ की रचना सर्वथा असम्भव थी। इसलिये मैं उन सब ग्रन्थकारों; विशेषकर श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी का, जिनके 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थ के आधार पर आचार्य देवनन्दी और पाल्यकीर्ति का प्रकरण लिखा, अत्यन्त आभारी हूं।

संवत् २००४ के देशविभाजन के अनन्तर लाहौर से अजमेर

जाने पर आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री माननीय बाबू मथुराप्रसादजी शिवहरे ने मण्डल में कार्य देकर मेरी जो सहायता की, उसे मैं किसी अवस्था में भी भुला नहीं सकता। इसके अतिरिक्त आपने मण्डल के 'फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस' में इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण की व्यवस्था की, उसके लिये भी मैं आपका विशेष कृतज्ञ हूं।

स्वाध्याय सब से महान् 'सत्र' है। अन्य सत्रों की समाप्ति जरावस्था में हो जाती है,[1] परन्तु इस सत्र की समाप्ति मृत्यु से ही होती है। मैंने इसका व्रत अध्ययनकाल में लिया था। प्रभु की कृपा से गृहस्थ होने पर भी वह सत्र अभी तक निरन्तर प्रवृत्त है। यह अनुसन्धानकार्य उसी का फल है। मेरे लिये इस प्रकार का अनुसन्धानकार्य करना सर्वथा असंभव होता, यदि मेरी पत्नी **यशोदादेवी** इस महान् सत्र में अपना पूरा सहयोग न देती। उसने आजकल के महार्घकाल में अत्यल्प आय में सन्तोष, त्याग और तपस्या से गृहभार संभाल कर वास्तविक रूप में सहधर्मिणीत्व निभाया, अन्यथा मुझे सारा समय अधिक द्रव्योपार्जन की चिन्ता में लगाकर इस प्रारब्ध सत्र को मध्य में ही छोड़ना पड़ता।

क्षमा-याचना

बहुत प्रयत्न करने पर भी मानुष-सुलभ प्रमाद तथा दृष्टिदोष आदि के कारणों से ग्रन्थ में मुद्रण-सम्बन्धी कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। अन्त के १६ फार्मों में ऐसी अशुद्धियां अपेक्षाकृत कुछ अधिक रही हैं, क्योंकि ये फार्म मेरे काशी आने के बाद छपे हैं। छपते-छपते अनेक स्थानों पर मात्राओं और अक्षरों के टूट जाने से भी कुछ अशुद्धियां हो गई हैं। आशा है पाठक महानुभाव इसके लिये क्षमा करेंगे।

ऐतिह्यप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान मोती झील—काशी मार्गशीर्ष—सं० २००७	विदुषां वशंवदः **युधिष्ठिर मीमांसकः**

१. द्र०—जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया ह वा एतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा। शत० १२।४।१।१॥

तृतीय संस्करण की भूमिका

मेरे 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का **प्रथम भाग** सं० २००७ में प्रथम बार छपा था। इसका द्वितीय परिवर्धित संस्करण अनेक विघ्न-बाधाओं के कारण लगभग १२ वर्ष पश्चात् सं० २०२० में छपा। यह भी दो वर्ष से अप्राप्य हो चुका था। अब उसका पुनः परिष्कृत वा परिवर्धित संस्करण मैं प्रकाशित कर रहा हूं।

द्वितीय भाग प्रथम बार सं० २०१९ में छपा था। यह भाग भी ४ वर्ष से अप्राप्य था। अब उसका भी द्वितीय परिष्कृत एवं परिवर्धित संस्करण साथ ही प्रकाशित हो रहा है।

तृतीय भाग छापने की सूचना मैंने प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण में दी थी। परन्तु विविध प्रकार की विघ्न-बाधाओं के कारण मैं इसे प्रकाशित नहीं कर सका। यह भाग भी इस संस्करण के साथ ही प्रकाशित हो रहा है।

विद्वानों के अनुकूल वा प्रतिकूल विचार—प्रथम भाग के प्रकाशित होने के पश्चात् गत २३ वर्षों, एवं द्वितीय भाग के प्रकाशित होने के पश्चात् गत ११ वर्षों में इतिहासप्रेमी विद्वानों ने मेरे इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अनेकविध विचार उपस्थित किये। उनकी यहां चर्चा करना व्यर्थ है। यतः मेरा ग्रन्थ अपने विषय का एकमात्र प्रथम ग्रन्थ है (अन्य भाषाओं में भी इस विषय पर इतना विशद ग्रन्थ आज तक नहीं लिखा गया), इस कारण मुझे सारी सामग्री सहस्रों मुद्रित एवं हस्तखिखित ग्रन्थों का पारायण करके स्वयं संकलित करनी पड़ी, और भारतीय इतिहास के अनुसार उसे क्रमबद्ध करना पड़ा। इस कारण इसमें कहीं क्वचित् प्रमाद से अशुद्धि होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि मैंने अपने इतिहास की सामग्री प्रायः करके लाहौर के डी. ए. वी. कालेज एवं विविध विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों में संगृहीत ग्रन्थों से की थी। अतः अनेक दुर्लभ ग्रन्थों के पुनर्दर्शन का अभाव होने से उनके उद्धृत उद्धरणों के पाठों एवं पतों का पुनर्मिलान भी असम्भव हो गया। इस कारण भी इसमें कहीं-कहीं कुछ त्रुटियां रही हैं।

गत २३ वर्षों में अनेक लेखकों ने मेरे इस ग्रन्थ से प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप में बहुविध सहायता ली है। अनेक उदारमना लेखकों ने 'उदारतापूर्वक' मेरे ग्रन्थ वा मेरे नाम का उल्लेख किया है। अनेक ऐसे महानुभाव भी हैं, जिन्होंने मेरे ग्रन्थ से न केवल साहाय्य लिया, अपितु पूरे-पूरे प्रकरण को अपने शब्दों में ढालकर अपने लेखों ग्रन्थों वा शोध-प्रबन्धों के विशिष्ट प्रकरण लिखे, परन्तु कहीं पर भी मेरे ग्रन्थ वा मेरे नाम का उल्लेख करना उन्होंने उचित नहीं समझा। सम्भव है इसमें उन्होंने अपनी शोध-प्रतिष्ठा की हानि समझी हो। कुछ भी हो इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पश्चात् इस से विविध लेखकों को बहुविध साहाय्य प्राप्त हुआ, इतने से ही मैं अपने परिश्रम को सफल समझता हूं।

श्री डा० सत्यकाम वर्मा का ग्रन्थ – मेरे ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् इस विषय का एक ही ग्रन्थ गत वर्ष प्रकाशित हुआ है। वह है – श्री डा० सत्यकाम वर्मा का 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास'। यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयीय छात्रों की दृष्टि से ही लिखा गया है। अतः इसमें मौलिक चिन्तन की आशा करना भी व्यर्थ है। आपने यह ग्रन्थ योरोपीय दृष्टि को प्रधानता देते हुए लिखा है। प्रसङ्ग-वश उन्हें मेरे ग्रन्थ को भी उद्धृत करना पड़ा। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि श्री वर्मा जी ने अनेक स्थानों पर मेरे नाम से जो मत उद्धृत किये हैं, वे मेरे ग्रन्थ में उस रूप में कही लिखे ही नहीं गये। इस प्रकार के दो तीन स्थलों की समीक्षा मैंने इस संस्करण में निदर्शनार्थ की है। पाठक दोनों के ग्रन्थों को मिलाकर पढ़ें, और देखें कि किस प्रकार अपना वैदुष्य दिखाने के लिये किसी लेखक के नाम से असत्य मत उपस्थित करके उनकी समीक्षा करने का रोग हमारे विद्वानों में विद्यमान है।

विविध परीक्षाओं में ग्रन्थ की स्वीकृति—आगरा, पञ्जाब आदि अनेक विश्वविद्यालयों में व्याकरणविषयक एम० ए०, तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की आचार्य परीक्षा के पाठ्यक्रम में साक्षात् वा सहायक ग्रन्थ के रूप में मेरे ग्रन्थ को स्थान दिया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा होने के कारण उक्त परीक्षाओं में स्थान पाने के लिये अयोग्य है, परन्तु अपने विषय का

एकमात्र ग्रन्थ होने के कारण पाठ्यक्रम के निर्धारकों को इसे अपनाना ही पड़ा। यह भी इस ग्रन्थ की उपादेयता का परिचायक है।

विविध प्रकार की सूचियाँ—इस प्रकार के शोधग्रन्थों में विविध प्रकार की सूचियों का होना अत्यावश्यक होता है, जिससे अभिप्रेत विषय शीघ्रता से ढूंढा जा सके। परन्तु इस ग्रन्थ के दोनों भागों के पिछले संस्करणों में इस प्रकार की सूचियां हम नहीं दे सके। इसकी न्यूनता हमें स्वयं बहुत अखरती थी। इस कमी को हम इस संस्करण में दूर कर रहे हैं। **तीनों भागों से सम्बन्ध ग्रन्थ ग्रन्थकार आदि के नामों की सूचियां तथा इस ग्रन्थ से साक्षात् वा परम्परा से सम्बन्ध कतिपय विषयों का निर्देश तृतीय भाग के अन्त में कर रहे हैं।** इस कार्य से इस ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ जायेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस ग्रन्थ के पुनः संस्करण और प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों ने सहयोग प्रदान किया है, मैं उन सब का बहुत आभारी हूं। तथापि—

१—**श्री पं० रामशङ्कर भट्टाचार्य**, व्याकरणाचार्य एम० ए०, पीएच० डी०, काशी।

२—**श्री पं० राम अवध पाण्डेय**, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०, गोरखपुर।

३—**श्री पं० बी० एच० पद्मनाभ राव**, आत्मकूर (आन्ध्र)।

४—**श्री पं० यन्० सी० यस्० वेङ्कटाचार्य**, 'शतावधानी', सिकन्दराबाद (आन्ध्र)।

इन चारों महानुभावों ने इस ग्रन्थ के पूर्व संस्करणों के मुद्रण के पश्चात् अनेकविध अत्यावश्यक सूचनाएं दीं, उनसे इस ग्रन्थ के पुनः संस्करण में पर्याप्त सहायता मिली है। इस कार्य के लिए मैं इन चारों महानुभावों का विशेष आभारी हूं।

५—**श्री डा० बहादुरचन्दजी छाबड़ा**, एम० ए०, एम० ओ० एल०, पीएच० डी०, डी० एफ० ए० एस०, भूतपूर्व संयुक्त प्रधान निर्देशक, भारतीय पुरातत्त्व विभाग, देहली।

आप जुलाई सन् १९५८ से निरन्तर १० वर्ष तक २५ रु० मासिक की सात्त्विक सहायता करते रहे हैं। इस निष्काम सहयोग के लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं।

६–श्री पं० भगवद्दत्तजी दयानन्द अनुसन्धान आश्रम, १।२८ पञ्जाबी बाग, देहली।

मेरे प्रत्येक शोध-कार्य में आपका भारी सहयोग सदा से ही रहता आया। आपके सहयोग के विना इस कण्टकाकीर्ण मार्ग में एक पद चलना भी मेरे लिए कठिन था। इतना ही नहीं, इस भाग के प्रथम संस्करण के प्रकाशन की भी व्यवस्था आपने उस काल में की थी, जब देश-विभाजन के कारण आपकी सम्पूर्ण सम्पत्ति लाहौर में छूट गई थी, और देहली में आकर आप स्वयं महती कठिनाई में थे।

द्वितीय संस्करण में जो भी वृद्धि हुई है, उसमें अधिकांश भाग आप के निर्देशों के अनुसार ही परिबृंहित किए गए थे। लगभग साढ़े चार वर्ष पूर्व आपका स्वर्गवास हो जाने से इस भाग में उनके द्वारा मुझे कोई सहयोग प्राप्त न हो सका, इसका मुझे अत्यन्त खेद है। उनके उत्तराधिकारियों में पारस्परिक कलह के कारण उनकी प्रति के प्रान्तभागों पर लिखे गये निर्देश भी मुझे देखने को प्राप्त न हो सके। अन्यथा उनके निर्देशों से इस संस्करण में भी पर्याप्त लाभ उठा सकता था।

रामलाल कपूर ट्रस्ट	वैशाखी पर्व	विदुषां वशंवदः
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)	सं० २०३०	**युधिष्ठिर मीमांसक**

युधिष्ठिर मीमांसक के प्रमुख ग्रन्थ

लिखित पुस्तकें—

१.	संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग १) (उत्तरप्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत)	२५-००
	संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग २)	२०-००
	संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग ३)	१५-००
२.	वैदिक-स्वर-मीमांसा (उत्तरप्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत)	५-००
३.	वैदिक-छन्दोमीमांसा (उत्तरप्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत)	अप्राप्य
४.	ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास	६-००
५.	वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार	१-५०
६.	काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र	अप्राप्य
७.	आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	१-००
८.	ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या (संस्कृत-हिन्दी)	१-००
९.	वेद-संज्ञा-मीमांसा	०-७५
१०.	दुष्कृताय चरकाचार्यम्—मन्त्र पर विचार	०-२५
११.	छन्दः-शास्त्र का इतिहास	अप्रकाशित
१२.	शिक्षा-शास्त्र का इतिहास	अप्रकाशित
१३.	निरुक्त-शास्त्र का इतिहास	अप्रकाशित

सम्पादित पुस्तकें—

१.	दशपादि-उणादिवृत्ति	अप्राप्य
२.	क्षीरतरङ्गिणी (प्राचीन धातुवृत्ति)	अप्राप्य
३.	दैवम्-पुरुषकारोपेतम्	८-००
४.	निरुक्त-समुच्चयः (वररुचि)	५-००
५.	भागवृत्ति-संकलनम्	३-००
६.	काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् (उत्तरप्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत)	६-२५
७.	काशकृत्स्न-व्याकरणम्	३-००
८.	माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठः (राजस्थान राज्य की सहायता से सम्पादित तथा उ० प्र० राज्य से पुरस्कृत)	१५-००
९.	सत्यार्थ-प्रकाश	१२-००
१०.	ऋग्वेदभाष्य (स्वामी दयानन्द सरस्वती) प्रथम भाग	२५-००

—०—

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

संक्षिप्त विषय-सूची

(प्रथम भाग)

[द्वितीय भाग की संक्षिप्त विषय-सूची अगले पृष्ठ पर देखिए]

द्वितीय भाग की विषय-सूची

तृतीयभाग की विषय-सूची

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

विस्तृत विषय-सूची

---

१. काशकृत्स्न के १४० सूत्रों के संग्रह के लिए देखिए—हमारा 'काशकृत्स्न-व्याकरणम्' नामक संकलन।

---

१. भागवृत्ति के २०० उद्धरणों का परिबृंहित संकलन हम 'भागवृत्ति-संकलनम्' के नाम से पृथक् छाप चुके हैं।

[परिवर्तन—परिवर्धन—संशोधन—तृतीयभाग में]

—०—

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

(प्रथम भाग)

इतिहास-प्रदीपेन मोहावरण-घातिना ।
लोकगर्भं गृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ॥
कृष्णद्वैपायनस्यैव व्यासस्य वचनं यथा ।
(महा० आदि० १ । ८७)

—:ओ३म्:—

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

पहला अध्याय

संस्कृत-भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास[1]

समस्त प्राचीन भारतीय वैदिक ऋषि-मुनि तथा आचार्य इस विषय में सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं। परम कृपालु भगवान् प्रति कल्प के आरम्भ में ऋषियों को, जिस का आदि और निधन (=अन्त) नहीं है, ऐसी नित्या वाग्=वेद का ज्ञान देता है, और उसी वैदिक-ज्ञान से लोक का समस्त व्यवहार प्रचलित होता है। भारतीय इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता परम ब्रह्मिष्ठ कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लिखा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥[2]

पाश्चात्य तथा तदनुगामी कतिपय एतद्देशीय विद्वान् इस भारतीय ऐतिह्यसिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है—'मनुष्य प्रारम्भ में साधारण पशु के समान था। शनैः शनैः उसके ज्ञान का विकास हुआ, और सहस्रों वर्षों के पश्चात् वह इस समुन्नत अवस्था तक पहुंचा'। विकासवाद का यह मन्तव्य सर्वथा कल्पना की

---

१. इस अध्याय में अति संक्षेप से लिखे गये विषय के विस्तार के लिये हमारा 'संस्कृत-भाषा का इतिहास' ग्रन्थ देखिये। इसे शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

२. द्रष्टव्य—"**अनादीति श्लोकस्य 'आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः' इति ज्ञेयम्, क्वचिददर्शनेऽपि शारीरकसूत्रभाष्यादौ पुस्तकान्तरेषु च दर्शनात्**" इति नीलकण्ठः। महाभारत टीका शान्तिपर्व २३२।२४ (चित्रशाला प्रेस पूना संस्करण, शकाब्द १८५४)। राय श्री प्रतापचन्द्र (कलकत्ता) के शकाब्द १८११ के संस्करण में शान्ति० २३१।५६ पर मिलता है। वेदान्त शाङ्करभाष्य १।३।२८ में उद्धृत है।

भित्ति पर खड़ा है । अनेक परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य के स्वाभाविक ज्ञान में नैमित्तिक ज्ञान के सहयोग के विना कोई उन्नति नहीं होती । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण संसार की अवनति को प्राप्त वे जङ्गली जातियां हैं, जिनका बाह्य समुन्नत जातियों से देर से संसर्ग नहीं हुआ । वे आज भी ठीक वैसा ही पशु सदृश जीवन बिता रही हैं, जैसा सैकड़ों वर्ष पूर्व था । बहु-विध परीक्षणों से विकासवाद का मन्तव्य अब अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है । अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी शनैः शनैः इस मन्तव्य को छोड़ रहे हैं, और प्रारम्भ में किसी नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं । अतः यहां विकासवाद की विशेष विवेचना करने की न तो आवश्यकता है, और न ही हमारे विषय से सम्बद्ध है ।[1]

लौकिक संस्कृत-भाषा की प्रवृत्ति

आरम्भ में भाषा की प्रवृत्ति और उसका विकास लोक में किस प्रकार हुआ, इसका विकासवादियों के पास कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं है ।[2] भारतीय वाङ्मय के अनुसार लौकिक-भाषा का विकास वेद से हुआ । स्वायम्भुव मनु ने भारत-युद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व[3] लिखा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।[4]

---

१. विकासवाद और उस की आलोचना के लिये पं०रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति' पृष्ठ १४६-२३३ (संस्करण २, सं० १९९६) देखिये ।

२. द्र०—पं०भगवद्दत्त कृत'भाषा का इतिहास'पृष्ठ २-४(संस्क० २)। पाश्चात्य भाषाविदों को विकासवाद के मतानुसार जब भाषा की उत्पत्ति का परिज्ञान न हुआ, तब उन्होंने कहना आरम्भ कर दिया कि—'भाषा की उत्पत्ति की समस्या का भाषा-विज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है' ।(द्र०—जे० वैण्ड्रिएस कृत 'लेंग्वेज' ग्रन्थ, पृष्ठ ५, सन् १९५२) ।

३. प्रक्षिप्तांश छोड़ कर वर्तमान मनुस्मृति निश्चय ही भारत-युद्ध-काल से बहुत पूर्व की है । जो लोग इसे विक्रम की द्वितीय शताब्दी की रचना मानते हैं, उन्होंने इस पर सर्वाङ्गरूप से विचार नहीं किया ।

४. मनु १।२१।। तुलना करो—महाभारत शान्ति० २३२।२५,२६।। मनु के श्लोक का मूल—ऋग्वेद ६।६५।२ तथा १०।१७।१ है ।

अर्थात् - ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में सब पदार्थों की संज्ञाएं, शब्दों के पृथक्-पृथक् विभिन्न कर्म=अर्थ[१] और शब्दों की संस्था[२]= रचनाविशेष=सब विभक्ति वचनों के रूप, ये सब वेद के शब्दों से निर्धारित किये।[३]

वेद में शतशः शब्दों की निरुक्तियों[४] और पदान्तरों के सान्निध्य से बहुविध अर्थों का निर्देश उपलब्ध होता है। उन्हीं के आधार पर लोक में पदार्थों की संज्ञाएं रक्खी गईं।[५] यद्यपि वेद में समस्त नाम और धातुओं के प्रयोग उपलब्ध नहीं होते, और न उनके सब विभक्तिवचनों में रूप मिलते हैं, तथापि क्वचित् प्रयुक्त नाम और आख्यात पदों से मूलभूत शब्दों[६] की कल्पना करके समस्त व्यवहारो-

---

१. निरुक्त में कर्म-शब्द अर्थ का वाचक है। यथा—'**एतावन्तः समानकर्माणो धातवः**' (१।२०) इत्यादि।

२. मनुस्मृति के टीकाकार कर्म और संस्था शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से करते हैं। **कुल्लूकभट्ट**—'कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि, पृथक् संस्थाश्चेति कुलालस्य घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माण-मित्यादिविभागेन'। **मेधातिथि**—'कर्माणि च निर्ममे, धर्माधर्माख्यानि अदृष्टार्थानि अग्निहोत्रादीनि च, संस्था व्यवस्थाश्चकार, इदं कर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यम्, अमुष्यै फलाय च ...।।' टीकाकारों की व्याख्या परस्पर विरुद्ध है। श्लोक के उपक्रम और उपसंहार की दृष्टि से हमारा अर्थ युक्त है।

३. यहूदी=पुरानी बाइबल में आदम को प्राणियों, पक्षियों और अन्य वस्तुओं का नाम रखने वाला कहा है। उस के बहुत काल पश्चात् नोह का जलप्लावन वर्णित है। यहूदी लोगों ने ब्रह्मा को आदम (=आदिम) कहा है, और उन का नोह वैवस्वत मनु है। (द्र०—स्वामी दयानन्द सरस्वती का १३-७-१८७५ का पूना का पांचवां व्याख्यान पृ.३८, पं० २६ रा.ला.क.ट्र.सं०।

४. देखो इस ग्रन्थ के द्वितीयाध्याय का आरम्भ।

५. पाणिनीय अष्टाध्यायी की रचना व्यावहारिक संस्कृत-भाषा की प्रवृत्ति के बहुत अनन्तर हुई है। पाणिनीय व्याकरण मुख्यतया लौकिक-भाषा का व्याकरण है। उस में सर्वत्र वैदिक पदों का अन्वाख्यान लौकिक पदों के अन्वाख्यान के पश्चात् किया गया है। इसीलिये भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'**पाणिनीयादिषु हि वेदस्वरूपवर्जितानि पदान्येव संस्कृत्योत्सृज्यन्ते**'। तन्त्रवार्तिक १।३।८, पृष्ठ २६२, पूना संस्करण।

६. आरम्भ में समस्त शब्द एकविध ही थे। उन्हीं का नाम-विभ-

पयोगी नाम आख्यात पदों की सृष्टि की गई। शब्दान्तरों में क्वचित् प्रयुक्त विभक्ति-वचनों के अनुसार प्रत्येक नाम और धातु के तत्तद् विभक्ति-वचनों के रूप निर्धारित किये गये। इस प्रकार ऋषियों ने आरम्भ में ही वेद के आधार पर सर्वव्यवहारोपयोगी अति-विस्तृत भाषा का उपदेश किया। वही भाषा संसार की आदि व्यावहारिक भाषा हुई। वेद स्वयं कहता है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।[1]

अर्थात्—देवलोग जिस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं, साधारण जन[2] उसी को बोलते हैं।

लौकिक वैदिक शब्दों का अभेद

इस सिद्धान्त के अनुसार अतिविस्तृत प्रारम्भिक लौकिक-भाषा में वेद के वे समस्त शब्द विद्यमान थे, जो इस समय केवल वैदिक माने जाते हैं। अर्थात् प्रारम्भ में '**ये शब्द लौकिक हैं, और ये वैदिक**' इस प्रकार का विभाग नहीं था।

(क) इसीलिये तलवकार संहिता, आरण्यक और पूर्वमीमांसा के प्रवक्ता महर्षि जैमिनि (३००० वि० पू०) ने लिखा है—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् । मी० १।३।३० ॥

अर्थात्—प्रयोग=यागादि कर्म की चोदना=विधायक वाक्य के श्रुति में उपलब्ध होने से (लौकिक वैदिक) पदों का अर्थ एक ही है। अविभागात्=लौकिक वैदिक पदों के विभाग न होने से (एक होने से)।

इस सूत्र की व्याख्या में शबरस्वामी लिखता है—

क्तियों से योग होने पर वे 'नाम' कहाते थे। और आख्यात-विभक्तियों से योग होने पर 'धातु' माने जाते थे (तुलना करो—वर्तमान कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों के साथ)। किसी भी विभक्ति का योग न होने पर वे 'अव्यय' बन जाते थे। इस विषय पर विशेष विचार इसी ग्रन्थ के १९ वें अध्याय में किया है।

१. ऋ० ८।१००।११ ॥

२. वेद में पशु शब्द मनुष्य-प्रजा का भी वाचक है। **अथर्ववेद** में वधू के प्रति आशीर्वाद मन्त्र है—'**वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः**'। अथर्व १४।२।२५ ॥

य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः ।[1]

अर्थात्—जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक हैं, और वे ही उनके अर्थ हैं ।

अतिविस्तृत प्रारम्भिक लोक-भाषा कालान्तर में शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से शनैः शनैः संकुचित होने लगी, और वर्तमान में वह अत्यन्त संकुचित हो गई। इसलिये मीमांसा का उपर्युक्त सिद्धान्त यद्यपि इस समय अयुक्त-सा प्रतीत होता है, तथापि पूर्वाचार्यों का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य था, यह हम अनुपद प्रमाणित करेंगे ।

(ख) शब्दार्थ-सम्बन्ध के परम ज्ञाता यास्क मुनि (३००० वि० पू०) भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। निरुक्त १।२ में लिखा है—

'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तत्र मनुष्यवद्देवताभिधानम्। पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' ।

अर्थात्—शब्द के व्यापक और लघुभूत होने से लोक में व्यवहार के लिये शब्दों से संज्ञाएं रक्खी गईं। देवता=वेदमन्त्रों[2] में अभिधान=अर्थ मनुष्यों में प्रयुक्त अर्थों के सदृश हैं। पुरुष की विद्या अनित्य होने से कर्म की संपूर्त्ति कराने वाले मन्त्र वेद में हैं।

इस लेख में यास्क ने लोक और वेद में शब्दार्थ की समानता तथा वेद का अपौरुषेयत्व स्वीकार किया है। लोक वेद में शब्दार्थ की समानता स्वीकार कर लेने पर उभयविध पदों का ऐक्य सुतरां सिद्ध है।

यास्क पुनः (१।१६) लिखता है—

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् ।

---

१. श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की 'शिक्षा-प्रकाश' टीका में इस वचन को महाभाष्य के नाम से उद्धृत किया है। पृष्ठ २४, मनमोहन घोष सम्पादित कलकत्ता वि० वि० का संस्करण, सन् १९३८। 'पञ्जिका-टीका' में भाष्यकार के नाम से उद्धृत किया है। पृष्ठ ८, वही संस्करण। स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका (भाग १ पृष्ठ १८) में इसे न्याय कहा है।

२. **'स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते'**। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, रामलाल कपूर ट्रस्ट बृहत्संस्करण पृष्ठ ६८। मीमांसक देवता को मन्त्रमयी मानते हैं। देखो **'अपि वा शब्दपूर्वत्वात्'** मी० ९।१ ९ की व्याख्या।

अर्थात्—वैदिक शब्द अर्थवान् हैं, लौकिक शब्दों के समान होने से।

(ग) वाजसनेय प्रातिशाख्य में कात्यायन मुनि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। यथा—

न, समत्वात्।[1]

अर्थात्—वैदिक शब्दों का स्वरसंस्कारनियम अभ्युदय का हेतु है, यह ठीक नहीं। लौकिक और वैदिक शब्दों के समान होने से।

इस सूत्र की व्याख्या में उवट और अनन्तदेव दोनों लिखते हैं—

य एव वैदिकास्त एव लौकिकास्त एव तेषामर्थाः (त एव चामीषामर्थाः—अनन्त)।

मीमांसा के लोकवेदाधिकरण[2] में इस पर विस्तृत विचार किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के परम ज्ञाता जैमिनि, यास्क और कात्यायन तीनों महान् आचार्य एक ही बात कहते हैं।

गत २, ३ सहस्र वर्ष के अनेक विद्वान् लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद मानते हैं। वे अपने पक्ष की सिद्धि में निम्नलिखित तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) महाभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च।

(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में लिखा है—

शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः।[3]

(ग) निरुक्त १३।६ में लिखा है—

अथापि ब्राह्मणं भवति—सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि [तुरीयाणि], पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या च देवानां या च मनुष्याणाम् इति।

---

१. वा०प्रा० १।३॥ २. १।३।६॥ ३. नाट्यशास्त्र २४।२६, बड़ोदा संस्करण

इस उद्धरण में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण देवों और मनुष्यों की उभयविध वाणी का प्रयोग करते हैं।

निरुक्त में उद्धृत पाठ काठक ब्राह्मण का है।[1] मैत्रायणी संहिता १।११।५ और काठक संहिता १४।५ में इससे मिलता जुलता पाठ उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है—

मैत्रायणी सहिता	काठक संहिता
सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्, या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, अथ पशुषु, ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न। या बृहद्रथन्तरयोर्यज्ञादेनं तया गच्छति। या पशुषु तया ऋते यज्ञं ·······।	**सा वाग्दृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे, या पशुषु, तस्या यदत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्मात् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति। दैवीं च मानुषीं[2] च करोति ····· या बृहद्रथन्तरयोस्तयैनं यज्ञ आगच्छति या पशुषु तयर्ते यज्ञमाह।**

इन उद्धरणों के अन्तिम पाठ से व्यक्त है कि यहां 'दैवी' शब्द से बृहद्-रथन्तर आदि में गीयमान वैदिक ऋचाएं अभिप्रेत हैं। अन्त में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण दैवी वाक् से यज्ञ में और पशुओं=मनुष्यों[3] की वाणी से यज्ञ से अन्यत्र व्यवहार करता है। अतः महाभाष्य और निरुक्तादि के उपर्युक्त उद्धरणों में दैवी या वैदिक शब्द से आनुपूर्वी विशिष्ट मन्त्रों का ग्रहण है।

अथर्व संहिता ६।६१।२ में दैवी और मानुषी वाक् का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

---

१. द्र०—काठक ब्राह्मण संकलन।

२. तुलना करो—'**यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्**'। रामायण सुन्दर काण्ड ३०।१७॥

३. देखो पृष्ठ ४, टिप्पणी २।

अहं सत्यमनृतं यद् वदामि, अहं दैवीं परि वाचं विशश्च ।

अर्थात् – मैं सत्य और अनृत जो बोलता हूं, मैं दैवी और परि= सर्वतः व्याप्त वाणी को विशों (=मनुष्यों) की ।

इस मन्त्र में दैवी वाक् को सत्य कहा है, क्यों कि यह नियतानुपूर्वी होने से सदा सर्वत्र समान रूप से रहती है । और मानुषी वाक् को अनृत कहा है, क्यों कि वह वक्ता के अभिप्रायानुसार प्रयुक्त होती है । उस में वर्णानुपूर्वी विशेष का नियम नहीं होता ।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लौकिक और वैदिक वाक् में पदों का भेद नहीं है, केवल वर्णानुपूर्वी के नियतत्व और अनियतत्त्व का ही भेद है ।

संस्कृत-भाषा की व्यापकता

संस्कृत-वाङ्मय में यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक विद्या का प्रथम प्रवक्ता आदि विद्वान् ब्रह्मा था ।[2] यद्यपि उत्तरकाल में ब्रह्मा पद चतुर्वेदविद् व्यक्ति के लिये भी प्रयुक्त होता रहा, तथापि आदिम ब्रह्मा निस्सन्देह एक विशेष ऐतिह्य-सिद्ध व्यक्ति था । संस्कृत-वाङ्मय के अवलोकन से विदित होता है कि आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र आदि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे । अतः संस्कृत-वाङ्मय के समस्त विभागों में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक तथा सर्वव्यवहारोपयोगी साधारण

---

१. 'संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यते । तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति—पात्रमाहर, आहर पात्रं वा' । महाभाष्य १।१।१॥

२. **आयुर्वेद**—'प्रजापतिरश्विभ्याम्, प्रजापतये ब्रह्मा' । चरक चिकित्सा० १।४ ॥ **व्याकरण**—'ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच' । ऋक्तन्त्र, प्रथम प्रपाठक के अन्त में ॥ **ज्योतिष**—'तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा' । नारद संहिता १।७॥ **उपनिषद्**—'तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच' । छान्दोग्य ८।१५॥ 'कावषेयः प्रजापतेः, प्रजापतिर्ब्रह्मणः' । बृह० ६।५।४ ॥ **शिल्प**—काश्यप संहिता के आरम्भ में, आनन्दाश्रम संस्करण । **राजनीति**—महाभारत शान्तिपर्व ५।८।६ ॥ **धनुर्वेद**—'ब्राह्ममस्त्रमुदैरयत्' । रामायण युद्धकाण्ड २५।५ ॥ **धर्मशास्त्र**—महाभारत शान्तिपर्व १०६।१२ इत्यादि । जिन्हें इस विषय की विशेष जिज्ञासा हो, वे **पं० भगवद्दत्त** विरचित **भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग २, पृष्ठ १-२६** (प्र० संस्करण, सं० २०१७) देखें ।

शब्दों का स्वरूप उस समय निर्धारित हो चुका था। उत्तरोत्तर यथाक्रम मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के ह्रास के कारण प्राचीन, अतिविस्तृत ग्रन्थ शनैः-शनैः संक्षिप्त होने लगे।[१] वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ तत्तद्विषयों के अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण हैं।[२] अतः यह आपाततः मानना होगा कि वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम काल में संस्कृत-भाषा विस्तृत, विस्तृततर और विस्तृततम थी। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—'प्राचीन काल के आरम्भ में शब्द-भण्डार बहुत था।[३]' शब्दशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य पतञ्जलि (१५०० वि० पू०) ने संस्कृत-भाषा के प्रयोग-विषय का उल्लेख करते हुये लिखा है—

'**सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा[४] सामवेदः, एकविंशतिधा**

१. **आयुर्वेद**—'श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान्...ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्'। सुश्रुत सूत्रस्थान १।३ ॥ **अर्थशास्त्र**—'एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः। सक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च'। इत्यादि, महाभारत शान्ति० ५६। ८१-८६ ॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र १।१ ॥ **नीतिशास्त्र**—'शतलक्षश्लोकमितं नीतिशास्त्रमथोक्तवान्। अल्पायुर्भूभृदाद्यर्थं संक्षिप्तमतिविस्तृतम्'। शुक्रनीति १।२, ४ ॥ **व्याकरण**—'यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे'। देवबोध, महाभारतटीकारम्भ। **कामशास्त्र**—वात्स्यायन कामसूत्र १।१५-१६ ॥ **मीमांसाभाष्य**—प्रपञ्चहृदय, ट्रिवेण्ड्रम संस्करण, पृष्ठ ३६ ॥

२. भारतीय वाङ्मय के उपलभ्यमान कतिपय संक्षिप्त ग्रन्थों को देख कर ही पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य होता है। आज यदि संस्कृत वाङ्मय के अति प्राचीन विस्तृत ग्रन्थ उपलब्ध होते, तो पाश्चात्य विद्वानों की अनेक भ्रमपूर्ण मिथ्या-कल्पनाओं का निराकरण अनायास हो जाता। पाणिनीय व्याकरण के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की क्या धारणा है, इस का उल्लेख हम पाणिनि के प्रकरण (अध्याय ५) में करेंगे।

३. ह्यूनसाङ्ग, भाग प्रथम, वाटर्स का अनुवाद, पृष्ठ २२१।

४. पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन पृष्ठ १२७ में 'सहस्रवर्त्मा' का अर्थ सहस्र प्रकार का सामगान किया है, और 'सहस्रशाखा' अर्थ को

बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम् इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः'।[1]

पतञ्जलि से प्राचीन आचार्य 'यास्क' ने लिखा है –

'शवतिगतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।[2] ·····**विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।**[3]'

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि किसी समय संस्कृत-भाषा का प्रयोगक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यदि संसार की समस्त भाषाओं के नवीन और प्राचीन स्वरूपों की तुलना की जाय, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि संसार की सब भाषाओं का आदि मूल संस्कृत-भाषा है।[4] इन

अशुद्ध कहा है। यह उन की भूल है। भाष्यपाठ में ऋग् और अथर्व के साथ प्रकारार्थक 'धा' प्रत्यय का प्रयोग है। यजुः के साथ शाखा शब्द प्रयुक्त है। उपक्रम में स्पष्ट 'बहुधा भिन्नाः' कहा है। अतः 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' का अर्थ 'सहस्र प्रकार का सामवेद' करना चाहिये। अन्यथा वाक्य का सामञ्जस्य ठीक नहीं बनेगा। महाभारत (शान्तिपर्व ३४२।९७) में सामवेद की सहस्र शाखायें स्पष्ट लिखी हैं—**'सहस्रशाखं यत्साम।'** कूर्म पुराण में भी लिखा है—**'सामवेदं सहस्रेण शाखानां प्रबिभेद सः'**। पू० ५२।२० ॥

१. महाभाष्य अ० १। पा० १। आ० १॥

२. कम्बोज की आधुनिक बोलियों में **'शवति'** के **'शुद-सुत-शुई'** आदि विभिन्न अपभ्रंश गति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। द्र०—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा, द्वि० सं०, भाग १, पृष्ठ ५३३।

३. निरुक्त २।२॥ तुलना करो—'एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोग-विषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।' महाभाष्य १।१।१॥

नागेश ने इस वचन की व्याख्या में **'दातिः'** को क्तिन्नन्त अथवा क्तिजन्त लिखा है। यह अशुद्ध है। प्रकरणानुसार 'दातिः' शब्द धातुनिर्देशक 'श्तिप्' प्रत्ययान्त है। निरुक्त और महाभाष्य के पाठ में धातु और उस से निष्पन्न शब्दों का विभिन्न प्रदेशों में प्रयोग दर्शाया है।

४. 'वैदिक सम्पत्ति' (संस्क० २) पृष्ठ २९९-३०३॥ वेदवाणी (वाराणसी) का सं० २०१७ का वेदाङ्क (वर्ष १३ अङ्क १-२) पृष्ठ ५०-५८ 'भाषा-विज्ञान और ऋषि दयानन्द' शीर्षक लेख।

भाषाओं के नये स्वरूप की अपेक्षा इन का प्राचीन स्वरूप संस्कृत-भाषा के अधिक समीप था।

अब हम प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त सिद्धान्त (=संस्कृत का प्रयोग-क्षेत्र सप्तद्वीपा वसुमती था) की पुष्टि में चार प्रमाण देते हैं—

१. पाणिनीय व्याकरण में '**कानीन**' शब्द की व्युत्पत्ति 'कन्या' शब्द से की है और कन्या को 'कनीन' आदेश कहा है।[1] वस्तुतः कानीन की मूल प्रकृति कन्या नहीं है, **कनीना** है। कुमारार्थक'कनीन' प्रातिपदिक का प्रयोग वेद में बहुधा मिलता है।[2] पारसियों की धर्म-पुस्तक'**अवेस्ता**' में कन्या के लिये '**कइनीन**' शब्द का व्यवहार मिलता है।[3] यह स्पष्टतया वैदिक'कनीना' का अपभ्रंश है। इससे स्पष्ट होता है कि कभी ईरान में कन्या अर्थ में'**कनीना**' शब्द का प्रयोग होता था, और उसी का अपभ्रंश '**कइनीन**' बना।

२. फारसी-भाषा में तारा अर्थ में '**सितारा**' शब्द का प्रयोग होता है, अंग्रेजी में '**स्टार**' और गाथिक में '**स्टेयर्नो**'।[4] इन दोनों का सम्बन्ध लौकिक-संस्कृत में प्रयुज्यमान 'तारा' शब्द से नहीं है। वेद में इनकी मूल-प्रकृति का प्रयोग मिलता है, वह है—'**स्तृ**' शब्द। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर तृतीया-बहुचनान्त '**स्तृभिः** पद का व्यवहार तारा अर्थ में मिलता है।[5] जैसे '**पेतर**' (लैटिन), '**पातेर**' (ग्रीक), '**फादेर**' (गाथिक), '**फादर**' (अंग्रेजी) का मूल 'पितृ' शब्द का बहुवचनान्त 'पितरः' पद है। उसी प्रकार सितारा, स्टार और स्टेयर्नो का मूल 'स्तृ' शब्द का प्रथमा का बहुवचन '**स्तारः**' पद है।

---

१. 'कन्यायाः कनीन च'। अष्टा० ४।१।११६॥

२. ऋ० ३।४८।१; ८।६९।१४॥ द्र०—'**कनीनकेव विद्रधे**' (ऋ० ४।३२।२३); '**कनीनके कन्यके**' (निरु० ४।१५); '**जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्**' (ऋ० १।६६।४) आदि में प्रयुक्त 'कनी' स्वतन्त्र शब्द है। इस का लौकिक संस्कृत में भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—'**वासुकेः पुत्री दिव्यरूपा कनी वसुदत्तिर्नाम**'। (प्रबन्धकोष, पृष्ठ ८६)

३. **ह ओ मा तास्-चित् या कइनीनो** (संस्कृत छाया—सोमः ताश्चित् याः कनीनाः) ह ओम यश्त ९।२३॥ (लाहौर संस्करण पृष्ठ ५८)।

४. Stairno। एफ. बॉप कृत कम्परेटिव ग्रामर, भाग १, पृ० ६४।

५. ऋ० १।६८।५; १।८७।१; १।१६६।११ इत्यादि।

३. बहिन के लिये फारसी में '**हमशीरा**' शब्द प्रयुक्त होता है, और अंग्रेजी में '**सिस्टर**'। संस्कृत में इन दोनों के मूल दो पृथक् शब्द हैं—'हमशीरा' का मूल '**समक्षीरा**' है। संस्कृत के सकार को फारसी में हकार होता है। यथा—सप्त=हफ्त, सप्ताह=हफ्ताह। क्ष के आदि ककार का लोप हो गया, और षकार को शकार। इसी प्रकार 'सिस्टर' का सम्बन्ध '**स्वसृ**' पद से है।

४. ऊंट को फारसी में '**शुतर**' कहते हैं, और अंग्रेजी में '**कैमल**'। स्पष्ट ही इन दोनों के मूल पृथक्-पृथक् हैं। संस्कृत में ऊंट को **उष्ट्र**, और **क्रमेल**[1] दोनों कहते हैं। उष्ट्र के उ और ष का विपर्यास होकर शुतर शब्द बनता है। इसी प्रकार कैमल का सम्बन्ध क्रमेल शब्द से है।[2] वर्तमान मिश्री भाषा में प्रयुक्त '**गमल**' कुरानी अरबी में प्रयुक्त '**जमल**'[3] का सम्बन्ध भी संस्कृत के 'क्रमेल' शब्द से ही है।

इस प्रकार वेद के आधार पर अति विस्तार को प्राप्त हुई संस्कृत-भाषा, मनुष्यों के विस्तार के साथ-साथ देश काल और परिस्थितियों के विपर्यास तथा आर्यों के मूल-प्रदेश=केन्द्र से दूरता की वृद्धि होने से, शनैः शनैः विपरिणाम को प्राप्त होने लगी। संसार में ज्यों-ज्यों म्लेच्छता (=उच्चारणाशुद्धि) की वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों संस्कृत-भाषा का प्रयोग-क्षेत्र संकुचित होता गया। उसी के साथ साथ देश-देशान्तरों में व्यवस्थित[4] संस्कृत-भाषा के शब्दों का लोप होता गया। इससे संस्कृत-भाषा अत्यन्त संकुचित हो गई। संस्कृत-भाषा में किस प्रकार शब्दों का संकोच हुआ, इस का सोपपत्तिक निरूपण हम आगे करेंगे।

---

१. मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोश में संस्कृत '**क्रमेल**' शब्द को यूनान से उधार लिया माना है। वह सर्वथा गप्प है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तानुसार उत्तरोत्तर अपभ्रंश भाषाओं में ऊपर नीचे के रेफ की निवृत्ति ही होती है, नए रेफ का संयोग नहीं होता। यदि क्रमेल शब्द कैमल-गमल-जमल से अथवा इसकी किसी रेफ-रहित प्रकृति से निष्पन्न होता, तो उस में रेफ का संयोग न होता। अतः क्रमेल की मूल धातु '**क्रमु पादविक्षेपे**' ही है।

२. अन्तिम तीन उदाहरण पं० राजाराम विरचित 'स्वाध्याय-कुसुमाञ्जलि' से लिये हैं।

३. भाषाविज्ञान, डा० मङ्गलदेव, पृष्ठ २५६।

४. देखो, पृष्ठ १० की टिप्पणी ३ पर महाभाष्य का तुलनात्मक पाठ।

आधुनिक भाषामत और संस्कृत-भाषा

प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र के पारङ्गत महामुनि **पतञ्जलि**, **यास्क** और स्वायम्भुव **मनु** के भाषाविषयक मत हम पूर्व दर्शा चुके। आधुनिक पाश्चात्य भाषाशास्त्री इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। पाश्चात्य भाषाविदों ने विकासवाद के मतानुसार संसार की कुछ भाषाओं की तुलना करके नूतन भाषाशास्त्र की कल्पना की है। उसके अनुसार उन्होंने संस्कृत को प्राचीन मानते हुये भी उसे संसार की आदिम भाषा नहीं माना। उनका मत है—'प्रागैतिहासिक काल में संस्कृत से पूर्व कोई इतर-भाषा (=इण्डोयोरोपियन भाषा) बोली जाती थी। उसी में परिवर्तन होकर संस्कृत-भाषा की उत्पत्ति हुई। पाश्चात्य-शिक्षा दीक्षित भारतीय भी विना स्वयं विचार किये इसी मत को मानते हैं। उत्तरोत्तर काल में संस्कृत-भाषा में भी अनेक परिवर्तन हुये। संस्कृत-भाषा को भविष्यत् में परिवर्तनों से बचाने के लिये पाणिनि ने अपने महान् व्याकरण की रचना की। उसके द्वारा भाषा को इतना बांध दिया कि पाणिनि से लेकर आज तक उस में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।'

अध्यापक बेचरदास जीवराज दोशी ने अपनी '**गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति**' नामक व्याख्यान-माला में प्राकृत से वैदिक-भाषा की उत्पत्ति मानी है। उन का लेख इस प्रकार है—

'उक्त प्रकारे जणावेलां अनेक उदाहरणो द्वारा एम सिद्ध करी शकाय एवुं छे के व्यापक प्राकृतना प्रवाहनो सीधो संबन्ध वेदोनी जीवती मूल भाषा साथेज छे, न हीं के जेनु स्वरूप पाणिनि प्रभृति वैयाकरणोए निश्चित कर्युं छे एवी लौकिक संस्कृत साथे'।[1]

पाश्चात्य ईसाई मत के अनुसार सारे इतिहास को ईसा पूर्व ६ सहस्र वर्षों में सीमित करने की नियत से विद्वानों ने संस्कृत-वाङ्मय के प्राचीन-ग्रन्थों का अपने ढंग से अध्ययन करके और उसमें स्व-कल्पित भाषाशास्त्र का पुट देकर उनका कालक्रम निर्धारित किया है। उसमें मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, उपनिषद्काल, सूत्रकाल, और साहित्यकाल आदि अनेक काल्पनिक काल-विभाग किये हैं। उनके द्वारा उन्होंने संस्कृत-भाषा में यथाक्रम परिवर्तन दर्शाने का विफल प्रयास किया है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों के द्वारा संस्कृत-भाषा में

---

१. पृष्ठ ७४ तथा ७५-७७ तक॥

जो परिवर्तन बताया जाता है, वह उसके ह्रास (=सङ्कोच) के कारण प्रतीत होता है। संस्कृत-भाषा में वस्तुतः कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ, यह हम अनुपद सिद्ध करेंगे।

नूतन भाषामत की आलोचना

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने संस्कृत-भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में जो मत निर्धारित किये हैं, वे काल्पनिक हैं। भारतीय-वाङ्मय से उनकी किञ्चिन्मात्र पुष्टि नहीं होती। ग्रीक लैटिन, और हिटेटि आदि भाषाओं के जिस साहित्य के आधार पर वे भाषामतों के नियमों की कल्पना करते हैं,वह साहित्य पुरातन संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन-काल का है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य विद्वान् जिस प्रागैतिहासिक काल की प्राकृत (=इण्डो-योरोपियन) भाषा से संस्कृत की उत्पत्ति मानते हैं, उनका कोई पूर्व व्यवहृत स्वरूप उन्होंने अभी तक उपस्थित नहीं किया। अतः इन आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने भाषाविज्ञान के जो नियम निर्धारित किये हैं, वे सर्वथा काल्पनिक और अधूरे हैं। अतः उन के द्वारा कल्पित भाषाविज्ञान विज्ञान की कोटि से बहिर्भूत है।

आधुनिक भाषाशास्त्र की आलोचना एक स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः उसकी विशेष आलोचना के लिये पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का हमारा विचार है। यहां हम उसके नियमों के अधरेपन को दर्शाने के लिये एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

नूतन भाषाविज्ञान का एक नियम है—'वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के स्थान में 'ह' का उच्चारण होता है, परन्तु 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण नहीं होना'।[1]

यह नियम औत्सर्गिक माना जा सकता है, एकान्त सत्य नहीं। कुछ अल्पप्रयोग ऐसे भी हैं, जिनमें 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

१. आधुनिक बोल-चाल की भाषा में संस्कृत के 'गुहा' के अपभ्रंश 'गुहा' का प्रयोग होता है।

२. पंजाबी में संस्कृत के 'सिंह' का उच्चारण 'सिंघ' होता है, और गुरुमुखी लिपि में 'सिंघ' ही लिखा जाता है।

---

१. भाषाविज्ञान, श्री डा० मंगलदेवजी कृत, प्र० संस्क० पृष्ठ १८२॥

३. पंजाबी भाषा में भैंस के लिये प्रयुक्त 'मझ' शब्द संस्कृत के '**मही**'[१] शब्द का अपभ्रंश है।

४. 'दाह' का प्राकृत में 'दाघ', और 'नहुष' का पाली में 'नघुष' प्रयोग मिलता है। 'दाह' से मत्वर्थक 'र' प्रत्यय होकर 'दाहर' शब्द बनता है। इसी का अपभ्रंश मारवाड़ी-भाषा में 'दाफड़' (= जलने वाला फोड़ा) रूप में प्रयुक्त होता है।

५. संस्कृत के 'इह' शब्द के स्थान में प्राकृत में 'इध' का प्रयोग होता है।

६. चीनी भाषा में 'होम' के अर्थ में 'घोम' शब्द का व्यवहार होता है।

७. भारत की '**माही**' नदी ग्रीक भाषा में '**मोफिस**' बन गई है।[२]

८. संस्कृत का 'अहि' फारसी में '**अफि**' बन जाता है। **अफीम** शब्द भी संस्कृत के 'अहिफेन' का अपभ्रंश है।

९. बृहस्पतिवार के लिये उर्दू में प्रयुक्त 'बीफे' शब्द 'बृहस्पति' के एक देश 'बृहः' का अपभ्रंश है।

१०. हिन्दी का 'जीभ' शब्द जिह्वा=जीह[३]=जीभ क्रम से निष्पन्न हुआ है।

११. संस्कृत की नेह (णह बन्धने) धातु से हिन्दी का '**नाधना**' (=बांधना) शब्द बना है।

१२. 'दुहितृ' के आद्यन्त का लोप होकर अवशिष्ट 'हि' भाग से पञ्जाबी का पुत्री-वाचक '**धी**' शब्द बना है। और फारसी में प्रयुक्त 'दुख्तर' शब्द भी संस्कृत के 'दुहितृ' का ही अपभ्रंश है।

---

१. महिषी (भैंस) वाचक 'मही' शब्द का प्रयोग '**महीं मा हिंसीः**' (यजु० १३।४४) में उपलब्ध होता है।

२. टालेमी कृत भूगोल, पृष्ठ ३८। इस ग्रन्थ के सम्पादक सुरेन्द्रनाथ मजुमदार शास्त्री ने पृष्ठ ३४३ पर अपने टिप्पण में लिखा है कि ग्रीक शब्द से अनुमान होता है कि इस का पुराना नाम 'माफी' था। यह योरोपीय मिथ्या भाषाविज्ञान का फल है। 'मही' शब्द टालेमी से ३३०० वर्ष पूर्ववर्ती जैमिनि ब्राह्मण में प्रयुक्त हैं। द्र० भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ ४७ (प्र० सं०)।

३. 'एक जीह गुण कवन बखाने, सहस फणी सेस अन्त न जाने'। गुरु ग्रन्थ साहब, सोलहे माहल्ल ५।

१३. संस्कृत के कथनार्थक 'आह' धातु[1] (द्र०—अष्टा० ३।४।४८) से पञ्जाबी में व्यवहृत 'आख' क्रिया बनी है।[2]

ये कुछ उदाहरण दिये हैं। इनसे पाश्चात्य भाषाविज्ञान के नियमों का अधूरापन स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः ऐसे अधूरे नियमों के आधार पर किसी बात का निर्णय करना अपने आप को धोखे में डालना है। भारतीय शब्दशास्त्री पाणिनि और यास्क अनेक शब्दों में 'ह' को घ,ढ,ध,भ आदेश मानते हैं। अष्टाध्यायी ८।४।६२ के अनुसार सन्धि में झय् से उत्तर हकार को घ,झ,ढ,ध और भ आदेश होते हैं।

संसार में भाषा की प्रवृत्ति कैसे हुई, इस विषय में आधुनिक भाषाविज्ञान सर्वथा मौन है, उसकी इसमें कोई गति नहीं। परन्तु भारतीय इतिहास स्पष्ट शब्दों में कहता है—'लोक में भाषा की प्रवृत्ति वेद से हुई है, और संस्कृत ही सब भाषाओं की आदि-जननी तथा आदिम भाषा है।[3] आधुनिक भाषाशास्त्री अपने अधूरे काल्पनिक भाषाशास्त्र के अनुसार इस तथ्य को स्वीकार न करें, तो इसमें इतिहास का क्या दोष? इतिहास सत्य विद्या है,और कल्पना कल्पना ही है।

क्या संस्कृत प्राकृत से उत्पन्न हुई है ?

अनेक प्राकृत भाषा के पक्षपाती देववाणी के लिये संस्कृत शब्द का व्यवहार देखकर कल्पना करते हैं कि संस्कृत-भाषा किसी प्राकृत-भाषा से संस्कृत की हुई है। इसीलिये प्राकृत के प्रतिपक्ष में इसका नाम संस्कृत हुआ। यह कल्पना नितान्त अशुद्ध है। इसमें निम्न हेतु हैं—

---

१. वैयाकरणों द्वारा आदेश रूप में विहित धातुयें किसी समय में मूल धातुयें थीं। लोपागमवर्णविकार आदि से निष्पन्न धातु अथवा नाम रूप अति प्राचीन काल में स्वतन्त्ररूप में प्रयुक्त होते थे। द्र०—'ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग शैली', पृष्ठ ६-१७।

२. चक्षुवाचक 'आंख' शब्द का सम्बन्ध भी कथनार्थक आह=आख रूप से प्रतीत होता है। यथा चक्ष—चक्षुः। कई लोग अक्षि पर्याय 'अक्ष' से इस का सम्बन्ध मानते हैं—अक्ष=अक्ख=आंख।

३. मनु० का पृष्ठ २ में उद्धृत 'सर्वेषां तु स नामानि······' वचन; दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः'। वाक्यपदीय १।११५; वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, शताब्दी संस्करण भाग १, पृष्ठ ३१६। पूना प्रवचन, पांचवां व्याख्यान।

यास्कीय निरुक्त और पातञ्जल महाभाष्य से विदित होता है कि इस अतिमहती संस्कृत-भाषा का प्रयोग विभिन्न देशों में बंटा हुआ था। यथा—आर्यावर्तदेशवासी गमन अर्थ में '**गम्लृ**' धातु का प्रयोग करते थे, सुराष्ट्रवासी '**हम्म**'[1] का, प्राच्य तथा मध्यदेशवासी '**रंह**' का, और काम्बोज '**शव**' का। आर्यों में '**शव**' धातु के आख्यात का प्रयोग नहीं होता। वे लोग उसके निष्पन्न केवल '**शव**' कृदन्त शब्द का प्रयोग करते हैं। लवन=काटना अर्थ में 'दा' धातु के '**दाति**' आदि आख्यात पदों का प्रयोग प्राग्देश में होता था, और ष्ट्रन्-प्रत्ययान्त '**दात्र**' शब्द उदीच्य देश में बोला जाता था।[2] आजकल भी पंजाबी भाषा में 'दात्र' के स्त्रीलिङ्ग '**दात्री**' शब्द का व्यवहार होता है। अतएव यास्क ने निर्वचन के नियमों का उपसंहार करते हुये लिखा है—'**इस प्रकार देशभेद से बंटे हुये प्रयोगों को ध्यान में रखकर शब्दों का निर्वचन करना चाहिये**'।[3] अर्थात् किसी देश में प्रयुक्त शब्द की व्युत्पत्ति उसी प्रदेश में प्रयुक्त असम्बद्ध धातु से करने की चेष्टा न करके देशान्तर में प्रयुक्त मूल धातु से करनी चाहिये।

इस लेख से यह सुस्पष्ट है कि संस्कृत-भाषा के विभिन्न शब्दों का प्रयोग विभिन्न देशों में बंटा हुआ था। पुनः उन देशों में ज्यों-ज्यों म्लेच्छता की वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों वहां से संस्कृत-भाषा का लोप होता गया, और उन-उन देशों में प्रयुक्त संस्कृत-भाषा के विशिष्ट प्रयोग लुप्त हो गये। इस प्रकार संस्कृत-भाषा के प्रचार-क्षेत्र के संकोच के साथ-साथ भाषा का भी महान् संकोच हो गया। यदि आज भी संसार की समस्त भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय, तो संस्कृत-भाषा के शतशः लुप्त प्रयोगों का पुनरुद्धार हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि भाषा के संकोच और विकार के इस सिद्धान्त से भले प्रकार विज्ञ था। वह लिखता है—

'सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते।

---

१. पहम्मतीति पाठे हम्मतिः कम्बोजेषु प्रसिद्धः इति। गउडवाह टीका पृष्ठ २४५। महाभाष्य से विरुद्ध होने के कारण टीकाकार का लेख अशुद्ध है।

२. अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।...... विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २।२॥ तथा पृष्ठ १०, टि० ३ में महाभाष्य का उद्धरण।

३. एवमेकपदानि निब्रूयात्। निरुक्त २।२॥

उपलब्धो यत्नः क्रियताम् । **महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः । सप्तद्वीपा वसुमती……। एतस्मिंश्चातिमहति प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते ।**[1]

यद्यपि महाभाष्यकार के समय में संस्कृत-भाषा का प्रचार समस्त भूमण्डल में नहीं था, तथापि वह पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध होने वाले शब्दों का प्रयोगक्षेत्र **सप्तद्वीपा वसुमती** लिखता है, और उनकी उपलब्धि के लिये प्रेरणा करता है। इससे स्पष्ट है कि वह अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से मानता है, और उनके द्वारा संस्कृत-भाषा से लुप्त हुये प्रयोगों की उपलब्धि के लिये प्रेरणा करता है।

सम्भवतः महाभाष्यकार के उक्त वचन के अनुसार भट्ट कुमारिल व्याकरण-शास्त्र के साहाय्य से लोकमें उत्पन्न हुई मूल शब्दराशि के परिज्ञान की प्रेरणा देता है। वह लिखता है—**'यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिस्तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च'**। तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृ० २३६ (पूना संस्क० शाबरभाष्य भाग १)।

अतः संस्कृत-भाषा से शब्दों का लोप तथा भाषा का संकोच किस प्रकार हुआ, इसका व्याकरण शास्त्र के आधार पर अतिसंक्षिप्त सप्रमाण निदर्शन आगे कराते हैं—

१. भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने ६।१।७७ की वृत्ति में एक वार्तिक लिखा है—**'इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्'**। तदनुसार व्याडि और गालव आचार्यों के मत में 'दध्यत्र मध्वत्र' प्रयोग विषय में **'दधियत्र मधुवत्र'** प्रयोग भी होते थे। पुरुषोत्तमदेव से प्राचीन जैनेन्द्र व्याकरण के व्याख्याता अभयनन्दी ने 'संग्रह' के नाम से इस मत का उल्लेख किया है।[2] हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति[3] और पाल्यकीर्त्ति

---

१. महाभाष्य। अ० १। पा० १। आ० १॥

२. इकां यण्भिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः। जैनेन्द्र महावृत्ति।१।२।१॥ पं० क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने 'टेकनीकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर' के पृष्ठ ७१ के टिप्पण में निम्न पाठ उद्धृत किया है—
'भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते।व्यवधानमिको यण्भिर्वायुवम्बरयोरिव'॥

३. केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यरलवानिच्छन्ति। दधियत्र,तिरियङ्,मधुवत्र, भूवादयः। हैम व्याकरण १।२।२१॥

ने स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति[1] में यण्-व्यवधान पक्ष का निर्देश किया है। अतः यण्-व्यवधान पक्ष में 'दधियत्र मधुवत्र' आदि प्रयोग भी कभी लोक में प्रयुक्त होते थे,यह निर्विवाद है। तैत्तिरीय आदि शाखाओं में इस प्रकार के कुछ प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[2] बौधायन गृह्य में 'त्र्यहे' के स्थान में 'त्रियहे' का प्रयोग मिलता है।[3] कैवल्य उपनिषद् १।१२ में'**स्त्रीयन्नपानादि**[4] **विचित्रभोगैः**'प्रयोग में यण्व्यवधान देखा जाता है। प्रतीत होता है कालान्तर में लोकभाषा में से यण्व्यवधान वाले प्रयोगों का लोप होजाने से पाणिनि ने यण्व्यवधान पक्ष का साक्षात् निर्देश नहीं किया, परन्तु '**भूवादयो धातवः**'[5] सूत्र में वकार-व्यवधान का प्रयोग करते हुये यण्व्यवधान पक्ष को स्वीकार अवश्य किया है।

कात्यायन ने यण्व्यवधान वाले प्रयोगों का लोक में प्रायः देख कर तादृश वैदिक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाने के लिये '**इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**'[6] वार्तिक बनाया, और उनमें इयङ उवङ् की कल्पना की। परन्तु इससे '**भूवादयः**' पद की निष्पत्ति नहीं हुई। अतः महाभाष्यकार को यहां अन्य क्लिष्ट-कल्पनाएं करनी पड़ीं।[7]

२. '**न्यङ्कु**'[8] शब्द से विकार वा अवयव अर्थ में '**अञ्**' प्रत्यय करने पर पाणिनि के मत में '**नैयङ्कवम्**' प्रयोग होता है, परन्तु आपि-

---

१. शाकटायन व्या० १।१।७४।। लघुवृत्ति—इको यण्भिर्व्यवधानमित्येके। पृ० २३। इको यञ्भिर्व्यवधानमित्येके। दधियत्र मधुवत्र। अमोघावृत्ति पृ० १५

२. जैमिनि ब्राह्मण १।११२ का पाठ है—'प्राण इति द्वे अक्षरे, अपान इति त्रीणि, व्यान इति त्रीणि, तदष्टौ संपद्यन्ते'। यहां मुद्रित पाठ'व्यान' अशुद्ध है 'वियान' चाहिये। 'वियान' पाठ होने पर ही तीन अक्षर बनते है।

३. त्रियहे पर्यवेतेऽथ। बौ० गृह्यशेष ५।२॥ पृष्ठ ३६२।

४. स्त्रियन्नपानादि० पाठान्तर। इसमें इयङ् हुआ है।

५. अष्टा० १।३।१॥ ६. महाभाष्य ६।४।७७॥

७. भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते। महाभाष्य १।३।१॥ अभयनन्दी ने पूर्वोक्त (पृष्ठ २६, टि० २) संग्रह का वचन उद्धृत करके 'मङ्गलार्थः, के स्थान में 'लक्षणार्थः' पढ़ा है। जैनेन्द्र व्या० महावृत्ति १।२।१॥

८. कुरङ्गसदृशो विकटबहुविषाणः [मृगविशेषः]। अष्टाङ्गहृदय, हेमाद्रि-सूत्रस्थान ३।५०॥

शलि के मत में '**न्याङ्कवम्**' बनता है।[1] वस्तुतः इन दोनों तद्धित-प्रत्ययान्त प्रयोगों की मूल-प्रकृति एक न्यङ्कु शब्द नहीं हो सकता। न्यङ्कु शब्द 'नि+अङ्कु' से बना है।[2] पूर्व-प्रदर्शित नियम के अनुसार सन्धि होकर **न्यङ्कु** और **नियङ्कु** ये दो रूप बनेंगे। अतः नियङ्कु से 'नैयङ्कवम्' और न्यङ्कु से '**न्याङ्कवम्**' प्रयोग उपपन्न होंगे। अर्थात् दोनों तद्धित-प्रत्ययान्तों की दो विभिन्न प्रकृतियां किसी समय भाषा में विद्यमान थीं। उनमें से यण्व्यवधान वाली 'नियङ्कु' प्रकृति का भाषा से उच्छेद हो जाने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने दोनों तद्धित-प्रत्ययान्तों का सम्बन्ध एक न्यङ्कु शब्द से जोड़ दिया।

पाणिनि ने **पदान्तस्यान्यतरस्याम्** (७।३।९) सूत्र द्वारा 'श्वापद' शब्द के **श्वापदम् शौवापदम्** जो दो रूप दर्शाये हैं, उनकी भी यही गति समझनी चाहिये।

३. गोपथ ब्राह्मण २।१।२५ में '**त्रैयम्बक**' पद का प्रयोग मिलता है। वैयाकरण इसकी निष्पत्ति 'त्र्यम्बक' शब्द से मानते हैं।[3] यहां भी 'त्रि+अम्बक' में पूर्वोक्त नियमानुसार सन्धि होने से '**त्रियम्बक**' और '**त्र्यम्बक**' दो शब्द निष्पन्न होते हैं। अतः त्रैयम्बक पद की निष्पत्ति 'त्रियम्बक' शब्द से माननी चाहिये। महाभाष्यकार ने '**इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**'[4] वार्तिक पर निम्न वैदिक उदाहरण दिये हैं—

तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम। विष्वं पश्य, विषुवं पश्य। स्वर्गं लोकम्, सुवर्गं लोकम्। त्र्यम्बकं यजामहे, त्रियम्बकं यजामहे।

महाभाष्यकार ने यहां स्पष्टतया **त्र्यम्बक** और **त्रियम्बक** दोनों पदों का पृथक्-पृथक् प्रयोग दर्शाया है। वैदिक-वाङ्मय के उपलभ्य-

---

१. आपिशलिस्तु—न्यङ्कोर्नैच्भावं शास्ति, न्याङ्कवं चर्म। उज्ज्व० उणादिवृत्ति पृष्ठ ११॥ तुलना करो—न्यङ्कोस्तु पूर्वे अकृतैजागमस्याभ्युदयाङ्गतां स्मरन्ति। यथाहुः—न्यङ्कोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम् इति। वाक्यपदीय वृषभदेव-टीका पृ० ५५। न्यङ्कोर्वेति केचित्, न्याङ्कवम्, नैयङ्कवम्। प्रक्रिया-कौमुदी भाग १, पृ० ८१५। प्रक्रियासर्वस्व तद्धित-प्रकरण, मद्रास संस्क०, पृ० ७२। देखो—सरस्वतीकण्ठाभरण का 'न्यङ्कोश्च' (७।१।२३) सूत्र।

२. नावञ्चेः। पञ्चपादी उणादि १।१७; दशपादी उणादि १।१०२॥

३. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्। अष्टा० ७।३।३॥

४. महाभाष्य ६।४।७७॥

मान ग्रन्थों में कठ कपिष्ठल संहिता[1] और बौधायन गृह्यसूत्र[2] में त्रियम्बक पद का प्रयोग मिलता है। महाभारत में भी त्रियम्बक पद का प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] कालिदास ने कुमारसम्भव में त्रियम्बक और त्र्यम्बक दोनों पदों का प्रयोग किया है।[4] शिवपुराण ६।४।७७ में भी त्रियम्बक पद प्रयुक्त है। इस प्रकार वैदिक तथा लौकिक उभयविध वाङ्मय में 'त्रियम्बक' पद का निर्बाध प्रयोग उपलब्ध होता है।[5] इससे स्पष्ट है कि '**त्रैयम्बक**' की मूल प्रकृति '**त्रियम्बक**' है, त्र्यम्बक नहीं।

इसी प्रकार पाणिनीय गणपाठ ७।३।४ में पठित '**स्वर्**' शब्द के उदाहरण काशिकावृत्ति में '**स्वर्भव: सौव. । अव्ययानां भमात्रे टिलोप:। स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिक:**' दिये हैं। तैत्तिरीय संहिता में '**स्वर्**' के स्थान में सर्वत्र '**सुवर्**' शब्द का प्रयोग मिलता है, अतः '**सौव:**'[6] का सम्बन्ध '**सुवर्**' और '**सौवर्गमनिक:**' का '**सुवर्गमन**' से मानना अधिक युक्त है।

हमारा विचार है पाणिनीय व्याकरण में जहां-जहां ऐच् आगम का विधान किया है, वहां सर्वत्र इस प्रकार की उपपत्ति हो सकती है। हमारे इस विचार का पोषक एक प्राचीन वचन भी उपलब्ध होता है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य १।४।२ में पूर्वाचार्यों का एक सूत्र उद्धृत किया है—'**य्वोरचि वृद्धिप्रसङ्गे इयुवौ भवत:**'। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्वाचार्य '**वि+आकरण+अण्**' और '**सु+अश्व+अण्**' इस अवस्था में वृद्धि की प्राप्ति में यणादेश को बाधकर **इय्** '**उव्**' आदेश करते थे। अर्थात् वृद्धि करने से पूर्व '**वियाकरण**' और '**सुवश्व**'

१. अव देवं त्रियम्बकम्, त्रियम्बकं यजामहे। कपिष्ठल ७।१०॥ सम्पादक ने हस्तलेख के मूल 'त्रियम्बक' पाठ को बदलकर 'त्र्यम्बक' छापा है। देखो पृष्ठ ८७, टि० १, ३। २. बौ० गृह्यशेष सूत्र ३।१२, पृ० २९९।

३. येन देवस्त्रियम्बक:। शान्तिपर्व ९९।३३॥ कुम्भघोण संस्करण। त्रियम्बको विश्वरूप:। सभापर्व १०।२१। पूना संस्करण।

४. त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श।३।४४॥ व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले।३।६१॥ कुमारसंभव ३।४४ पर अरुणगिरिनाथ लिखता है—'छन्दोविचितिकारै: इयङ् उवङ् आदेशस्योक्तत्वात्'। नारायण ने इस पद पर 'त्रियम्बकं नान्यमुपास्थितासौ—इति भर्तृहरिप्रयोगात्' पाठ उद्धृत किया है।

५. पञ्चवक्त्रास्त्रियम्बका:। रसार्णव तन्त्र २।६०॥

६. तस्य श्रोत्रं सौवम्। शत० ८।१।२।५॥

प्रकृति बना लेते थे, और तत्पश्चात् वृद्धि करते थे।

प्रतीत होता है जब यण्व्यवधान वाले पदों का भाषा से उच्छेद हो गया, तब वैयाकरणों ने उन से निष्पन्न तद्धित-प्रत्ययान्त प्रयोगों का सम्बन्ध तत्समानार्थक यणादेश वाले शब्दान्तरों के साथ कर दिया।

४. पाणिनि ने प्राचीन परम्परा के अनुसार एक सूत्र पढ़ा है—'**लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्**'[1]। तदनुसार 'लोहितादिगणपठित' 'नील हरित' आदि शब्दों से '**वा क्यषः**'[2] सूत्र से **नीलायति**, **नीलायते**; **हरितायति**, **हरितायते** दो-दो प्रयोग बनते हैं। इस सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन ने लिखा है[3]—'**लोहितडाज्भ्यः क्यष् वचनम्**, **भृशादिष्वितराणि**'। अर्थात् लोहितादिगणपठित शब्दों में से केवल लोहित शब्द से क्यष् कहना चाहिये, शेष नील हरित आदि शब्द भृशादिगण में पढ़ने चाहियें।

भृशादिगण में पढ़ने से नील लोहित आदि से क्यङ् प्रत्यय होकर केवल '**नीलायते लोहितायते**' एक एक रूप ही निष्पन्न होगा। प्रतीत होता है पाणिनि ने प्राचीन व्याकरणों के अनुसार नील हरित आदि शब्दों के दो-दो प्रकार के प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया था, परन्तु वार्त्तिककार[4] के समय इनके परस्मैपद के प्रयोग नष्ट हो गये थे। अत एव उसने लोहितादिगण में नील लोहित आदि शब्दों का पाठ व्यर्थ समझकर भृशादि में पढ़ने का अनुरोध किया। यदि ऐसा न माना जाय, तो पाणिनि का लोहितादिगण का पाठ प्रमत्तपाठ होगा।

५. महाभाष्य में अनेक स्थानों पर '**अविरविकन्याय**' का उल्लेख करते हुये लिखा है—'**अवेर्मांसम्**' इस विग्रह में अवि शब्द से तद्धितोत्पत्ति न होकर '**अविक**' शब्द से तद्धित-प्रत्यय होता है, और '**आविक**' प्रयोग बनता है।[5] यहां स्पष्ट आविक की मूल प्रकृति अविक मानी है। परन्तु वैयाकरण उसका विग्रह '**अविकस्य मांसम्**' नहीं करते, '**अवेर्मांसम्**' ऐसा ही करते हैं। यदि इसके मूल कारण पर

---

१. अष्टा० ३।१।१३॥ २. अष्टा० १।३।९०॥

३. अधिक सम्भव है यह महाभाष्यकार का वचन हो।

४. भाष्यवचन पक्ष में पतञ्जलि के समय।

५. तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यत्यविरविकन्यायेन। तद्यथा—अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति। ४।१।८८; ४।२।६०; ४।२।१३१; ५।१।७, २८ इत्यादि।

ध्यान दिया जाय, तो स्पष्ट होगा कि लोक में आविक की मूल प्रकृति 'अविक' का प्रयोग न रहने पर उसका विग्रह 'अविकस्य मांसम्' करना छोड़ दिया, और अवि शब्द से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया। स्त्रीलिङ्ग 'अविका' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद १।१२६।७; अथर्व २०।१२९।१७ और ऋग्वेद खिल ५।१५।५ में मिलता है। अतः 'अविक' शब्द की सत्ता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

६. 'कानीन' पद की सिद्धि के लिये पाणिनि ने सूत्र रचा है—**कन्यायाः कनीन च**।[1] इसका अर्थ है—कन्या से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है।

वेद में बालक अर्थ में 'कनीन' शब्द का प्रयोग असकृत् उपलब्ध होता है।[2] अवेस्ता में कन्या अर्थ में कनीना का अपभ्रंश '**कइनीन**' का प्रयोग मिलता है।[3] इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'शवति' मूल प्रकृति का आर्यावर्तीय भाषा में प्रयोग न होने पर भी उससे निष्पन्न 'शव' शब्द का प्रयोग यहां की भाषा में उपलब्ध होता है[4], उसी प्रकार कानीन की मूल प्रकृति कनीना का प्रयोग भी आर्यावर्तीय भाषा में न रहा हो, किन्तु उससे निष्पन्न कानीन का व्यवहार आर्यावर्तीय संस्कृत-भाषा में होता है। अवेस्ता में 'कइनीन' का व्यवहार बता रहा है कि ईरानियों की प्राचीन भाषा में '**कनीना**' पद का प्रयोग होता था। पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने भारतीय-भाषा में कनीना का व्यवहार न होने से उससे निष्पन्न कानीन का सम्बन्ध तत्समानार्थक कन्या शब्द से जोड़ दिया। तदनुसार उत्तरकालीन वैयाकरण कानीन का विग्रह '**कनीनाया अपत्यम्**' न करके '**कन्याया अपत्यम्**' करने लगे, और कानीन की मूल प्रकृति कनीना को सर्वथा भूल गये। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कानीन की वास्तविक मूल प्रकृति कनीना है, कन्या नहीं।

७. निरुक्त ९।२८ में लिखा है—'**धामानि त्रयाणि[5] भवन्ति। स्थानानि, नामानि, जन्मानीति**।' अनेक वैयाकरण निरुक्तकार के 'त्रयाणि' पद को असाधु मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। त्रि शब्द

---

१. अष्टा० ४।१।११६॥ २. पूर्व पृष्ठ ११, टि० २।
३. पूर्व पृष्ठ ११, टि० ३। ४. पूर्व पृष्ठ १०।
५. तुलना करो—'ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि'। स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत उणादिकोष १।१३२॥

का समानार्थक 'त्रय' स्वतन्त्र शब्द है।[१] वैदिक ग्रन्थों में इसका प्रयोग
बहुधा मिलता है।[२] लौकिक-संस्कृत में त्रि शब्द के षष्ठी के बहुवचन
में 'त्रयाणाम्' प्रयोग होता है। पाणिनि ने त्रय आदेश का विधान
किया है।[३] वेद में 'त्रीणाम्, त्रयाणाम्' दोनों प्रयोग होते हैं।[४] इनमें
स्पष्टतया 'त्रीणाम्' त्रि शब्द के षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है, और
'त्रयाणाम्' त्रय शब्द का। त्रि और त्रय दोनों समानार्थक हैं। प्रतीत
होता है कि त्रि शब्द के षष्ठी के बहुवचन 'त्रीणाम्' का प्रयोग लोक
में लुप्त हो गया, उसके स्थान में तत्समानार्थक त्रय का 'त्रयाणाम्'
प्रयोग व्यवहृत होने लगा, और त्रय की अन्य विभक्तियों के प्रयोग
नष्ट हो गये संस्कृत से लुप्त हुए 'त्रीणाम्' पद का अपभ्रंश तिण्हम्'
प्राकृत में प्रयुक्त होता है। भाषा में 'तीन्हों का' प्रयोग में तीन्हों'
प्राकृत के 'तिण्हम्' का अपभ्रंश है।

८. पाणिनि ने षष्ठ्यन्त से तृच् और अक प्रत्ययान्त के समास
का निषेध किया है।[५] परन्तु स्वयं '**जनिकर्तुः प्रकृतिः**'[६]; '**तत्प्रयोजको
हेतुश्च**'[७] आदि में समास का प्रयोग किया है।[८] इस विषय में दो कल्प-
नाएं हो सकती हैं। प्रथम—पाणिनि ने सूत्रों में जो तृच् और अक-
प्रत्ययान्त के समास का प्रयोग किया है, वह अशुद्ध है।[९] दूसरा—तृच्
और अक-प्रत्ययान्त का षष्ठ्यन्त के साथ समास ठीक है, परन्तु
पाणिनि ने अल्प प्रयोग होने से उस का समास-पक्ष नहीं दर्शाया।
इनमें द्वितीय पक्ष ही युक्त हो सकता है। क्योंकि पाणिनीय सूत्र में

---

१. हेमचन्द्र ने उणादि ३६७ में अकारान्त 'त्रय' शब्द का साधुत्व दर्शाया
है। २. ऋग्वेद १०।४५।२; यजुर्वेद १२।१९; ऋ० ६।२।७ में प्रयुक्त
'त्रययाय्यः' में भी पूर्वपद 'त्रय' अकारान्त है। ३. त्रेस्त्रयः। अष्टा० ७।१।५३॥
४. काशिका ७।१।५३ त्रीणामित्यपि भवति। ५. काशिका २।२।१६॥
६. अष्टा० १।४।३०॥ ७. अष्टा० १।४।५५॥
८. देखो—भामह का अलङ्कार ३।३६, ३७॥ कात्यायन भी ३।१।२६ के
'स्वतन्त्रप्रयोजकत्वात्' इत्यादि वार्तिक में समस्त निर्देश करता है।
९. सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते चापशब्दनम्……। तन्त्रवार्तिक, शाबर-
भाष्य, पूना संस्क० भाग १, पृष्ठ २६०। सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि दर्शन में
लिखा है—'लोक में समास हो जाता है, परन्तु निषेध वैदिक प्रयोगों के लिये
स्वरविशेष के कारण किया है'।

अनेक ऐसे प्रयोग हैं, जो पाणिनीय शब्दानुशासन से सिद्ध नहीं होते पाणिनि जैसा शब्दशास्त्र का प्रामाणिक आचार्य अपशब्दों का प्रयोग करेगा, यह कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। वस्तुतः ऐसे शब्द प्राचीन-भाषा में प्रयुक्त थे। रामायण महाभारत आदि में तृच् और अक प्रत्ययान्तों के साथ षष्ठी का समास प्रायः देखा जाता है। अष्टाध्यायी में अनेक आपवादिक नियम छोड़ दिये गये हैं। अतएव महाभाष्यकार ने लिखा है—**'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति'**।[2]

६. पाणिनीय व्याकरणानुसार **'वध'** धातु का प्रयोग आशिषि लिङ्,[3] लुङ्,[3] और क्वुन्[4] प्रत्यय के अतिरिक्त नहीं होता। नागेश महाभाष्य २।४।४३ के विवरण में स्वतन्त्र 'वध' धातु की सत्ता का प्रतिषेध करता है।[5] परन्तु वैशेषिक दर्शन में **'वधति'**[6] और आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा में **'वध्यन्ते'**[7] प्रयोग उपलब्ध होता है। काशिका

---

१. यथा—पुराण ४।३।१०५, सर्वनाम १।१।१७, ग्रन्थवाची-ब्राह्मण शब्द ४।३।१०५, इत्यादि। वैयाकरण इन्हें निपातन (पाणिनीय-व्यवहार) से साधु मानते हैं। यदि ये प्रयोग साधु हैं, तो पाणिनि के 'तिर्यचि' (३।४।६०) 'अन्वचि' (३।४।६४) आदि प्रयोग साधु=लोक-व्यवहार्य क्यों नहीं ?

२. महाभाष्य ७।१।९६ ॥ तुलना करो—'नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति'। महाभाष्य १।१।१२, ४१; ३।१।६७ ॥ भर्तृहरि ने लिखा है—'संज्ञा और परिभाषा सूत्र एक प्रयोजन के लिये नहीं बनाये जाते, प्रयोगसाधक सूत्र एक प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं'। (भाष्यटीका १।१।४१) यह कथन सर्वांश में ठीक नहीं। महाभाष्य ७।१।९६ के उपर्युक्त पाठ से स्पष्ट है कि—**एक उदाहरण के लिये प्रयोगसाधक सूत्र रचा ही जावे, यह आवश्यक नहीं है**। तुलना करो—'नैकमुदाहरणं ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति'। महाभाष्य ६।४।३ ॥ नव्य व्याख्याकार "नैकमुदाहरणं सामान्यसूत्रं प्रयोजयति, यथा 'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) स्थाने न 'इकारान्ताट्ढक्' इत्येवं पठ्यते" ऐसा कहते हैं।

३. हनो वध लिङि, लुङि च,आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्। अष्टा० २।४।४२, ४३, ४४ ॥

४. हनो वध च। उणा० २।३८ ॥ ५. स्वतन्त्रो वधधातुस्तु नास्त्येव ॥

६. न तस्य कार्यं करणं च वधति ।१।१।१२ ॥

७. प्रकरणेन विधयो वध्यन्ते ।१।२।२७ ॥ तुलना करो—'वध्यते यास्तु वाहयन्'। मनु० ३।६८ ॥

'वध' धातु के प्रयोग सब लकारों तथा सब प्रक्रियाओं में होते थे। ७।३।३५ में वामन स्वतन्त्र 'वध' धातु की सत्ता स्वीकार करता है।[1] हैम न्यायसंग्रह की स्वोपज्ञ टीका में हेमहंसगणि 'वध' धातु का निर्देश करता है।[2] इससे स्पष्ट है कि कभी अतिप्राचीन काल में 'वध' धातु के प्रयोग सब लकारों तथा सब प्रक्रियाओं में होते थे।

१०. **भट्टोजि दीक्षित** ने शब्दकौस्तुभ १।१।२७ में लिखा है—चाक्रवर्मण आचार्य के मत में **'द्वय'** शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती थी।[3] तदनुसार 'द्वये, द्वयस्मै, द्वयस्मात्, द्वयेषाम्, द्वयस्मिन्' प्रयोग भी साधु थे। परन्तु पाणिनि के व्याकरणानुसार 'द्वय' शब्द की केवल प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।[4] माघ कवि ने शिशुपालवध में **'द्वयेषाम्'** पद का प्रयोग किया।[5]

११. प्राकृत-भाषा में देव आदि अकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्द के तृतीया विभक्ति के बहुवचन में **'देवेहि'** आदि प्रयोग होते हैं।[6] अर्थात् **'भिस्'** को **'ऐस्'** नहीं होता। प्राकृत के नियमानुसार **'भिस्'**

---

१. वधिः प्रकृत्यन्तरं व्यञ्जनान्तोऽस्ति। तुलना करो—'वधिः प्रकृत्यन्तरम्।' जैन शाकटायन लघुवृत्ति ४।२।१२२॥

२. वध हिंसायाम्। वधति। पृष्ठ १४३।

३. 'यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात्'। भट्टोजि दीक्षित चाक्रवर्मण के मत का निर्देश करके भी उसके मत का निराकरण करता है। नवीन वैयाकरणों का 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' मत व्याकरण-शास्त्र-विरुद्ध है। क्वचित् मतभेद से दो प्रकार के रूप निष्पन्न होने पर दोनों ही प्रयोगार्ह स्वीकृत होते हैं। महाभाष्यकार ने लिखा है—'इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते, तदिहापि साध्यम्' (१।१।३)। पाणिनि के मतानुसार 'मृजन्ति' रूप ही होना चाहिये। परन्तु भाष्यकार ने यहां अन्य वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट रूपान्तरों को भी 'साध्य' कहा है। अतः 'यथोत्तरमुनीनां' मत सर्वथा चिन्त्य है।

४. अष्टा० १।१।३३॥ ५. व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्।१२।१३॥ हेमचन्द्र इसे अपपाठ मानता है। देखो हैमव्या० बृहद्वृत्ति पृष्ठ ७४।

६. भिसो हि। वाररुच प्राकृतप्रकाश ५।५॥ यथा—सिद्धेहि णाणाविधेहि, हिङ्गुविद्धेहि इत्यादि। भासनाटकचक्र पृष्ठ १६५॥ पालि में 'देवेहि देवेभि' दोनों प्रयोग होते हैं।

के **भकार** को **हकार** होता है, और सकार का लोप हो जाता है। अपभ्रंश शब्दों की उत्पत्ति लोक-प्रयुक्त शब्दों से होती है, अतः प्राकृत के 'देवेहि' आदि प्रयोगों से सिद्ध है कि कभी लौकिक-संस्कृत में **'देवेभिः'** आदि शब्दों का प्रयोग होता था, वेद में **'देवेभिः' 'कर्णेभिः'** आदि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। पाणिनीय व्याकरणानुसार लोक में **'देवेभिः'** आदि प्रयोग नहीं बनते। कातन्त्र व्याकरण केवल लौकिक-भाषा का व्याकरण है, परन्तु उसमें **'भिस् ऐस् वा'** सूत्र उपलब्ध होता है।[1] इस के अनुसार लोक में **'देवेभिः, देवैः'** आदि दोनों प्रकार के प्रयोग सिद्ध होते हैं। बौधायन धर्मसूत्र १६।३२ में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है। उस में **'तेभिः'** और **'तैः'** दोनों पद एक साथ प्रयुक्त हैं।[2] कातन्त्र के टीकाकारों ने इस बात को न समझ कर **'भिस् ऐस् वा'** सूत्र के अर्थ में जो क्लिष्ट कल्पना की है, वह चिन्त्य है। कातन्त्र व्याकरण काशकृत्स्न व्याकरण का संक्षिप्त संस्करण है, यह हम आगे कातन्त्र के प्रकरण में सप्रमाण दर्शाएंगे। अतः उस में कुछ प्राचीन अंश का विद्यमान रहना स्वाभाविक है। वस्तुतः ऐस्त्व का विकल्प मानना ही युक्त है। इसी से महाभारत (आदि० १२९।२३) तथा आयुर्वेदीय चरक संहिता का **इमैः**[3] प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

१२. कातन्त्र व्याकरण के **'अर् ङौ'** सूत्र[4] की वृत्ति में दुर्गसिंह लिखता है—**योगविभागात् पितरस्तर्पयामः**। अर्थात्—'अर्' का योग-विभाग करने से शस् परे रहने पर ऋकारान्त शब्द को 'अर्' आदेश होता है। यथा—**पितरस्तर्पयामः**। वैदिक-ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं, परन्तु लौकिक-भाषा के व्याकरणानुसार ऐसे प्रयोगों का साधुत्व दर्शाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दुर्गसिंह ने अवश्य यह बात प्राचीन-वृत्तियों से ली होगी। पालि में द्वितीया के बहुवचन में **'पितरो, पितरे'** रूप भी होते हैं। ये प्रयोग

---

१. २।१।१८।

२. मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च। तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणम्॥

३. दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमैः। चिकित्सा २१।१२७॥ नेदमदसोरकोः (७।१।११) नियम का अपवाद।

४. २।१।६६॥

कातन्त्र निर्दिष्ट मत को सुदृढ़ करते हैं।

१३. पाणिनि जिन प्रयोगों को केवल छान्दस मानता है उन के लिये सूत्र में '**छन्दसि, निगमे**' आदि शब्दों का प्रयोग करता है। अतः जिन सूत्रों में पाणिनि ने विशेष निर्देश नहीं किया, उन से निष्पन्न शब्द अवश्य लोक-भाषा में प्रयुक्त थे, ऐसा मानना होगा। पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में चार सूत्र पढ़ता है—

अर्वणस्त्रसावनञः।[1] **मघवा बहुलम्।**[2]
दीधीवेवीटाम्।[3] **इन्धिभवतिभ्यां च।**[4]

प्रथम दो सूत्रों से '**अर्वन्तौ, अर्वन्तः; मघवन्तौ, मघवन्तः**' आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं। पतञ्जलि इन सूत्रों को छान्दस मानता है।[5] कातन्त्र-व्याकरण में उपर्युक्त प्रयोगों के साधक '**अर्वन्नर्वन्तिरसावनञ्**,[6] **सौ च मघवान् मघवा**'[7] सूत्र उपलब्ध होते हैं। कातन्त्र केवल लौकिक-संस्कृत का व्याकरण है, और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः उस में इन सूत्रों के विद्यमान होने और पाणिनीय सूत्रों में 'छन्दसि' पद का प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि 'अर्वन्तौ' आदि प्रयोग कभी लौकिक-संस्कृत में विद्यमान थे। अतएव कातन्त्र की वृत्तिटीका में दुर्गसिंह लिखता है—

छन्दस्येतौ योगाविति भाष्यकारो भाषते। शर्ववर्मणो वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। तथा च—मघवद्वृत्रलज्जानिदाने श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रज इति दृश्यते।[8]

अर्थात्—महाभाष्यकार इन सूत्रों को छान्दस मानता है, परन्तु शर्ववर्मा के वचन से इन शब्दों का प्रयोग भाषा में भी

---

१. अष्टा० ६।४।१२७॥ २. अष्टा० ६।४।१२८॥
३. अष्टा० १।१।६॥ ४. अष्टा० १।२।६॥
५. अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्। महाभाष्य ६।४।१२७, १२८॥
६. कातन्त्र २।३।२२॥ ७. कातन्त्र २।३।२३॥
८. कातन्त्रवृत्ति परिशिष्ट, पृ० ४६३। भाषावृत्ति ६।४।१२८ में उपरि निर्दिष्ट उद्धरणों का पाठ इस प्रकार है—कथं 'श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजम्' इति माघः, 'मघवद्वज्रलज्जानिदानम्' इति_व्योषः_?

निश्चित होता है। जैसा कि 'मघवद्वृत्र०' आदि श्लोक में इन का प्रयोग उपलब्ध होता है।

पाणिनि के अन्तिम दो सूत्रों में दीधीङ्, वेवीङ् और इन्धी धातुओं का निर्देश है। महाभाष्यकार इन्हें छान्दस मानता है।[1] कातन्त्र के '**दीधीवेव्योश्च,**[2] **परोक्षायामिन्धिश्रन्थिग्रन्थिदम्भीनामगुणे**'[3] सूत्रों में इन धातुओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम सूत्र की वृत्ति में दुर्गसिंह ने लिखा है– '**छान्दसावेतौ धातू इत्येके**'।[4] इस पर त्रिलोचनदास लिखता है—

छान्दसाविति। शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। नह्ययं छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयतीति।[5]

अर्थात्—भाष्यकार के मत में दीधीङ् वेवीङ् छान्दस धातुएं हैं, परन्तु शर्ववर्मा के वचन से इन का लौकिक संस्कृत में भी प्रयोग निश्चित होता है। क्यों कि शर्ववर्मा छान्दस शब्दों का व्युत्पादन नहीं करता है।[6]

आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण के लौकिक भाग[7] में '**लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्**'[8] सूत्र में इन्धी धातु का निर्देश किया है, और

---

१. दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्। महाभाष्य १।१।६॥ इन्धेश्छन्दोविषयत्वात्। महाभाष्य १।२।६॥ हरदत्त भाषा में भी इन्धी का प्रयोग मानता है। वह लिखता है–'एवं तर्हि ज्ञापनार्थमिन्धिग्रहणं-एतज्ज्ञापयति इन्धेर्भाषायामप्यनित्यमामिति। समीधे समीधांचक्रे इति भाषायामपि भवति'। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ १५३॥ २. कातन्त्र ३।५।१५॥ ३. कातन्त्र ३।६।३॥

४. कातन्त्रवृत्ति ३।५।१५॥ ५. कातन्त्रवृत्ति परिशिष्ट पृष्ठ ५३०।

६. स्वादिगण के अन्त में पठित अह दघ चमु ऋक्षि आदि धातुओं को पाणिनि ने छान्दस माना है। काशकृत्स्न और उसके अनुयायी कातन्त्रकार तथा चन्द्र ने इन्हें छान्दस नहीं माना। द्र०—क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २३१ टि० २ का उत्तरार्ध (हमारा संस्करण)।

७. चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रक्रिया भी थी। इसके अनेक प्रमाण उसकी स्वोपज्ञवृत्ति (१।१।२३, १०५, १०८ इत्यादि) में उपलब्ध होते हैं। इसकी विशेष विवेचना इसी ग्रन्थ के 'चान्द्र-व्याकरण-प्रकरण' में की है।

८. चान्द्र व्या० ५।३।२५॥

स्वोपज्ञ वृत्ति में '**समीधे**' आदि प्रयोग दर्शाये हैं। अतः उस के मत में 'इन्धी' का प्रयोग भाषा में अवश्य होता है।

पाल्यकीर्ति विरचित जैन शाकटायन व्याकरण केवल लौकिक-संस्कृत भाषा का है, परन्तु उस में भी इन्धी से विकल्प से आम् का विधान किया।[1]

इसी प्रकार महाभाष्यकार द्वारा छान्दस मानी गई **वश कान्तौ** धातु का भी लोक में व्यवहार देखा जाता है।[2]

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि संस्कृत-भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिन का पहले लोक में निर्बाध प्रयोग होता था। परन्तु कालान्तर में उन का लोक-भाषा से प्रायः उच्छेद हो गया, और अधिकतर प्राचीन आर्ष-वाङ्मय में उन का प्रयोग सीमित रह गया। अतः उत्तरवर्ती वैयाकरण उन्हें केवल छान्दस मानने लग गये।

१४. पाणिनि के उत्तरवर्ती महाकवि भास के नाटकों में पचासों ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनि-व्याकरण-सम्मत नहीं हैं।[3] उन्हें सहसा अपशब्द नहीं कह सकते। अवश्य वे प्रयोग किसी प्राचीन व्याकरणानुसार साधु रहे होंगे। यहां हम उस के केवल दो प्रयोगों का निर्देश करते हैं—

राजन्-उत्तरपद के नकारान्त के प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार साधु नहीं हैं। उन से अष्टाध्यायी ५।४।६१ के नियम से **टच्** प्रत्यय होकर वे अकारान्त बन जाते हैं। यथा **काशीराजः**, **महाराजः**। परन्तु भास के नाटकों की संस्कृत और प्राकृत दोनों में नकारान्त उत्तरपद के प्रयोग मिलते हैं। यथा—

काशिराज्ञे।[4] **सर्वराज्ञः**।[5] **महाराजानम्**।[6] **महाराण्णा** (= **महाराज्ञा**)।[7]

---

१. जागृषसमिन्धे वा। १।४।८४॥

२. '**वष्टि** भागुरिरल्लोपम्' में तथा यजुर्भाष्य ७।८ के अन्वय में 'त्वां चाहं वश्मि' (स्वामी दयानन्द सरस्वती)।

३. देखो भासनाटकचक्र, परिशिष्ट B, पृष्ठ ५६६-५७३।

४. भासनाटकचक्र पृष्ठ १८७।

५. भासनाटकचक्र पृष्ठ ४४५।

६. यज्ञफलनाटक पृष्ठ २८, ६६।

७. यज्ञफलनाटक पृष्ठ ५०।

ये प्रयोग निस्सन्देह प्राचीन हैं। वैदिक-साहित्य में तो इन का प्रयोग होता ही है,[1] परन्तु महाभारत आदि में भी ऐसे अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—**सर्वराज्ञाम्**—आदिपर्व १।१०२; सभापर्व ४२।१२। **नागराज्ञा**—आदिपर्व १६।१३। **मत्स्यराज्ञा**—आदिपर्व १।११५॥

वस्तुतः **राजन्** नकारान्त और **राज** अकारान्त दो स्वतन्त्र शब्द हैं। जब समास के विना अकारान्त राज के और तत्पुरुष समास में नकारान्त राजन् उत्तरपद के प्रयोग विरल हो गये, तब वैयाकरणों ने **नष्टाश्वदग्धरथ न्याय**[2] से दोनों को परस्पर में सम्बद्ध कर दिया। अकारान्त **राज** शब्द का प्रयोग महाभारत में उपलब्ध भी होता है।[3] इसी प्रकार अकारान्त **अह** शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। पाणिनि द्वारा **ऊधसोऽनङ्** सूत्र[4] से अनङ् आदेश करके निष्पन्न किया गया नकारान्त **ऊधन्** (कुण्डोध्नी घटोध्नी) शब्द के वेद में बहुधा स्वतन्त्र प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

ऊधन् (ऋ० १।१५२।६); **ऊधनि** (ऋ० १।५२ ३); **ऊधभिः** (ऋ० ८।६।१९); **ऊध्नः** (ऋ० ४।२२, ६)।

हमारा तो मन्तव्य है कि पाणिनि ने जहां-जहां लोप आगम वर्णविकार द्वारा रूपान्तर का प्रतिपादन किया है, वे रूप प्राचीन-काल में संस्कृत-भाषा में स्वतन्त्र रूप से लब्धप्रचार थे। उन का लोक में अप्रयोग हो जाने पर पाणिनि आदि ने उनसे निष्पन्न व्यावहारिक भाषा में अवशिष्ट शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिये लोप आगम वर्णविकार आदि की कल्पना की है।[5]

---

१. यानि देवराज्ञां सामानि…… यानि मनुष्यराज्ञाम्……। ताण्ड्य ब्रा० १८।१०।५॥

२. तवाश्वो नष्टः, ममापि रथं दग्धम्, इत्युभौ सम्प्रयुज्यावहे। महाभाष्य १।१।५०॥ ३. राजाय प्रयतेमहि। आदि० ९४।४४॥

४. अष्टा० ५।४।१३१॥

५. इस प्रकार की व्याख्या के लिये देखिये—'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविचारः' पुस्तिका; 'ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग-शैली' पृष्ठ ४-१७; तथा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट' नामक संग्रह। हम समस्त पाणिनीय तन्त्र की इस प्रकार की सोदाहरण वैज्ञानिक व्याख्या लिख रहे हैं।

१५. भास के अभिषेक नाटक में '**विंशति**' के अर्थ में '**विंशत्**' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[1] यह पाणिनीय व्याकरणानुसार असाधु है। पुराणों में अनेक स्थानों पर 'विंशत्' शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—

ऐक्ष्वाकवश्चतुर्विशत् पाञ्चालाः सप्तविंशतिः।
काशेयास्तु चतुर्विशद् अष्टाविंशतिर्हैहयः॥[2]

नारद मनुस्मृति में भी '**चतुर्विशद्**' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] त्रिगर्त की एक प्राचीन वंशावली का पाठ है—'**लक्ष्मीचन्द्रपूर्वतोऽभूत् पञ्चविंशत्तमो नृपः**। यह वंशावली श्री पं० भगवद्दत्त जी को ज्वालामुखी से प्राप्त हुई थी।[4]

वस्तुतः प्राचीन-काल में संस्कृत-भाषा में '**विंशति-विंशत्; त्रिंशति-त्रिंशत्; चत्वारिंशति-चत्वारिंशत्**' आदि दो-दो प्रकार के शब्द थे। **त्रिंशति** और **चत्वारिंशति** के निम्न प्रयोग दर्शनीय हैं—

द्वात्रिंशतिः। पार्जिटर द्वारा सं० कलिराजवंश, पृष्ठ १६, ३२।

रागाः षट्त्रिंशतिः। पञ्चतन्त्र ५।५३। काशी संस्करण।

वर्णाः षट्त्रिंशतिः। पञ्चतन्त्र ५।४१, पूर्णभद्रपाठ।[5]

वैमानिकगतिवैचित्र्यादिद्वात्रिंशतिक्रियायोगे ... स्फोटायनाचार्यः। भारद्वाजीय विमानशास्त्र।[6]

षट्त्रिंशति त्रयाणाम्। वराहगृह्य ६।२६, लाहौर संस्करण।

---

१. विश्वलोकविजयविख्यातविंशद्बाहुशालिनि। भासनाटकचक्र पृ० ३५६।

२. पार्जिटर सम्पादित कलिराजवंश पृष्ठ २३। पूना संस्करण का पाठ इस प्रकार है—कालकास्तु चतुर्विंशच्चतुर्विंशत्तु हैहयः। ६६।३२२॥

३. चतुर्विशत् समाख्यातं भूमेस्तु परिकल्पनम्। दिव्य प्रकरण श्लोक १३, पृष्ठ १६५।

४. 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १२० (द्वि० संस्करण)।

५. हार्डवर्ड ओरियण्टल सीरिज में प्रकाशित।

६. 'शिल्प संसार' १९ फरवरी १९५५ के अङ्क में पृष्ठ १२२ पर। अब इस ग्रन्थ का बहुत सा अंश स्वामी ब्रह्ममुनिजी के उद्योग से स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हो गया है।

चत्वारिंशति सर्वेषाम् । वराहगृह्य ६।२६, लाहौर संस्करण ।

संस्कृत-भाषा के इन द्विविध प्रयोगों में से त्रिंशति चत्वारिंशति आदि 'ति' अन्त वाले शब्दों के अपभ्रंश अंग्रेजी आदि भाषाओं में **थर्टि फोर्टि फिफ्टी** आदि रूपों में व्यवहृत होते हैं ।

महाकवि भास के नाटकों को देखने से विदित होता है कि उस ने पाणिनीय व्याकरण के नियमों का पूर्ण अनुसरण नहीं किया । अतएव महाराजाधिराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित[1] में भास के संबन्ध में लिखा है—

अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षिपुत्रपदक्रमम् ॥६॥

सम्भव है, भास अति प्राचीन कवि हो, और उस के समय में तत्प्रयुक्त अपाणिनीय शब्द लोक-भाषा में प्रयुक्त रहे हों, अथवा उसने किसी प्राचीन व्याकरण के अनुसार इन का प्रयोग किया हो ।

१६. लौकिक-संस्कृत के ऐसे अनेक प्रयोग हैं, जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध होते है, परन्तु पतञ्जलि के काल में उन का भाषा से प्रयोग लुप्त हो गया था । यथा—

प्रियाष्टनौ प्रियाष्टानः[2], **एनच्छितकः**[3], **कीः**[4] **उः**[5], **कर्तृं चा कर्तृं चे**,[6] **उत्पुट्**,[7] **पयसिष्ट**,[8] **द्वः**[9] ।

---

१. इस ग्रन्थ का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है । वह गोंडल (काठियावाड़) में छपा है । इस ग्रन्थ से पाश्चात्य मतानुयायियों की अनेक कल्पनाओं का उन्मूलन हो जाता है । कई विद्वान् इसे जाल रचना बतलाते हैं । पं० भगवद्दत्त जी ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता भले प्रकार दर्शाई है । देखो, भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय संस्क० पृष्ठ ३५३, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३४६ ।

२. महाभाष्य १।१।२४ ॥ प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टानः (उभयथापि दृश्यते) । हैम बृहद्वृत्ति २।१।७ ॥ ३. महाभाष्य २।४।३४ ॥

४. महाभाष्य ६।१।६८ ॥ हैम बृहद्वृत्ति २।१।६० के कनकप्रभसूरि कृत न्याससार (लघुन्यास) तथा अमरचन्द्र-विरचित अवचूर्णि में महाभाष्य का पाठ अन्यथा उद्धृत किया है–'अत्र भाष्यम्–लोके प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम् । लोके च 'कीर्त्' इत्येव दृश्यते, न 'कीर्' इति । ५. महाभाष्य ६।१।८६॥

६. महाभाष्य ६।४।२ ॥ ७. महाभाष्य ६।४।१६ ॥

८. महाभाष्य ६।४।१६३ ॥ ९. महाभाष्य ७।२।१०६ ॥

इन प्रयोगों के विषय में पतञ्जलि कहता है—**'यथालक्षणमप्रयुक्ते'**।[1] यदि इस वचन का यह अर्थ माना जाये कि ये शब्द भाषा में भी प्रयुक्त नहीं रहे, तो महाभाष्यकार के पूर्वोद्धृत **'सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते'** वचन से विरोध होगा। यदि ये शब्द महाभाष्यकार की दृष्टि में सर्वथा अप्रयुक्त होते, तो पतञ्जलि यथालक्षण प्रयोगसिद्धि का विधान न करके **'अनभिधानान्न भवति'** कहता।[2]

१७. महाभारत आदि प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो पाणिनीय व्याकरणानुसारी नहीं हैं। अर्वाचीन वैयाकरण **'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति, छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति, आर्षत्वात् साधु,'** आदि कह कर प्रकारान्त से उन्हें अपशब्द कहने की धृष्टता करते हैं,[3] यह उन का मिथ्या ज्ञान है। शब्दप्रयोग का विषय अत्यन्त महान् है, अतः किसी प्रयोग को केवल अपाणिनीयता की वर्तमान परिभाषा के अनुसार अपशब्द नहीं कह सकते। महाभारत में प्रयुक्त अपाणिनीय प्रयोगों के विषय में १२ वीं शताब्दी

---

१. महाभाष्य १।१।२४; २।४।३४; ६।१।६८, ८६; ६।४।२, ११, १६३; ७।२।१०६ ॥

२. 'नहि यन्न दृश्यते तेन न भवितव्यम्। अन्यथा हि यथालक्षणमप्रयुक्तेष्वित्येतद् वचनमप्रयुज्यमानं स्यात्'। कैयट भी कहता है—'यस्य प्रयोगो नोपलभ्यते तल्लक्षणानुसारेण संस्कर्तव्यम्। प्रदीप २।४।३४ ॥

३. सखिना, पतिना, पतौ। अत्र हरदत्तः—छन्दोवदृषयः कुर्वन्तीति। अस्यायमाशयः—असाधव एवैते त्रिशङ्क्वाद्ययाज्ययाजनादिवत् तपोमाहात्म्यशालिनां मुनीनामसाधुप्रयोगोऽपि नातीव बाधते। शब्दकौस्तुभ १।४।७ ॥ इतिहासपुराणेषु अपशब्दा अपि संभवन्ति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७ ॥ निरङ्कुशा हि कवयः। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६०। स्वच्छन्दमनुवर्तन्ते,न शास्त्रमृषयः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ६६८। कथं भाषायां वैन्यो राजेति? छान्दस एवायं प्रमादात् कविभिः प्रयुक्तः। काशिका ४।१।१५१॥ निरुक्त १।१६ में पठित 'पारोवर्यवित्' शब्द को कैयट, हरदत्त और भट्टोजि दीक्षित प्रभृति सभी नवीन वैयाकरण असाधु=अपशब्द कहते हैं। द्रष्टव्य अष्टा० ५।२।१० का महाभाष्य-प्रदीप, पदमञ्जरी, सि० कौमुदी। वेदप्रस्थानाभ्यासेन हि वाल्मीकिद्वैपायनप्रभृतिभिः तथैव स्ववाक्यानि प्रणीतानि। कुमारिल, तन्त्रवा० १।२।१, पृष्ठ ११६, पूना संस्करण।

से पूर्वभावी देवबोध महाभारत की ज्ञानदीपिका टीका के आरम्भ में लिखता है—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः ।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते ॥७॥

यान्युज्जहार माहेन्द्राद्[1] व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥८॥

भगवान् वेदव्यास का संस्कृत-भाषा का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था। वायुपुराण १।१८ में लिखा है—**भारती चैव विपुला महाभारत-वर्धिनी।**

सोलहवीं शताब्दी के प्रक्रियासर्वस्व के कर्ता नारायण भट्ट ने अपनी '**अपाणिनीयप्रामाणिकता**' नामक पुस्तक में इस विषय पर भले प्रकार विचार किया है। यह पुस्तक त्रिवेण्द्रम से प्रकाशित हुई है।[2]

हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत-भाषा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसके विपरीत पाश्चात्य भाषामत-वादियों का कहना है कि पाणिनि के पश्चात् संस्कृत-भाषा में जो परिवर्तन हुए उन को दर्शाने के लिये कात्यायन ने अपना वार्तिकपाठ रचा और तदन्तरभावी परिवर्तनों का निर्देश पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है। यद्यपि यह मत पाणिनीयतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त '**शब्दनित्यत्व**' के तो विपरीत है ही, तथापि अभ्युपगमवाद से हम पाश्चात्य विद्वानों के उक्त कथन की निस्सारता दर्शाने के लिये यहां एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

पाणिनि का एक सूत्र है—'**चक्षिङः ख्याञ्**'।[3] इस पर कात्यायन ने वार्तिक पढ़ा है—'**चक्षिङः क्शाञ्ख्याञौ**।[4] अर्थात् ख्याञ् के

१. कई लोग इस श्लोक में 'माहेन्द्रात्' के स्थान में 'माहेशात्' पद पढ़ते हैं। यह श्लोक देवबोधविरचित है, और उस का पाठ 'माहेन्द्रात्' ही है। माहेश पाठ और माहेश व्याकरण के लिये 'मञ्जूषा' पत्रिका (कलकत्ता) वर्ष ५, अङ्क ८ द्रष्टव्य है। पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषावृत्ति में 'समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे' इत्यादि श्लोकान्तर उद्धृत किया है। द्र०—पृष्ठ १२६, वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी संस्करण।

२. सम्भव हुआ तो इसे हम द्वितीय भाग के अन्त में प्रकाशित करेंगे।

३. अष्टा० २।४।५४॥

४. महाभाष्य २।४।५४॥

साथ क्शात्र् आदेश का भी विधान करना चाहिये। पाश्चात्यों के मतानुसार इस का अभिप्राय यह होगा कि पाणिनि के समय केवल ख्यात्र् का प्रयोग होता था, परन्तु कात्यायन के समय क्शात्र् का भी प्रयोग होने लग गया, अतएव उसने ख्यात्र् के साथ क्शात्र् आदेश का भी विधान किया।

हमें पाश्चात्य विद्वानों की ऐसी ऊटपटांग, प्रमाणशून्य कल्पनाओं पर हंसी आती है। उपर्युक्त वार्तिक के आधार पर क्शात्र् को पाणिनि के पश्चात् प्रयुक्त हुआ मानना सर्वथा मिथ्या होगा। पाणिनि द्वारा स्मृत आचार्य गार्ग्य क्शात्र् के प्रयोग से अभिज्ञ था। वर्णरत्न-दीपिका शिक्षा का रचियता अमरेश लिखा है—

ख्याधातोः खययोः स्यातां कशौ गार्ग्यमते यथा।
विवश्याऽऽक्शाताम् इत्येतत् .... ॥[1]

इस गार्ग्यमत का निर्देश आचार्य कात्यायन ने वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१६७ के '**ख्यातेः खयौ, कशौ गार्ग्यः, सवख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम्**' सूत्र में किया है। आचार्य शौनक ने भी ऋक्प्रातिशाख्य ६।५५, ५६ में 'क्शा' धातु के 'क्-श' के स्थान पर कई आचार्यों के मत में 'ख-य' का विधान किया है।[2]

इतना ही नहीं, पाणिनि से पूर्व प्रोक्त और अद्य यावत् वर्तमान मैत्रायणीय संहिता में '**ख्या**' धातु के प्रसङ्ग में सर्वत्र '**क्शा**' के प्रयोग मिलते हैं।[3] काठक संहिता में भी कहीं-कहीं '**क्शा**' के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[4] शुक्लयजुः प्रातिशाख्य का भाष्यकार उव्वट स्पष्ट लिखता है—'**ख्यातेः क्शापत्तिरुक्ता, एते चरकाणाम्**।'[5] ऐसी अवस्था में यह कहना कि पाणिनि के समय क्शा का प्रयोग विद्यमान नहीं था, अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि क्शा धातु का प्रयोग पाणिनि के समय विद्यमान था, तो उस ने उस का निर्देश क्यों नहीं किया? इस

---

१. श्लोक १६५। शिक्षासंग्रह काशी संस्करण।
२. क्शातौ खकारयकारा उ एके। तावेव ख्यातिसदृशेषु नामसु।
३. अन्वग्निरुषसामग्रमक्शत्। मै० सं० १।८।६ इत्यादि।
४. नक्तमग्निरुपस्थेयः पशूनामनुक्शात्यै। काठक सं० ७।१० ॥
५. वाज० प्राति० ४।१६७ ॥

का उत्तर यह है कि पाणिनि ने प्राचीन विस्तृत व्याकरण-शास्त्र का संक्षेप किया है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिये उसे कई नियम छोड़ने पड़े।[1] दूसरा कारण यह है कि पाणिनि उत्तरदेश का निवासी था। अतः उस के व्याकरण में वहीं के शब्दों का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। क्शात्र् का प्रयोग दक्षिणापथ में होता था। मैत्रायणीय संहिता के प्रचार का क्षेत्र आज भी वही है। वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था।[2] वह क्शात्र् के प्रयोग से विशेष परिचित था। इसलिये उसने पाणिनि से छोड़े गये क्शात्र् धातु का सन्निवेश और कर दिया। हमारी इस विवेचना से स्पष्ट है कि क्शात्र् का प्रयोग पाणिनि से पूर्व विद्यमान था। अतः कात्यायनीय वार्तिकों वा पातञ्जल महाभाष्य के किन्हीं वचनों के आधार पर यह कल्पना करना कि पाणिनि के समय यह प्रयोग नहीं होता था, पीछे से परिवर्तित होकर इस प्रकार प्रयुक्त होने लगा, सर्वथा मिथ्या है।

१६. पूर्वमीमांसा (१।३।३०) के **पिकनेमाधिकरण** में विचार किया है कि—'वैदिक-ग्रन्थों में कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त हैं, जिन का आर्य लोग प्रयोग नहीं करते, किन्तु म्लेच्छ-भाषा में उन का प्रयोग होता है। ऐसे शब्दों का म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थ स्वीकार करना चाहिये अथवा निरुक्त व्याकरण आदि से उन के अर्थों की कल्पना करनी चाहिये।' इस विषय में सिद्धान्त कहा है—**'वैदिक-ग्रन्थों में उपलभ्यमान शब्दों का यदि आर्यों में प्रयोग न हो तो उन का म्लेच्छ-प्रसिद्ध अर्थ स्वीकार कर लेना चाहिये।'**

मीमांसा के इस अधिकरण से स्पष्ट है कि वैदिक-ग्रन्थों में अनेक पद ऐसे प्रयुक्त हैं, जिन का प्रयोग जैमिनि के काल में लौकिक संस्कृत से लुप्त हो गया था, परन्तु म्लेच्छ-भाषा में उन का प्रयोग विद्यमान था। शबरस्वामी ने इस अधिकरण में **'पिक, नेम, अर्ध, तामरस'** शब्द उदाहरण माने हैं। शबरस्वामी इन शब्दों के जिन अर्थों को म्लेच्छ-प्रसिद्ध मानता है उन्हीं अर्थों में इन का प्रयोग उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होता है। अतः प्रतीत होता है कि कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिन का प्राचीन-काल में आर्य-भाषा में प्रयोग

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ३२, ३३, सन्दर्भ ८।

२. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १।

होता था, कालान्तर में उन का आर्य-भाषा से उच्छेद हो गया, और उत्तर-काल में उन का पुनः आर्य-भाषा में प्रयोग होने लगा। इस की पुष्टि अष्टाध्यायी ७।३।९५ से भी होती है। पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि '**तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु च्छन्दसि**'[1] सूत्र में '**छन्दसि**' ग्रहण करता है, अतः उस के काल में '**तवीति**' आदि पद लोक में प्रयुक्त नहीं थे, परन्तु उस से उत्तरवर्ती पाणिनि 'छन्दसि' ग्रहण नहीं करता। इस से स्पष्ट है कि उस के काल में इन पदों का लोक-भाषा में पुनः प्रयोग प्रचलित हो गया था।[2]

मीमांसा के इस अधिकरण के आधार पर पाश्चात्य तथा तदनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् लिखते हैं कि 'वेद में विदेशी-भाषाओं के अनेक शब्द सम्मिलित हैं।' उन का यह कथन सर्वथा कल्पना-प्रसूत है। यह हमारे अगले विवेचन से भले प्रकार स्पष्ट हो जायेगा।

लौकिक-संस्कृत ग्रन्थों में अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों का वर्तमान-भाषाओं में प्रयोग

आज कल लोक में अनेक शब्द ऐसे व्यवहृत होते हैं, जो शब्द और अर्थ की दृष्टि से विशुद्ध संस्कृत-भाषा के हैं, परन्तु उन का संस्कृत-भाषा में प्रयोग उपलब्ध न होने से ये अपभ्रंश-भाषाओं के समझे जाते हैं। यथा—

१. फारसी-भाषा में पवित्र अर्थ में '**पाक**' शब्द का व्यवहार होता है। परन्तु उस का पवित्र अर्थ में प्रयोग वेद के '**यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः**'[3] आदि अनेक मन्त्रों में मिलता है।[4]

१. काशिका ७।३।९५॥

२. काशकृत्स्न के 'ब्रूआदेरी तिसिमिषु' सूत्रानुसार 'ब्रवीति' के समान 'स्तवीति' 'ऊर्णीति' आदि प्रयोग भी लोक व्यवहृत हैं। द्रष्टव्य—'काशकृत्स्न-व्याकरण', सूत्र ७४, पृष्ठ ६१ (हमारा संकलन) तथा 'काशकृत्स्न-व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' लेख 'साहित्य' (पटना) का वर्ष १०, अङ्क २, पृष्ठ २६।

३. ऋग्वेद ७।१०४।८; अथर्व ८।४।८॥

४. योऽस्मत्पाकतर इत्यत्राल्पे, तं मा पाकेन मनसाऽपश्यन् इति यो मा पाकेन मनसा चरन्तम् इति च प्रशंसायाम्। गार्ग्यनारायण आश्व० गृह्य १।२॥ वस्तुतः प्रशंसा अर्थ लाक्षणिक है, मूल अर्थ पवित्र ही है।

२. हिन्दी में प्रयुक्त **'घर'** शब्द संस्कृत गृहशब्द का अपभ्रंश माना जाता है, परन्तु है यह विशुद्ध संस्कृत शब्द। दशापादी-उणादि में इस के लिये विशेष सूत्र है।[1] जैन संस्कृत-ग्रथों में इस का प्रयोग उपलब्ध होता है।[2] भास के नाटकों की प्राकृत में भी इस का प्रयोग मिलता है।[3]

संस्कृत के 'घर' शब्द का रूपान्तर प्राकृत में **'हर'** होता है। यथा **'पईहर-पइहर'** (द्र०—हैम प्रा० व्या० १।१।४ वृत्ति)। इसी प्रकार मारवाड़ी के **'पीहर'** शब्द का मूल भी **'पितृघर'** है ('तृ' लोप होकर)। इन रूपों में गृह का 'हर' रूपान्तर मानना चिन्त्य है, क्यों कि भाषा-विज्ञान के उत्सर्ग नियम के अनुसार 'घ' का 'ह' होना सरल है, **गृह** का घर अथवा हर रूपान्तर अतिक्लिष्ट कल्पना है।

३. युद्ध अर्थ में प्रयुक्त फारसी का **'जङ्ग'** शब्द संस्कृत की **'जजि युद्धे'** धातु का घञ्-प्रत्ययान्त रूप है। यह **'चजोः कुः घिण्यतोः'**[4] सूत्र से कुत्व होकर निष्पन्न होता है। यथा—भज् से भाग। मैत्रेयरक्षित-विरचित धातुप्रदीप पृष्ठ २५ में इस शब्द का साक्षात् निर्देश मिलता है।

४. फारसी में प्रयुक्त **बाज** शब्द **वज व्रज गतौ** धातु का अण्-प्रत्ययान्त रूप है। **बवयोरभेदः** यह प्रसिद्धि भारतीय शास्त्रज्ञों में भी क्वचित् विद्यमान है। तदनुसार **वाज=बाज** दोनों एक ही हैं।

५. पञ्जाबी-भाषा में बरात अर्थ में व्यवहृत **'जञ्ज'** शब्द भी पूर्वोक्त 'जजि' धातु का घञन्त रूप है। प्राचीन काल में स्वयंवर के अवसर पर प्रायः युद्ध होते थे, अतः जञ्ज शब्द में मूल युद्ध अर्थ निहित है। इस शब्द में निपातन से कुत्व नहीं होता। यह पाणिनि के उच्छादिगण[5] में पठित है। भट्ट यज्ञेश्वर ने गणरत्नावली में जञ्ज का अर्थ 'युद्ध' किया है।[6] उस में थोड़ी भूल है। वस्तुतः जङ्ग और जञ्ज शब्द क्रमशः युद्ध और बरात के वाचक हैं। संस्कृत **गर, गल**;

---

१. 'हन्ते रन् घ च'। द० उणा० ८।१०४; क्षीरतरङ्गिणी १०।९८ में दुर्ग के मत में 'घर' स्वतन्त्र धातु मानी है।

२. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृष्ठ १३, ३२॥ ३. यज्ञफलनाटक पृष्ठ १९१॥

४. अष्टा० ७।३।५२॥ ५. गणपाठ ६।१।१६०॥

६. ६।१।१६०। हमारा हस्तलेख पृष्ठ ३५५॥

ग्रह, ग्लह आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो समान धातु और समान प्रत्यय से निष्पन्न होने पर भी वर्णमात्र के भेद से अर्थान्तर के वाचक होते हैं।

६. हिन्दी में '**गुड़ का क्या भाव है**' इत्यादि में प्रयुक्त '**भाव**' शब्द शुद्ध संस्कृत का है। यह '**भू प्राप्तावात्मनेपदी**' चौरादिक धातु से अच् (पक्षान्तर में घञ्) प्रत्यय से निष्पन्न होता है। सत्तार्थक भाव शब्द इस से पृथक् है, वह '**भू सत्तायाम्**' धातु से बनता है।

७. हिन्दी में प्रयुक्त '**मानता है**' क्रिया की '**मान**' धातु का प्रयोग जैन संस्कृत-ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध होता है।[1]

८. हिन्दी में '**ढूंढना**' क्रिया का मूल धातु **ढुढि अन्वेषणे**—**ढुण्ढति** काशकृत्स्न धातुपाठ में उपलब्ध होता है।[2] स्कन्द पुराण काशीखण्ड में भी यह धातु स्मृत है।[3]

इसी प्रकार कई धातुएं ऐसी हैं जिन का लौकिक-संस्कृत-भाषा में संप्रति प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, परन्तु अपभ्रंश भाषाओं में उपलब्ध होता है। यथा—

९. संस्कृत-भाषा में सार्वधातुक प्रत्ययों में '**गच्छ**' और आर्धधातुक प्रत्ययों में '**गम**' का प्रयोग मिलता है। वैयाकरण गम के मकार को सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर छकारादेश का विधान करते हैं।[4] वस्तुतः यह ठीक नहीं है। गच्छ और गम दोनों स्वतन्त्र धातुएं हैं। यद्यपि लौकिक-संस्कृत में गच्छ के आर्धधातकप्रत्यय परे प्रयोग नहीं मिलते तथापि पालि भाषा में '**गच्छिस्सन्ति**' आदि, मण्डी-राज्य (हिमाचल-प्रदेश) कीं पहाड़ी-भाषा में '**कुदर गच्छणा**' तथा पश्चिमी पञ्जाब की झेहलम के आस-पास की बोली में '**कुद्र गच्छणा वोय**' और '**इदुर आगच्छणा वोय**' प्रयोग होता है। ये संस्कृत के '**गच्छिष्यन्ति**' तथा '**कुत्र गच्छनम्**' के अपभ्रंश हैं, '**गमिष्यन्ति**' और '**कुत्र गमनम्**' के यहीं। इसी प्रकार **गम** धातु के सार्वधातुक प्रत्यय

---

१. पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृष्ठ १३, ३०, ५१, १०३ इत्यादि। प्रबन्धकोश पृष्ठ १०७।

२. काशकृत्स्न धातुव्याख्यानम्, धातु सं० १।१६१, पृष्ठ २१।

३. अन्वेषणे ढुण्ढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः। सर्वार्थढुण्ढितया तव ढुण्ढिनाम॥

४. इषुगमियमां छः। अष्टा० ७।३।७७॥

परे रहने पर '**गमति**' आदि प्रयोग वेद में बहुधा उपलब्ध होते हैं। पाणिनि ने जहां-जहां **पा घ्रा** आदि के स्थान में **पिब जिघ्र** आदि का आदेश किया है,वहां-वहां सर्वत्र उन्हें स्वतन्त्र धातु समझना चाहिये। समानार्थक दो धातुओं में से एक का सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया, दूसरी का आर्धधातुक में। वैयाकरणों ने अन्वाख्यान के लिये नष्टाश्वदग्धरथन्याय से दोनों को एक साथ जोड़ दिया।

इसी प्रकार वर्णलोप-वर्णागम-वर्णविकार आदि के द्वारा वैयाकरण जिन रूपों को निष्पन्न करते हैं, वे रूपान्तर भी मूलरूप में स्वतन्त्र धातुएं हैं। हम स्पष्टीकरण के लिए कतिपय प्रयोग उपस्थित करते हैं। यथा—

(क) घ्रा धातु के सार्वधातुक प्रत्यय से परे आदेशरूप में विहित **जिघ्र** के आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—

मूर्धन्यभिजिघ्राणम्। गोभिल गृह्य २।८।२४॥[1]
वर्चसे हुम् इति अभिजिघ्रच। हिरण्य० गृह्य २।४।२७॥[2]

(ख) **घ्रा** का सार्वधातुक प्रत्ययों में **प्रयोग**—

न पश्यति न चाघ्राति। महा०शान्ति० १८७।१७। एवं बहुत्र।

(ग) ध्मा स्थानीय **धम** के आर्धधातुक में **प्रयोग**—

विधमिष्यामि जीमूतान्। रामा० सुन्दर० ६७ १२॥
धान्तो धातुः पावकस्यैव राशिः।[3]

(घ) **ब्रूञ्** धातु के आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—

ब्राह्मणो ब्रवणात्। निरुक्त ६।६।[4]

---

१. 'अभिजिघ्राणम्' पाठान्तर में निर्दिष्ट पाठ युक्त है। 'अभिजिघ्रणम्' मुद्रित पाठ अशुद्ध है। द्र०—गृह्यकारेण 'मूर्धन्यभिघ्राणम्' इति वक्तव्ये 'मूर्धन्यभिजिघ्राणम्' इत्यविषयेऽपि जिघ्रादेशः प्रयुक्तः। तन्त्रवार्तिक १।३, अधि० ८, पृष्ठ २५८, पूना संस्करण।

२. अभिघ्रायेति वाच्ये अभिजिघ्र्येति वचनं······प्रमादपाठो वा। हिरण्यकेशीय गृह्य टीकाकार मातृदत्त।

३. क्षीरतरङ्गिणी १।६५६, दशपादी वृत्ति ३।५, हैमोणादिवृत्ति ३३ में उद्धृत (कुछ पाठान्तर हैं)। **धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके**। क्षीरतरङ्गिणी १।६५६॥

४. निरुक्त का वर्तमान पाठ 'ब्राह्मणा···ब्रुवाणाः' है। यह निश्चय ही

(ङ) **यज** के कित् ङित् प्रत्ययों में सम्प्रसारण द्वारा विहित **इज्** रूप का **इज्यन्ति** प्रयोग महा० शान्ति० २६३।२६ में।

इसी प्रकार **वस** के **उष** रूप का **उष्य** प्रयोग महा० वन० में बहुत्र मिलता है।

(च) **ग्रह** का सम्प्रसारण और भकारादेश होकर निष्पन्न **गृभ** का **गर्भो गृभेः** निरुक्त १०।१३ में प्रयोग है।

(छ) **वच** को लुङ् में **उम्** आगम होकर निष्पन्न **वोच** के **वोचति** आदि रूप वेद में बहुधा मिलते हैं।

इसीलिये निरुक्तकार यास्क 'यज' 'वप' आदि धातुओं को अकृत-सम्प्रसारण 'यज' 'वप' तथा कृत-सम्प्रसारण 'इज' 'उप' का प्रतिनिधि मानता है।[1]

१०. विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पूर्वभावी वैयाकरण **'कृञ्'** धातु को भ्वादि में पढ़ते हैं,[2] किन्तु इसके भौवादिक प्रयोग लौकिक

अपपाठ है। उपर्युक्त पाठ कुमारिल द्वारा उद्धृत है। यथा—कात्स्न्र्येऽपि व्याकरणस्य निरुक्ते हीनलक्षणा बहवो **यद् ब्राह्मणो ब्रवणादिति**।......ब्रुवो वचिरिति वच्यादेशमकृत्वैव ब्रवणादित्युक्तम्। तन्त्रवा० १।३, अधि ८, पृष्ठ २५८, पूना।

१. तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। निरुक्त २।२॥

२. क्षीरतरङ्गिणी १।६३६। पृष्ठ १३०, हैमधातुपारायण, शाकटायन धातु-पाठ संख्या ५७७, दैवपुरुषकार पृष्ठ ३८, दशपादी-उणादिवृत्ति पृष्ठ १७, ५२ इत्यादि। भ्वादिगण से कृञ् धातु का पाठ सायण ने हटाया है। वह लिखता है—**'अनेन प्रकारेणास्माभिर्धातुवृत्तावयं धातुर्निराकृतः'**। ऋग्वेदभाष्य १।८२।१॥ तथा धातुवृत्ति पृष्ठ १६३। भट्टोजि दीक्षित ने सायण का ही अनुसरण किया है। सायण ऋग्वेदभाष्य में अन्यत्र कृञ् को भ्वादि में मानता है—'कृञ् करणे भौवादिकः।' १।२३।६॥ पाणिनि ने कृञ् धातु भ्वादिगण में पढ़ा था। तनादि-गण में कृञ् का पाठ अपाणिनीय है। 'उ'-प्रत्यय अष्टाध्यायी ३।१।६६ के विशेष विधान से होता है। इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्भाष्य ३।५८ में लिखा है—**'डुकृञ् करण इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते,तनादिभिः सह पाठाद् उविकरणोऽपि'**। विशेष द्रष्टव्य अस्मत्-सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ १३०, २६३।

संस्कृत-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। प्राकृत-भाषा में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।[1] हिन्दी में भी उसके अपभ्रंश 'करता' शब्द का प्रयोग होता है।

११. धातुपाठ में **'हन'** धातु का अर्थ गति और हिंसा लिखा है। लौकिक-संस्कृत वाङ्मय में इसका गत्यर्थ में प्रयोग नहीं मिलता।[2] किन्तु हिसार जिले की ग्रामीण-भाषा के **'कठे हणसे'** आदि वाक्यों में इस के अपभ्रंश का प्रयोग पाया जाता है।

१२. संस्कृत की **'रक्ष'** धातु का **'रखना'** अर्थ में प्रयोग संस्कृत-भाषा में नहीं मिलता। प्राकृत में इस के अपभ्रंश 'रक्ख' धातु का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है। हिन्दी की 'रख' क्रिया प्राकृत की 'रक्ख' का अपभ्रंश है। अतः संस्कृत की 'रक्ष' धातु का मूल अर्थ 'रक्षा करना' और 'रखना' दोनों हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत-भाषा किसी समय अत्यन्त विस्तृत थी। उस का प्रभाव संसार की समस्त भाषाओं पर पड़ा। बहुत से शब्द अपभ्रंश भाषाओं में अभी तक मूल रूप और मूल अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कुछ अल्प विकार को प्राप्त हो गये, कुछ इतने अधिक विकृत हुए कि उन के मूल स्वरूप का निर्धारण करना भी इस समय असम्भव हो गया। अतः अपभ्रंश-भाषाओं में प्रयुक्त वा तत्सम शब्द का संस्कृत के किसी प्राचीन ग्रन्थ में व्यवहार देख कर यह कल्पना करना नितान्त अनुचित है कि यह शब्द किसी अपभ्रंश-भाषा से लिया गया है। यदि संसार की मुख्य-मुख्य भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन और आलोडन किया जाये, तो उन से संस्कृत के सहस्रों लुप्त शब्दों का ज्ञान हो सकता है। और उस से सब भाषाओं का संस्कृत से सम्बन्ध भी स्पष्ट ज्ञात हो सकता है।

---

१. अणुकरेदि (अनुकरति), भासनाटकचक्र पृष्ठ २१८। करअन्तो (करन्तः=कुर्वन्तः) भासनाटकचक्र पृष्ठ ३३६।

२. धातुप्रदीप के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने गत्यर्थ हन धातु का एक प्रयोग उद्धृत किया है—'भूदेवेभ्यो महीं दत्वा यज्ञैरिष्ट्वा सुदक्षिणैः। अनुक्त्वा निष्ठुरं वाक्यं स्वर्गं हन्तासि सुव्रत॥' धातुप्रदीप पृष्ठ ७६, टि० २। सम्भव है यहां 'हन्तासि' के स्थान में 'गन्तासि' पाठ हो। साहित्य-विशारदों ने गत्यर्थक हन्ति के प्रयोग को दोष माना है। 'तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम्'। भामहालङ्कार ६।२४॥ तथा—'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी। अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्'। साहित्य-दर्पण परि० ७, पृष्ठ

नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत की संस्कृतछाया

यदि उपर्युक्त दृष्टि से संस्कृतनाटकान्तर्गत प्राकृत का अध्ययन किया जाये, तो उस से निम्न दो बातें अत्यन्त स्पष्ट होती हैं—

१. प्राकृत के आधार पर संस्कृत के शतशः विलुप्त शब्दों का पुनरुद्धार हो सकता है।

२. नाटकान्तर्गत प्राकृत की जो संस्कृत छाया इस समय उपलब्ध होती है, वह अनेक स्थानों में प्राकृत से अति दूर है। आधुनिक पंडित प्राकृत से प्रतीयमान संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं। अतः उन स्थानों में प्राकृत से असम्बद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं। हम उदाहरणार्थ भास के नाटकों से कुछ प्रयोग उपस्थित करते हैं—

प्राकृत	मुद्रित संस्कृत	मूल संस्कृत	नाटकचक्र पृष्ठ
अणुकरेदि	अनुकरोति	अनुकरति	२१८
करअन्तः	कुर्वन्तः	करन्तः	३३६
पेक्खामि	पश्यामि	प्रेक्षामि	३३६
पेक्खन्ती	पश्यन्ती	प्रेक्षन्ती	३५७
रोदामि	रोदिमि	रोदामि	१६८
चञ्चलाअन्ति विअ मे अक्खीणि	चञ्चलायेते इव मेऽक्षिणी	चञ्चलायन्ति इव मेऽक्षीणि	१६२

इस प्रकार हमने इस अध्याय में भारतीय इतिहास के अनुसार संस्कृत-भाषा की प्रवृत्ति और उस के विकास तथा ह्रास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आधुनिक कल्पित भाषाशास्त्र का अधूरापन, और उस से उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियों का भी कुछ दिग्दर्शन कराया है। आधुनिक भाषाशास्त्र की समीक्षा[1] एक महान् कार्य है, उस के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। अतः हमने यहां उस की विस्तार से विवेचना नहीं की। इसी प्रकार संस्कृत-भाषा समस्त

---

३६६ निर्णयसा० संस्क०; काव्यप्रकाश उल्लास ७। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में लिखा है—'गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते'। इस से स्पष्ट है कि बहुत काल से आर्य गम के अतिरिक्त अन्य गत्यर्थक धातु का प्रयोग नहीं करते।

१. इस के लिये देखिये श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भाषा का इतिहास'।

भाषाओं की प्रकृति है, उसी से समस्त अपभ्रंश भाषाएं प्रवृत्त हुई हैं, इस की विवेचना करना भी एक स्वतन्त्र विषय है।

हमारे इस प्रकरण को लिखने का मुख्य प्रयोजन यह दर्शाना है कि संस्कृत-भाषा में आदि से लेकर आज तक कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। आधुनिक पाश्चात्य भाषाशास्त्री संस्कृत-भाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं, वह परिवर्तन नहीं है। वह केवल प्राचीन अति-विस्तृत संस्कृत-भाषा में उत्तरोत्तर शब्दों के संकोच (=ह्रास) के कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः उस में परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ।

इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई संस्कृत-वाङ्मय के कालविभाग की कल्पना भी सर्वथा प्रमाणशून्य है। भारतीय इतिहास में अनेक ऋषि ऐसे हैं, जिन्होंने वेदों की शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, आयुर्वेद और व्याकरण आदि अनेक विषयों का प्रवचन किया। इन ग्रन्थों में जो भाषाभेद आपाततः प्रतीत होता है, वह रचनाशैली और विषय की विभिन्नता के कारण है। यह बात प्रत्यात्मवेदनीय है। अतः संस्कृत वाङ्मय में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा **'कल्पित कालविभाग'** और **'संस्कृत-भाषा में परिवर्तन'** ये दोनों ही पक्ष उपपन्न नहीं हो सकते।

अब हम अगले अध्याय में संस्कृत-भाषा के व्याकरण की उत्पत्ति और इस की प्राचीनता पर लिखेंगे।

दूसरा अध्याय

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति और प्राचीनता

ब्रह्मा से लेकर दयानन्द सरस्वती[1] पर्यन्त समस्त भारतीय विद्वानों का मत रहा है कि संसार में जितना ज्ञान प्रवृत्त हुआ, उस सब का आदिमूल वेद है। अतएव स्वायंभुव मनु ने वेद को **सर्वज्ञानमय** कहा है।[2] मनु आदि महर्षि उसी ज्ञान से संसार को प्रकाश दे रहे थे, अतः वे ऐसा क्यों न कहते ?

व्याकरण का आदिमूल

इस सिद्धान्तानुसार व्याकरणशास्त्र का आदि मूल भी वेद ही है। वैदिक मन्त्रों में अनेक पदों की व्युत्पत्तियां उपलब्ध होती हैं। वे इस सिद्धान्त की पोषक हैं। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त[3] देवाः। ऋ० १।१६४।५० ॥
ये सहांसि सहसा सहन्ते।[4] ऋ० ६।६६।९ ॥
पूर्वीरश्नन्तावश्विना।[5] ऋ० ८।५।३१ ॥
स्तोतृभ्यो मंहते मघम्।[6] ऋ० १।११।३ ॥
धान्यमसि धिनुहि[7] देवान्। यजु० १।२० ॥

---

1. We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rig-Veda ending with Dayananda's Introduction to his edition of the Rig-Veda.
India what can it teach us, Lecture III of Maxmuiar.

२. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु० २।७। मेधातिथि की टीका ॥

३. यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। निरुक्त ३।१९ ॥
यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्। अष्टा० ३।३।९० ॥

४. सहधातोः 'असुन्' (द० उ० ९।४९; पं० उ० ४।१९४) इत्यसुन्।

५. अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। निरुक्त १२।१।।

६. मघमिति धननामधेयम्, मंहतेर्दानकर्मणः। निरुक्त १।७ ॥

७. धिनोतेर्धान्यम्। महाभाष्य ५।२।४ ॥

केतपूः केतं नः पुनातु ।[1] यजु० ११।७ ॥

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते[2] सदा । साम० उ० ५।२।८।५॥

तीर्थैस्तरन्ति ।[3] अथर्व० १८।४।८ ॥

यददः सं प्रयतीरहावनदता[4] हते । तस्मादा नद्यो नाम स्थ । अथर्व० ३।१३।१ ॥

तदाप्नो[5]दिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन । अथर्व० ३।१३।२

शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पतञ्जलि मुनि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए **चत्वारि शृङ्गा,**[6] **चत्वारि वाक्,**[7] **उत त्वः,**[8] **सक्तुमिव,**[9] **सुदेवोऽसि**[10] ये पांच मन्त्र उद्धृत किये हैं,[11] और उन की व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक की है। पतञ्जलि से बहुत प्राचीन यास्क ने भी **चत्वारि वाक्**[7] मन्त्र की व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक लिखी है।[12] व्याकरण पद जिस धातु से निष्पन्न होता है, उस का मूल-अर्थ में प्रयोग यजु० १९।७७ में उपलब्ध होता है।[13]

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति कब हुई, इस का उत्तर अत्यन्त दुष्कर है। हां, इतना निस्सन्दिग्धरूप से कहा जा सकता है कि उपलब्ध **वैदिक पदपाठों** (३२०० वि० पू०) की रचना से पूर्व व्या-

---

१. केतोपपदात् पुनातेः 'क्विप् च' (अष्टा० ३।२।७६) इति क्विप्।

२. पवित्रं पुनातेः। निरुक्त ५।६॥ पुनातेः ष्ट्रन्। द्र०—अष्टा० ३।२।१८५, १८६ ॥

३. पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। पं० उणादि २।७ ॥

४. नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। निरुक्त २।२४ ॥

५. आप आप्नोतेः। निरुक्त ९।२६; आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। पं० उ० २।५८॥

६. ऋ० ४।५८।३ ॥

७. ऋ० १।१६४।४५ ॥

८. ऋ० १०।७१।४ ॥

९. ऋ० १०।७१।२ ॥

१०. ऋ० ८।६९।१२ ॥

११. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १ ॥

१२. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरुक्त १३।२ ॥

१३. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

करणशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। प्रकृति-प्रत्यय,[१] धातु-उपसर्ग,[२] और समासघटित पूर्वोत्तरपदों[३] का विभाग पूर्णतया निर्धारित हो चुका था। **वाल्मीकीय रामायण** से विदित होता है कि महाराज राम के काल में व्याकरणशास्त्र का सुव्यवस्थित पठनपाठन होता था।[४] भारत-युद्ध के समकालिक **यास्कीय निरुक्त** में व्याकरण-प्रवक्ता अनेक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है।[५] समस्त[६] नाम शब्दों की धातुओं से निष्पत्ति दर्शाने वाला मूर्धाभिषिक्त **शाकटायन व्याकरण** भी यास्क से पूर्व बन चुका था।[७] महाभाष्यकार **पतञ्जलि** मुनि के लेखानुसार अत्यन्त पुराकाल में व्याकरणशास्त्र का पठन-पाठन प्रचलित था।[८] इन प्रमाणों से इतना सुव्यक्त है कि व्याकरण-शास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में हो गई थी। हमारा विचार है कि—'**त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थ रूप में सुव्यवस्थित हो चुका था**'।

व्याकरण शब्द की प्राचीनता

शब्दशास्त्र के लिये व्याकरण शब्द का प्रयोग रामायण,[९]

---

१. वाजिनीऽवती। ऋ० पद० १।३।१०॥ अस्तऽभिः। ऋ० पद० १।८।४। महिऽत्वम्। ऋ० पद० १।८।५॥

२. सम्ऽजग्मानः। ऋ० पद० १।६।७॥ प्रऽतिरन्ते। ऋ० पद० १।११३।१६। प्रतिऽहर्यते। ऋ० पद० ८।४३।२॥

३. रुद्रवर्तनी इति रुद्रऽवर्तनी। ऋ० पद० १।३।३। पतिऽलोकम्। ऋ० पद० १०।८५।४३॥

४. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ किष्किन्धा० ३।२९॥ हनुमान् का इतना वाक्पटु होना युक्त ही था,क्योंकि हनुमान् का पिता वायु शब्दशास्त्र-विशारद था (वायु पु० २।४४)।

५. न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरुक्त १।१२॥

६. अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः। काशिका १।१४।८६, ८७।

७. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१२॥

८. पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥ ९. रामायण किष्किन्धा० ३।२९॥

गोपथ ब्राह्मण[1] मुण्डकोपनिषद्[2] और महाभारत[3] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है ।

षडङ्ग शब्द से व्याकरण का निर्देश

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, कल्प और ज्योतिष इन ६ वेदाङ्गों का षडङ्ग शब्द से निर्देश गोपथ ब्राह्मण[4], बौधायन आदि धर्मशास्त्र[5] और रामायण[6] आदि में प्रायः मिलता है । पतञ्जलि मुनि ने भी **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** यह आगमवचन[7] उद्धृत किया है।[8] सम्प्रति उपलभ्यमान ब्राह्मणों से भी अति प्राचीन देवल ने व्याकरण की षडङ्गों में गणना की है।[9] ब्राह्मण ग्रंथों में षडङ्ग शब्द से कहीं आत्मा का भी ग्रहण होता है ।[10]

व्याकरणान्तर्गत कतिपय संज्ञाओं की प्राचीनता

इस प्रकार न केवल व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध होती है, अपितु पाणिनीयतन्त्र में स्मृत अनेक अन्वर्थ संज्ञाएं भी अति प्राचीन प्रतीत होती हैं । उन में से कुछ संज्ञाओं का निर्देश गोपथ ब्राह्मण में मिलता है । यथा—

ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गं, किं वचनं का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो

---

१. गो० ब्रा० पू० १।२४ ।। २. मुण्डको० १।१ ।।

३. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते । तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ।। महाभारत उद्योग० ४३।६१ ।।

४. षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे । गो० ब्रा० पू० १।२७ ।।

५. बौधा० धर्म० २।१४।२ । गौतम धर्म० १५।२८ ।।

६. नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नाबहुश्रुतः । रामा० बाल० ७।१५ ।।

७. आगामो वेद इति वैयाकरणाः । शिवरामेन्द्रकृत महाभाष्यटीका पत्रा ५, सरस्वतीभवन काशी का हस्तलेख । स्मृतिरिति मीमांसकाः । तन्त्रवार्तिक पूना संस्क० पृष्ठ २६५, पं० १२ । न्यायसुधा पृष्ठ २८४, पं० ६ ।।

८. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १ ।।

९. 'देवलः—शिक्षाव्याकरणनिरुक्तछन्दकल्पज्योतिषाणि' । वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकाश, पृष्ठ २० पर उद्धृत ।

१०. षड्विधो वै पुरुषः षडङ्गः । ऐ० ब्रा० २।३६ ।। षडङ्गोऽयमात्मा षड्विधः । शां० ब्रा० १३।३ ।।

निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम् ....।[1]

मैत्रायणी संहिता १।७।३ में वैयाकरण-प्रसिद्ध विभक्ति-संज्ञा का उल्लेख मिलता है।[2]

ऐतरेय ब्राह्मण ७।७ में विभक्ति रूप से सप्तधा विभक्त वाणी का उल्लेख है।[3]

व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि मूलवेदातिरिक्त जितना भारतीय वैदिक-वाङ्मय सम्प्रति उपलब्ध है। उस में व्याकरणशास्त्र का उल्लेख मिलता है। अतः यह सुव्यक्त है कि वर्तमान में उपलब्ध कृष्ण द्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त समस्त आर्ष वैदिक-वाङ्मय की रचना से पूर्व व्याकरणशास्त्र पूर्णतया सुव्यवस्थित बन चुका था, और वह पठन-पाठन में व्यवहृत होने लग गया था।

व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता—ब्रह्मा

भारतीय ऐतिह्य में सब विद्याओं का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा कहा गया है। यह एक निश्चित सत्य तथ्य है। तदनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता भी ब्रह्मा है। ऋक्तन्त्रकार ने लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।।१।४।।

इस वचनानुसार व्याकरण के एकदेश अक्षरसमाम्नाय का सर्वप्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा है। भारतीय ऐतिह्यानुसार ब्रह्मा इस कल्प के विगत जल-प्लावन के पश्चात् हुआ था। यद्यपि उत्तरकाल में यह नाम उपाधिरूप में अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ, तथापि सर्वविद्याओं का आदि प्रवक्ता प्रथम ब्रह्मा ही है, और वह निश्चित ऐतिहासिक व्यक्ति है। इस का काल न्यूनातिन्यून १६ सहस्र वर्ष पूर्व है।

---

१. गो० ब्रा० पू० १।२४।। २. तस्मात् षड् विभक्तयः। यह षड्-विध विभक्तियों का उल्लेख पुनराधेय प्रकरणगत प्रयाजों के सविभक्तिकरण-संबन्धी है। प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः। महाभाष्य १।१।१ में उद्धृत वचन।

३. सप्तधा वै वागवदत्। सप्त विभक्तय इति भट्टभास्करः। तुलना करो—'यस्य ते सप्त सिन्धवः। ऋ० १।१६४।४५।। सप्त सिन्धवः=सप्त विभक्तयः। महाभाष्य।

ब्रह्मा का शास्त्र-प्रवचन

समस्त भारतीय प्राचीन ऐतिहासिकों का सुनिश्चित मत है कि लोक में जितनी भी विद्याओं का प्रकाश हुआ, उन विद्याओं का प्रवचन ब्रह्मा ने ही किया था। यह प्रवचन अति विस्तृत था। यह आदि प्रवचन ही **शास्त्र** अथवा **शासन** नाम से प्रसिद्ध हुआ। उत्तरवर्ती समस्त प्रवचन ब्रह्मा के आदि प्रवचन के अनुसार हुआ, और वह भी उत्तरोत्तर संक्षिप्त। अतः उत्तरवर्ती प्रवचन मुख्यतया **अनुशास्त्र अनुतन्त्र** अथवा **अनुशासन**[1] कहाते हैं। इन के लिए शास्त्र अथवा तन्त्र शब्द का प्रयोग गौणीवृत्ति से किया जाता है।[2]

पं० भगवद्दत्तजी ने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ के द्वितीय भाग (अ० ४) में ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त जिन २२ शास्त्रों का सप्रमाण उल्लेख किया है, उन के नाम इस प्रकार हैं—

१. वेदज्ञान	७. धनुर्वेद	१३. लिपि-ज्ञान	१९. नाट्यवेद
२. ब्रह्मज्ञान	८. पदार्थविज्ञान	१४. ज्योतिषशास्त्र	२०. इतिहास-पुराण
३. योगविद्या	९. धर्मशास्त्र	१५. गणितशास्त्र	
४. आयुर्वेद	१०. अर्थशास्त्र	१६. वास्तुशास्त्र	२१. मीमांसाशास्त्र
५. हस्त्यायुर्वेद	११. कामशास्त्र	१७. शिल्पशास्त्र	२२. शिवस्तव वा
६. रसतन्त्र	१२. व्याकरण	१८. अश्वशास्त्र	स्तव-शास्त्र

द्वितीय प्रवक्ता—बृहस्पति

ऋक्तन्त के उपर्युक्त वचन के अनुसार व्याकरणशास्त्र का द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति है। अङ्गिरा का पुत्र होने से यह आङ्गिरस नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे देवों का पुरोहित लिखा है।[3] कोष ग्रन्थों में इसे सुराचार्य भी कहा है। मत्स्य पुराण २३।४ में यह वाक्पति पद से स्मृत है।[4]

---

१. अनुशासन आदि में प्रयुक्त 'अनु' निपात अनुक्रम और हीन दोनों अर्थों का द्योतक है। उत्तरवर्ती तन्त्र संक्षिप्त होने से पूर्व तन्त्रों की अपेक्षा हीन हुए। 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' में 'अनु' शब्द हीन अर्थ का द्योतक है। द्रष्टव्य—'हीने' (१।४।८३) सूत्र की काशिका।

२. तन्त्रमिव तन्त्रम्।

३. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। ऐ० ब्रा० ८।२६॥

४. भार्यामर्पय वाक्पतेस्त्वम्।

बृहस्पति का शास्त्र-प्रवचन

देवगुरु बृहस्पति ने अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया था। उन मे से जिन कतिपय शास्त्रों का उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होता है, वे इस प्रकार हैं—

१. **सामगान**—छान्दोग्य उपनिषद् २।२२।१ में बृहस्पति के के सामगान का उल्लेख मिलता है।

२. **अर्थशास्त्र**—बृहस्पति ने एक अर्थशास्त्र रचा था। महाभारत में इस शास्त्र का विस्तार तीन सहस्र अध्याय बताया है।[1] इस अर्थशास्त्र के मत और वचन कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार और याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीडा टीका प्रभृति ग्रन्थों में बहुधा उद्धृत हैं।

३. **इतिहास-पुराण**—वायु पुराण १०३।५६ के अनुसार बृहस्पति ने इतिहास-पुराण का प्रवचन किया था।[2]

४-९. **वेदाङ्ग**—महाभारत में बृहस्पति को समस्त वेदाङ्गों का प्रवक्ता कहा है।[3]

व्याकरण—वेदाङ्गों के अन्तर्गत व्याकरणशास्त्र के प्रवचन का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। महाभाष्य के अनुसार बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य (=सौर) सहस्र वर्ष तक प्रतिपद व्याकरण का उपदेश किया था।[4]

व्याकरण—ग्रन्थनाम-शब्दपारायण—महाभाष्यकार ने **शब्दपारायणं प्रोवाच** लिखा है। भर्तृहरि ने महाभाष्य की व्याख्या में लिखा है—

'शब्दपारायणं' रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। पृष्ठ २१।

इस से प्रतीत होता है कि बृहस्पति के व्याकरणशास्त्र का नाम शब्दपारायण था।

---

१. अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः। शान्ति० ५९।८४॥

२. बृहस्पतिस्तु प्रोवाच सवित्रे तदनन्तरम्।

३. वेदाङ्गानि बृहस्पतिः। शान्ति० अ० ११२, श्लोक ३२। कुम्भघोण संस्क०

४. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच (१।१।१)। यह अर्थवाद है। इस का तात्पर्य सुदीर्घकाल में है। अर्थवाद के रूप में 'दिव्य सहस्रवर्ष' भारतीय-वाङ्मय में बहुधा उद्धृत होता है यथा—

प्रतिपद-पाठ का स्वरूप क्या था, यह अज्ञात है। सम्भव है एक जैसे रूप वाले नामों और आख्यातों का संग्रह रूप रहा हो। आज भी राम आदि शब्दों और कतिपय धातुओं के रूप बालकों को स्मरण करा कर तत्सदृश रूप वाले कतिपय नामों और धातुओं का परिगणन करा देते हैं।

व्याकरण मरणान्त व्याधि—न्यायमञ्जरी में जयन्त ने बृहस्पति का एक वचन उद्धृत किया है। तदनुसार औशनसों (उशना-प्रोक्त शास्त्र के अध्येताओं) के मत में व्याकरण 'मरणान्त-व्याधि' कहा गया है।[1]

ज्योतिष—वेदाङ्गान्तर्गत ज्योतिषशास्त्र के प्रवचन का निर्देश प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।[2]

११. **वास्तुशास्त्र**—मत्स्य पुराण में बृहस्पति को वास्तुशास्त्र का प्रवर्तक लिखा है।[3]

१२. **अगदतन्त्र**—बृहस्पति ने किसी अगदतन्त्र का भी प्रवचन किया था।[2]

व्याकरण का आदि संस्कर्ता—इन्द्र

पातञ्जल महाभाष्य से विदित होता है कि बृहस्पति[3] ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था।[4] उस समय तक

स [प्रजापतिः] भूम्यां शिरः कृत्वा दिव्यं वर्षसहस्रं तपोऽतप्यत। कठ ब्रा० संकलन, अग्न्याधेय ब्रा०, पृष्ठ १७॥ दिव्यं वर्षसहस्रं वर्षाणाम्। चरक चि० ३।१५॥ दिव्यं वर्षसहस्रकम्। रामा० बाल० ३६।११॥ तथा हि श्रूयते—दिव्यं वर्षसहस्रमुमया सह……। कामसूत्र टीका १।१।८॥

१. तथा च बृहस्पतिः—प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थितत्वात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसङ्गाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसा इति। न्यायमञ्जरी पृष्ठ ४१८।

२. चेद् बृहस्पतिमतं प्रमाणम्। प्रबन्धचिन्तामणि पृष्ठ १०६॥

तथा शुक्रबृहस्पती…… अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः। २५१।३-४॥

३. यही बृहस्पति देवों का पुरोहित था। इसने अर्थशास्त्र की रचना की थी। यह चक्रवर्ती मरुत्त से पहले हुआ था। द्र०—महाभारत शान्ति० ७५।६॥

४. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥ तुलना करो—दिव्यं वर्षसहस्र-

प्रकृतिप्रत्यय विभाग नहीं हुआ था। प्रथमतः इन्द्र ने शब्दोपदेश की प्रतिपदपाठ-रूपी प्रक्रिया की दुरूहता को समझा, और उसने पदों के प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की प्रकल्पना की। इस का साक्ष्य तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ में मिलता है—

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति ... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।[1]

इस की व्याख्या करते हुये सायणाचार्य ने लिखा है

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।[2]

अर्थात्—वाणी पुराकाल में अव्याकृत (=व्याकरण-सम्बन्धी प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार से रहित अखण्ड पदरूप) बोली जाती थी। देवों ने [अपने राजा] इन्द्र से कहा कि इस वाणी को व्याकृत (=प्रकृति-प्रत्ययादिसंस्कार से युक्त) करो।...... इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़ कर व्याकृत (=प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कार से युक्त) किया।

माहेश्वर सम्प्रदाय

व्याकरणशास्त्र में दो मार्ग अथवा सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। एक ऐन्द्र और दूसरा माहेश्वर अथवा शैव। वर्तमान प्रसिद्धि के अनुसार कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का है, और पाणिनीय व्याकरण शैव सम्प्रदाय का।

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत शिवसहस्रनाम में लिखा है—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य। २८३।९२॥

इस से स्पष्ट है कि बृहस्पति के समान शिव ने भी षडङ्गों का प्रवचन किया था। निरुक्त १।२० के—

बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।

वचन में बहुवचन निर्देश भी इस बात का संकेत करता है कि वेदाङ्गों के आद्य प्रवचनकर्ता अनेक व्यक्ति थे।

मिन्द्रो बृहस्पतेः सकाशात् प्रतिपदपाठेन शब्दान् पठन् नान्तं जगामेति। प्रक्रिया-कौमुदी भाग १, पृष्ठ ७। सम्भवतः यह पाठ महाभाष्य से भिन्न किसी ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

१. तुलना करो—मै०सं० ४।५८॥ का०सं० २७।३॥ कपि०सं० ४२।३॥ स(इन्द्रो)वाचैव वाचं व्यावर्तयद्। मै०सं० ४।१५।८॥ शत० ४।१।३।११॥

२. सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात, पूना संस्क० भा० १, पृष्ठ २६॥

माहेश्वर तन्त्र के विषय में अगले अध्याय में विस्तार से लिखेंगे।

व्याकरण का बहुविध प्रवचन

पूर्व लेख से विस्पष्ट है कि व्याकरण वाङ्मय में ऐन्द्र तन्त्र सब से प्राचीन है। तदनन्तर अनेक वैयाकरणों ने व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया। उन के प्रवचनभेद से अनेक व्याकरण-ग्रन्थों की रचना हुई।

पाणिनि से प्राचीन ८५ व्याकरण-प्रवक्ता

इन्द्र से लेकर आज तक कितने व्याकरण बने, यह अज्ञात है। पाणिनि ने अपने शास्त्र में १० प्राचीन आचार्यों का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया है।[1] इन के अतिरिक्त पाणिनि से प्राचीन १६ आचार्यों का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। १० प्रातिशाख्य और ७ अन्य वैदिक व्याकरण उपलब्ध या ज्ञात हैं। इन प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में ५९ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि किन्हीं प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा छन्द का समावेश उपलब्ध होता है, तथापि प्रातिशाख्यों को वैदिक व्याकरण कहा जा सकता है। अतः प्रातिशाख्यग्रन्थों में स्मृत आचार्य भी अवश्य ही व्याकरणप्रवक्ता रहे होंगे। उन की व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों में गणना करने पर पुनरुक्त नामों को छोड़ कर लगभग ८५ पिच्यासी प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों के नाम हमें ज्ञात हैं। परन्तु इस ग्रन्थ में हम केवल उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे, जो पाणिनीय अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट हैं, तथा जिन के व्याकरणप्रवक्ता होने में अन्य सुदृढ़ प्रमाण मिलते हैं। प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट आचार्यों का केवल नामोल्लेख रहेगा, विशेष वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायेगा।

आठ व्याकरण-प्रवक्ता

अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रधानतया आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते हैं।[2] हैमबृहद् वृत्त्यवचूर्णि में पृष्ठ ३ पर निम्न आठ व्याकरणों

---

१. आपिशलि (अ० ६।१।९२), काश्यप (अ० १।२।२५), गार्ग्य (अ० ८।३।२२), गालव (अ० ७।१।७४), चाक्रवर्मण (अ० ६।१।१३०), भारद्वाज (अ० ७।२।६३), शाकटायन (अ० ३।४।१११), शाकल्य (अ० १।१।१६), सेनक (अ० ५।४।११२), स्फोटायन (अ० ३।१।१२२)।

२. व्याकरणमष्टप्रभेदम्। दुर्ग निरुक्तवृत्ति (आनन्दाश्रम सं०) पृष्ठ ७४। व्याकरणेऽप्यष्टधाभिन्ने लक्षणैकदेशो विक्षिप्तः। दुर्ग निरुक्तवृत्ति, पृष्ठ ७८।

का उल्लेख है—

ब्राह्ममैशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्पतिम् ।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाऽष्टमम् ॥

इस में जो आठ व्याकरण गिनाए हैं,वे हैं – ब्राह्म, ऐशान (= शैव) ऐन्द्र, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशल और पाणिनीय।

ऋग्वेद-कल्पद्रुम में यामलाष्टक तन्त्र निर्दिष्ट निम्न आठ व्याकरण उद्धृत हैं[1]—

ब्राह्म, चान्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सौम्य, वैष्णव ।

बोपदेव ने अपने कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में निम्न आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

इन में शाकटायन पद से आर्वाचीन जैन शाकटायन अभिप्रेत है, वा प्राचीन वैदिक शाकटायन, यह अस्पष्ट है। भोजविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण की एक टीका में भी 'अष्ट व्याकरण' का उल्लेख है।[2] भास्कराचार्यप्रणीत लीलावती के किसी-किसी हस्तलेख के अन्त में आठ व्याकरण पढ़ने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3] विक्रम की षष्ठ-शताब्दी वा उससे पूर्वभावी निरुक्तवृत्तिकार दुर्गाचार्य '**व्याकरणमष्टप्रभेदम्**'[4] इतना ही संकेत करता है। उस के मत में ये आठ व्याकरण कौन से थे, यह अज्ञात है। पूर्वोक्त इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र (=पूज्यपाद=देवनन्दी) विरचित ये सात व्याकरण उस के मत में भी माने जा सकते हैं।[5] आठवां यदि शाकटायन को मानें, तो निश्चय ही वह पाणिनि से पूर्व-

---

लुठिताष्ट, व्याकरणः । प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६८ ।

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ११४ ।

२. सरस्वतीकण्ठाभरण दूजा प्रकरण प्रारम्भ…सा च पाणिन्यादि अष्टव्याकरणोदित……। भारतीय विद्या, वर्ष ३, अङ्क १, पृष्ठ २३२ में उद्धृत ।

३. अष्टौ व्याकरणानि षट् च भिषजां व्याचष्ट ताः संहिताः……।

४. आनन्दाश्रम संस्क० पृष्ठ ७४ । ५. पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे ने शतपथ भाष्यकार हरिस्वामी को वैक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालिक सिद्ध किया है। देखो ग्वालियर से प्रकाशित विक्रम-द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ। तदनुसार आचार्य दुर्ग को विक्रम पूर्व मानना होगा। क्योंकि

भावी वैदिक शाकटायन होगा, क्योंकि अर्वाचीन जैन शाकटायन का काल विक्रम की ९ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।[1]

अमर शब्द से सम्भवतः नामलिङ्गानुशासन का कर्ता अमरसिंह अभिप्रेत है। अमरसिंहकृत शब्दानुशासन का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। लौकिकी किंवदन्ती से इतना ज्ञात होता है कि अमरसिंह महाभाष्य का प्रकाण्ड पण्डित था।[2] कुछ वर्ष हुए पञ्जाब प्रान्तीय जैन पुस्तक-भण्डारों का एक सूचीपत्र पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर से प्रकाशित हुआ है। उसके भाग १ पृष्ठ १३ पर अमरसिंहकृत उणादि-वृत्ति का उल्लेख है। यह अमरसिंह नामलिंगानुशासनकार है वा भिन्न व्यक्ति, यह अभी अज्ञात है।

नव व्याकरण

रामायण उत्तरकाण्ड (३६।४७) में नव व्याकरण का उल्लेख है।[3] महाराज राम के काल में अनेक व्याकरण विद्यमान थे, इसका निर्देश रामायण किष्किन्धा काण्ड (२।२९) में मिलता है।[4] भण्डार-कर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के संग्रह में 'गीतासार' नामक ग्रन्थ का एक हस्तलेख है, उसमें भी नव व्याकरण का उल्लेख है।[5] इस ग्रन्थ का काल अज्ञात है। श्रीतत्त्वविधि नामक वैष्णव ग्रन्थ में निम्न नौ व्याकरणों का उल्लेख मिलता है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम् ॥

हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्तटीका के प्रारम्भ में दुर्गाचार्य का आदरपूर्वक स्मरण किया है। ऐसी अवस्था में दुर्गाचार्य ने किन आठ व्याकरणों की ओर संकेत किया है, यह बताना कठिन है।

१. जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृष्ठ १६०, द्वि० सं० पृष्ठ १६६।

२. अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्।

३. सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता। मद्रास ला जर्नल प्रेस १९३३ का संस्क०।

४. देखो पूर्व पृष्ठ ५६ टिप्पणी ४।

५. गीतासारमिदं शास्त्रं गीतासारसमुद्भवम्। अत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेद-शास्त्रसमुच्चयम् ॥ ५५ ॥ अष्टादश पुराणानि नव व्याकरणानि च। निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम् ॥ ५७ ॥ हस्तलेख नं० १६४, सन् १८८३-८४।

रामायणकाल में कौन से नौ व्याकरण विद्यमान थे, यह अज्ञात है।[1]

पांच व्याकरण

काशिका वृत्ति (४।२।६०) में पांच व्याकरणों का उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु उसमें अथवा उसकी टीकाओं में नाम निर्दिष्ट नहीं हैं। सम्भवतः ये ऐन्द्र, चान्द्र, पाणिनीय, काशकृत्स्न और आपिशल होंगे।[3]

व्याकरण-शास्त्रों के तीन विभाग

आज तक जितने व्याकरणशास्त्र बने हैं, उनको हम तीन विभागों में बांट सकते हैं। यथा—

१. छान्दसमात्र – प्रातिशाख्यादि।

२. लौकिकमात्र—कातन्त्रादि।

३. लौकिक वैदिक उभयविध—आपिशल, पाणिनीयादि।

इन में लौकिक व्याकरण के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे सब पाणिनि से अर्वाचीन हैं।

व्याकरण-प्रवक्ताओं के दो विभाग

इस समय हमें जितने व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों का ज्ञान है, उन्हें हम दो भागों में बांट सकते है—

१. पाणिनि से प्राचीन। २. पाणिनि से अर्वाचीन।

पाणिनि से प्राचीन आचार्य

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन इन दश शाब्दिकों का उल्लेख किया है।[4] इन से अतिरिक्त शिव=महेश्वर, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शन्तनु, वैयाघ्रपद्य, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गोतम और व्याडि, इन सोलह आचार्यों का उल्लेख अन्यत्र मिलता है।

---

१. व्याक० द० इ० पृष्ठ ४३७। २. पञ्चव्याकरणः।

३. कुछ लोग पञ्च व्याकरण का अर्थ सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन समझते हैं। तथा अन्य–पदच्छेद, समास, अनुवृत्ति, वृत्ति और उदाहरण। यदि यह कल्पना मानी जाये, तो 'पञ्चाङ्ग-व्याकरणः' निर्देश होना चाहिये। ४. देखो पूर्व पृष्ठ ६३ टि० १।

प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणप्रवक्ता[1]

प्रातिशाख्य—यद्यपि प्रातिशाख्य तत्-तत्-चरणों के व्याकरण हैं, तथापि उन में मन्त्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है। जिससे पदपाठस्थ मूल पदों के परिज्ञान में सुविधा होवे। इसी प्रकार इन में पदपाठ एवं क्रमपाठ सम्बन्धी आवश्यक नियमों का निर्देश है। यास्क के मतानुसार संहिता के मूल पदपाठ को आधार बनाकर सब चरणों के प्रातिशाख्यों की प्रवृत्ति हुई है।[2] प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा पदसाधुत्व के अनुशासन की उन में आवश्यकता ही नहीं पड़ी। अतः उनकी गणना प्रधानतया शब्दानुशासन ग्रन्थों में नहीं की जा सकती। इस समय निम्न प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य—शौनककृत।
२. वाजसनेयप्रातिशाख्य—कात्यायनकृत।
३. सामप्रातिशाख्य (पुष्प या फुल्ल सूत्र)—वररुचिकृत[3] ?
४. अथर्वप्रातिशाख्य—……। ५. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य—……।
६. मैत्रायणीयप्रातिशाख्य—……।

इन के अतिरिक्त चार प्रातिशाख्यों के नाम प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं—

७. आश्वलायनप्रातिशाख्य[4]……। ८. बाष्कलप्रातिशाख्य[5]……।
९. शांखायनप्रातिशाख्य[6]……। १०. चारायणप्रातिशाख्य[7]……।

---

१. प्रातिशाख्य आदि के विषय में इस ग्रन्थ के २८वें अध्याय में (भाग २, पृष्ठ २८४-३४१ तक) विस्तार से लिखा है, वहां देखना चाहिए।

२. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरु० १।१७॥

३. वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्। पोतो विनिर्मितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्। हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ ७।

४. यह प्रातिशाख्य अप्राप्य है। नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धम्। वाज० प्रा० अनन्तभाष्य, मद्रास संस्क० पृष्ठ ४।

५. उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धस्तस्योदाहरणम्…। शांखायन श्रौतभाष्य १२।१३।५॥

६. अलवर राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र ग्रन्थ संख्या १७।

७. यह प्रातिशाख्य अप्राप्य है। देवपालविरचित लौगाक्षिगृह्यभाष्य में यह

ऋक्प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है, अन्य प्राति-शाख्यों के विषय में हम अभी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

अन्य वैदिक व्याकरण—प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त तत्सदृश अन्य निम्ननिर्दिष्ट वैदिक व्याकरण उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्तन्त्र[1]—शाकटायन या औदव्रजि प्रणीत।[2]

२. लघु ऋक्तन्त्र......।

३. अथर्वचतुरध्यायी—शौनक अथवा कौत्स प्रणीत।[3]

४. प्रतिज्ञासूत्र—कात्यायनकृत ?

५. भाषिकसूत्र—कात्यायनकृत ?

६. सामतन्त्र—औदव्रजि या गार्ग्य कृत[4] ?

७. अक्षरतन्त्र—आपिशलि कृत।

उद्धृत है—"तथा च चारायणिसूत्रम्...'पुरुकृते च्छच्छ्रयोः, इति पुरु शब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छे, परतः। पुरु छदनं पुच्छम्, कृतस्य छ्रमिति"। ५। १॥ पृष्ठ १०१, १०२।

१. ऋक्तन्त्र का संबन्ध सामवेदीय राणायनीय शाखा से है—'राणायनीया-नामृक्तन्त्रे प्रसिद्धा विसर्जनीयस्य अभिनिष्ठानाख्या इति'। गोभिलगृह्य भट्ट नारायणभाष्य २।८.१४॥

२. ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—इदमक्षरं छन्दो...। नागेश, लघुशब्दे-न्दुशेखर, भाग १, पृष्ठ ७। ऋचां तन्त्रव्याकरणे पञ्च संख्याप्रपाठकम्। शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशत् खण्डकाः स्मृताः। हरदत्तकृत सामसर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ ३। तथा ऋक्तन्त्रव्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औदव्रजिरप्यसूत्रयत्...। शब्दकौस्तुभ १।१।८॥ अनन्तसंयोगमध्ये यमः पूर्वगुणः (ऋक्तन्त्र १। २) इत्यौदव्रजिरपि। पाणिनीय शिक्षा की शिक्षाप्रकाश टीका, शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८८ इत्यादि।

३. ह्विटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम है। बालशास्त्री गदरे ग्वालियर के संग्रह से प्राप्त चतुरध्यायी के हस्तलेख के प्रत्येक अध्याय के अन्त में—"इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां......" पाठ उपलब्ध होता है। यह हस्तलेख अब ओरियण्टल मैनुस्क्रप्ट्स लायब्रेरी उज्जैन में सुरक्षित है। देखो—न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, सितम्बर १६३८ में पं० सदाशिव एल० कात्रे का लेख।

४. सामतन्त्रं प्रवक्ष्यामि सुखार्थं सामवेदिनाम्। औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं साम-गानां सुखावहम्॥ हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी पृष्ठ ४। सामतन्त्रं तु

इन में से प्रथम पांच ग्रन्थों में प्रातिशाख्यवत् प्रायः वैदिक स्वरादि कार्यों का उल्लेख है। संख्या ४-५ शुक्लयजुः प्रातिशाख्य के परिशिष्ट रूप हैं। अन्तिम दो ग्रन्थों में सामगान के नियमों का वर्णन है। प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन २८ वें अध्याय में करेंगे।

प्रातिशाख्य आदि में उद्धृत आचार्य

इन प्रातिशाख्य आदि वैदिक ग्रन्थों में निम्न आचार्यों का उल्लेख मिलता है—

१. **अग्निवेश्य**[1]—तै० प्रा० ९।४।। मै० प्रा० ९।४।।
२. **अग्निवेश्यायन**[1]—तै० प्रा० १४।३२।। मै० प्रा० २।२।३२।।
३. **अन्यतरेय**[2]—ऋ० प्रा० ३।२२।।
४. **आगस्त्य**[3]—ऋ० प्रा० वर्ग १।२।।
५. **आत्रेय**—तै०प्रा० ५।३१।।१७।८।। मै०प्रा ५।३३।।२।५।।६।८।।
६. **इन्द्र**—ऋक्तन्त्र १।४।।
७. **उख्य**—तै० प्रा० ८।२२।। १०।२०।। १६ २३।। मै० प्रा० ८।२१।। १०।२१।। २।४।२५।।
८. **उत्तमोत्तरीय**—तै० प्रा० ८।२०।।
९. **औदव्रजि**[4] ऋक्तन्त्र २।६।१०।।
१०. **औपशवि**—वाज० प्रा० ३।१३१।। भाषिकसूत्र २।२०,२२।।
११. **काण्डमायन**—तै० प्रा० ९।१।। १५।७।। मै० प्रा० ९।१।। २।३।७।।
१२. **कात्यायन**—वाज० प्रा० ८।५३।।
१३. **काण्व**—वाज० प्रा० १।१२३, १४९।।
१४. **काश्यप**—वाज० प्रा० ४।५।। ८।५०।।
१५. **कौण्डिन्य**[5]—तै० प्रा० ५।३८।। १८।३।। १९।२।। मै० प्रा०

गार्ग्येणेत्येवं वयमुपदिष्टाः प्रामाणिकैरिति सत्यव्रतः। अक्षरतन्त्र भूमिका पृ० २।

१. प्रातिशाख्य की टीकाओं में कहीं कहीं 'आग्निवेश्य' और 'आग्निवेश्यायन' नाम भी मिलता है। अग्निवेश्य का गृह्यसूत्र छप गया है।

२. चतुरध्यायी ३। ७४ में 'आन्यतरेय' पाठ है।

३. शां० आरण्यक ७। २ में भी निर्दिष्ट है।

४. नारदीय-शिक्षा में 'प्राचीनौदव्रजि' का उल्लेख मिलता है। देखो—शिक्षासंग्रह पृष्ठ ४४३।

५. देखो—स्थविर कौण्डिन्य नाम।

५।४०॥ २।५।४॥ २।६।३॥ २।६।९॥

१६. **कौहलीपुत्र**—तै० प्रा० १७।२॥ मै० प्रा० २।५।२॥

१७. **गार्ग्य**—ऋ० प्रा० १।१५॥ ६।३६॥ ११।१७,२६॥ १३।३१॥ वाज० प्रा० ४।१६७॥

१८. **गौतम**—तै० प्रा० ५।३८॥ मै० प्रा० ५।४०॥

१९. **जतूकर्ण्य**—वाज० प्रा० ४।१२५, १६०॥ ५।२२॥

२०. **तैत्तिरीयक**—तै० प्रा० २३।१७॥ **तैत्तिरीय**, तै० प्रा० २३।१८॥

२१. **दाल्भ्य**—वाज० प्रा० ४।१६॥

२२. **नैगी** - ऋक्तन्त्र २।६।९॥ ४।३।२॥

२३. **पञ्चाल**—ऋ० प्रा० २।३३॥

२४. **पाणिनि**—लघु ऋक्तन्त्र, पृष्ठ ४६॥

२५. **पौष्करसादि**—तै० प्रा० ५।३७, ३८॥ १३।१६॥ १४।२॥ १७।६॥ मै० प्रा० ५।३९, ४०॥ २।१।१६॥ २।५।६॥

२६. **प्राच्य पञ्चाल**—ऋ० प्रा० २।३३, ८१॥

२७. **प्लाक्षायण** तै० प्रा० ९।६॥ १४।११, १७॥ १८।५॥ मै० प्रा० ९।६॥ २।६।२, ३॥

२८. **प्लाक्षि**—तै० प्रा० ५।३८॥ ९।६॥ १४।१०, १७॥ १८।५॥ मै० प्रा० ५।४०॥ ९।६॥ २।६॥

२९. **बाभ्रव्य**[1]—ऋ० प्रा० ११।६५॥

३०. **बृहस्पति**—ऋक्तन्त्र १।४॥

३१. **ब्रह्मा**—ऋक्तन्त्र १।४॥

३२. **भरद्वाज**—ऋक्तन्त्र १।४॥

३३. **भारद्वाज**—तै० प्रा० १७।३॥ मै० प्रा० २।५।२॥ भाषिक-सूत्र २।१९॥ ३।९॥

३४. **माक्षव्य**[2]—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥

३५. **माचाकीय**—तै० प्रा० १०।२२॥

३६. **माण्डूकेय**[3]—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥ ३।१४॥

---

१. बाभ्रव्य-शालङ्कायनों का विरोध, काशिका ४।३।११५; ६।२।३७॥ शां० आ० ७।१९ में बाभ्रव्य को पाञ्चाल चण्ड नाम से स्मरण किया है।

२. द्र०—शां० आ० ७।२॥

३. ह्रस्वमाण्डूकेय—ऐ० आ० ३।२।१;६; शां०आ० ७।१३; ८।१, ११॥

३७. **माध्यन्दिन**—वा० प्रा० ८।३५॥
३८. **मीमांसक**—तै० प्रा० ५।४१॥
३९. **यास्क**—ऋ० प्रा० १७।४२॥
४०. **वाडबी (भी) कर**—तै० प्रा० १४।१३॥
४१. **वात्सप्र**—तै० प्रा० १०।२३। मै० प्रा० १०।२३॥
४२. **वाल्मीकि**—तै० प्रा० ५।३६॥ १८।६॥ मै० प्रा० ५।३८॥ २।६॥ २ ३०। ६।४॥
४३. **वेदमित्र**—ऋ० प्रा० १।५१॥
४४. **व्याडि**—ऋ० प्रा० ३।२३, २८॥ ६।४३॥ १३।३१, ३७॥
४५. **शाकटायन**—ऋ०प्रा० १।१६॥ १३।४६॥ वाज०प्रा० ३।९, १२,८८॥ ४।५,१२९,१९१॥ शौ० च० २।२४॥ ऋक्तन्त्र १।१॥
४६. **शाकल** (=शाकल्य के अनुयायी)- ऋ० प्रा० १।६४॥ ११।१९, ६२॥
४७. **शाकल्य**[1]—ऋ० प्रा० ३।१३, २२॥ ४।१३॥ १३।३१। वाज० प्रा० ३।१०॥
४८. **शाकल्यपिता**--ऋ० प्रा० ४।४॥
४९. **शांखमित्रि**—शौ० च० ३।७४॥
५०. **शांखायन**—तै० प्रा० १५।७॥ मै० प्रा० २।३।७॥
५१. **शूरवीर**- ऋ० प्रा० वर्ग १।३॥
५२. **शूरवीर-सुत**[2]- ऋ० प्रा० वर्ग १।३॥
५३. **शैत्यायन**—तै० प्रा० ५।४०॥ १७।१,८॥ १८।२॥ मै०प्रा० २।५।१॥ २।५।६॥ २।६।२ ३॥
५४. **शौनक**—ऋ० प्रा० वर्ग १।१॥ वा० प्रा० ४।१२२॥ अथ० प्रा० १।२॥ शौ० च० १।८॥ २।२४॥
५५. **स्थविर कौण्डिन्य** - तै० प्रा० १७।४॥[3]
५६. **स्थविर शाकल्य**[4]—ऋ० प्रा० २।८१॥

---

१. स्थविर शाकल्य—ऋ० प्रा० २।८१; ऐ० ब्रा० ३।२।६; शां० ब्रा० ७।१७; ८।१, ११॥ २. शौरवीर माण्डूकेय—शां० ब्रा० ७।२॥
३. तै० प्रा० ५।४० के माहिषेय भाष्य में भी यह उद्धृत है।
४. द्र०—इसी पृष्ठ की टि० १॥

५७. **सांकृत्य**—तै० प्रा० ८।२०॥ १०।२१॥ १५।१६॥ मै० प्रा० ८।२०॥ १०।२०॥ २।५।१७॥

५८. **हारीत**—तै० प्रा० १४।१८॥

५९. **नकुलमुख**—ऋक्तन्त्र ३।४।१० की टीका में स्मृत ।।

इन ५९ आचार्यों में अनेक आचार्य व्याकरण-शास्त्र के प्रवक्ता रहे होंगे। इस ग्रन्थ में इन में से केवल १० आचार्यों का उल्लेख किया है। शेष आचार्यों के विषय में अन्य सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध न होने से कुछ नहीं लिखा।

पाणिनि से अर्वाचीन आचार्य

पाणिनि से अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने व्याकरणसूत्र रचे हैं। उन में से निम्न आचार्य प्रधान हैं—

आचार्य	व्याकरण	काल
१.	कातन्त्र	(२००० वि०पू०)
२. चन्द्रगोमी	चान्द्र	(१००० वि०पू०)
३. क्षपणक	क्षपणक	(वि०प्रथम शताब्दी)
४. देवनन्दी (दिग्वस्त्र)	जैनेन्द्र	(सं० ५०० से पूर्व)
५. वामन	विश्रान्तविद्याधर	(सं० ४००-६००)
६. अकलङ्क	अकलङ्क व्याकरण	(सं० ७००-८००)
७. पाल्यकीर्ति	जैन शाकटायन	(सं० ८७१-९२४)
८. शिवस्वामी	— —	(सं० ९१४-९४०)
९. भोजदेव	सरस्वतीकण्ठाभरण	(सं० १०७५-१११०)
१०. बुद्धिसागर	बुद्धिसागर	(सं० १०८०)
११. हेमचन्द्र	हैमव्याकरण	(सं० ११४५-१२२०)
१२. भद्रेश्वरसूरि	दीपक	(सं० १२०० से पूर्व)
१३. अनुभूतिस्वरूप	सारस्वत	(सं० १३००)
१४. वोपदेव	मुग्धबोध	(सं० १३००-१३५०)
१५. क्रमदीश्वर	जौमर	(वि० १३वीं शताब्दी)
१६. पद्मनाभ	सुपद्म	(वि० १४वीं शताब्दी)

इन से अतिरिक्त भी कुछ अति अर्वाचीन व्याकरणकर्ता हुए हैं, उन के ग्रन्थ या तो नाममात्र के व्याकरण हैं अथवा अप्रसिद्ध हैं। अतः उनका वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

अब अगले अध्याय में पाणिनीय-तन्त्र में अनुल्लिखित तथा पाणिनि से प्राचीन आचार्यों के विषय में लिखेंगे।

तृतीय अध्याय

पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित प्राचीन आचार्य

इस अध्याय में उन प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों का वर्णन करेंगे, जिन का उल्लेख पाणिनीय अष्टक में नहीं मिलता। परन्तु वे पाणिनि से पूर्वभावी हैं. तथा जिनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व निर्विवाद है।

१—शिव महेश्वर (११५०० वि० पूर्व)

शिव अपर नाम महेश्वर प्रोक्त व्याकरण का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। यथा—

१—महाभारत शान्तिपर्व के शिवसहस्रनाम में शिव को षडङ्ग का प्रवर्त्तक कहा है—

वेदात् षडङ्गान्युदधृत्य। २८४। ९२॥

षडङ्ग के अन्तर्गत व्याकरण प्रधान अङ्ग है। अतः शिव ने व्याकरण-शास्त्र का प्रवचन किया था, यह महाभारत के वचन से सुतरां सिद्ध है।

२—श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा के अन्त में लिखा है—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

इसी श्लोक के आधार पर चतुर्दश प्रत्याहार-सूत्र माहेश्वर-सूत्र अथवा शिव-सूत्र कहे जाते हैं।

३—हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में पृष्ठ ३ पर लिखा है—

ब्राह्ममैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥

इसमें ऐशान अर्थात् ईशान (=शिव) प्रोक्त व्याकरण का स्पष्ट उल्लेख है।

४—ऋग्वेदकल्पद्रुम के कर्त्ता केशव ने यामलाष्टक तन्त्र के उपशास्त्रनिर्देशक कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। वे इस प्रकार हैं—

यस्मिन् व्याकरणान्यष्टौ निरूप्यन्ते महान्ति च॥ १०॥

तत्राद्यं ब्राह्ममुदितं द्वितीयं चान्द्रमुच्यते ।
तृतीयं याम्यमाख्यातं चतुर्थं रौद्रमुच्यते ॥ ११ ॥
वायव्यं पञ्चमं प्रोक्तं षष्ठं वारुणमुच्यते ।
सप्तमं सौम्यमाख्यातमष्टमं वैष्णवं तथा ॥ १२ ॥

इस में भी रौद्र (=रुद्र=शिवप्रोक्त) व्याकरण का निर्देश है ।

५—सारस्वतभाष्य में भी लिखा है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च गतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ॥

इस श्लोक से माहेश्वर व्याकरण की विशालता अत्यन्त स्पष्ट है ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शिव ने किसी व्याकरण-शास्त्र का प्रवचन किया था ।

परिचय

वंश-ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शिव की माता का नाम **सुरभि** और पिता का नाम **प्रजापति कश्यप** था । शिव के १० सहोदर भाई थे । ये भारतीय इतिहास में **एकादश रुद्र** कहाते हैं । सम्भवतः शिव इन में ज्येष्ठ था ।

शिव के नाम—महाभारत अनुशासन पर्व अ० १७ में **शिव-सहस्रनाम-स्तव** है । इस में शिव के १००८ नाम वर्णित हैं । शान्ति-पर्व अ० २८४ में भी **शिवसहस्रनाम-स्तव** है । इस में छः सौ से कुछ ऊपर नाम गिनाए हैं ।[1]

नाम-स्तव का महत्त्व—भारतीय वाङ्मय में शिवसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, कार्तिकेयस्तव[2], याजवल्क्य अष्टोत्तरशतनाम आदि अनेक स्तव अथवा स्तोत्र उपलब्ध होते हैं । ये नाम-स्तव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । इन से स्तोतव्य व्यक्ति के जीवनवृत्त पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । **नामस्तव भी संक्षिप्त इतिहास अथवा चरित-लेखन की एक प्राचीन शैली है** । साम्प्रतिक इतिहास-लेखकों ने इन नामस्तवों का कुछ भी मूल्याङ्कन नहीं किया । अतएव उन्होंने इतिहासलेखन में इन नामस्तवों का कुछ भी उपयोग नहीं किया ।

---

१. तत्र नामपाठे किञ्चिदधिकानि षट् शतनामान्युपलभ्यन्ते । ७३ वें श्लोक की नीलकण्ठ की व्याख्या ।

२. महा० वन० अ० २३३ ॥

हमें भी इन नामस्तवों का उपर्युक्त महत्त्व कुछ समय पूर्व ही समझ में आया है। यद्यपि महाभारत अनुशासन पर्व अ० १७ में पठित शिव-सहस्र-नाम-स्तवों में ऐतिहासिक अंश के साथ आधिदैविक तथा अध्यात्म अंश का भी संमिश्रण हो गया है, तथापि इस में ऐतिहासिक अंश अधिक है। शिवसहस्रनाम से विदित होने वाले अनेक जीवनवृत्तों की वैदिक लौकिक उभयविध ग्रन्थों से भी पुष्टि होती है। हम महाभारतीय शिवसहस्रनाम-स्तव से विदित होने वाले वृत्त में से कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों का उल्लेख आगे करेंगे।

प्रधान नाम—शिव के शिव, शर्व, भव, शंकर, शम्भु, पिनाकी, शूलपाणी, महेश्वर, महादेव, स्थाणु, गिरीश, विशालाक्ष और त्र्यम्बक प्रभृति प्रधान और प्रसिद्धतम नाम हैं।

शर्व-भव—शतपथ १।७।३।८ में लिखा है कि प्राच्यदेशवासी शिव के लिए शर्व शब्द का व्यवहार करते हैं, और बाहीक[1] भव का[2]।

महादेव—महाभारत कर्णपर्व ३४।१३ के अनुसार त्रिपुरदाह रूपी महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण शिव का 'महादेव' नाम प्रसिद्ध हुआ।

स्थाणु—महाभारत अनुशासन पर्व अ० ८४ श्लोक ६०-७२ के अनुसार शिव ने देवों के हित की कामना से उनकी प्रार्थना पर अविप्लुतब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। इसलिए शिव को ब्रह्मचारी[3], ऊर्ध्वरेता[4], ऊर्ध्वलिङ्ग[4], और ऊर्ध्वशायी[4] (=उत्तानशायी) भी कहते हैं। यतः शिव ने नित्य ब्रह्मचर्य के कारण पार्वती में किसी वंशकर (=पुत्र) को उत्पन्न नहीं किया, इस कारण शिव का एक नाम स्थाणु भी प्रसिद्ध हुआ।[5] लोक में भी फलशाखा-विहीन शुष्क वृक्ष (ठूंठ) के लिए स्थाणु शब्द का व्यवहार होता है।

विशालाक्ष—महाभारत अनुशासन पर्व १७।३७ में विशालाक्ष नाम

---

१. सतलज से सिंधुनद पर्यन्त का देश। पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामनन्तरं ये समाश्रिताः। बाहीका नाम ते देशाः। महा० कर्ण० ४४।७॥

२. शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा बाहीकाः।

३. महा० अनु० १७।७५॥ ४. महा० अनु० १७।४६॥ ऊर्ध्वरेताः—अविप्लुतब्रह्मचर्यः। ऊर्ध्वलिङ्गः—अधोलिङ्गो हि रेतः सिंचति, न तूर्ध्वलिङ्गः। ऊर्ध्वशायी—उत्तानशायी—इति नीलकण्ठः।

५. स्थिरलिङ्गश्च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः॥ नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यदा स्थितम्॥ महा० अनु० १६१।११, १५॥

पढ़ा है। यह नाम शिव को राजनीति-विषयक दीर्घदृष्टि को प्रकट करता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विशालाक्ष नाम से शिव के अर्थशास्त्र के अनेक मत उद्धृत किए हैं।

शिव परमयोगी थे, परन्तु देवों की प्रार्थना पर उन्होंने तात्कालिक देवासुर संग्रामों में अनेक बार महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उनमें त्रिपुरदाह एक विशेष घटना है। यह एक ऐसा महान् कार्य था, जिसे अन्य कोई भी देव करने में असमर्थ था। अतएव त्रिपुरदाह के कारण शिव देव से महादेव बने।[1] समुद्रमन्थन के समय लोककल्याण के लिए शिव का विषपान करना, और योगज-शक्ति से उसे जीर्ण कर देना भी एक आश्चर्यमयी घटना थी। इसी प्रकार दक्ष प्रजापति के यज्ञ का ध्वंस भी एक विशेष घटना थी। इसी में इन्द्र के भ्राता पूषा का दन्त भग्न हुआ था।[2]

गुरु—हेमचन्द्र कृत अभिधानचिन्तामणि कोष की स्वोपज्ञ टीका में शेष के कोष का एक वचन उद्धृत है। उस में शिव का नाम **गुह्यगुरु** लिखा है। उससे विदित होता है कि शिव जन्म से ही परम ज्ञानी थे। उन्होंने किसी से विद्याध्ययन नहीं किया था, अर्थात् वे साक्षात्-कृतधर्मा थे।

शिव का शास्त्रज्ञान—भारतीय वाङ्मय में ब्रह्मा के साथ-साथ शिव को भी अनेक विद्याओं का प्रवर्तक माना गया है। महाभारत शान्तिपर्व अ० १४२। ४७ (कुम्भघोण संस्क०) में सात महान् वेदपारगों में शिव की गणना भी की है। महाभारत के इसी पर्व के अ० २८४ में लिखा है—

सांख्याय सांख्यमुख्याय सांख्ययोगप्रवर्तिने ॥ ११४ ॥
गीतवादित्रतत्त्वज्ञो गीतवादनकप्रियः ॥ १४२ ॥
शिल्पिकः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ॥ १४८ ॥

अर्थात्—शिव सांख्ययोग ज्ञान का प्रवर्तक, गीतवादित्र का तत्त्वज्ञ, शिल्पियों में श्रेष्ठ तथा सर्वविध शिल्पों का प्रवर्तक था।

महाभारत शान्तिपर्व २८४। ८२ में शिव को वेदाङ्गों का भी प्रवर्तक कहा है—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य।

---

१. तुलना करो–इन्द्र का वृत्र-वध से महेन्द्र बनना (इन्द्र प्रकरण में देखें)।

२. पूष्णो दन्तविनाशकः। महा० शान्ति० २८४। ४८॥

मत्स्य पुराण अ० २५१ के आरम्भ में वर्णित १८ प्रख्यात वास्तु-शास्त्रोपदेशकों में विशालाक्ष=शिव की भी गणना की है।

आयुर्वेद के रसतन्त्रों में शिव को रसविद्या का परम ज्ञाता कहा है। आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों में शिव के अनेक योग उद्धृत हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में स्थान स्थान पर विशालाक्ष के मतों का निरूपण उपलब्ध होता है। महाभारत शान्तिपर्व ५६। ८१, ८२ के अनुसार विशालाक्ष ने दश सहस्र अध्यायों में अर्थशास्त्र का संक्षेप किया था।

शिष्य—शिव ने अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया था। इसलिए उनके शिष्य भी अनेक रहे होंगे। परन्तु उनके नामादि ज्ञात नहीं हैं।

यादवप्रकाश कृत पिङ्गल छन्दःशास्त्र की टीका के अन्त में जो श्लोक मिलते हैं, उन में प्रथम के अनुसार शिव ने बृहस्पति को छन्द शास्त्र का उपदेश किया था। द्वितीय श्लोक के अनुसार गुह को और तृतीय श्लोक के अनुसार पार्वती और नन्दी को छन्दःशास्त्र का प्रवचन किया था। नन्दी शिव का प्रियतम शिष्य और उसका अनुचर था।

काल—शिव का काल सतयुग का चतुर्थ चरण है। इस प्रकार शिव का प्रादुर्भाव आज से लगभग ११ सहस्र वर्ष पूर्व है।

दीर्घजीवी—असाधारण अखण्ड ब्रह्मचर्य, योगज शक्ति और रसायन के सेवन से शिव ने मृत्यु को जीत लिया था। वे असाधारण दीर्घजीवी थे। इसी कारण उन्हें मृत्युञ्जय भी कहा जाता है।

शिव-प्रोक्त अन्य शास्त्र—श्री कविराज सूरमचन्द जी ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ ८३-८६ तक शिवप्रोक्त १२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन में अधिकतर आयुर्वेदसंबन्धी हैं। अन्य ग्रन्थों में वैशालाक्ष अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र, नाट्यशास्त्र और छन्दःशास्त्र प्रमुख हैं।

२—बृहस्पति (१०००० वि० पूर्व)

बृहस्पति के शब्दशास्त्र-प्रवक्तृत्व का वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि, यामलाष्टक तन्त्र और सारस्वत-भाष्य के जो उद्धरण शिव के प्रकरण में दिए हैं, उन में भी बृहस्पति के शब्दशास्त्र-प्रवचन का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है।

बृहस्पति के परिचय आदि के विषय में जो कुछ भी वक्तव्य था, वह पूर्व अध्याय में (पृष्ठ ५९-६१) बृहस्पति के प्रसङ्ग में लिख चुके।

बार्हस्पत्य तन्त्र का प्रवचन प्रकार

महाभाष्य का पूर्व पृष्ठ ६१ (टि० ४) पर जो उद्धरण दिया है, उस से विदित होता है कि बृहस्पति ने शब्दों का प्रतिपद पाठ द्वारा उपदेश किया था। इस की पुष्टि न्यायमञ्जरी में उद्धृत औशनस (=उशना के) वचन से भी होती है। यथा—

तथा च बृहस्पतिः—'प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थानात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसंगाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसाः' इति।[1]

यह प्रतिपद पाठ भी किस प्रकार का था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पुनरपि हमारा अनुमान है कि बार्हस्पत्य शब्दपारायण ग्रन्थ में शब्दों क रूपसादृश्य के आधार पर नामों वा आख्यातों का संग्रह रहा होगा। इस संभावना में निम्न हेतु हैं—

१—पाणिनि आदि समस्त वैयाकरण धातुओं का संग्रह विशेष उनके रूपसादृश्य के आधार पर ही करते हैं। अर्थात् शप् आदि विभिन्न विकरणों अथवा उसके अभाव के आधार पर १० गणों (काशकृत्स्न और कातन्त्र ९ गणों) में विभक्त करते हैं।

इसी प्रकार बृहस्पति ने धातु और नामों (=प्रातिपदिकों) का प्रवचन भी रूपसादृश्य के आधार पर किया होगा।

२—पाणिनि ने दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों को **नदी** संज्ञा कही है। पाणिनीय तन्त्र में सम्पूर्ण महती (एकाक्षर से अधिक) संज्ञाएं प्राचीन आचार्यों की हैं। महती संज्ञाएं अन्वर्थ मानी गई हैं। परन्तु एकमात्र नदी संज्ञा ऐसी है, जो महती होती हुई भी अन्वर्थ नहीं है। इस से विदित होता है कि यह नदी संज्ञा उस तन्त्रान्तर से संगृहीत है, जिस में नामों के रूपसादृश्य के आधार पर शब्द-समूहों का पाठ था। और उस दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त शब्दसमूह के आदि में नदी शब्द प्रयुक्त होने से वह सारा समुदाय नदी शब्द से व्यवहृत होता था। आज भी हम तत्तद् गणों का उस-उस गण के आदि में पठित शब्द के साथ आदि शब्द का प्रयोग करके सर्वादि

---

१. लाजरस कम्पनी कांशी मुद्रित, पृष्ठ ४१८।

स्वरादि के रूप में करते हैं।

३– पाणिनि की नदी संज्ञा के समान कातन्त्र में ह्रस्व इकारान्त उकारान्त की **अग्नि** संज्ञा, और दीर्घ आकारान्त की **श्रद्धा** संज्ञा का उल्लेख मिलता है।[1]

कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का है। बृहस्पति इन्द्र का गुरु है। अतः कातन्त्र की **अग्नि श्रद्धा** और **नदी** संज्ञाओं से यही ध्वनित होता है कि ये शब्द किसी समय तत्तद् समानरूप वाले समूहों के आद्य शब्द थे। उन्हें ही उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने संज्ञारूप से स्वीकार कर लिया।

पाणिनि का विशेष सूत्र पाणिनि का एक सूत्र है—**गोतो णित्** (७। १। ९०)। इस सूत्र में **गो** शब्द से पञ्चम्यर्थक तसिल् का निर्देश है। सम्पूर्ण पाणिनीय तन्त्र में कहीं पर भी शब्दविशेष से **तसिल्** का निर्देश नहीं किया गया। कुछ वैयाकरण इसे तपरनिर्देश मानते हैं, वह युक्त नहीं। क्योंकि तपरनिर्देश वर्ण के साथ किया जाता है, न कि नाम शब्द के साथ। इतना ही नहीं, इस सूत्र में केवल 'गो' शब्द का निर्देश मानने पर **द्यो** शब्द का उपसंख्यान भी करना पड़ता है। ये सब कठिनाइयां तभी उपस्थित होती हैं, जब इस सूत्र में '**गो**' शब्द का निर्देश स्वीकार किया जाता है। यदि कातन्त्र की **अग्नि-श्रद्धा-नदी** और पाणिनि की नदी संज्ञा के समान इस **गो** शब्द को भी शब्दपारायणान्तर्गत ओकारान्त शब्दों का आद्य शब्द मान कर संज्ञावाची शब्द मान लिया जाए, तो कोई आपत्ति नहीं आती। तसिल् से निर्देश अञ्जसा उपपन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में इस सूत्र के **ओतो णित्** पाठान्तर और **गोतो णित्** पाठ में मूलतः कोई अन्तर नहीं पड़ता, और ना ही 'द्यो' शब्द के उपसंख्यान की आवश्यकता रहती है।

बृहस्पति के शास्त्र का नाम—बृहस्पति ने इन्द्र के लिए जिस शब्दशास्त्र का प्रवचन किया था, उस का नाम **शब्दपारायण** था, ऐसा महाभाष्य के व्याख्याता भर्तृहरि और कैयट का मत है।[2]

---

१. कातन्त्र २। १। ८, १०॥ २. शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचित् ग्रन्थस्य। भर्तृ० महाभाष्य दीपिका पृष्ठ २१ (हमारा हस्तलेख)॥ शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य। कैयट, महाभाष्यप्रदीप नवा० पृष्ठ ५१, निर्णयसागर सं०।

बृहस्पति के **शब्दपारायण ग्रन्थ** में किए गए प्रतिपद पाठ के प्रकार के विषय में हमने जो विचार उपस्थित किया है, वह सत्य के निकट है, तथापि वह अभी और प्रमाणों की अपेक्षा रखता है।

३—इन्द्र (६५०० वि० पू०)

तैत्तिरीय संहिता ६ । ४ । ७ के प्रमाण से हम पूर्व लिख चुके हैं[1] कि देवों की प्रार्थना पर देवराज=इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र की रचना की। उस से पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत=व्याकरण-संबन्ध-रहित थी। इन्द्र ने सर्वप्रथम प्रतिपद प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का विचार करके शब्दोपदेश की प्रक्रिया प्रचलित की।

परिचय

वंश—इन्द्र के पिता का नाम कश्यप प्रजापति था, और माता का नाम अदिति। अदिति दक्ष प्रजापति की कन्या थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र १ । ८ में बाहुदन्ती-पुत्र का मत उद्धृत किया है। प्राचीन टीकाकारों के मतानुसार बाहुदन्ती-पुत्र का अर्थ इन्द्र है। क्या अदिति का नामान्तर बाहुदन्ती भी था? महाभारत शान्ति पर्व अ० ५९ में बाहुदन्तक शास्त्र का उल्लेख है।

भ्राता—महाभारत[2] तथा पुराणों[3] में इन्द्र के ग्यारह सहोदर कहे हैं। वे सब अदिति की सन्तान होने से आदित्य कहाते हैं। उनके नाम हैं—धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश (अंशुमान्), भग, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु।[4] इनमें विष्णु सब से कनिष्ठ है।[5] अग्नि और सोम भी इन्द्र के भाई हैं[6], परन्तु सहोदर नहीं।

आचार्य—इन्द्र के न्यूनातिन्यून पांच आचार्य थे—**प्रजापति, बृहस्पति, अश्विनीकुमार**, मृत्यु अर्थात यम और **कौशिक विश्वामित्र**। छान्दोग्य उपनिषद् ८ । ७—११ में लिखा है कि इन्द्र ने प्रजापति से आत्मज्ञान सीखा था। श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थसारथि मिश्र द्वारा उदधृत पुरातन वचन के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से मीमांसा-शास्त्र पढ़ा था।[7] गोपथ ब्राह्मण १।१।२५ में इन्द्र और प्रजापति का

---

१. पूर्व पृष्ठ ६१॥ २. आदिपर्व ६६।१५,१६॥ ३.भविष्य०ब्रा०प०७८,५३॥ ४. इन में से आठ आदित्यों के नाम ताण्ड्य ब्राह्मण २४ । १२ । २४ में लिखे हैं।

५. प्रजापतिरिन्द्रमसृजतानुजमवरं देवानाम् । तै० ब्रा० २ । २ । १० ॥

६. स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत् । शत० ११ । १६ । १६ ॥

७. तद्यथा ब्रह्मा प्रजापतये प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय । पृष्ठ

संवाद है। इन तीनों स्थानों में उल्लिखित प्रजापति कौन है यह अज्ञात है। बहुत सम्भव है वह कश्यप प्रजापति हो। ऋक्तन्त्र के अनुसार इन्द्र ने बृहस्पति से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र विषयक सूत्रों में बृहस्पति से नीतिशास्त्र पढ़ने का उल्लेख है।[2] पिङ्गल छन्द के टीकाकार यादवप्रकाश के मत में दुश्च्यवन=इन्द्र ने बृहस्पति से छन्दःशास्त्र का अध्ययन किया था।[3] चरक और सुश्रुत में लिखा है कि इन्द्र ने अश्वि-कुमारों से आयुर्वेद पढ़ा था।[4] वायुपुराण १०३।६० के अनुसार मृत्यु=यम ने इन्द्र के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[5] जैमिनीय ब्रा० २।७६ के अनुसार इन्द्र देवासुर संग्राम में चिर काल पर्यन्त व्यापृत रहने से वेदों को भूल गया था, उसने पुनः (अपने शिष्य) कौशिक विश्वामित्र से वेदों का अध्ययन किया।[6]

शिष्य—शांखायन आरण्यक के वंश ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र ने इन्द्र से यज्ञ और अध्यात्म विद्या पढ़ी थी।[7] ऋक्तन्त्र के पूर्वोद्धृत उद्धरण में लिखा है कि भरद्वाज ने इन्द्र से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था। चरक में कहा है—भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद पढ़ा था[8] और आत्रेय पुनर्वसु ने भरद्वाज से[9], परन्तु वाग्भट ने आत्रेय पुनर्वसु को इन्द्र का साक्षात् शिष्य लिखा है।[10] यह भरद्वाज सुराचार्य बृहस्पति आङ्गिरस का पुत्र है। इस का वर्णन हम अनुपद करेंगे। सुश्रुत के अनुसार धन्वतरि ने इन्द्र से शल्यचिकित्सा सीखी थी।[11]

८, काशी सं०। १. देखो पूर्व पृष्ठ ५८, ब्रह्मा के प्रकरण में उद्धृत।

२. बृहस्पतिरथाचार्य इन्द्राय नीतिसर्वस्वमुपदिशति। ग्रन्थ के प्रारम्भ में। प्राचीन बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र इस से भिन्न था।

३. ……लेभे सुराणां गुरुः। तस्माद् दुश्च्यवन…। छन्दःटीका के अन्त में। उद्धृत वै० वा० इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग।

४. अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः। चरक सूत्र १।५॥ अश्विभ्यामिन्द्रः। सुश्रुत सू० १।२०॥ ५. मृत्युश्चेन्द्राय वै पुनः।

६. यद्ध वा असुरैर्महासंग्रामं संयेते तद्ध वेदान् निराचकार। तान् ह विश्वामित्रादधि जगे। तेन ह वै कौशिक ऊचे॥ ७. विश्वामित्र इन्द्रात्।१५।१॥

८. ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्। चरक सूत्र० १।५॥

९. चरक सूत्र० १।२७-३०॥ १०. सोऽश्विनौ, तौ सहस्राक्षं, सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्। अष्टाङ्गहृदय सूत्र०१।३॥ ११. इन्द्रादहम्। सूत्र०१।२०॥

आयुर्वेद की काश्यप संहिता में लिखा है—इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु को आयुर्वेद पढ़ाया था।[१] वायुपुराण १०३।६० में लिखा है इन्द्र ने वसिष्ठ को पुराणोपदेश किया था।[२] पिङ्गलछन्द के टीकाकार यादवप्रकाश के मत में इन्द्र ने असुर-गुरु=शुक्राचार्य को छन्दःशास्त्र पढ़ाया था।[३] पार्थसारथि मिश्र द्वारा उद्धृत प्राचीन वचनानुसार इन्द्र ने आदित्य को मीमांसाशास्त्र पढ़ाया था।[४] यह आदित्य कौन था ? यह अज्ञात है।

देश—पुरा काल में भारतवर्ष के उत्तर हिमवत् पार्श्व में निवास करने वाली आर्य जाति 'देव' कहाती थी। देवराज इन्द्र उस का अधिपति था।

विशेष घटनाएं—छान्दोग्य उपनिषद् ८।७—११ में लिखा है कि इन्द्र ने अध्यात्मज्ञान के लिए प्रजापति के समीप (३२+३२+३२+५=) १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन किया था। पुरा काल में अनेक देवासुर संग्राम हुए। वायु-पुराण ९७।७२ ७६ में इन की संख्या १२ लिखी है। ये सब संग्राम इन्द्र की अध्यक्षता में हुए थे। इनका काल न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष के लगभग है। इस सुदीर्घ देवासुर संग्राम काल में इन्द्र वेदों से विमुख हो गया। देवासुर संग्रामों के समाप्त होने पर उसने अपने शिष्य विश्वामित्र से पुनः वेदों का अध्ययन किया। इस प्रकार इन्द्र कौशिक बना।[५] मै० सं० ४।६।८ तथा काठक संहिता २८।३ के अनुसार इन्द्र ने वृत्र का वध करके महेन्द्र नाम प्राप्त किया।[६]

इन्द्र की मन्त्रिपरिषद्—कौटिल्य अर्थशास्त्र १।१५ के अनुसार इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि थे। इसी कारण वह सहस्राक्ष कहाता था।[७] इन्द्र के सहस्रभगरूप पौराणिक कथा का यही मूल है।

---

१. इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यप-वसिष्ठ-अत्रि-भृगुभ्यः पृष्ठ ४२।

२. इन्द्रश्चापि वसिष्ठाय।

३. तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुः···। छन्दःटीका के अन्त में।

४. पूर्व पृष्ठ ८०, टि० ७। ५. पूर्व पृष्ठ ८१ टि० ६।

६. इन्द्रो वै वृत्रमहन् सोऽन्यान् देवान् अत्यमन्यत। स महेन्द्रोऽभवत्। मै०सं०। इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा स महेन्द्रोऽभवत्। का० सं०। तुलना करो—इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत। महा० शान्ति० १५। १५ कुम्भ० सं०॥

७. इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रं। तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः।

ब्राह्मण से क्षत्रिय—इन्द्र जन्म से ब्राह्मण था, कर्म से क्षत्रिय बन गया।[1]

दीर्घजीवी—इन्द्र बहुत दीर्घजीवी था। उसने केवल अध्यात्मज्ञान के लिये १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ में लिखा है कि इन्द्र ने अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।[2] तदनुसार इन्द्र न्यूनातिन्यून ६००-७०० वर्ष अवश्य जीवित रहा होगा। चरक चिकित्सा स्थान अ० १ में इन्द्रोक्त कई ऐसी रसायनों का उल्लेख है जिन के सेवन से एक सहस्र वर्ष की आयु होती है। इन रसायनों का सेवन करके इन्द्र स्वयं भी दीर्घायु हुआ और अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को भी दीर्घायुष्य प्राप्त कराया।

काल

इन्द्र का निश्चित काल निर्णय करना कठिन है। भारतीय प्राचीन वाङ्मय में जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि यह इन्द्र कृतयुग के अन्त में अर्थात् विक्रम से ९५०० साढ़े नौ सहस्र पूर्व हुआ था।

हमारी काल गणना—हमने इस इतिहास में प्राचीन काल-गणना कृत, त्रेता और द्वापर युगों की दिव्यवर्ष संख्या को सौर वर्ष मान कर की है। हमारा विचार है, दिव्य वर्ष शब्द सौर वर्ष का पर्याय है। तदनुसार कृत युग का ४८००, त्रेता का ३६०० और द्वापर का २४०० वर्ष परिमाण है। इसी प्रकार भारत युद्ध को विक्रम से ३०४५ वर्ष पूर्व माना है।[3] इस पर विशेष विचार इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया जायगा। अतः ऊपर दिया हुआ इन्द्र का काल न्यूनातिन्यून है। वह इस से अधिक प्राचीन हो सकता है, न्यून नहीं। इन्द्र बहुत दीर्घजीवी था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

ऐन्द्र व्याकरण

ऐन्द्र व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इस का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैन शाकटायन व्याकरण

---

१. इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः कर्मणा क्षत्रियोऽभवत् महा० शान्ति० २२। ११ कुम्भ० सं०॥ २. भरद्वाजो ह त्रीभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णि स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम······।

३. भारत युद्ध का यह काल भारतीय इतिहास में सुनिश्चित है।

१।२।३७ में इन्द्र का मत उद्धृत है।[1] लङ्कावतारसूत्र में भी ऐन्द्र शब्दशास्त्र स्मृत है।[2] सोमेश्वरसूरि विरचित यशस्तिलक चम्पू में ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश उपलब्ध होता है।[3] हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में ऐन्द्र व्याकरण का संकेत मिलता है।[4] प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने अपनी भारतयात्रा वर्णन में ऐन्द्र तन्त्र का उल्लेख किया है।[5] देवबोध ने महाभारतटीका के प्रारम्भ में 'माहेन्द्र' नाम से ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश किया है।[6] वोपदेव ने कविकल्पद्रुम के प्रारम्भ में आठ वैयाकरणों में इन्द्र का नाम लिखा है।[7] कवीन्द्राचार्य सरस्वती के पुस्तकालय का जो सूचीपत्र उपलब्ध हुआ है, उसमें व्याकरण की पुस्तकों में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख है।[8] कथासरित्-सागर के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पुराकाल में ही नष्ट हो गया था.[9] अतः कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में निर्दिष्ट ऐन्द्र व्याकरण कदाचित् अर्वाचीन ग्रन्थ होगा।

पण्डित कृष्णमाचार्य की भूल—पं० कृष्णमाचार्य ने अपने 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' ग्रन्थ के पृष्ट ८११ पर लिखा है कि भरत के नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण और यास्क का उल्लेख है। हमने भरत-नाट्यशास्त्र का भले प्रकार अनुशीलन किया है और नाट्य-शास्त्र का एक पारायण हमने केवल पं० कृष्णमाचार्य के लेख की सत्यता जांचने के लिये किया, परन्तु हमें ऐन्द्र व्याकरण और यास्क का उल्लेख नाट्यशास्त्र मे कहीं नहीं मिला। हां, नाट्यशास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय में व्याकरण का कुछ विषय निर्दिष्ट है और वह कातन्त्र व्याकरण से बहुत समानता रखता है। इस विषय में हम कातन्त्र के प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे।

डा० बेलवेल्कर की भूल—डाक्टर वेलवेल्कर का मत है—कातन्त्र ही प्राचीन ऐन्द्र तन्त्र है। उनका मत अत्यन्त भ्रमपूर्ण है, यह हम

१. जराया ङसीन्द्रस्याचि। २. इन्द्रोऽपि महामते अनेकशास्त्रविदग्ध-बुद्धिः स्वशास्त्रप्रणेता ··· । टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर पृष्ठ २८० (प्र०सं०) पर उद्धृत। ३. प्रथम आश्वास, पृष्ठ ९०।
४. ऐन्द्रेशानादिषु व्याकरणेषु चाज्झलादिरूपस्यासिद्धेः। पृष्ठ १०।
५. अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ४०।
६. पूर्व पृष्ठ ४३ पर उद्धृत 'यान्युज्जहार ······' श्लोक।
७. पूर्व पृष्ठ ६४ पर उद्धृत 'इन्द्रश्चन्द्रः····' श्लोक।
८. सूचीपत्र पृष्ठ ३। ९. आदि से तरङ्ग ४, श्लोक २४, २५।

अनुपद दर्शाएंगे। संभव है कृष्णमाचार्य ने डा० वेलवेल्कर के मत को मान कर ही भरत नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख समझा होगा।

ऐन्द्र तन्त्र और तमिल व्याकरण

अगस्त्य के १२ शिष्यों में एक **पणंपारणार** था। उस से तमिल व्याकरण लिखा। उसके ग्रन्थ का आधार ऐन्द्र व्याकरण था। तोलकाप्पियं पर इसी पणंपारणार का भूमिकात्मक वचन है।[1] यह तोलकाप्पियं ईसा से बहुत पूर्व का ग्रन्थ है। इस में श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के श्लोकों का अनुवाद है।[1]

ऐन्द्र तन्त्र का परिमाण

हम पूर्व लिख चुके हैं कि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे।[2] उत्तरोत्तर मनुष्यों की आयु के ह्रास और मति के मन्द होने के कारण सब ग्रन्थ क्रमशः संक्षिप्त किये गये।[2] ऐन्द्र व्याकरण अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त विस्तृत था। १२ वीं शताब्दो से पूर्वभावी महाभारत का टीकाकार देवबोध लिखता है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

इस वचन से ऐन्द्र तन्त्र के विस्तार की कल्पना सहज में की जा सकती है। तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ सहस्र श्लोक था।[3] पाणिनीय व्याकरण का परिमाण लगभग एक सहस्र श्लोक है। तदनुसार ऐन्द्र तन्त्र पाणिनीय व्याकरण से लगभग २५ गुना बड़ा रहा होगा।

कई व्यक्ति उपर्युक्त श्लोक में '**माहेन्द्रात्**' के स्थान में '**माहेशात्**' पढ़ते हैं।[4] यह ठीक नहीं है। यह श्लोक देवबोध का स्वरचित है। इस में 'माहेन्द्रात्' का कोई पाठभेद उपलब्ध नहीं होता।

---

१. देखो, पी. ऐल. सुब्रह्मण्य शास्त्री, एम.ए.पीएच.डी. का लेख जर्नल ओरियण्टल रिसर्च मद्रास, सन् १९३१, पृष्ठ १०३। २. पूर्व पृष्ठ ९।

३. जर्नल गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १, संख्या ४, पृष्ठ ४१०, सन् १९४४। ४. श्री गुरुपद हालदार कृत व्याकरण दर्शनेर इतिहास, भाग १, पृठ ४६५। तथा बंगला विश्वकोश—महेश्वर शब्द।

ऐन्द्र व्याकरण के सूत्र

कथासरित्सागर में लिखा है कि ऐन्द्र तन्त्र अति पुरा काल में ही नष्ट हो चुका था, परन्तु महान् हर्ष का विषय है कि उस के दो सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में हमें सुरक्षित उपलब्ध हो गये।

ऐन्द्र तन्त्र का प्रथम सूत्र—विक्रम की प्रथम शताब्दी में होने वाले भट्टारक हरिश्चन्द्र ने अपनी चरकव्याख्या में लिखा है—

शास्त्रेष्वपि—'अथ वर्णसमूह' इति ऐन्द्रव्याकरणस्य।[1]

तदनुसार ऐन्द्र व्याकरण का प्रथम सूत्र '**अथ वर्णसमूहः**' था। इससे स्पष्ट है कि उस में भी पाणिनीय अष्टक के समान प्रारम्भ में अक्षरसमाम्नाय का उपदेश था। ऋक्तन्त्र[2] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[3] आदि में भी अक्षरसमाम्नाय का उल्लेख मिलता है। लाघव के लिये व्याकरण-ग्रन्थों के प्रारम्भ में अक्षरसमाम्नाय के उपदेश की शैली अत्यन्त प्राचीन है। इसलिये आधुनिक वैयाकरणों का अष्टाध्यायी के प्रारम्भिक अक्षरसमाम्नाय के सूत्रों को अपाणिनीय मानना महती भूल है। इस पर विशेष विचार 'पाणिनि और उस का शब्दनुशासन' प्रकरण में करेंगे। फिर भी यह विचाणीय है कि ऐन्द्रतन्त्र का वर्ण समूह शिक्षा-सूत्रों में निर्दिष्ट तथा लोक-प्रसिद्ध क्रम से था अथवा स्वशास्त्र की दृष्टि से पाणिनीय अक्षरसमाम्नाय के सदृश विशिष्ट-क्रम से निर्दिष्ट था। ऐन्द्र सम्प्रदाय के कातन्त्र में **सिद्धो वर्णसमाम्नायः** सूत्र में लोक विदित वर्णक्रम की ओर संकेत है। अतः सम्भव है ऐन्द्र-तन्त्र का वर्णसमूह लोकप्रसिद्ध क्रमानुसारी रहा हो।

अन्य सूत्र—दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में ऐन्द्र व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत किया है—

नैकं पदजातम्, यथा 'अर्थः पदम्' इत्यैन्द्राणाम्।[4]

---

१. चरक न्यास पृष्ठ ५८। स्वर्गीय पं० मस्तराम शर्मा मुद्रापित। शब्द-भेद-प्रकाश के टीकाकार ज्ञानविमलगणि ने 'सिद्धिरनुक्तानां रूढेः' सूत्र की टीका में इस 'सिद्धि ...' सूत्र को ऐन्द्रव्याकरण का प्रथम सूत्र लिखा है (व्याक० द० इ० पृष्ठ ४८४)। यह ठीक नहीं।

२. प्रपाठक १ खण्ड ४।

३. देखो विष्णुमित्र कृत वर्गद्वयवृत्ति।

४. निरुक्तवृत्ति पृष्ठ १०, पंक्ति ११। दुर्गवत्ति में 'यथार्थः पदमैन्द्राणामिति' पाठ है। प्रकरणनुसार इति पद 'ऐन्द्राणाम्' से पूर्व होना चाहिये। तुलना करो—'अर्थः पदम्' वाज० प्राति० ३। २॥ व्याकरण महाभाष्य के मराठी अनुवाद के प्रस्तावना खण्ड के लेखक

अर्थात् ऐन्द्र व्याकरण में सब अर्थवान् वर्णसमुदायों की पद संज्ञा होती है। उन के यहां नैरुक्तों तथा अन्य वैयाकरणों के सदृश नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग नहीं हैं। सुषेण विद्याभूषण ने भी **'अर्थः पदम्'** को ऐन्द्र नाम से उद्धृत किया है।[1]

नाट्यशास्त्र १४।३२ की टीका में अभिनव गुप्त ने लिखा है—**संप्रयोगप्रयोजनम् ऐन्द्रेऽभिहितम्**। भाग २, पृष्ठ २३३।

अन्य मत—पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों पर नन्दिकेश्वर विरचित काशिका (श्लोक २) की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका में लिखा है—

तथा चोक्तमिन्द्रेण—अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः।

इस वचन का भाव हमारी समझ में नहीं आया।

परिभाषाओं का मूल—नागेश भट्ट के शिष्य वैद्यनाथ ने परिभाषेन्दुशेखर की व्याख्या करते हुए काशिका टीका में परिभाषाओं का मूल ऐन्द्र तन्त्र है ऐसा संकेत किया है।[2]

ऐन्द्र और कातन्त्र का भेद

हम पूर्व लिख चुके हैं कि डा० वेलवेल्कर कातन्त्र को ऐन्त्र तन्त्र मानते हैं। उनका यह मत सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि भट्टारक हरिश्चन्द्र और दुर्गाचार्य जैसे प्रामाणिक आचार्यों ने ऐन्द्र व्याकरण के जो सूत्र उद्धृत किये हैं, वे कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध नहीं होते। इतना ही नहीं, भट्टारक हरिश्चन्द्र द्वारा उद्धृत सूत्रानुसार ऐन्द्र व्याकरण में 'वर्ण-समूह' का निर्देश था, परन्तु कातन्त्र में उसका अभाव स्पष्ट है। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पाणिनीय तन्त्र से कई गुना विस्तृत था, परन्तु कातन्त्र पाणिनीय तन्त्र का चतुर्थांश भी नहीं है।

म०म० काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने दुर्गटीका के हमारे द्वारा परिष्कृत पाठ को ही दुर्गवृत्ति के नाम से उद्धृत किया है। द्र० पृष्ठ १२६ टि० २। इस खण्ड में अन्यत्र भी हमारा नाम निर्देश न करके ग्रन्थ के अनेक उद्धरण स्वीकार किए हैं।

१. कलापचन्द्रे सुषेण विद्याभूषण लिखिया छेन—'अर्थः पदम् आहुरैन्द्राः, 'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, 'सुप्तिङन्तं पदं पाणिनीयाः (सन्धि २०)। व्याक० द० इ० पृष्ठ ४०। २. प्राचीनवैयाकरणनये वाचनिकानि (परिभाषेन्दुशेखर)। प्राचीनेति इन्द्रादीत्यर्थः। काशिकाटीका।

ऐन्द्र व्याकरण और जैन ग्रन्थकार

हेमचन्द्र आदि जैन ग्रन्थकारों का मत है कि भगवान् महावीर स्वामी ने इन्द्र के लिये जिस व्याकरण का उपदेश किया वही लोक में ऐन्द्र व्याकरण नाम से प्रसिद्ध हुआ। कई जैन ग्रन्थकार जैनेन्द्र व्याकरण को महावीर स्वामी प्रोक्त मानते हैं।[1] वस्तुतः ये दोनों मत अयुक्त हैं।

अति प्राचीन वैदिक ग्रन्थकारों के मतानुसार इन्द्र ने बृहस्पति से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था, महावीर स्वामी से नहीं। महावीर स्वामी तथागत बुद्ध के समकालीन हैं. इन्द्र उन से कई सहस्र वर्ष पूर्व अपना व्याकरण लिख चुका था। जैनेन्द्र व्याकरण आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी विरचित है। यह हम 'पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणकार' प्रकरण में लिखेंगे।

अन्य कृतियाँ

१. **आयुर्वेद**—चरक में लिखा है इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद पढ़ाया था।[2] वायुपुराण ९२।२२ में लिखा है कि भरद्वाज ने आयुर्वेद संहिता की रचना की और उसके आठ विभाग करके शिष्यों को पढ़ाया।[3] इस से प्रतीत होता है कि इन्द्र ने भरद्वाज के लिये सम्पूर्ण आयुर्वेद (आठों तन्त्रों) का प्रवचन किया था।

सुश्रुत के प्रारम्भ में आचार्य-परम्परा का निर्देश करते हुए लिखा है कि भगवान् धन्वतरि ने इन्द्र से शल्यतन्त्र का अध्ययन किया था।[4]

२. **अर्थशास्त्र**—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बाहुदन्ती-पुत्र का मत उद्धृत किया है।[5] प्राचीन टीकाकारों के अनुसार बाहुदन्ती-पुत्र इन्द्र है। महाभारत शान्ति पर्व अ० ५९ में बाहुदन्तक अर्थशास्त्र का उल्लेख मिलता है।

मीमांसाशास्त्र—श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथि मिश्र किसी पुरातन ग्रन्थ का वचन उद्धृत करता है। उस में इन्द्र को मीमांसाशास्त्र का प्रवक्ता कहा है।[6]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास प्र०सं० पृष्ठ ९३-९५, द्वि०सं० २२-२४।
२. पूर्व पृष्ठ ८१, टि० ८। ३. आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार सभिषक्क्रियम्। तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्। ४. पूर्व पृष्ठ ८१, टि० ११।
५. नेति बाहुदन्तीपुत्रः—शास्त्रविददृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत्। अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तानमात्यान् कुर्वीत् गुणप्राधान्यादिति।१।८॥
६. पूर्व पृष्ठ ८०, टि ७।

४. छन्दःशास्त्र – इन्द्रप्रोक्त छन्दःशास्त्र का उल्लेख यादवप्रकाश ने पिङ्गल छन्दःशास्त्र की टीका के अन्त में किया है।[1]

५. पुराण – वायु पुराण १०३।६० में लिखा है कि इन्द्र ने पुराण-विद्या का प्रवचन किया था।

६. गाथाएं—महाभारत वनपर्व ८८।५ में इन्द्रगीत गाथाओं का उल्लेख मिलता है।

४—वायु (८५०० वि०पू०)

तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ में लिखा है—इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी।[2] तैत्तिरीय संहिता का यह स्थल विशुद्ध ऐतिहासिक है, आलङ्कारिक नहीं है। अतः स्पष्ट है कि इन्द्र को व्याकरण की रचना में सहयोग देने वाला वायु भी निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति है। इन्द्र और वायु के सहयोग से देववाणी के व्याकरण की सर्वप्रथम रचना हुई। इसीलिये कई स्थानों में वाणी के लिये **'वाग् वा ऐन्द्रवायवः'** आदि प्रयोग मिलते हैं।[3] वायु पुराण २।४४ में वायु को **'शब्दशास्त्र-विशारद'** कहा है। यामलाष्टक तन्त्र में आठ व्याकरणों में **वायव्य** व्याकरण का भी उल्लेख किया है।[4] कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में एक 'वायु-व्याकरण' का उल्लेख है।[5] हमें कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में निर्दिष्ट वायु-व्याकरण की प्राचीनता में सन्देह है।

भार्या—वायु की भार्या का नाम अञ्जनी था।

पुत्र—वायु का पुत्र लोकविश्रुत महाबली हनुमान् था। इस की माता अञ्जनी थी।[6] हनुमान् भी अपने पिता के समान शब्दशास्त्र का महान् वेत्ता था।[7]

आचार्य—वायु पुराण १०३।५८ के अनुसार ब्रह्मा ने मातरिश्वा =वायु के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[8]

---

१. पूर्व पृष्ठ ८२, टि ३। २. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणै, मह्यं चैव वायवे च सह गृह्याता इति। ३. मै० सं० ४।५।८॥ कपि० ४२।३॥

४. ऋग्वेद कल्पद्रुम की भूमिका में उद्धृत। पृष्ठ ११४, हमारा हस्तलेख।

५. सूचीपत्र पृष्ठ ३। ६. अञ्जनीगर्भसम्भूतः। वायु पुराण ६०।७३॥

७. नून व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ रामायण किष्किन्ध० ३।२९॥

८. ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातारिश्वने।

शिष्य—वायु पुराण १०३।५६ में लिखा है—वायु से उशना कवि ने पुराणज्ञान प्राप्त किया था।[1]

योद्धा—महाभारत शान्तिपर्व १५।१७ (पूना सं०) के अनुसार वायु महान् योद्धा था। **वायु पुराण ५६।११८** में वायु को ब्रह्मवादी कहा है।

वायुपुर वायु पुराण ६०।६८ में वायु के नगर का नाम वायुपुर लिखा है।

पुराण—वायु पुराण १।४७ के अनुसार मातरिश्वा (=वायु) ने वायु पुराण का प्रवचन किया था।[2] महाभारत वन पर्व १९१।१६ में वायुप्रोक्त पुराण का निर्देश मिलता है।[3]

गाथाएं—मनुस्मृति ९।४२ में **वायुगीत** गाथाओं का उल्लेख है।[4] महाभारत शान्तिपर्व ७२ में ऐल पुरुरवा और मातरिश्वा का संवाद मिलता है।

५—भरद्वाज (९३०० वि०पू०)

व्याकरणशास्त्र का तृतीय आचार्य बार्हस्पत्य भरद्वाज है। यद्यपि भरद्वाजतन्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है, तथापि ऋक्तन्त्र के पूर्वोक्त[5] प्रमाण से स्पष्ट है कि भरद्वाज व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता था।

परिचय

वंश—भरद्वाज आङ्गिरस बृहस्पति का पुत्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहस्पति को देवों का पुरोहित कहा है।[6] कोशग्रन्थों में बृहस्पति का पर्याय 'सुराचार्य' लिखा है।[7]

सन्तति—काशिका वृत्ति २।१।१९ तथा २।४।८४ में भरद्वाज के २१ अपत्यों का निर्देश है।[8] ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में भरद्वाज के ऋजिष्वा, गर्ग, नर, पायु, वसु, शास, शिरिम्बिठ, शुनहोत्र, सप्रथ और सुहोत्र इन दश मन्त्रद्रष्टा पुत्रों और रात्रि नाम्नी मन्त्रद्रष्ट्री पुत्री का उल्लेख मिलता है। यजुःसर्वानुक्रमणी में यजुर्वेद ३४।३२ की ऋषिका कशिपा भरद्वाजदुहिता लिखी है। मत्स्य ४९।३६ तथा वायु

---

१. तस्माच्चोशनसा प्राप्तम्। २. पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना।
३. वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्। ४. अत्र गाथा वायुगीताः।
५. पूर्व पृष्ठ ५८ पर उद्धृत।
६. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। ऐ० ब्रा० ८। २६॥
७. अमरकोश १।२।२५॥ ८. एकविंशति भरद्वाजम्। यह उदाहरण जैन शाकटायन की लघुवृत्ति १।२।१६० में भी है।

९९।१५९ के अनुसार गर्ग और नर भरद्वाज के साक्षात् पुत्र नहीं हैं, अपितु चक्रवर्ती महाराज भरत की सुनन्दा रानी में भरद्वाज द्वारा नियोग से उत्पन्न महाराज भुमन्यु (भुवमन्यु) के पुत्र हैं। ये दोनों ब्राह्मण हो गये थे। इसी गर्ग के कुल में किसी गार्ग्य ने व्याकरण, निरुक्त, सामवेदीय पदपाठ और उपनिदान सूत्र का प्रवचन किया था। इनका उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी और यास्कीय निरुक्त में मिलता है।

आचार्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] ऐतरेय आरण्यक २।२।४ में लिखा है—इन्द्र ने भरद्वाज के लिये घोषवत् और ऊष्म वर्णों का उपदेश किया था।[2] चरक संहिता सूत्रस्थान १।२३ से विदित होता है कि भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद पढ़ा था।[3] वायु पुराण १०३।६३ के अनुसार तृणंजय ने भरद्वाज के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[4] महाभारत शान्तिपर्व १८२।५ के अनुसार भृगु नें भरद्वाज को धर्मशास्त्र का उपदेश किया था।[5] यही भृगु मानव धर्मशास्त्र का प्रथम प्रवक्ता है।

शिष्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज नें अनेक ऋषियों को व्याकरण पढ़ाया था।[6] चरक सूत्रस्थान में अनेक ऋषियों को आयुर्वेद पढ़ाने का उल्लेख है। उन में से एक आत्रेय पुनर्वसु है।[7] वायु पुराण १०३।६३ में लिखा है कि भरद्वाज ने गौतम को पुराण पढ़ाया था।[8] कौटिल्य अर्थशास्त्र १२।१ के अनुसार भरद्वाज ने किसी अर्थशास्त्र का भी प्रवचन किया था।[9]

देश—रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार भरद्वाज का आश्रम प्रयाग के निकट गंगा यमुना के संगम पर था।

मन्त्रद्रष्टा—ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में बार्हस्पत्य भरद्वाज को अनेक सूक्तों का द्रष्टा लिखा है।

---

१. इन्द्रो भरद्वाजाय।१।४॥ २. तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः··· एतदु हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच।

३. तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः। ४. तृणञ्जयो भरद्वाजाय।

५. भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते। ६. भरद्वाज ऋषिभ्यः।१।४॥

७. ऋषयश्च भरद्वाजात्····। अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।१।२७,३०॥

८. गौतमाय भरद्वाजः।

९. इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसो नमतीति भरद्वाजः।

दीर्घजीवी—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ के अनुसारइन्द्र ने तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उदेश किया था।[१] चरक संहिता के प्रारम्भ में भरद्वाज को अमितायु कहा है।[२] ऐतरेय आरण्यक १।२।२ में भरद्वाज को अनूचानतम और दीर्घजीवितम लिखा है।[३] ताण्ड्य ब्राह्मण १५।३।१७ के अनुसार यह काशिराज दिवोदास का पुरोहित था।[४] मैत्रायणी संहिता ३।३।७ और गोपथ ब्राह्मण २।१।१८ में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित कहा है।[५] जैमिनीय ब्राह्मण ३।२।४४ में दिवोदास के पौत्र क्षत्र का पुरोहित लिखा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ से व्यक्त है कि दीर्घजीवी भरद्वाज के साथ इन्द्र का विशेष संबन्ध था। अतः यही दीर्घजीवी भरद्वाज व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता है, यह निश्चित है।

विशिष्ट घटना—मनुस्मृति १०।१०७ के अनुसार किसी महान् दुर्भिक्ष के समय क्षुधार्त भरद्वाज ने बृबु तक्षु से बहुत सी गायों का प्रतिग्रह किया था।

काल

हम ऊपर कह चुके हैं कि भरद्वाज काशिपति दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित था। रामायण उत्तरकाण्ड ३८।१५ के अनुसार काशिपति प्रतर्दन दाशरथि राम का समकालिक था।[६] रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार राम आदि वन जाते हुए भरद्वाज के आश्रम में ठहरे थे। सीता-स्वयंवर के अनन्तर दाशरथि राम का जामदग्न्य राम से साक्षात्कार हुआ था। महाभारत के अनुसार जामदग्न्य राम त्रेता और द्वापर की सन्धि में हुआ था।[७] इन प्रमाणों

---

१. भरद्वाजो ह वा त्रीभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णि स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम किं तेन कुर्याः...।

२. तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितः। सूत्र० १।२६॥ अपरिमितशब्दः सर्वत्रोक्तात् प्रमाणादधिकविषयः इति न्यायविदः। कात्यायनश्चाह अपरिमितश्च प्रमाणाद् भूय। आप० श्रौत २।१।१ रुद्रवृत्ति में उद्धृत।

३. भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस। तुलना करो—भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः पलित आस। ऐ०ब्रा० १५।५॥

४. दिवोदासं वै भरद्वाजपुरोहितं नाना जनाः पर्ययन्त।

५. एतेन वै भरद्वाजः प्रतर्दनं दैवोदासिं समनह्यत्। मै०सं०। एतेन ह वै भरद्वाजः प्रतर्दनं समनह्यन। गो०ब्रा०। ६. तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतोभयम्। प्रतर्दनं काशिपतिं परिष्वज्येदमब्रवीत्॥ ७. त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतांवरः। असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः॥ आदि०२।३॥

से स्पष्ट है कि दीर्घजीवी भरद्वाज मर्यादापुरुषोत्तम राम के समय विद्यमान था। दाशरथि राम का काल त्रेता के सन्ध्यंश का अन्तिम चरण है। अतः भरद्वाज का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ६३०० से ७५०० वर्ष पूर्व है। महाभारत में लिखा है कि भरद्वाज ने महाराज भरत की सुनन्दा रानी में नियोग से सन्तान उत्पन्न किया था।[1]

शौनक-प्रति-संस्कृत ऐतरेय ब्राह्मण १५।५ में प्रयुक्त **'आस'** क्रिया से व्यक्त होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के शौनक के परिष्कार से बहुत पूर्व भरद्वाज की मृत्यु हो चुकी थी। भारत युद्ध के समय द्रोण ४०० वर्ष का था। उस से न्यूनातिन्यून २०० वर्ष पूर्व द्रुपद उत्पन्न हुआ था। महाभारत में द्रुपद को **राज्ञां वृद्धतमः** कहा है। भरद्वाज के सखा महाराज पृषत्[3] के स्वर्गवास के पश्चात् द्रुपद राजगद्दी पर बैठा। इसी समय भरद्वाज स्वर्गामी हुआ।[4] इस घटना से यही प्रतीत होता है कि भरद्वाज भारत युद्ध से लगभग ४०० वर्ष पूर्व तक जीवित रहा। भरद्वाज भारतीय इतिहास में वर्णित उन कतिपय दीर्घजीवितम ऋषियों में से एक है, जिनकी आयु लगभग सहस्र वर्ष से भी अधिक थी। चरक चिकित्सास्थान अध्याय १ में लिखा है कि भरद्वाज ने रसायन द्वारा दीर्घायुष्ट्व प्राप्त किया था।[5] चरक के इसी प्रकरण में सहस्रवार्षिक कई रसायनों का उल्लेख है। जिन के प्रयोग से अनेक महर्षियों ने इतना सुदीर्घ आयुष्य प्राप्त किया था, जिस की कल्पना भी आज के अल्पायुष्य काल में असम्भव प्रतीत होती है।

व्याकरण का स्वरूप

भरद्वाज का व्याकरण अनुपलब्ध है। उसका एक भी वचन वा मत हमें किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। कात्यायन ने यजुःप्रातिशाख्य में आख्यात=क्रिया को भरद्वाजदृष्ट कहा

---

१. आदि पर्व, द्वितीय वंशावली। 	३. पूर्व पृष्ठ ९२ पर, टि० ३।

३. भरद्वाजस्य सखा पृषतो नाम पार्थिवः। आदि पर्व १६६।६॥

४. ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्। ···· भरद्वाजोऽपि हि भगवान् आरुरोह दिवं तदा॥ आदि पर्व १३०।४४,४५॥

५. एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः। जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः॥ ४॥ प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्। यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः॥ ५॥

है।[1] उस से व्यक्त होता है कि भरद्वाज ने अपने व्याकरण में आख्यात पर विशेषरूप से लिखा था। इस से अधिक हम इस विषय में कुछ नहीं जानते।

अन्य कृतियां

इस अनूचानतम और दीर्घजीवितम भरद्वाज ने अपने सुदीर्घ जीवन में किन-किन विषयों का प्रवचन किया, यह अज्ञात है। प्राचीन ग्रन्थों में इस भरद्वाज को निम्न विषयों का प्रवक्ता वा शास्त्रकर्त्ता कहा है—

आयुर्वेद—वायु पुराण ९२।२२ में लिखा है—भरद्वाज ने आयुर्वेद की संहिता रची थी।[2] चरक सूत्र स्थान १।२६-२८ के अनुसार भरद्वाज ने आत्रेय पुनर्वसु प्रभृति शिष्यों को कायचिकित्सा पढ़ाई थी। भारद्वाजीय आयुर्वेद संहिता का एक उद्धरण अष्टाङ्ग-संग्रह सूत्र-स्थान पृष्ठ २७० की इन्दु की टीका में मिलता है।

धनुर्वेद—महाभारत शान्ति पर्व २१०।२१ के अनुसार भरद्वाज ने धनुर्वेद का प्रवचन किया था।[3]

राजशास्त्र—महाभारत शान्ति पर्व ५८।३ में लिखा है—भरद्वाज ने राजशास्त्र का प्रणयन किया था।[4]

अर्थशास्त्र—कौटिल्य अर्थशास्त्र में भरद्वाज का एक वचन उद्धृत है।[5] उससे विदित होता है कि भरद्वाज ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। इस अर्थशास्त्र के दो श्लोक यशस्तिलकचम्पू के पृष्ठ १०० पर उद्धृत हैं। इनमें से पहले का अर्धभाग कौटिल्य अर्थशास्त्र ७।५ में उपलब्ध होता है।[6] भरद्वाज के पिता बृहस्पति का अर्थशास्त्र प्रसिद्ध है।

---

१. भारद्वाजकमाख्यातम्। अ० ८ पृष्ठ, ३२७ मद्रास संस्करण। उवट—भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम्। सम्पादक ने भ्रम से इस प्रकरण के अनेक सूत्र टीका में मिला दिये हैं। २ पूर्व पृष्ठ ८८, टि० ३॥

३. भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। ४. भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः। राजशास्त्रप्रणेतारो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः॥

५. इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसे नमतीति भरद्वाजः। अधि० १२, अ० १॥ तुलना करो—इन्द्रमेव प्रणमते यद्राजानमिति श्रुतिः। महाभारत शान्ति० ६४।४॥

६. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ ११६, द्वि० सं०।

यन्त्रसर्वस्व—महर्षि भरद्वाज ने 'यन्त्रसर्वस्व' नामक कला-कौशल का बृहद् ग्रन्थ लिखा था। उसका कुछ भाग बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसका विमान-विषय से सम्बद्ध उपलब्ध स्वल्पतम भाग श्री पं० प्रियरत्नजी आर्ष (स्वामी ब्रह्ममुनिजी) ने विमानशास्त्र के नाम से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित किया था।[1] अब आपने उसका पर्याप्त भाग उपलब्ध करके आर्यभाषानुवाद सहित प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के अन्वेषण का श्रेय इन्हीं को है। इस विमान-शास्त्र में विविध परिवह (=उच्च नीच स्तर) में विचरने वाले विमानों के लिये विविध धातुओं के निर्माण का वर्णन मिलता है।

पुराण—वायु पुराण १०३।६३ में भरद्वाज को पुराण का प्रवक्ता कहा है।[2]

धर्मशास्त्र—संस्कार-भास्कर पत्रा २ में हेमाद्रि में निर्दिष्ट भरद्वाज का एक लम्बा उद्धरण उद्धृत है। उससे विदित होता है कि भरद्वाज ने किसी धर्मशास्त्र का भी प्रवचन किया था।

शिक्षा—भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से एक भारद्वाज-शिक्षा प्रकाशित हुई है। उसके अन्तिम श्लोक[3] तथा टीकाकार वागेश्वर भट्ट के मतानुसार[4] यह शिक्षा भरद्वाजप्रणीत है। हमारे विचार में यह शिक्षा अर्वाचीन है। क्योंकि इसका सम्बन्ध तैत्तिरीय चरण से है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध भारद्वाज श्रौत भी उपलब्ध है। अतः सम्भव है कि उक्त भारद्वाज शिक्षा का कोई मूल ग्रन्थ भरद्वाज-प्रणीत रहा हो, अथवा यह भारद्वाज कोई भरद्वाज-वंश का व्यक्ति हो।

उपलेख—बड़ोदा प्राच्यविद्यामन्दिर के सूचीपत्र भाग १, सन् १९४२ ग्रन्थाङ्क ५४२, पृष्ठ ३८ पर उपलेख का एक सभाष्य हस्त-लेख निर्दिष्ट है। उसका मूल भरद्वाज कृत कहा गया है।

६—भागुरि (४००० वि०पू०)

यद्यपि आचार्य भागुरि का उल्लेख पाणिनीय अष्टक में उपलब्ध नहीं होता, तथापि भागुरि-व्याकरणविषयक मतप्रदर्शक निम्न श्लोक

---

१. यह भाग 'विमानशास्त्र' के नाम से आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा देहली से प्रकाशित हुआ है। २. गौतमाय भरद्वाजः।

३. यो जानाति भरद्वाजशिक्षामर्थसमन्विताम्। पृष्ठ ९९।

४. ··· प्रवक्ष्यामि इति भरद्वाजमुनिनोक्तम्। पृष्ठ १।

वैयाकरण-निकाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥[1]

अर्थात्—भागुरि आचार्य के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्ग के अकार का लोप होता है। यथा-अवगाह=वगाह, अपिधान=पिधान तथा हलन्त शब्दों से आप् (टाप्) प्रत्यय होता है। यथा-वाक्=वाचा, निश्=निशा, दिश्=दिशा।

पातञ्जल महाभाष्य ४।१।१ से भी विदित होता है कि कई आचार्य हलन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय मानते थे।[2] पाणिनि ने अजादिगण में कुञ्चा उष्णिहा देवविशा शब्द पढ़े हैं। काशिकाकार ने इनमें हलन्तों से टाप् माना है।

भागुरि के व्याकरणविषयक कुछ वचन जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्द-शक्तिप्रकाशिका में उद्धृत किये हैं। उन्हें हम आगे लिखेंगे।

परिचय

भागुरि में श्रूयमाण तद्धितप्रत्यय के अनुसार भागुरि के पिता का नाम '**भगुर**' प्रतीत होता है। महाभाष्य ७।३।४५ में किसी **भागुरी** का नामोल्लेख है। संभव है यह भागुरि की स्वसा हो। इस पण्डिता देवी ने किसी लोकायत शास्त्र की व्याख्या की थी।[3] यह लोकायत शास्त्र अर्थशास्त्रवत् कोई अर्थप्रधान ग्रन्थ प्रतीत होता है।[4]

---

१. न्यास ६।२।३७, पृष्ठ ३४६। धातुवृत्ति, इण् धातु, पृष्ठ २४७। प्रक्रियाकौमुदी भाग १, पृष्ठ १८२। अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ ५३ में इस प्रकार पाठभेद है—टापं चापि हलन्तानां दिशा वाचा गिरा क्षुधा। वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

२. यस्तर्हि नकारान्तात् क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा इति।

३. वर्णिका भागुरी लोकायतस्य। वर्तिका भागुरी लोकायतस्य। कैयट के मत में भागुरी टीका ग्रन्थ का नाम है—वर्णिकेति व्याख्यात्रीत्यर्थः, भागुरी टीकाविशेषः।

४. वात्स्यायन के 'अर्थश्च राज्ञः, तन्मूलत्वाल्लोकयात्रायाः' (१।२।१५) तथा 'वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लौकायतिकाः' (१।२।२८) इन दोनों सूत्रों को मिलाकर पढ़ने से प्रतीत होता है कि लोकायत शास्त्र भी अर्थशास्त्र के समान कोई अर्थप्रधान शास्त्र था। हमारे मित्र

आचार्य—बृहत्संहिता ४७।२ पृष्ठ ५८१ के अनुसार भागुरि बृहद्गर्ग का शिष्य था। भागुरि का मेरु-परिणाम-विषयक मत वायु पुराण ३४।६२ में उपलब्ध होता है।[1]

काल

हम आगे प्रतिपादन करेंगे कि भागुरि आचार्य ने सामवेद की संहिता शाखा और ब्राह्मण का प्रवचन किया था। कृष्ण द्वैपायन तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा शाखाओं का प्रवचन भारतयुद्ध से पूर्व हो चुका था। अतः भागुरि का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्ववर्ती है। 'संक्षिप्तसार' के '**अयाज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे**' सूत्र (तद्धित ४५४) की टीका में शाट्यायन ऐतरेय के साथ भागुर ब्राह्मण भी स्मृत है। तदनुसार पाणिनि के मत में भागुरि-प्रोक्त ब्राह्मण ऐतरेय के समान पुराणप्रोक्त सिद्ध होता है। पाणिनि द्वारा स्मृत पुराणप्रोक्त ब्राह्मण कृष्ण द्वैपायन और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणों से पूर्वकालिक हैं। अतः भागुरि का काल विक्रम से ४००० वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिए।

भागुरि का व्याकरण

भागुरि के व्याकरणसंबन्धी जितने वचन या मत उद्धृत मिलते हैं, उन से प्रतीत होता है कि भागुरि का व्याकरण भले प्रकार परिष्कृत था, और वह पाणिनीय व्याकरण से कुछ विस्तृत था। यदि जगदीश तर्कालङ्कार द्वारा उद्धृत श्लोक इसी रूप में भागुरि के हों, तो सम्भव है भागुरि का व्याकरण श्लोकबद्ध हो।

भागुरि-व्याकरण के उद्धरण

भागुरि आचार्यप्रोक्त व्याकरण के निम्न मत या वचन उपलब्ध होते हैं—

भाषावृत्ति ४।१।१० में भागुरि का मत—

१ **नप्तेति भागुरिः**। अर्थात् भागुरि के मत में नप्ता का भी प्रयोग होता था। पाणिनीय मतानुसार '**नप्त्री**' प्रयोग होता है।

जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में भागुरि के निम्न

श्री प० ईश्वरचन्द्र जी ने 'लोकायतं न्यायशास्त्रं ब्रह्मगार्ग्योक्तम्' (गणपति शास्त्री कृत अर्थशास्त्र टीका, भाग १, पृष्ठ २५) पाठ की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। अतः प्राचीन लोकायत शास्त्र नास्तिक नहीं था।

१. चतुरस्रं तु भागुरिः।

मत वा वचन उद्धृत किये हैं—

२. मुण्डादेस्तत् करोत्यर्थे, गृह्णात्यर्थे कृतादितः ।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेर्, अङ्गादेस्तन्निरस्यति ।। इति भागुरिस्मृतेः।[1]

३. तूस्ताद्विघाते, संछादे वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा ।
उत्प्रेक्षादौ, कर्मणो णिस्तदव्ययपूर्वतः ।। इति भागुरिस्मृतेः।[2]

४. वीणात उपगाने स्याद्, हस्तितोऽतिक्रमे तथा ।
सेनातश्चाभियाने णिः, श्लोकादेरप्युपस्तुतौ ।। इति भागुरिस्मृतेः।[3]

५. गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः, कमेस्तु णिङ् ।
ऋतेरियङ् चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे, परत्र वा ।। इति भागुरिस्मृतेः।[4]

६. गुपो वधेश्च निन्दायां, क्षमायां तथा तिजः ।
प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः, स्वार्थे सनो विधिः।। इति भागुरिस्मृतेः।[5]

७. अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम् ।
कर्तुश्चान्योऽन्यसंदेहे परमेकं प्रवर्तते ।। इति भागुरिवचनमेव शरणम् ।[6]

हमारा विचार है ये छः श्लोक भागुरि के स्ववचन ही हैं। सम्भव है भागुरि ने ऋक्प्रातिशाख्यवत् छन्दोबद्ध सूत्र रचना की हो। उस काल में शास्त्रीय ग्रन्थ श्लोकबद्ध रचने की परिपाटी थी।

भागुरि के व्याकरणविषयक मतनिदर्शक निम्न दो वचन और उपलब्ध होते हैं—

८. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ।।[7]

६. हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम् ।
चतुर्थीं बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः ।।[8]

१०. स्यान्मतम्, करोतीति कारणम् । यथोक्तम् ।
ष्टिवसिव्योर्युट्परयोर्दीर्घत्वं वष्टि भागुरिः ।

---

१. पृष्ठ ४४४, काशी संस्क० । २. पृष्ठ ४४५ । काशी संस्क० ।
३. पृष्ठ ४४६ । ,, ,, ४. पृष्ठ ४४७ । ,, ,,
५. पृष्ठ ४४७ । ,, ,, ६. भाष्यव्याख्याप्रपञ्च, पृष्ठ १२६ । पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषा वृत्ति, राजशाही संस्क० ।

७. देखो पूर्व पृष्ठ ६६, टि० १ । भट्टिटीका में उत्तरार्ध इस प्रकार है— 'धाञ्क्रञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः ।' निर्णयसागर, पृष्ठ ६६ ।।

८. शब्दशक्तिप्रकाशिका पृष्ठ ३६६ में इसे भर्तृहरि का वचन लिखा है। यह ठीक नहीं। वाक्यपदीय के कारक-प्रकरण में यह वचन नहीं मिलता।

करोतेः कर्तृभावे च सौनागाः प्रचक्षते: ॥[1]

भागुरि के अन्य ग्रन्थ

१. **संहिता**—प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूहटीका, जैमिनीय गृह्य और गोभिलगृह्यप्रकाशिका आदि अनेक ग्रन्थों से विदित होता है कि आचार्य भागुरि ने किसी सामशाखा का प्रवचन किया था।[2] कश्मीर के छपे लौगाक्षि-गृह्य की अंग्रेजी भाषानिबद्ध भूमिका में अगस्त्य के श्लोकतर्पण का एक वचन उद्धृत है। उसके[3] अनुसार भागुरि याजुष आचार्य है। संभव है भागुरि ने साम और यजुः दोनों की शाखाओं का प्रवचन किया हो।

२. **ब्राह्मण**—संक्षिप्तसार के '**अयाज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे**'[4] सूत्र की टीका में औत्थासनिक गोयीचन्द्र उदाहरण देता है—

शाट्यायनिनः, भागुरिणः, ऐतरेयिणः।[5]

इस से प्रतीत होता है कि भागुरि ने किसी ब्राह्मण का भी प्रवचन किया था। वह साम संहिता का था।

३. **अलङ्कार-शास्त्र**—सोमेश्वर कवि ने अपने 'साहित्यकल्पद्रुम' ग्रन्थ के यथासख्यालङ्कार प्रकरण में भागुरि का निम्न मत उद्धृत किया है—

भागुरिस्तु प्रथमं निर्दिष्टानां प्रश्नपूर्वकाणामर्थान्तरविषये निषेधोऽप्यनुनिर्दिष्टश्चेत् सोऽपि यथासंख्यालङ्कार इति।[6]

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचना टीका में भागुरी का निम्न मत उद्धृत किया है—

तथा च भागुरिरपि—'किं रसानामपि स्थायिसंचारिताऽस्तीत्या-

भर्तृहरि वाग्भट्ट से प्राचीन है, यह हम भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका के प्रकरण में लिखेंगे। इस श्लोक में वाग्भट का निर्देश है।

१. मल्लवादि कृत द्वादशारनयचक्र की सिंहसूरिगणि कृत टीका, बड़ोदा संस्करण भाग १, पृष्ठ ४१।

२. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ३०८-३१० द्वि० सं०। ३. लौगाक्षिश्च तथा काण्वस्तथा भागुरिरेव च। एते···। पृष्ठ ६। ४. तद्धित ४५४। ५ मुद्रितपाठ **शाट्यायनी भागुरी ऐतरेयी** अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि छन्दोब्राह्मण-विषयक तद्धित-प्रत्ययान्त अध्येतृवेदितृ विषय में बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं (द्र०—अष्टा० ४।२।६५) न कि केवल प्रोक्तार्थमात्र में। ६ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ २८६५, ग्रन्थाङ्क २१२६।

क्षिप्य अभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद बाढमस्तीति।'[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भागुरि का कोई अलङ्कारशास्त्र भी था।

४. **कोष**—अमरकोष आदि की टीकाओं में भागुरिकृत कोष के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[2] सायण ने धातुवृत्ति में भागुरि के कोष का एक श्लोक उद्धृत किया है।[3] पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति, सृष्टिधरकृत भाषावृत्तिटीका और प्रभावृत्ति से विदित होता है कि भागुरिकृत कोष का नाम 'त्रिकाण्ड' था।[4] अमरकोष की सर्वानन्द-विरचित टीकासर्वस्व में त्रिकाण्ड के अनेक वचन उद्धृत हैं।

५. **सांख्यदर्शनभाष्य**—विक्रम की बीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध के महाविद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२ वि०) में लिखा है—'उसके पीछे सांख्यदर्शन जो कि कपिल मुनि के किये सूत्र उन ऊपर भागुरि मुनि का किया भाष्य, इस को १ मास में पढ़ लेगा।[5] संस्कारविधि के संशोधित अर्थात् द्वितीय संस्करण (सं० १९४१ वि०) में भी सांख्यदर्शन

---

१. तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३८५। २. अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ १११, १२५, १९३ इत्यादि। अमर क्षीरटीका, पृष्ठ ५, ६, १२ इत्यादि। हैम अभिधानचिन्तामणि स्वोपज्ञटीका।

३. तथा भागुरिरपि ह्रस्वान्तं मन्यते। यथाह च—भार्या भेकस्य वर्षाभ्वी भृङ्गी स्यान्मदगुरस्य च। शिली गण्डूपदस्यापि कच्छपस्य डुलिः स्मृता॥ धातुवत्ति, भूधातु, पृष्ठ ३०॥ यह श्लोक अमरटीकसर्वस्व भाग १, पृष्ठ १९१ में भी उद्धृत है। ४. भाषावृत्ति—शिवतातिः शंतातिः अरिष्टतातिः, अमी शब्दाश्छान्दसा अपि कदाचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते इति त्रिकाण्डे भागुरि-निबन्धनाद्वाऽव्युत्पन्नसंज्ञाशब्दत्वाद्वा सर्वथा भाषायां साधु॥४।४।१४३॥

भाषावृत्तिटीका—त्रिकाण्डे कोशविशेषे भागुरेरेवाचार्यस्य यदेषां निबन्धनं तस्माच्च।४।४।१४३॥ प्रभावृत्ति—एभिर्नवभिः सूत्रैर्निष्पन्नाश्छान्दसा अपि शब्दा भाषायां साधवो भवन्ति ···· त्रिकाण्डे भागुरिनिबन्धनात्। पं० गुरुपद हालदार कृत व्याकरण-दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४९९ में उद्धृत।

५. पृष्ठ ७८, सन् १८७५ का छपा। सत्यार्थप्रकाश में भी भागुरिकृत भाष्य का उल्लेख है। द्र०—रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० पृष्ठ १०४।

भागुरिकृत भाष्य सहित पढ़ने का विधान किया है।[1]

६. **दैवत ग्रन्थ**—गृहपति शौनक ने बृहद्देवता में भागुरि आचार्य के देवता-विषयक अनेक मत उद्धृत किये हैं।[2] इन से प्रतीत होता है कि भागुरि ने कोई वेदसंबन्धी अनुक्रमणिका ग्रन्थ भी अवश्य लिखा था।

७. **मनुस्मृतिभाष्य**—भागुरि ने मनुस्मृति पर एक भाष्य लिखा था। मनु० ८।१९८ में प्रयुक्त अनपसर शब्द का भागुरि प्रदर्शित अर्थ कल्पतरुकार लक्ष्मीधर ने उद्धृत किया है।[3]

८. **राजनीतिशास्त्र**—नीतिवाक्यामृत की टीका में भागुरि के राजनीतिपरक श्लोक उद्धृत हैं।

व्याकरण, संहिता, ब्राह्मण, अलङ्कार, कोष, सांख्यभाष्य और अनुक्रमणिका आदि सब ग्रन्थों का प्रवक्ता एक ही भागुरि है वा भिन्न भिन्न, यह कहना तब तक कठिन है, जब तक इन ग्रन्थों की उपलब्धि न हो जावे।

७—पौष्करसादि (३१०० वि०पू०)

पौष्करसादि आचार्य का नाम पाणिनीय सूत्रपाठ में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य ८।४।४८ के एक वार्तिक में इसका उल्लेख है।[4] तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में पौष्करसादि के अनेक मत उद्धृत हैं।[5] काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कविकृत कन्नड टीका के आरम्भ में इन्द्रचन्द्र, आपिशलि, गार्ग्य, गालव के साथ पौष्कर स्मृत है।[6] यह नामैकदेश न्याय से पौष्करसादि ही है। इन से पौष्करसादि आचार्य का व्याकरणप्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वंश—पौष्करसादि में श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के अनुसार इनके

---

१. संस्कारविधि, वेदारम्भसंस्कार। द्र०—रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण (तृतीय) पृष्ठ १४४। २. बृहद्देवता ३।१०॥५।४०॥ ६।९६,१०७॥

३. द्र०—शाश्वतवाणी समाजशास्त्र विशेषाङ्क (सन् १९६२) पृष्ठ ९१ पर।

४. चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः। ५. तै० प्रा० ५।३७,३८॥१३।१६॥ १४।२॥१७।६॥ मै० प्रा० ५।३९,४०॥२।१।१६॥२।५।६॥ ६. सद्भिः=इन्द्रचन्द्रापिशलिगार्ग्यगालवपौष्करैः (यह कन्नड टीका का संस्कृत-रूपान्तर है) पृष्ठ १।

पिता का नाम 'पुष्करसत्' था। जयादित्य प्रभृति वैयाकरणों का भी यही मत है।[1]

सन्तति—पौष्करसादि के अपत्य पौष्करसादायन कहाते हैं। पाणिनि ने तौल्वल्यादि[2] गण में पौष्करसादि पद पढ़ कर उससे उत्पन्न युवार्थक फक् (आयन) प्रत्यय के अलुक् का विधान किया है।

देश—हरदत्त के मत में पौष्करसादि आचार्य प्राग्देशवासी है। वह लिखता है—**पुष्करसदः प्राच्यत्वात्**।[3] पाणिनीय व्याकरण से भी यही प्रतीत होता है, पौष्करसादायन में 'इञः प्राचाम्'[4] सूत्र से युवार्थक प्रत्यय का लुक् प्राप्त होता है, उस का निषेध करने के लिये पाणिनि ने 'तौल्वल्यादि' गण में पौष्करसादि पद पढ़ा है। बौद्ध जातकों में पोक्खरसदों का उल्लेख मिलता है, वे प्राग्देशीय हैं।

यज्ञेश्वर भट्ट ने अपनी गणरत्नावली में पौष्करसादि पद का निर्वचन इस प्रकार किया है—

पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत्, तस्यापत्यं पौष्करसादिः।[5]

इस निर्वचन के अनुसार पुष्करसत् अजमेर समीपवर्ती पुष्कर क्षेत्रवासी प्रतीत होता है। पाणिनि के साथ विरोध होने से यज्ञेश्वर भट्ट की व्युत्पत्ति को केवल अर्थप्रदर्शनपरक समझना चाहिये। अथवा सम्भव है प्राग्देश में भी कभी कोई पुष्कर क्षेत्र रहा हो। वहां की साम्प्रतिक भाषा में तालाब को '**पोक्खर**' कहते हैं।

अन्यत्र उल्लेख

पौष्करसादि आचार्य के मत महाभाष्य के एक वार्तिक और तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में उद्धृत हैं, यह हम पूर्व कह चुके। इसका एक मत शांखायन आण्यक ७।८ में मिलता है। हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र तथा अग्निवेश्य गृह्यसूत्र में पुष्करसादि के मत निर्दिष्ट हैं।[6] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी दो बार 'पुष्करसादि' आचार्य

---

१. पुष्करसच्छब्दाद् बाह्वादित्वादिञ्, अनुशतिकादीनां च (अष्टा०७।३।२०) इत्युभयपदवृद्धिः। काशिका २।४।६३॥ बालमनोरमा, भाग २, पृष्ठ २८७॥

२. अष्टा० २।४।६१॥ ३. पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ४०६।

४. अष्टा० २।४।६०॥ ५. ४।१।९६॥ हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १७५।

६. सद्यः पुष्करसादिः। हि०के०गृ० १।६।८; तथा अग्निवेश्य गृह्य १।१, पृष्ठ ६ द्र०।

का उल्लेख है।[1]

पौष्करसादि पुष्करसादि का एकत्व—आपस्तम्ब धर्मसूत्र की व्याख्या में हरदत्त पुष्करसादि को पौष्करसादि आचार्य का ही निर्देश मानता है, और 'आदिवृद्धि का अभाव छान्दस है'[2] ऐसा कहता है। वस्तुतः यहां **एकानुबन्धकृतमनित्यम्**[3] इस परिभाषा से **सोमेन्द्रश्चरु** के समान वृद्ध्यभाव मानना चाहिए।[4] अग्निवेश्य आग्निवेश्यायन में भी यञ् परे क्वचित् वृद्ध्यभाव देखा जाता है।[5]

काल

पौष्करसादि पद तौल्वल्यादि[6] गण में पढ़ा है। पुष्करसत् पद का पाठ यस्कादि[7] बाह्वादि[8] और अनुशातकादि[9] गण में मिलता है। कात्यायन और पतञ्जलि दोनों ने पुष्करसत् का पाठ अनुशतिकादि गण में माना है।[10] इस से स्पष्ट है कि पाणिनीय गणपाठ में इसका प्रक्षेप नहीं हुआ। तौल्वल्यादि गण में पौष्करसादि पद के पाठ से सिद्ध है कि पाणिनि न केवल पौष्करसादि से परिचित था, अपितु उसके अपत्य पौष्करसादायन को भी जानता था। अतः पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है यह निर्विवाद है।

पौष्करसादि-शाखा—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।४० के माहिषेय भाष्य के अनुसार पौष्करसादि ने कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का प्रवचन किया था।[11] शांखायन आरण्यक के उद्धरण से भी यही आभासित होता है। शाखा प्रवक्ता ऋषि प्रायः कृष्णद्वैपायन के समकालीन थे। अतः पौष्करसादि का काल भारतयुद्ध के आसपास ३१०० वि० पूर्व है।

---

१. शुद्धा भिक्षा भोक्तव्यैककुणिकौ काण्वकुत्सौ तथा पुष्करसादिः। १।१६।७॥ यथा कथा च परपरिग्रहणमभिमन्यते स्तेनो ह भवतीति कौत्सहारीतौ तथा कण्वपुष्करसादी ।१।२८।१॥

२. पौष्करसादिरेव पुष्करसादिः, वृद्ध्यभावश्छान्दसः ।१।१६।७॥

३. द्र०—म०म० काशीनाथ अभ्यंकर सम्पादित परिभाषा-संग्रह, पृष्ठ २२।

४. J.R.A.S. अप्रेल १६२८ में 'पौष्करसादि' पर छपा लेख द्रष्टव्य है।

५. द्र०—अग्निवेश्य-तै०प्रा० ६।४; मै०प्रा० ६।४॥ अग्निवेश्यायन-तै०प्रा० १४।३२; मै०प्रा० २।२।३२॥

६. अष्टा० २।४।६१॥

७. अष्टा० २।४।६३॥

८. अष्टा० ४।१।६६॥

९. अष्टा० ७।३।२०॥

१०. पुष्करसद्ग्रहणाद् वा। अथवा यदयमनुशतिकादिषु पुष्करसच्छब्दं पठति। महाभाष्य ७।२।१७॥

११. शैत्यायनादीनां कोहलीपुत्र—भारद्वाज-स्थविर-कौण्डिन्य-पौष्करसादीनां शाखिनाम्......।

८—चारायण (३१०० वि०पू०)

आचार्य चारायण ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था, इस का स्पष्ट निर्देशक कोई वचन उपलब्ध नहीं हुआ। लौगाक्षि-गृह्य के व्याख्याता देवपाल ने ५।१ की टीका में चारायण अपरनाम[1] चारायणि का एक सूत्र और उसकी व्याख्या उद्धृत की है। वह इस प्रकार है—

तथा च चारायणिसूत्रम्—'पुरुकृते च्छछ्योः' इति। 'पुरु शब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ्रे परतः। पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छ्दनं विनाशनं कृच्छम्' इति।

यदि यह सूत्र चारायणीय प्रातिशाख्य का न हो, जिस की अधिक संभावना है, तो निश्चय ही उसके व्याकरण का होगा। महाभाष्य १।१।७३ में चारायण को वैयाकरण पाणिनि और रौढ़ि के साथ स्मरण किया है।[2] अतः चारायण अवश्य व्याकरणप्रवक्ता रहा होगा।

परिचय

वंश—चारायण पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस के पिता का नाम '**चर**' है। पाणिनि ने नडादिगण[3] में इसका साक्षात् निर्देश किया है। उससे 'फञ्' होकर चारायण पद निष्पन्न होता है। उससे अत इञ से इञ् होकर चारायणि भी उसी व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है।[4] इस की मीमांसा आगे काशकृत्स्न-प्रकरण में विस्तार से करेंगे।

अन्यत्र उल्लेख

महाभाष्य १।१।७३ में उदाहरण दिये हैं—**कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः**। वामन ने काशिकावृत्ति ६।२।६९ तथा यक्षवर्मा ने शाकटायन वृत्ति २।४।२ में '**कम्बलचारायणीयाः**' उदाहरण दिया है।

कैयट की भूल—कैयट ने महाभाष्य १।१।७३ के उदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—'**कम्बलप्रियस्य चारायणस्य शिष्या इत्यर्थः**।

यह व्याख्या अशुद्ध है। इस का अर्थ '**कम्बलप्रधानश्चारायणः कम्बलचारायणः, तस्य छात्राः**' करना चाहिये। अर्थात् आचार्य

---

१. तुलना करो—पाणिन और पाणिनि शब्द के साथ।

२. कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः।

३. अष्टा० ४।१।९९॥

४. द्रष्टव्य इसी पृष्ठ की टि० १।

चारायण के पास कम्बलों का बाहुल्य था, वह अपने प्रत्येक छात्र को कम्बल प्रदान करता था। वामन काशिका ६।२।६९ में पूर्वपदान्तोदात्त 'कम्बलचारायणीयाः' उदाहरण क्षेप अर्थ में उद्धृत करता है। उसका अभिप्राय भी यही है कि जो छात्र चारायण-प्रोक्त ग्रन्थ में श्रद्धा न रख कर केवल कम्बल के लोभ से चारायण-प्रोक्त ग्रन्थ को पढ़ते हैं, वे पूर्वपदान्तोदात्त-विशिष्ट **'कम्बलचारायणीयाः'** पद से व्यवहृत होते हैं।

किसी चारायण का मत वात्स्यायन कामसूत्र में तीन स्थानों पर उद्धृत है।[1] चारायण का एक मत कौटिल्य अर्थशास्त्र में दिया है—**तृणमतिदीर्घमिति चारायणः**।[2]

शाम शास्त्री सम्पादित मूल अर्थशास्त्र तृतीय संस्करण में 'नारायणः' पाठ है। अर्थशास्त्र के प्राचीन टीकाकार के मत में यह दीर्घचारायण मगध के बाल (=बालक-प्रद्योत) नामक राजा का आचार्य था। अर्थशास्त्र संकेतित कथा का निर्देश नन्दिसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। देखो शाम शास्त्री सम्पादित मूल अर्थशास्त्र की भूमिका पृष्ठ २०। दीर्घचारायण का निर्देश चान्द्रवृत्ति २।२।१८[3] तथा कातन्त्र दुर्गवृत्ति २।५।५ में भी मिलता है। यह चारायण शाखा-प्रवक्ता चारायण से भिन्न और अर्वाचीन है।

काल

चारायण कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय शाखा का प्रवक्ता है।[4] यह शाखा इस समय अप्राप्य है, परन्तु इसका **'चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय'** सम्प्रति मिलता है। यह दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज लाहौर से प्रकाशित हुआ है। वैदिक शाखाओं का अन्तिम प्रवचन भारतयुद्ध के समीप हुआ था। अतः इसका समय विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व है।

अन्य ग्रन्थ

चारायणीय संहिता—यह कृष्ण यजुर्वेद की शाखा थी। इसका विशेष वर्णन पं० भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २९४, २९५ (द्वि० सं०) पर देखो।

---

१. १।१।१२॥ १।४।४॥ १।५।२२॥
२. अधि० ५। अ० ५। ३. दीर्घश्चारायणः।
४. इस शाखा का वर्णन देखो श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ २९४ (द्वि० सं०)।

चारायणी शिक्षा—यह शिक्षा कश्मीर से प्राप्त हुई थी। इसका उल्लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी जुलाई १८७६ में डाक्टर कीलहार्न ने किया है।

साहित्यिक ग्रन्थ—नाटकलक्षणरत्नकोश के रचयिता सागरनन्दी ने चारायण के किसी साहित्यसंबंधी ग्रन्थ से एक उद्धरण उद्धृत किया है।[1]

६—काशकृत्स्न (३१०० वि०पू०)

यद्यपि पाणिनीय शब्दानुशासन में आचार्य काशकृत्स्न का वैयाकरण के रूप में उल्लेख नहीं मिलता, पुनरपि वैयाकरण निकाय में काशकृत्स्न का व्याकरण-प्रवक्तृत्व अत्यन्त प्रसिद्ध है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में आपिशल और पाणिनीय शब्दानुशासनों के साथ काशकृत्स्न शब्दानुशासन का उल्लेख मिलता है।[2] बोपदेव ने प्रसिद्ध आठ शाब्दिकों में काशकृत्स्न का उल्लेख किया है।[3] क्षीरस्वामी ने काशकृत्स्नीय मत का निर्देश किया है।[4] काशकृत्स्न व्याकरण के अनेक सूत्र प्राचीन वैयाकरण वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं।[5] अब तो काशकृत्स्न का धातुपाठ भी कन्नड टीकासहित प्रकाश में आ गया है।[6] कन्नड टीका में काशकृत्स्न व्याकरण के लगभग १३५ सूत्र भी उपलब्ध हो गए हैं।[7]

परिचय

पर्याय—काशिका ५।१।५८ में एक उदाहरण है—**त्रिकं काशकृत्स्नम्**। जैन शाकटायन की अमोघा वृत्ति ३।२।१६१ में इस का पाठ है—त्रिकं **काशकृत्स्नीयम्**। इन दोनों उदाहरणों की तुलना से इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों उदाहरणों में निश्चयपूर्वक किसी एक ही ग्रन्थ का संकेत है। परन्तु काशकृत्स्न और काशकृत्स्नीय पदों में श्रूयमाण तद्धित-प्रत्यय से विदित होता है कि एक

---

१. आह चारायणः—'प्रकरणनाटकयोर्विष्कम्भः' इति। नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ १६। २. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् इति। ३. द्र० पूर्व पृष्ठ ६४। ४. काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः। क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १८५। ५. कैयट-विरचित महाभाष्य प्रदीप २।१।५०; ५।१।२१॥ भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय स्वोपज्ञ टीका, काण्ड १, पृष्ठ ४०, उस पर वृषभदेव की टीका पृष्ठ ४१।

६. इस काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका का रूपान्तर 'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्' के नाम से हमने प्रकाशित किया है।

७. काशकृत्स्न व्याकरण के विस्तृत परिचय और उसके उपलब्ध समस्त सूत्रों की व्याख्या के लिए देखिए हमारा 'काशकृत्स्न-व्याकरणम्' ग्रन्थ।

काशकृत्स्नि-प्रोक्त है, और दूसरा काशकृत्स्न-प्रोक्त। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका के ४।३।१०१ के उदाहरण की व्याख्या में लिखता है - **आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निशब्दाभ्याम् इञश्च (४।२।११२) इत्यण्**[1]। अर्थात् आपिशल और काशकृत्स्न में (अपत्यार्थक इञ्प्रत्ययान्त) आपिशलि और काशकृत्स्नि शब्दों से प्रोक्त अर्थ में इञश्च सूत्र से अण् प्रत्यय होता है। तथा काशकृत्स्नीय पद में अपत्यार्थक अण्प्रत्ययान्त काशकृत्स्न शब्द से प्रोक्त अर्थ में **वृद्धाच्छः** (४।२।११४) से छ (=ईय) प्रत्यय होता है।

काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न का एकत्व—यद्यपि काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न नामों में अपत्य-प्रत्यय का भेद है, तथापि दोनों नाम एक ही आचार्य के हैं। अकारान्त काशकृत्स्न शब्द से अपत्य अर्थ में **अत इञ्** (अष्टा० ४।१।९५) से इञ् होकर काशकृत्स्नि शब्द निष्पन्न होता है। और उसी कशकृत्स्न से अपत्यार्थ में सामान्यविधायक **तस्यापत्यम्** (अष्टा० ४।१।९२) से अण् होकर काशकृत्स्न शब्द बनता है। यद्यपि **अत इञ्** सूत्र **तस्यापत्यम्** का अपवाद है, तथापि **क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गोऽभिनिविशते**[2] (कहीं-कहीं अपवाद=विशेष-विधायकसूत्र के विषय में उत्सर्ग=सामान्यसूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाती है) नियम से सामान्य अण् प्रत्यय भी हो जाता है। इसी नियम के अनुसार भगवान् वाल्मीकि ने दाशरथि राम के लिये दाशरथ शब्द का भी प्रयोग किया है।[3] अतः जिस प्रकार एक ही दशरथ-पुत्र राम के लिए दाशरथि और दाशरथ दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार इञ्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्नि और अण्-प्रत्ययान्त

---

१. इसी प्रकार पाणिनि शब्द से भी प्रोक्त अर्थ में अण् होकर 'पाणिन' शब्द निष्पन्न होगा। लोक-प्रसिद्ध पाणिनीय पद पाणिन से निष्पन्न होता है। द्र०—न्यास ४।३।१०१॥ पूर्वनिर्दिष्ट भाष्यवचन 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' में अर्थनिदर्शन मात्र है, न कि विग्रह। पाणिनि शब्द आपिशलि और काशकृत्स्नि के समान गोत्रवाची है. उससे 'इञश्च' (४।२।११२) से अण् ही होगा। सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित ने ४।२।११२ में पाणिनि शब्द से 'पाणिनीय' प्रयोग की निष्पति के लिये सरल मार्ग को छोड़ कर जो क्लिष्ट कल्पना की है वह चिन्त्य है। २. सीरदेव-परिभाषावृत्ति, संख्या ३३; परिभाषेन्दुशेखर, स० ५६। यही नियम स्कन्दस्वामी ने 'अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गो दृश्यते' शब्दों से उद्धृत किया है। द्र० निरुक्त-टीका, भाग २, पृ० ८२।

३. प्रीयतां दाशरथाय मैथिली। रामा० युद्धका० १४।३॥ काशिकाकार ने इस प्रयोग में शेषविवक्षा में 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय माना है, वह चिन्त्य है।

काशकृत्स्न दोनों शब्द निश्चय से एक ही व्यक्ति के वाचक हैं।[१]

काशकृत्स्नि का अन्यत्र उल्लेख—महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में ग्रन्थवाची पाणिनीय और आपिशल के साथ 'काशकृत्स्न' पद पढ़ा है, उस से व्यक्त है कि पतञ्जलि उस को काशकृत्स्नि प्रोक्त मानता है।[२] पतञ्जलि ने काशकृत्स्नि आचार्य प्रोक्त मीमांसा का प्रसकृत् उल्लेख किया है।[३]महाकवि भास के नाम से प्रसिद्ध 'यज्ञफल' नाटक में भी काशकृत्स्नि प्रोक्त काशकृत्स्न मीमांसाशास्त्र का उल्लेख है।[४] कात्यायन ने भी अपने श्रौतसूत्र में काशकृत्स्नि आचार्य का उल्लेख किया है।[५] अमोघा वृत्ति के '**काशकृत्स्नीयम्**' निर्देश के अनुसार व्याकरणप्रवक्ता काशकृत्स्न है।[६]

काशकृत्स्न का अन्यत्र उल्लेख—वोपदेव ने अष्ट शाब्दिकों में काशकृत्स्न का उल्लेख किया है।[७] जैन शाकटायनीय अमोघा वृत्ति के पूर्वनिर्दिष्ट **त्रिकं काशकृत्स्नीयम्** उदाहरण में स्मृत ग्रन्थ का प्रवक्ता तद्धित-प्रत्यय की व्यवस्थानुसार काशकृत्स्न है। भट्ट पराशर ने तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में संकर्ष काण्ड (मीमांसा अ० १३-१६) को काशकृत्स्न-प्रोक्त कहा है।[८] भट्टभास्कर ने रुद्राध्याय के भाष्य में काशकृत्स्न का यजुःसम्बन्धी एक मत उद्धृत किया है।[९] बौधायन

---

१. इसी प्रकार पाणिनीय तन्त्र के प्रवक्ता के लिए पाणिनि-पाणिन, वार्तिककार के लिए कात्य-कात्यायन, संग्रहकार के लिए दाक्षि-दाक्षायण दो-दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनके लिए इसी ग्रन्थ के तत्तत् प्रकरण द्रष्टव्य हैं।

२. काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नम्। इञश्च (अष्टा० ४।२।११२) से गोत्रप्रत्ययान्त से अण्प्रत्यय। आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निशब्दाभ्यामिञश्चेत्यण्। न्यास ४।३।१०१॥ काशकृत्स्नेन प्रोक्तं काशकृत्स्नीयम्। वृद्धाच्छः (अष्टा० ४।२।११४॥) सूत्र से अण्प्रत्ययान्त से छ (=ईय) प्रत्यय। न्यासकार ने ६।२।३६ पर 'काशकृत्स्नेन प्रोक्तमित्यण्' लिखा है, वह अशुद्ध है। ४।२।११४ से प्राप्त छ का निषेध कौन करेगा? अतः वहां न्यास ४।३।१०१ के सदृश 'काशकृत्स्निना प्रोक्तमित्यण' पाठ होना चाहिए।

३. महाभाष्य ४।१।११४,९३; ४।३।१५५॥

४. काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम्। अङ्क ४, पृष्ठ १२६॥

५. सद्यस्त्वं काशकृत्स्निः। ४।३।१७॥

६. देखो इसी पृष्ठ की टि० २।

७. पूर्व पृष्ठ ६४।

८. तत्त्वरत्नाकराख्ये भट्टपराशरग्रन्थे संकर्षाख्यश्चतुर्लक्षणात्मको मध्यकाण्डः काशकृत्स्नकृत इत्युच्यते। अधिकरणसारावली-प्रकाशिका में उद्धृत। द्र०—मद्रास राजकीय हस्तलेख सूची, भाग ४, खण्ड १ बी नं० ३५५०, पृष्ठ ५२८१।

९. अष्टौ अनुवाका अष्टौ यजूंषि इति काशकृत्स्नः। पूना संस्क० पृष्ठ २६॥

गृह्य में काशकृत्स्न का मत निर्दिष्ट है।[1] वेदान्त-सूत्र में काशकृत्स्न का मत स्मृत है।[2] आपस्तम्ब श्रौत के मैसूर संस्करण के सम्पादक सो० नरसिंहाचार्य ने भाग १ की भूमिका पृष्ठ ५५ तथा ५७ में संकर्ष-काण्ड को काशकृत्स्न-प्रभव माना है।

दोनों एक ही व्यक्ति—उपर्युक्त ग्रन्थों में स्मृत काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं, यह हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं। तथा उपर्युक्त उद्धरणों में जहां-जहां काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि का स्मरण है, वहां सर्वत्र एक ही व्यक्ति स्मृत है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

वंश—बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) में लिखा है—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः पैङ्गलायनाः, वैहीनरयः, काशकृत्स्नाः, पाणिनिर्वाल्मीकिः ···· आपिशलयः।

इस वचन से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न-गोत्र भृगुवंश का है। अतः काशकृत्स्न आचार्य भार्गव है।

पितृ-नाम—काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न में निर्दिष्ट तद्धित-प्रत्यय के अनुसार इन नामों का मूल शब्द कशकृत्स्न था। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कशकृत्स्न शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—

कशाभिः कृन्तन्ति 'कृते क्स्ने ङ्याट्त्वे च ह्रस्वश्च बहुलम्'[3] इत्यनेन ह्रस्वत्वे कशकृत्स्नः।[4]

अर्थात्—कशापूर्वक 'कृती छेदने' धातु से क्स्न प्रत्यय और आकार को ह्रस्व होता है।

आचार्य-नाम—तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में भट्ट पराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण का शिष्य कहा है।[5] बादरायण कृष्ण द्वैपायन का ही नाम है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है।[6]

शिष्य—काशिका-वृत्ति (६।२।१०४) में उदाहरण हैं—**पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपरकाशकृत्स्नाः**। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि काश-

---

१. आधारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः। प्राग्निहोत्रिकं तथात्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम्॥ २. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। १।४।२२॥

३. इस सूत्र का मूल अन्वेषणीय है। ४. द्र०—पृष्ठ ३३ टि० २।

५. ग्यारहवीं अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस हैदराबाद १९४१ के लेखों का संक्षेप, पृष्ठ ८५, ८६। ६. श्री पं० भगवद्दत्तजी रचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग, पृष्ठ ८९।

कृत्स्न के अनेक शिष्य थे, और वे पूर्व तथा अपर दो विभागों में विभक्त माने जाते थे। किस सीमा को मान कर पूर्व और अपर का भेद किया जाता था, यह अज्ञात है।

जिस प्रकार पाणिनि ने कुछ शिष्यों को अष्टाध्यायी का लघुपाठ पढ़ाया और कुछ को महापाठ,[1] और वे क्रमशः **पूर्वपाणिनीय** तथा **अपरपाणिनीय** नाम से प्रसिद्ध हुए। उसी प्रकार सम्भव है काशकृत्स्न ने भी अपने शास्त्र का दो रूपों से प्रवचन किया हो। निरुक्त आदि अनेक प्राचीन शास्त्रों के लघु और महत् दो-दो प्रकार के प्रवचन उपलब्ध होते हैं।[2]

देश—काशकृत्स्न आचार्य कहां का निवासी था, यह अज्ञात है। पाणिनि अरीहणादि गण (४।२।८०) में **काशकृत्स्न** पद पढ़ता है। वर्धमान यहां कशकृत्स्न का निर्देश करता है।[3] तदनुसार, काशकृत्स्न अथवा कशकृत्स्न से निर्मित अथवा जहां इनका निवास था, वह नगर अथवा देश काशकृत्स्नक कहलाता था, इतना निश्चित है। पर इस नगर अथवा देश की स्थिति कहां थी, यह अज्ञात है।

काशकृत्स्न उत्तरभारतीय—दैव ग्रन्थ का व्याख्याता कृष्णलीलाशुकमुनि पुरुषकार पृष्ठ ६१ पर लिखता है—

धनपालस्तु तमेव प्रस्तुत्याह—वनु घटादिषु पठन्ति द्रमिडाः। तेषां (नित्यं) मित्संज्ञा—वनयति। आर्यास्तु विभाषा मित्वमिच्छन्ति। तेषां वानयति वनयति।

अर्थात्—धनपाल कहता है कि द्रमिड वनु धातु का 'वनयति' रूप मानते हैं, और आर्य 'वानयति' तथा 'वनयति' दो रूप।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के **ग्लास्नावनुवमश्वनकम्यमिचमः**[4] सूत्रानुसार 'वन' धातु की विकल्प से मित्-संज्ञा होती है, और **वानयति, वनयति** दो रूप निष्पन्न होते हैं। इस से संभावना होती है कि काशकृत्स्न उत्तरदेशीय हो।

---

१. इसी ग्रन्थ का 'पाणिनि और उसका शब्दानुशासन' अध्याय का अन्तिम भाग।

२. द्र०—इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

३. डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने 'काशकृत्स्न' शुद्ध पाठ माना है—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृष्ठ ४८८।

४. काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान १।६२३॥

सम्भवतः वङ्गीय—काशकृत्स्न धातुसूत्र १।२०२ में पवर्गीय बान्त प्रकरण में अन्तस्थ वकारान्त 'गर्व' आदि धातुएं पढ़ी हैं। वंग प्रान्तीय चन्द्र-कातन्त्र आदि वैयाकरणों की भी ऐसी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। इस से सम्भावना होती है कि काशकृत्स्न वंगदेशीय हो।

काल—हमारे स्वर्गीय मित्र पं० श्री क्षितीशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय (कलकत्ता) का विचार है कि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्ती है,[1] परन्तु उन्होंने इस विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया।

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती—काशकृत्स्न निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। इस में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. पाणिनीय गणपाठ के अन्तर्गत उपकादि गण (२।४।६९) में **कशकृत्स्न** और अरीहणादि गण (४।२।८०) में **काशकृत्स्न**[2] शब्द पठित है।

२. वेदान्तसूत्र निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं। अतः उनमें स्मृत आचार्य कृष्ण द्वैपायन का समकालिक होगा, अथवा उससे पूर्ववर्ती।

३. तत्त्वरत्नाकर के रचयिता भट्ट पराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण अर्थात् कृष्ण द्वैपायन का शिष्य माना है।

४. महाभाष्य पस्पशाह्निक के अन्त में क्रमशः पाणिनि आपिशलि और काशकृत्स्नप्रोक्त ग्रन्थों का उल्लेख है—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्।**

इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। अत एव उसका पाणिनि के अनन्तर निर्देश किया है। इसी क्रमानुसार काशकृत्स्न न केवल पाणिनि से पूर्ववर्ती होगा, अपितु वह आपिशलि से भी पूर्ववर्ती होगा।

---

१. टेक्निकल टर्म्स आफ् संस्कृत-ग्रामर, पृष्ठ २, ७७।

२. काशिका, चान्द्रवृत्ति और जैनेन्द्रमहावृत्ति में 'काशकृत्स्न' पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है। भोज और वर्धमान ने 'कशकृत्स्न' पाठ माना है। देखो क्रमशः सरस्वतीकण्ठाभरण ४।१।१६४ तथा गणरत्नमहोदधि श्लोक ३०, पृष्ठ ३३,३४। वर्धमान ने विश्रान्तविद्याधर व्याकरण के कर्त्ता वामन के मत में 'कसकृत्स्न' पाठ दर्शाया है। ग०म० पृष्ठ ३४। वर्धमान द्वारा यहां काशकृत्स्न पाठान्तर का उल्लेख न होने से व्यक्त है कि उसके समय में काशिकादि ग्रन्थों में 'कशकृत्स्न' ही पाठ था। अतः काशिका में सम्प्रति उपलभ्यमान 'काशकृत्स्न' प्रमादपाठ है।

५. पांच छः वर्ष[1] हुए काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाशित हुआ है।[2] उसमें पाणिनि के धातुपाठ की अपेक्षा लगभग ४५० धातुएं अधिक हैं। भारतीय ग्रन्थ-प्रवचन-परिपाटी के अनुसार शास्त्रीय ग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेपीकरण हुआ है। व्याकरण के उपलब्ध ग्रन्थों के अवलोकन से भी इस बात की सत्यता भली भांति समझी जा सकती है। इससे मानना होगा कि काशकृत्स्न-धातुपाठ पाणिनीय धातुपाठ से प्राचीन है।

६ काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक धातुओं के दो-दो रूप हैं। यथा **ईड ईल स्तुतौ**। पाणिनि ने इनमें से केवल **ईड** रूप पढ़ा है। अत एव उत्तारवर्ती वैयाकरण **इडा** और **इला** शब्दों की सिद्धि एक ही **ईड** धातु से करते हुए ड-ल वर्णों का अभेद मानते हैं।

७. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक ऐसी धातुएं हैं, जो उभयपदी हैं। उनके परस्मैपद और आत्मेनपद दोनों प्रक्रियाओं में रूप होते हैं, यथा—**वस निवासे, टुओशिव गतिवृद्ध्योः** और **वद व्यक्तायां वाचि**। पाणिनि इन्हें केवल परस्मैपदी मानता है।

संख्या ६ के प्रमाण से विदित होता है कि काशकृत्स्न के समय **ईड** और **ईल** दोनों धातुओं के आख्यात के स्वतन्त्र प्रयोग लोक में प्रचलित थे। इसीलिए उसने दोनों धातुओं को स्वतन्त्र रूप में पढ़ा। परन्तु पाणिनि के समय ईड धातु के ही रूप लोकप्रचलित रह गये। अतः उसने ईल का पाठ नहीं किया, केवल ईड धातु ही पढ़ी। इसी प्रकार संख्या ७ के अनुसार काशकृत्स्न के धातुपाठ में **वस, शिव** और **वद** धातु को उभयपदी पढ़ना इस बात का प्रमाण है कि उसके काल में इन धातुओं के दोनों प्रकार के रूप लोक में प्रचलित थे। पाणिनि के समय केवल परस्मैपद के रूप ही अवशिष्ट रह गये थे, अत एव पाणिनि ने केवल परस्मैपदी पढ़ा।

८. महाभाष्य ५। १। २१ पर कैयट लिखता है—

आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वचनात्।

अर्थात्—आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में पाणिनीय **शताच्च ठन्यतावशते** (५। १। २१) सूत्र के स्थान में **शताच्च ठन्यतावग्रन्थे** पाठ था।

---

१. इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के समय।

२. इसका हमने संस्कृत-रूपान्तर **'काशकृत्स्न-धातु व्याख्यानम्'** के नाम से प्रकाशित किया है।

आपिशलि पाणिनि से प्राचीन है। अतः उसके साथ स्मृत काशकृत्स्न भी पाणिनि से प्राचीन होगा। इतना ही नहीं, यदि यह माना जाये कि पाणिनि ने आपिशलि के सूत्रपाठ में कुछ अनौचित्य समझकर **अग्रन्थे** का **अशते** रूप में परिष्कार किया है, तो निश्चय ही मानना होगा कि आपिशलि के समान **अग्रन्थे** पढ़ने वाला काशकृत्स्न भी पाणिनि से पूर्वभावी है। यह नहीं हो सकता कि पाणिनि आपिशल-सूत्र का परिष्कार करे और पाणिनि से उत्तरवर्ती (जैसा कुछ व्यक्ति मानते हैं) काशकृत्स्न पाणिनि के परिष्कार को छोड़कर पुनः आपिशलि के अपरिष्कृत अंश को स्वीकार कर ले।

९. भर्तृहरि के **तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे** वचन की व्याख्या करता हुआ हेलाराज लिखता है—

आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते। वाक्यपदीय, काण्ड ३, पृष्ठ ७१४ (काशी-संस्क०)।

अर्थात्—आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में पाणिनि द्वारा पठित '**तदर्हम्**' सूत्र नहीं था।

प्रतीत होता है, आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में **तदर्हम्** सूत्र के न होने के कारण ही महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि के इस सूत्र की आवश्यकता का प्रतिपादन बड़े यत्न से किया है। यदि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्ती होता, तो निश्चय ही वह पाणिनि का अनुकरण करता, न कि आपिशलि के समान उसका त्याग करता।

१० कातन्त्र-व्याकरण में एक सूत्र है—**भिस् ऐस् वा**। अर्थात् अकारान्त शब्दों से परे तृतीया विभक्ति के बहुवचन 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' विकल्प करके होता है।[1] यथा, **देवेभिः, देवैः**।

कातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप है, यह आगे सप्रमाण लिखा जायगा। तदनुसार कातन्त्रकार ने यह सूत्र अथवा मत काशकृत्स्न से लिया होगा। पाणिनि के अनुसार लोक में केवल **ऐस्** के **देवैः** आदि प्रयोग होते हैं। कातन्त्र विशुद्ध लौकिक शब्दों का व्याकरण है[2] अतः, उसका उपजीव्य काशकृत्स्न व्याकरण उस काल की रचना होना चाहिए, जब भाषा में **भिस्** और **ऐस्** दोनों के **देवेभिः, देवैः** दोनों

---

१. टीकाकारों ने इस सूत्र के अर्थ में बड़ी खींचातानी की है।

२. शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। नह्ययं (कातन्त्रकारः) छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयति। कातन्त्रवृत्ति, परिशिष्ट पृष्ठ ५३०।

रूप प्रयुक्त रहे हों। वह काल पाणिनि से निश्चय ही पर्याप्त प्राचीन रहा होगा।

११. पाणिनीय धातुपाठ के जुहोत्यादि गण के तथा स्वादि गण के अन्त में **छन्दसि** गणसूत्र का निर्देश करके जो धातुएं पढ़ी हैं, प्रायः वे सभी धातुएं काशकृत्स्न-धातुपाठ में **छन्दसि** निर्देश के विना ही पढ़ी गई हैं। इससे प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न पाणिनि से बहुत प्राचीन है। पाणिनि के समय वैदिक मानी जानेवाली धातुएं उसके काल में लोक में भी प्रचलित थीं। अन्यथा, वह भी पाणिनि के समान इनके लिए **छन्दसि** का निर्देश अवश्य करता।

इन उपर्युक्त प्रमाणों और हेतुओं से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न पाणिनि से निश्चय ही बहुत पूर्ववर्ती है। इतना ही नहीं, हमारे विचार में तो काशकृत्स्न आपिशलि से भी प्राचीन है।

पाश्चात्य ऐतिहासिक पाणिनि को विक्रम से ४००—६०० वर्ष पूर्व मानते हैं। यह मत भारतीय अनवच्छिन्न ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार नितान्त मिथ्या है। पाणिनि विक्रम से निश्चय ही २६०० वर्ष प्राचीन है, यह हम इस ग्रन्थ में पाणिनि के प्रकरण में सप्रमाण लिखेंगे। तदनुसार, काशकृत्स्न का काल भारत-युद्ध (३१०० वि० पूर्व) के समीप अथवा उससे पूर्व मानना होगा।

काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्ववर्ती मानने में एक प्रमाण बाधक हो सकता है। वह है काशिका ६।२।३६ का पाठ—**आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः**। इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। यदि अगले उदाहरणों में भी इसी प्रकार पौर्वापर्य-व्यवस्था मानी जाय, तो पाणिनि से अर्वाचीन रौढि और उससे अर्वाचीन काशकृत्स्न को मानना होगा। परन्तु यह कल्पना पूर्व उद्धृत प्रमाणों में विरुद्ध होने के कारण चिन्त्य है। इतना ही नहीं, वर्धमान के मतानुसार **पाणिनीयरौढीयाः रौढीयपाणिनीयाः** दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं (गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २६) अतः स्पष्ट है कि काशिका के उपर्युक्त उदाहरणों में कालक्रम अभिप्रेत नहीं है।

अन्य परिचय

नाम—अभी कुछ वर्ष हुए, काशकृत्स्न का कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसका नाम है—**काशकृत्स्न शब्द-**

कलाप धातुपाठ। इस नाम में 'शब्दकलाप' पद धातुपाठ का विशेषण है, अथवा काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का मूल नाम है, यह विचारणीय है। **शब्दानां प्रकृत्यात्मिकां कलां पाति रक्षति** (=शब्दों की प्रकृति रूप कला=अंश की रक्षा करता है) व्युत्पत्ति के अनुसार यह धातुपाठ का विशेषण हो सकता है। परन्तु हमारा विचार है कि **शब्दकलाप** काशकृत्स्न-शब्दानुशासन का प्रधान नाम था। इसमें निम्न हेतु है—

कातन्त्र, अपरनाम **कलापक-व्याकरण**[1] के **कलापक** नाम में ह्रस्व अर्थ में जो 'क' प्रत्यय (अष्टा० ५।३।८६) हुआ है,[2] उससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र-व्याकरण जिस तन्त्र का संक्षिप्त संस्करण है,[3] उसका मूल नाम 'कलाप' हैं। हम आगे सप्रमाण सिद्ध करेंगे कि वर्तमान कातन्त्र, अपरनाम कलापक अथवा कौमार-व्याकरण[4] काशकृत्स्न के महातन्त्र[5] का ही संक्षेप है। अतः काशकृत्स्न के शब्दनुशासन का मूल नाम 'कलाप' ही प्रतीत होता है।

शब्दकलाप का अर्थ—हम बहुत विचार के अनन्तर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि **शब्दकलाप** पद का अर्थ 'शब्दों की कलाओं=अंशों का पान करनेवाला' अर्थात् किसी बृहत् शब्दानुशासन का संक्षिप्त संस्करण है। इसमें निम्न कारण हैं—

काशिका ४।३।११५, जैन शाकटायन ३।१।१८२ की चिन्तामणिवृत्ति तथा सरस्वती-कण्ठाभरण ४।३।२४५ की हृदयहारिणी टीका में एक उदाहरण है—**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्**। यह उदाहरण

---

१. सम्प्रति इसका 'कलाप' नाम से भी व्यवहार होता है। यह व्यवहार चिन्त्य है। २. दशपादी-उणादि-वृत्तिकार ने ३।५ (पृष्ठ १३०) पर कलापक शब्द में 'कला' उपपद होने पर 'आङ्'-पूर्वक 'पा पाने' धातु से 'क्वुन्' प्रत्यय माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने धातुपारायण (पृष्ठ ६) तथा उणादिवृत्ति (पृष्ठ १०) में दशपादी-वृत्तिकार का ही अनुसरण किया है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों लेखकों की व्युत्पत्तियां अशुद्ध हैं।

३. कातन्त्र शब्द का अर्थ भी ईषत्-तन्त्र ही है।

४. कातन्त्र की रचना छोटे बालकों के लिए हुई, यह इस नाम से स्पष्ट है।

५. हमारे विचार में गायकवाड़-संस्कृत-सीरिज में प्रकाशित बालिद्वीपीय ग्रन्थसंग्रह के अन्तर्गत कारक-संग्रह के अन्तिम श्लोक '**कातन्त्रं च महातन्त्रं दृष्ट्वा तेन उवाच**' में स्मृत महातन्त्र कातन्त्र का उपजीव्य काशकृत्स्न-तन्त्र ही है।

जिस सूत्र का है, उसके अनुसार इसका अर्थ है—काशकृत्स्न ने किसी
के उपदेश के विना अपनी प्रतिभा से अपने शास्त्र में शब्दों के गौरव-
लाघव का विचार करके अनन्त शब्दराशि में से लोकप्रसिद्ध मुख्य
शब्दों का ही उपदेश किया और अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया।
अर्थात् काशकृत्स्न ने शब्द-शास्त्र के संक्षेप करने में शब्दों के गौरव=
प्रसिद्धि और लाघव=अप्रसिद्धि पर अधिक ध्यान दिया। अतः उक्त
उदाहरण से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने किसी पूर्व व्याकरण-शास्त्र
में अप्रसिद्ध शब्दविषयक सूत्रों को कम कर दिया, अर्थात् किसी पूर्व
अतिबृहत् शास्त्र का संक्षेप से उपदेश किया। इसलिए शब्दकलाप
का हमारे द्वारा उपरि विवृत अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के सम्पादक श्री ए० एन्० नरसिंहिया ने
उक्त ग्रन्थ की भूमिका में 'शब्दकलाप' नाम के विषय में अपना कुछ
भी विचार प्रकट नहीं किया। केवल 'काशकृत्स्न शब्दकलाप-धातु-
पाठ नाम के कारण कुछ लोगों का कहना है कि इसका सम्बन्ध
कलाप-व्याकरण से है। कलाप-व्याकरण के कुमार-व्याकरण और
कातन्त्र-व्याकरण नामान्तर हैं' इतना ही लिखकर इस प्रश्न को
टाल दिया है।

परिमाण—काशकृत्स्न-व्याकरण में कितने अध्याय, पाद तथा
सूत्र थे. इसका निर्देशक कोई साक्षात् वचन उपलब्ध नहीं होता,
परन्तु काशिका और अमोघा वृत्ति में उद्धृत **त्रिकं काशकृत्स्नम्**,
त्रिकं काशकृत्स्नीयम्, उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि काशकृत्स्न
के किसी सूत्रात्मक ग्रन्थ में तीन अध्याय थे। हमारे विचार में उक्त
उदाहरणों में स्मृत अध्यायत्रयात्मक काशकृत्स्न ग्रन्थ व्याकरण-
विषयक था, इसमें निम्न हेतु हैं—

१. काशिका, ५।१।५८ तथा जैन शाकटायन, ३।२।१६१ की
अमोघा वृत्ति में पूर्वोद्धृत उदाहरणों के साथ निर्दिष्ट **अष्टकं पाणि-
नीयम्** आदि उदाहरणों में जितने अन्य सूत्र-ग्रन्थ स्मरण किये गये
हैं, वे सब निश्चय ही व्याकरणविषयक हैं। इसलिए साहचर्य-नियम
से उसके साथ स्मृत काशकृत्स्न का अध्यायत्रयात्मक ग्रन्थ भी
व्याकरणविषयक ही होना चाहिए।

२. कलापक अपरनाम कातन्त्र-व्याकरण काशकृत्स्न-व्याकरण का
संक्षेप है, यह हम आगे सप्रमाण लिखेंगे। मूल कातन्त्र-व्याकरण में

भी तीन ही अध्याय हैं। अतः यह सम्भव है कि कातन्त्र-व्याकरण के उपजीव्य काशकृत्स्न-व्याकरण में भी तीन ही अध्याय रहे हों।

पाणिनि-व्याकरण के संस्कारक चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में पाणिनीय तन्त्रवत् आठ ही अध्याय रखे थे।[2] पाणिनि तथा चान्द्र व्याकरणों के अनुसर्त्ता भोज ने भी अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण को आठ अध्यायों में ही विभक्त किया है। इतना ही नहीं, स्वयं पाणिनि ने भी व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों को अपने उपजीव्य आपिशल-व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों के अनुसार क्रमशः आठ अध्यायों तथा आठ प्रकरणों में ही विभक्त किया है।[3] इसी प्रकार कातन्त्र के व्याकरण प्रवक्ता ने भी तीन अध्यायों का त्रिभागीकरण अपने उपजीव्य काशकृत्स्न-तन्त्र के अनुरूप ही किया हो, यह अधिक सम्भव है। हमारे इस अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है कि कातन्त्र-धातुपाठ में काशकृत्स्न-धातुपाठ के समान ही धातुओं को नव गणों में विभक्त किया है (जुहोत्यादि को अदादि के अन्तर्गत माना है।)

प्रति अध्याय पाद-संख्या—काशकृत्स्न-व्याकरण के प्रत्येक अध्याय में कितने पाद थे, यह ज्ञात नहीं। काशकृत्स्न से लघु पाणिनीय-तन्त्र में आठ अध्याय हैं और प्रति अध्याय चार-चार पाद। ऐसी अवस्था में काशकृत्स्न-व्याकरण के तीन अध्यायों में प्रति अध्याय पाद-संख्या चार से अवश्य ही अधिक रही होगी। कातन्त्र के तीन अध्यायों में क्रमशः पांच-पांच तथा दस पाद हैं।

---

१. मूल कातन्त्र आख्यातान्त है। उत्तर-कृदन्त-भाग (अध्याय ४) कात्यायन द्वारा परिवर्द्धित है। इस की मीमांसा कातन्त्र के प्रकरण में देखिए।

२. उपलब्ध चान्द्र व्याकरण में केवल छह ही अध्याय हैं, परन्तु मूल ग्रन्थ में आठ अध्याय थे। बौद्धमतानुयायियों की उपेक्षा के कारण अन्त के स्वरवैदिक-प्रक्रिया-सम्बन्धी दो अध्याय लुप्त हो गये। हमने इन लुप्त दो अध्यायों के अनेक सूत्र उपलब्ध कर लिये हैं। द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' अध्याय में चान्द्र व्याकरण का प्रकरण।

३. हरदत्त के लेखानुसार (पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ६-७) पाणिनीय व्याकरण का उपजीव्य आपिशल-व्याकरण है। अष्टका आपिशलपाणिनीयाः। अमोघावृत्ति एवं चिन्तामणिवृत्ति ३।२।१६१ शाक० व्याक०। आपिशल और पाणिनीय-शिक्षा के लिए द्र०—हमारे द्वारा सम्पादित 'शिक्षासूत्राणि' (आपिशलपाणिनीयचान्द्र-शिक्षासूत्र) ग्रन्थ। इन शिक्षासूत्रों का नया संस्करण वि० स० २०२४ में प्रकाशित किया है। इस में पाणिनीय शिक्षासूत्रों के लघु और बृहत् दोनों पाठ दिये हैं।

काशकृत्स्न-तन्त्र पाणिनीय तन्त्र से विस्तृत—हम पहले लिख चुके हैं कि काशकृत्स्न का शब्दानुशासन किसी प्राचीन महातन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है। मूल काशकृत्स्न-व्याकरण के अनुपलब्ध होने पर भी हमारा विचार है कि काशकृत्स्न का व्याकरण संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीय अनुशासन की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। इसमें निम्न हेतु हैं—

१. काशकृत्स्न व्याकरण के आज हमें जितने सूत्र उपलब्ध हुए हैं,[1] उनकी पाणिनीय सूत्रों के साथ तुलना करने से विदित होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में अनेक ऐसे पदों का अन्वाख्यान था, जिनका पाणिनीय तन्त्र में निर्देश नहीं है। यथा—

[क] **ब्रह्म—बहेंरुरो मनि** (१।३२० पृष्ठ ५०)

[ख] **कश्यप, कशिपु कशेर्यप ईपुश्च** (१।३७०, पृष्ठ ५६)

[ग] **पुलस्त्य, अगस्ति-पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च**
(१।४१०, पृष्ठ ६६)

[घ] **लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्ष्मण—लक्षेर्मीमन्मनाः**
(६।४१०, पृष्ठ १८८)

२. चन्नवीरकवि-कृत कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसमें पाणिनीय धातुपाठ से लगभग ४५० धातुएं अधिक हैं।[2]

जिस व्याकरण में धातुओं की संख्या जितनी ही अधिक होगी, निश्चय ही वह व्याकरण भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा।

वैशिष्टय—किस व्याकरण में क्या वैशिष्टय है, इसका ज्ञान विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में उल्लिखित निम्नाङ्कित उदाहरणों से होता है। यथा—

१. **आपिशलं पुष्करणम्**।[3] काशिका, ४।३।११५॥

आपिशलमान्तःकरणम्।[3] सरस्वतीकण्ठाभरण, हृदयहारिणीटीका ४।३।२४५॥

---

१. काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों को व्याख्या सहित 'काशकृत्स्न-व्याकरणम्' के नाम से प्रकाशित किया है।

२ वस्तुतः काशकृत्स्न-धातुपाठ में लगभग ६५० धातुएं ऐसी हैं, जो पाणिनीय धातुपाठ में नहीं हैं। लगभग २०० धातुएं पाणिनीय धातुपाठ में ऐसी हैं, जो काशकृत्स्न-धातुपाठ में नहीं हैं। अतः दोनों ग्रन्थों की पूर्ण धातु-संख्या की दृष्टि से काशकृत्स्न-धातुपाठ में ४५० धातुएं अधिक लिखी हैं।

३. इन उदाहरणों का अभिप्राय अस्पष्ट है। वामन ने काशिका वृत्ति

२. **पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्।** काशिका, ४।३।११५, जैन शाकटायन, चिन्तामणि-वृत्ति ३।१।१८२॥

पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। काशिका ६।२।१४॥

३. **चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्।** सरस्वतीकण्ठाभरण-हृदयहारिणी टीका ४।३।२४५॥

चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्। चान्द्रवृत्ति २।२।८६; वामनीय लिङ्गानुशासन पृष्ठ ७।

इसी प्रकार काशकृत्स्न-व्याकरण की विशिष्टता का घोषक एक उदाहरण है—**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्।**

यह उदाहरण काशिका ४।३।११५, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४५ की हृदयहारिणी टीका तथा जैन शाकटायन ३।१।१८२ की चिन्तामणि-टीका में उपलब्ध होता है।

इन सब उदाहरणों की तुलना से व्यक्त है कि जिस प्रकार पाणिनीय तन्त्र की विशेषता कालपरिभाषाओं का अनिर्देश है, चान्द्र तन्त्र की विशेषता संज्ञा-निर्देश विना किये शास्त्र-प्रवचन है, उसी प्रकार काशकृत्स्न-तन्त्र की विशेषता गुरु-लाघव है।

गुरु-लाघव शब्द का अर्थ—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (पृष्ठ ७३) में लिखा था—

'व्याकरण-शास्त्र की सूत्र-रचना में गुरु-लाघव (गौरव-लाघव) का विचार सब से प्रथम काशकृत्स्न आचार्य ने प्रारम्भ किया था। उससे पूर्व सूत्र-रचना में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता था।'

पुन. इसी पृष्ठ की तीसरी टिप्पणी में लिखा था—

'हमारा विचार है, काशकृत्स्न से पूर्व सूत्र-रचना सम्भवत: ऋक्-प्रातिशाख्य के समान श्लोकबद्ध होती थी। छन्दोबद्ध रचना होने पर गौरव-लाघव का विचार पूर्णतया नहीं रखा जा सकता। उसमें श्लोकपूर्त्यर्थ अनेक अनावश्यक पदों का समावेश करना पड़ता है।'

इनका भाव यह है कि सूत्रों की लघुता के लिए गद्य का आश्रय सब से पूर्व काशकृत्स्न ने लिया था। उससे पूर्व सूत्र-रचना छन्दोबद्ध होती थी।

६।२।१४ में 'आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्' उदाहरण दिया है। हमारा विचार है कि यहां मूल पाठ **'आपिशल्युपज्ञं' दुष्करणम्, काशकृत्स्न्युपज्ञं गुरुलाघवम्'** रहा होगा। मध्य में से 'दुष्करणं काशकृत्स्न्युपज्ञं' पाठ त्रुटित हो गया। तुलनीय काशिका, ४।३।११५—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलं पुष्करणम्।'

पूर्वलेख अशुद्ध—उक्त लेख तब लिखा गया था जब काशकृत्स्न-धातुपाठ प्रकाश में नहीं आया था, परन्तु काशकृत्स्न-धातुपाठ तथा उसकी कन्नड-टीका में १३५ सूत्रों के प्रकाश में आ जाने से हमें पूर्व-विचार में परिवर्तन करना पड़ा। काशकृत्स्न-सूत्रों की कातन्त्र-सूत्रों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण भी सम्भवतः श्लोकबद्ध रहा होगा।

गुरु लाघव का शुद्ध अर्थ– हम पहले लिख चुके हैं कि भारतीय इतिहास और व्याकरण के उपलब्ध तन्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि व्याकरण-शास्त्र के प्रवचन में उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ है। काशकृत्स्न ने अपने संक्षिप्त (पूर्वापेक्षया) शास्त्र का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव=लोक में प्रयोग और लाघव=लोक में अप्रयोग को मुख्यता दी। दूसरे शब्दों में काशकृत्स्न ने अपने शास्त्र-प्रवचन में लोक में अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया, अतः उसका शास्त्र पूर्व तन्त्रों की अपेक्षा बहुत छोटा हो गया। इसी कारण लोक में 'शब्दकलाप' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

काशकृत्स्न-तन्त्र श्लोकबद्ध—काशकृत्स्न का व्याकरण ऋक्प्रातिशाख्य के समान पद्यबद्ध था, न कि पाणिनीय तन्त्र के समान गद्यबद्ध। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. मूल कातन्त्र-व्याकरण का पर्याप्त भाग छन्दोबद्ध है। कातन्त्र काशकृत्स्न का सक्षिप्त प्रवचन है। इससे अनुमान होता है कि काशकृत्स्न-तन्त्र भी श्लोकबद्ध रहा होगा।

काशकृत्स्न-व्याकरण के जो विकीर्ण सूत्र कन्नड टीका में उपलब्ध हुए हैं, उनमें प्रत्यय-निर्देश दो प्रकार से मिलता है। सूत्र में जहां एक से अधिक प्रत्ययों का निर्देश है, वहां कहीं प्रत्ययों का समास से निर्देश किया है, कहीं पृथक्-पृथक्। यथा—

समस्तनिर्दश—लक्षेर्मोमन्मनाः। धा० सूत्र ६।१०, पृष्ठ १८८।

नाम्न उपमानादाचारे आयङीयौ। पृष्ठ २२२।

असमस्तनिर्देश—कशेर्यप ईपुश्च। धा० सूत्र १।३७०, पृष्ठ ५६।

पुल्यगस्तिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च। धा० सूत्र १।४१०, पृष्ठ ६०।

प्रत्ययों का इस प्रकार समस्त और असमस्त उभयथा निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब सूत्र रचना छन्दोबद्ध हो अर्थात् छन्दोऽनुरोध से कहीं समस्त और कहीं असमस्त निर्देश करना पड़े। अन्यथा लाघव के लिए समस्त निर्देश ही करना युक्त होता है।

३. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें कतिपय स्पष्ट रूप में श्लोक अथवा श्लोकांश है। यथा—

[क] भूते भव्ये वर्त्तमाने भावे कर्त्तरि कर्मणि।
प्रयोजके गुणे साम्ये स्युः क्विबादयः॥

धा० सूत्र १।३७२, पृष्ठ ६०।

[ख] गृहाः पुंसि च नाम्न्येव। धा० सूत्र ८।१४, पृष्ठ १८२।

[ग] अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्मणि यङ् स्मृतः॥

पृष्ठ २२३।

काशकृत्स्न के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, वे उसके तन्त्र के विविध प्रकरणों के हैं, इसलिए गद्यबद्ध प्रतीयमान सूत्रों के विषय में भी श्लोकबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण नहीं होता।

काशकृत्स्न के १४० सूत्रों की उपलब्धि—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में काशकृत्स्न के चार-पांच सूत्र उद्धृत किये थे। तत्पश्चात् सं० २००८ वि० के अन्त में काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाश में आया। ऐसे दुर्लभ और पाणिनि से प्राचीन आर्ष ग्रन्थ के अनुशीलन के लिए मन लालायित हो उठा। परन्तु कन्नड-भाषा का परिज्ञान न होने के कारण उससे वंचित रह गये। अन्त में हमने बहुत द्रव्य[1] व्यय करके सं० २०११ वि० में इसकी नागराक्षरों में प्रतिलिपि करवाई। इस नये ग्रन्थ के अनुशीलन से संस्कृत-भाषा और उसके व्याकरण के सम्बन्ध में जहां अनेक रहस्य विदित हुए, और सं० २००७ में लिखे गए इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उल्लिखित प्राचीन संस्कृत-भाषा-सम्बन्धी विचारों की पुष्टि हुई, वहां काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १३५ सूत्र नये उपलब्ध हुए।[2]

अन्य ग्रन्थ

काशकृत्स्न अथवा काशकृत्स्नि ने शब्दानुशासन के अतिरिक्त उसके कतिपय खिल पाठ और मीमांसा आदि निम्न ग्रन्थों का प्रवचन किया था—

१. धातुपाठ—काशकृत्स्न प्रोक्त धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीका सहित संवत् २००८ में प्रकाश में आ चुका है। हमने

१. लगभग १७५ रु०। २. इन सूत्रों और इन की व्याख्या के लिए देखिए हमारा 'काशकृत्स्न-व्याकरणम्' ग्रन्थ।

कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर करके **'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्'** के नाम से प्रकाशित किया है। इस के विषय में विशेष विचार इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में अध्याय २२ में किया है।

२. **उणादि-पाठ**—इस के विषय में इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग के अध्याय २४ में देखिये।

३. **मीमांसा शास्त्र**—पूर्व पृष्ठ १०८ पर लिख चुके हैं कि पातञ्जल महाभाष्य और भास के यज्ञफल नाटक में काशकृत्स्न-प्रोक्त मीमांसा शास्त्र का उल्लेख मिलता है। तत्त्वरत्नाकर के लेखक भट्ट पराशर प्रभृति संकर्ष काण्ड को काशकृत्स्न-प्रोक्त स्वीकार करते हैं।

४. **यज्ञ-संबंधी**—बौधायन गृह्य और भट्ट भास्कर के पूर्व पृष्ठ १०९ पर उद्धृत प्रमाणों से व्यक्त होता है कि काशकृत्स्न ने यज्ञ-विषयक भी कोई ग्रन्थ लिखा था।

५. **वेदान्त**—पूर्व निर्दिष्ट वेदान्त १।४।२२ के उद्धरण से यह भी संभावना होती है कि काशकृत्स्न ने किसी वेदान्त सूत्र अथवा अध्यात्म शास्त्र का प्रवचन भी किया था।

काशकृत्स्न प्रोक्त व्याकरण के साङ्गोपाङ्ग विवेचन और उसके उपलब्ध सूत्रों के लिए हमारा **काशकृत्स्न-व्याकरणम्** संस्कृत ग्रन्थ देखिए। इस ग्रन्थ को हम पृथक् रूप में प्रकाशित कर चुके हैं।

१०—शन्तनु (३१०० वि० पूर्व)

आचार्य शन्तनु ने किसी सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया था। सम्प्रति उपलभ्यमान **फिट् सूत्र** उसी शास्त्र का एक देश है। यह हम ने इस ग्रन्थ के **'फिट् सूत्र का प्रवक्ता और व्याख्याता'** नामक सत्ताईसवें अध्याय में विस्तार से लिखा है। इसलिए शन्तनु के काल और उसके शब्दानुशासन के लिए पाठकवृन्द उक्त अध्याय का अवलोकन करें। यहां उसी विषय का पुनः प्रतिपादन करना पिष्टपेषणवत् होगा।

११—वैयाघ्रपद्य (३१०० वि० पू०)

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम पाणिनीय व्याकरण में उपलब्ध

नहीं होता । काशिका ७।१।६४ में लिखा है—

गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ।[1]

इस उद्धरण से वैयाघ्रपद्य का व्याकरण प्रवक्तृत्व विस्पष्ट है ।

परिचय

वैयाघ्रपद्य के गोत्रप्रत्ययान्त होने से इसके पिता अथवा मूल पुरुष का नाम व्याघ्रपाद् है, इतना स्पष्ट है ।

काल

व्याघ्रपाद् का पिता—महाभारत अनुशासन पर्व ५३।३० के अनुसार व्याघ्रपाद् महर्षि वसिष्ठ का पुत्र है ।[2]

पाणिनि ने व्याघ्रपात् पद गर्गादिगण[3] में पढ़ा है । उस से यञ् प्रत्यय होकर वैयाघ्रपद्य पद निष्पन्न होता है । वैयाघ्रपद्य नाम शतपथ ब्राह्मण,[4] जैमिनि ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण,[5] तथा शांख्यायन आरण्यक[6] आदि में उपलब्ध होता है । यदि यही वैयाघ्रपद्य व्याकरण-प्रवक्ता हो, तो वह अवश्य ही पाणिनि से प्राचीन होगा । यदि यह वैयाघ्रपद्य साक्षात् वसिष्ठ का पौत्र हो, तो निश्चय ही यह वसिष्ठपौत्र पराशर का समकालिक होगा । तदनुसार इस का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ४००० चार सहस्र वर्ष पूर्व होना चाहिए ।

काशिका ८।२।१ में उद्धृत **'शुष्किका शुष्कजङ्घा च'** कारिका को भट्टोजिदीक्षित ने वैयाघ्रपद्यविरचित वार्तिक माना है ।[7] अतः यदि यह वचन पाणिनीय सूत्र का प्रयोजन वार्तिक हो, तो निश्चय ही वार्तिककार वैयाघ्रपद्य अन्य व्यक्ति होगा । हमारा विचार है यह कारिका वैयाघ्रपदीय व्याकरण की है । परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध पाणिनि

---

१. व्याघ्रपादपत्यानां मध्ये वरिष्ठो वैयाघ्रपद्य आचार्यः । पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७३६ ॥

२. व्याघ्रयोन्यां ततो जाता वसिष्ठस्य महात्मनः । एकोनविंशतिः पुत्राः ख्याता व्याघ्रपदादयः ॥ ३. अष्टा० ४।१।१०५॥ ४. १०।६।१।७,८॥

५. ३।७।३।२॥ ४।६।१।१॥ ६. ६।७॥ ७. अत एव शुष्किका ......इति वैयाघ्रपद्यवार्तिके जिशब्द एव पठ्यते । शब्दकौस्तुभ १।१।५६॥

के 'पूर्वत्रासिद्धम्'[1] सूत्र से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह कारिका नहीं है।

वैयाघ्रपदीय व्याकरण का परिमाण

काशिका ४।२।६५ में उदाहरण दिया—'**दशकाः वैयाघ्रपदीयाः**'। इसी प्रकार काशिका ५।१।५८ में पढ़ा है—'**दशकं वैयाघ्रपदीयम्**'। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि वैयाघ्रपद्य प्रोक्त व्याकरण में दश अध्याय थे।

पं० गुरुपद हालदार ने इस व्याकरण का नाम वैयाघ्रपद लिखा है, और इसके प्रवक्ता का नाम व्याघ्रपात् माना है।[2] यह ठीक नहीं है; यह हमारे पूर्वोद्धृत उदाहरणों से विस्पष्ट है। यदि वहां व्याघ्रपाद् प्रोक्त व्याकरण अभिप्रेत होता, तो '**दशकं व्याघ्रपदीयम्**' प्रयोग होता है। हां, महाभाष्य ६।२।३६ में एक पाठ है—**आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः**। इस में '**व्याडीय**' का एक पाठान्तर '**व्याघ्रपदीय**' है। यदि यह पाठ प्राचीन हो, तो मानना होगा कि **आचार्य** व्याघ्रपात् ने भी किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था।

इस से अधिक हम इस व्याकरण के विषय में नहीं जानते।

१२—माध्यन्दिनि (३००० वि० पू०)

माध्यन्दिनि आचार्य का उल्लेख पाणिनीय तन्त्र में नहीं है। काशिका ७।१।९४ में एक कारिका उद्धृत है—

संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः॥

कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका के रचयिता त्रिलोचनदास ने इस कारिका को व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत किया है।[3] सुपद्ममकरन्दकार ने भी इसे व्याघ्रभूति का वचन माना है।[4] न्यासकार और हरदत्त इसे आगम वचन लिखते हैं।[5]

---

१. अष्टा० ८।२।१॥ २ व्याकरण दर्शनेर इति० पृष्ठ ४४४।
३. कातन्त्र चतुष्टय १००। ४. सुपद्ममुबन्त २४।
५. अनन्तरोक्तमर्थमागमवचनेन द्रढयति। न्यास ७।१।९४॥ तदाप्तागमेन द्रढयति। तथा चोक्तम् ……। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७३६।

इस वचन में माध्यन्दिनि आचार्य के मत में 'उशनस्' शब्द के संबोधन में 'हे उशनः, हे उशनन, हे उशन' ये तीन रूप दर्शाये हैं।

विमलसरस्वती कृत रूपमाला (नपुंसकलिङ्ग प्रकरण) और प्रक्रियाकौमुदी की भूमिका के पृष्ठ ३२ में एक वचन इस प्रकार उद्धृत है—

इकः षण्ढेऽपि सम्बुद्धौ गुणो माध्यन्दिनेर्मते।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि माध्यन्दिनि आचार्य ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन अवश्य किया था।

परिचय

माध्यन्दिनि पद अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार इसके पिता का नाम मध्यन्दिन था।[१] पाणिनि के मत में बाह्वादि गण[२] को आकृति-गण मान कर ऋष्यण् का बाधकर 'इञ्' प्रत्यय होता है। जैन शाकटायनीय गणपाठ के बाह्वादि गण में इसका साक्षान्निर्देश है।[३]

काल

पाणिनि ने माध्यन्दिनि के पिता मध्यन्दिन का निर्देश उत्सादि-गण[४] में किया है। मध्यन्दिन वाजसनेय याज्ञवल्क्य का साक्षात् शिष्य है।[५] उसने याज्ञवल्क्य प्रोक्त शुक्लयजुः संहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था। माध्यन्दिनी संहिता के अध्येता माध्यन्दिनों का एक मत कात्यायनीय शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में उद्धृत है।[६] इन प्रमाणों से व्यक्त है कि मध्यन्दिन का पुत्र माध्यन्दिनि आचार्य पाणिनि से प्राचीन है। इसका काल विक्रम से लगभग ३००० वर्ष पूर्व है।

मध्यन्दिन के ग्रन्थ

शुक्लयजुः-पदपाठ—माध्यन्दिनि के पिता आचार्य मध्यन्दिन ने याज्ञवल्क्य-प्रोक्त प्राचीन शुक्लयजुःसंहिता का प्रवचन किया था

---

१. मध्यन्दिनस्यापत्यं माध्यन्दिनिराचार्यः। पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ७३६॥ २. अष्टा० ४।१।९६॥ ३. जैन शाकटायन व्याकरण परिशिष्ट, पृष्ठ ८२। ४. अष्टा० ४।१।८६॥ ५. याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्व-वैधेयशालिनः। मध्यन्दिनश्च शापेयी विदग्धश्चाप्युद्दालकः॥ वायु पुराण ६१।२४,२५॥ यही पाठ कुछ भेद से ब्रह्माण्ड पूर्व भाग अ० ३५ श्लोक २८ में भी मिलता है। ६. तस्मिन् ळह्ळजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानां, लृकारो दीर्घः, प्लुताश्चोक्तवर्जम्। ८।३५॥

(मन्त्रपाठ में उसने कोई परिवर्तन नहीं किया)।[1] इसीलिये संहिता के हस्तलिखित ग्रन्थों में इसे बहुधा यजुर्वेद वा वाजसनेय संहिता कहा गया है। अन्यत्र भी इसे शुक्लयजुःशाखाओं का मूल कहा है।[2] ग्रन्थ का आन्तरिक साक्ष्य भी इस की पुष्टि करता है।[3]

पहले (संस्करण १, २ में) हमने यह सम्भावना प्रकट की थी कि मध्यन्दिन आचार्य ने शुक्लयजुः के पदपाठ का प्रवचन किया था, और उसी आधार पर इस का नाम 'माध्यन्दिनी संहिता' प्रसिद्ध हुआ। क्योंकि केवल पदपाठ के प्रवचन से भी प्राचीन संहिताएं पदकार के नाम से व्यवहृत होती हैं। यथा—शाकल्य के पदपाठ से मूल ऋग्वेद **शाकल संहिता**, और आत्रेय के पदपाठ के कारण प्राचीन तैत्तिरीय संहिता **आत्रेयी** कहाती है।[4] इसी प्रकार मध्यन्दिन के

---

१. शुक्ल यजुर्वेदी दर्शपौर्णमास का आरम्भ पहले पूर्णिमा में पौर्णमास, तत्पश्चात् अमावास्या में दर्श, इस क्रम से मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण भी पहले पौर्णमास मन्त्रों का व्याख्यान करता है, तदनन्तर दर्श मन्त्रों का। यदि शुक्ल यजुःसंहिता का अपूर्व प्रवचन याज्ञवल्क्य अथवा मध्यन्दिन ने किया होता, तो उस में प्रथम **इषे त्वादि** दर्श मन्त्रों का प्रवचन न होकर शतपथ के समान पौर्णमास मन्त्रों का प्रवचन होता।

२. तथा चेदं होलीरभाष्यम्—यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः। ···· तस्मान्माध्यन्दिनीयशाखा एव पञ्चदशसु वाजनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणी च। अतएव वसिष्ठेनोक्तम्—**माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा**। राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय मद्रास का सूचीपत्र भाग ३, पृष्ठ ३४२६, ग्रन्थ नं० २४०६ अनिर्ज्ञातनाम पुस्तक का मुद्रित पाठ। देखो, 'यजुर्वेद की मूल संहिता' शीर्षक मेरा लेख—वेदवाणी वर्ष २४, अङ्क १, पृष्ठ ७३। तथा गोविन्दराम हासानन्द देहली द्वारा प्रकाशित यजुर्वेद की मेरी भूमिका पृष्ठ ११-१४। वसिष्ठ का उक्त वचन चरणव्यूह की टीका में भी उद्धृत है। ३. देखो—श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १७८, १७९ (द्वि० सं०) तथा इसी विषय पर मेरा लेख आर्यजगत् लाहौर, सं० २००३ चैत्र, गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशित यजुर्वेद की मेरी भूमिका पृष्ठ १२७ तथा वेदवाणी वर्ष २४ अङ्क १, पृष्ठ ७३।

४. उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति सोच्यते॥ यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। तै० काण्डानुक्रम, पृष्ठ ९, श्लोक २६, २७। तै० सं० भट्टभास्करभाष्य भाग १ के अन्त में मुद्रित।

पदपाठ के कारण प्राचीन यजुःसंहिता माध्यन्दिनीसंहिता के नाम से व्यवहृत हुई, परन्तु अब अन्य तथ्य प्रकट हुआ है।

माध्यन्दिन पदपाठ शाकल्य-कृत—सं० २०२० के इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण छपने के कुछ मास के पश्चात् 'केकड़ी' (राजस्थान) के मित्रवर पं० मदनमोहनजी व्यास ने हमें माध्यन्दिनी संहिता के पदपाठ का एक सम्पूर्ण हस्तलेख दिया। उस का लेखन काल २० वें और ४० वें अध्याय के अन्त में **सं० १४७१ शक १३३६** अङ्कित है। इस के अन्तिम १० अध्यायों के अन्त में **शाकल्यकृते पदे** ऐसा स्पष्ट लेख है।

शाकल्यकृत पदपाठ का जिस में निर्देश है, ऐसा एक हस्तलेख 'एशियाटिक सोसाइटी' कलकत्ता के संग्रह में चिरकाल से विद्यमान है। गवेषकों को उस का ज्ञान भी है, परन्तु एकमात्र हस्तलेख पर शाकल्यकृतत्व का निर्देश मिलने से गवेषक उसे प्रामाणिक नहीं मानते थे। परन्तु अब उस से भी पुराने हस्तलेख पर **'शाकल्यकृत'** का निर्देश होने से माध्यदिन-पदपाठ के शाकल्य-प्रवक्तृत्व में कोई संदेह नहीं रहा। अतः हमारी पूर्व संभावना ठीक नहीं निकली।

एशियाटिक सोसाइटी का हस्तलेख अन्तिम २० अध्यायों का है। पुस्तकाध्यक्ष ने मेरे ७ जनवरी ६३ के पत्र के उत्तर में ८ फरवरी ६३ के पत्र में लिखा है कि 'यह नागराक्षरों में है, और अक्षरों की बनावट से १८ वीं शती का विदित होता है।' इस के पश्चात् पदपाठ के सम्पादन-काल में सन् १९६६ में कलकत्ता जाकर हमने स्वयं उसे भी देखा है। अब हमारा विचार है कि माध्यन्दिन पदपाठ शाकल्य प्रोक्त ही है।

माध्यन्दिन-पदपाठ का सम्पादन—हमने देश के विभिन्न भागों से माध्यन्दिन पदपाठ के हस्तलेखों का संग्रह करके (एक कोश वि० सं० १४७१ का है) बड़े परिश्रम से सम्पादित किया है। इस में मुख्य पाठ के साथ ३ प्रकार के अवान्तर पाठ भी दिये हैं। आरम्भ में पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है, और अन्त में माध्यन्दिनपाठ से संबद्ध कई विषयों पर विचार किया हैं।

माध्यन्दिन-शिक्षा—काशी से एक शिक्षासंग्रह छपा है। उस में दो माध्यन्दिनी शिक्षाएं छपी हैं। एक लघु और दूसरी बृहत्। इन में माध्यन्दिनसंहितासंबन्धी स्वर आदि के उच्चारण की व्यवस्था है।

ये दोनों शिक्षाएं अर्वाचीन हैं। इन का मूल वाजसनेय प्रातिशाख्य है। इस विषय में विशेष 'शिक्षा-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में देखें।

१३—रौढि (३००० वि०पू०)

आचार्य रौढि का निर्देश पाणिनीय तन्त्र में नहीं हैं। वामन काशिका ६।२।३७ में उदाहरण देता है—**'आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः'**। इन में श्रुत आपिशलि, पाणिनि और काशकृत्स्न निस्सन्देह वैयाकरण हैं। अतः इनके साथ स्मृत रौढि आचार्य भी वैयाकरण होगा।

परिचय

वंश—रौढि पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस के पिता का नाम रूढ है।

स्वसा—वर्धमान ने क्रौडयादिगण में रौढि पद पढ़ा है। तदनुसार रौढि की स्वसा का नाम **रौढया** था। महाभाष्य ४।१।७६ से भी इसकी पुष्टि होती है। पाणिनि के गणपाठ में रौढि पद उपलब्ध नहीं होता।

सम्पन्नता—पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।७३ में **'घृतरौढीयाः'** उदाहरण दिया है। जयादित्य ने इसका भाव काशिका १।१ ५३ में इस प्रकार व्यक्त किया है—**घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः तस्य छात्राः घृतरौढीयाः**। इस से व्यक्त होता है कि यह आचार्य अत्यन्त सम्पन्न था। इस ने अपने अन्तेवासियों के लिए घृत की व्यवस्था विशेषरूप से कर रक्खी थी। इसी भाव का पोषक एक उदाहरण काशिका ६।२।६९ में भी है। उसका अभिप्राय है—जो छात्र रौढिप्रोक्त शास्त्र में श्रद्धा न रख कर केवल घृतभक्षण के लिये उसके शास्त्र को पढ़ते हैं, उनकी 'पूर्वपदान्तोदात्त घृतरौढीय' पद से निन्दा की जाती है।

काल

रौढि पद पाणिनीय अष्टक तथा गणपाठ में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य ४।१।६९ में लिखा है—

सिद्धन्तु रौढयादिषूपसंख्यानात्। सिद्धमेतत्, कथं? रौढयादिषूपसंख्यानात्। रौढयादिषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। के पुना रौढयादयः?

ये क्रौड्यादयः ।

इस पर कैयट लिखता है—'क्रौड्यादि के स्थान में वार्तिकपठित रौढ्यादि पद पूर्वाचार्यों के अनुसार है ।' इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वाचार्य पाणिनीय '**क्रौड्यादिभ्यश्च**'[1] सूत्र के स्थान में '**रौढ्यादिभ्यश्च**' पढ़ते थे । इस से स्पष्ट है कि रौढि आचार्य पाणिनि से पौर्वकालिक है । पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण २।३।४ में **रूडादिभ्यः** ही पढ़ा हैं ।

१४—शौनकि (३००० वि० पूर्व)

चरक संहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान २ २७ की व्याख्या में आचार्य शौनकि का एक मत उद्धृत किया है । पाठ इस प्रकार है—

कारणशब्दस्तु व्युत्पादितः—

करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकिः ।

अर्थात्—कृञ् धातु से कर्ता अर्थ में (ल्युट् में) दीर्घत्व का शासन करता है[2] शौनकि आचार्य ।

मल्लवादिकृत द्वादशार-नयचक्र की सिंहसूरि गणि कृत टीका में लिखा है—

स्यान्मतम्, करोतीति कारणम् । यथोक्तम्—

ष्ठिवसिव्योर्ल्युट्परयोर्दीर्घत्वं वष्टि भागुरिः ।

करोतेः कर्तृभावे च सौनागाः प्रचक्षते ॥[3]

अर्थात्—ष्ठिव सिव को ल्युट् परे रहने पर दीर्घत्व चाहता है भागुरि । करोति से कर्तृभाव में दीर्घत्व सौनाग कहते हैं ।

सम्भव है यहां पर **सौनागाः** के स्थान पर **शौनकाः** मूल पाठ हो ।

भट्टि की जयमंगला टीका ३।४७ में उद्धृत वचन का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

धाञ्कृञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः ।

---

१. अष्टा० ४ । १ । ८० ॥

२. तुलना करो—"कृञः कर्तरि" चान्द्र सूत्र (१ । ३ । ९९) ।

३. बड़ोदा संस्करण भाग १, पृष्ठ ४१ ।

अर्थात्—धाञ् कृञ् तनु और नह धातु के परे रहने पर अपि और अव उपसर्ग के अकार का लोप बहुल करके होता है, ऐसा शौनकि का मत है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हैं कि आचार्य शौनकि ने किसी व्याकरण-तन्त्र का प्रवचन किया था।

शौनक के व्याकरण सम्बन्धी मत वाजसनेय प्रातिशाख्य आदि में बहुत्र उद्धृत हैं।[1] क्या पाणिन-पाणिनि, काशकृत्स्न-काशकृत्स्नि के समान शौनक-शौनकि नामों से एक व्यक्ति अभिप्रेत है?

परिचय और काल

शौनकि पद अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार शौनकि के पिता का नाम शौनक है। यह ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक का पुत्र है। शौनक का काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व है, यह हम पाणिनि के प्रसङ्ग में लिखेंगे। अतः शौनकि का काल भी ३००० वर्ष विक्रम पूर्व मानना युक्त है। यदि पूर्वनिर्दिष्ट सम्भावनानुसार शौनक शौनकि एक भी हों, तब भी काल में विशेष अन्तर नहीं होगा।

चरक सूत्रस्थान २५।१६ में शौनक का एक पाठान्तर भी शौनकि मिलता है।[2]

शौनक के चिकित्सा ग्रन्थ का निर्देश अष्टाङ्गहृदय कल्पस्थान ६।१५ में **अधीते शौनकः पुनः** रूप में मिलता है। इस की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में लिखा है—

शौनकस्तु तन्त्रकृदधीते……।

शौनक प्रोक्त ज्योतिष ग्रन्थ अथवा उस के मतों का उल्लेख ज्योतिष ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होता है।[3] अद्भुतसागर पृष्ठ ३२५ में शौनक के मत में उल्काओं का पञ्चविधत्व निर्दिष्ट है।[4]

---

१. पूर्व पृष्ठ ७१ द्र०। २. द्र०—निर्णयसागर मुद्रित गुटका।

३. द्रष्टव्य—शंकर बालकृष्ण कृत 'भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास' पृष्ठ १८६, ४८२ टि०, ४८७ (द्वि० सं०)।

४. उल्का……एवं पञ्चविधा ह्येताः शौनकेन प्रदर्शिताः।

१५—गौतम (३००० वि० पूर्व)

गौतम का नाम पाणिनीय तन्त्र में नहीं मिलता। महाभाष्य ६।२।३६ में 'आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः' प्रयोग मिलता है। इस में स्मृत आपिशलि, पाणिनि और व्याडि ये तीन वैयाकरण हैं। अतः इन के साथ स्मृत आचार्य गौतम भी वैयाकरण प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[1] और मैत्रायणीय[2] प्रातिशाख्य से होती है। उस में आचार्य गौतम के मत उद्धृत हैं।

महाभाष्य के उद्धरण से इस बात की कुछ प्रतीति नहीं होती कि गौतम पाणिनि से पूर्ववर्ती है वा उत्तरवर्ती। परन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्लाक्षि कौण्डिन्य और पौष्करसादि के साथ गौतम का निर्देश होने से वह पाणिनि से निस्सन्देह प्राचीन है। यह वही आचार्य प्रतीत होता है जिसने गौतम गृह्य, गौतम धर्मशास्त्र बनाए। वह शाखाकार था। गौतमप्रोक्त गौतमी शिक्षा इस समय उपलब्ध है। यह काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में छपी है। इस के विषय में 'शिक्षाशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से लिखेंगे।

१६—व्याडि (२९५० वि० पूर्व)

आचार्य व्याडि का निर्देश पाणिनीय सूत्रपाठ में नहीं मिलता। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[3] भाषावृत्ति ६।१।७० में पुरुषोत्तमदेव ने गालव के साथ व्याडि का एक मत उद्धृत किया है।[4] गालव शब्दानुशासन का कर्त्ता है और पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उसका चार स्थानों पर उल्लेख किया है।[5] महाभाष्य ६।२।३६ में 'आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः' प्रयोग मिलता है। इसमें प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि और पाणिनि के अन्तेवासियों के साथ व्याडि के अन्तेवासियों का निर्देश है। ऋक्प्रातिशाख्य १३।३१ में शाकल्य और

---

१. प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम्। ५।३८॥ २. मै० प्रा० ५।४०॥ ३. ऋक्प्राति० २।२३,२८॥ ६।४३॥ १३।३१,३७॥

४. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।

५. अष्टा० ६।३।६१॥ ७।१।७४॥ ७।३।९९॥ ८।४।६७॥

गार्ग्य के साथ व्याडि का बहुधा उल्लेख है।[1] शाकल्य[2] और गार्ग्य[3] दोनों का स्मरण पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में किया है। इससे स्पष्ट है कि व्याडि ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था।

परिचय और काल

व्याडि का दूसरा नाम **दाक्षायण** है। इसे वामन ने काशिका ६।२।६९ में **दाक्षि** के नाम से स्मरण किया है।[4] **यह दाक्षीपुत्र पाणिनि का मामा है।** कई विद्वान् दाक्षायण पद से इसे पाणिनि का ममेरा भाई मानते हैं, वह ठीक नहीं। अतः व्याडि का काल पाणिनि से कुछ पूर्व अर्थात् विक्रम से लगभग २९५० वर्ष पूर्व है।

व्याडि के परिचय और काल के विषय में हम **'संग्रहकार व्याडि'** नामक प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे। अतः इस विषय में यहाँ हम इतना ही संकेत करते हैं।

व्याकरण

जयादित्य ने काशिका २।४।४१ में उदाहरण दिया है—

व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्।

न्यास में इसका पाठ **'व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्'** है।

पदमञ्जरी ४।३।११५ में इस उदाहरण की व्याख्या मिलती है। अतः प्रतीत होता है कि उसके समय में काशिका ४।३।११५ में भी यह उदाहरण अवश्य विद्यमान था। काशिका के मुद्रित संस्करणों में ४।३।११५ का पाठ अशुद्ध हैं।[5] न्यासकार २।४।२१ में इस उदाहरण की व्याख्या में लिखता है—

व्याडिरप्यत्र युगपत्कालभाविनां विधीनां मध्ये दशहुष्करणानि कृत्वा परिभाषितवान् पूर्वं पूर्वं कालमिति।[6]

---

१. व्याळिशाकल्यगार्ग्याः। २. अष्टा० १।१।१६॥ ६।१।१२७॥ ८।३।१९॥ ८।४।५१॥ ३. अष्टा० ७।३।९९॥ ८।३।२०॥ ८।४।६७॥

४. कुमारीदाक्षाः।......कुमार्यादिलाभकामा ये दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते तच्छिष्यतां वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते। यहां **'दाक्षादिभिः'** पाठ अशुद्ध हैं, **'दाक्ष्यादिभिः'** पाठ होना चाहिए।

५. काशिका का मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'काशकृत्स्नम्। गुरुलाघवम्। आपिशलम्। पुष्करणम्।' ६. पं० गुरुपद हालदार ने लिखा है—सुतरामापिशलिसंबंधे जयादित्येर मते भ्रमिते हइवे—आपिशलिस्तु युगपत्काल-

न्यास की व्याख्या में मैत्रेयरक्षित लिखता है—

प्रथमतरं दशहुष्करणानि कृत्वा कालमनद्यतनादिकं परिभाषितवान्।

हरदत्त पदमञ्जरी ४।३।११५ में इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है—

हुष् इत्ययं संकेतशब्दो यत्र क्रियते, यथा पाणिनीये वृदिति, तद् हुष्करणं व्याकरणं, कामशास्त्रमित्यन्ये।

न्यासकार, मैत्रेयरक्षित और हरदत्त की व्याख्याएं अस्पष्ट हैं। हरदत्त 'कामशास्त्रमित्यन्ये' लिखकर स्वयं संदेह प्रकट करता है।

अब हम अगले अध्याय में पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत दश आचार्यों का वर्णन करेंगे।

———

भाविनां विधीनां मध्ये दश हुष्करणानि कृत्वा कालमनद्यतनादिकं परिभाषितवान्। व्याकरण द० इ० प्राक्कथन, पृष्ठ ४०। यह लेख काशिका, न्यास और पदमञ्जरी से विपरीत होने से चिन्त्य है।

चौथा अध्याय

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत आचार्य

(४०००–३००० वि० पू०)

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में दश प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है। उनके पौर्वापर्य का यथार्थ निश्चय न होने से हम उनका वर्णन वर्णानुक्रम से करेंगे।

१—आपिशलि (३००० वि० पूर्व)

आपिशलि आचार्य का उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी के एक सूत्र में उपलब्ध होता है।[1] महाभाष्य ४।२।४५ में आपिशलि का मत प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[2] वामन, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट तथा मैत्रेयरक्षित आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने आपिशल व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं।[3] पाणिनि में स्वीय शिक्षा के अन्तिम प्रकरण में भी आपिशलि का उल्लेख किया है।[4]

परिचय

वंश—आपिशलि शब्द तद्धितप्रत्ययान्त है। काशिका ६।२।३६ में आपिशलि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाई है—

अपिशलस्यापत्यमापिशलिराचार्यः। अत इञ्।

पाल्यकीर्ति ने रूढादिगण १।३।४ में अपिशल शब्द से इञ् आपिशलि मानकर, स्त्रीलिङ्ग में **आपिशल्या** का निर्देश किया है।

गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

आपिशलि—पिशतीत्यौणादिककलप्रत्यये पिशलः, न पिशलोऽपिशलः कुलप्रधानम्, तस्यापत्यम्।[5]

---

१. वा सुप्यापिशलेः। अष्टा० ६।१।९२॥ २. एवं च कृत्वाऽऽपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति—धेनुरनञिकमुत्पादयति। ३. काशिका ७।३।८६॥ न्यास ४।२।४५॥ कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।१।२१॥ तन्त्रप्रदीप ७।३।८६॥

४. पा० शिक्षा वृद्धपाठ प्र० ८ सूत्र २५। ५, गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ३७।

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार वामन, पाल्यकीर्ति और वर्धमान तीनों के मत में आपिशलि के पिता का नाम 'अपिशल' था।

उज्ज्वलदत्त उणादि ४।१२७ की वृत्ति में आपिशलि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाता है—

शारिहित्र:, कपिलका:दित्वाल्लत्वम् । दु:सहोऽपिशलि: । बाह्वादित्वादिञ्—आपिशलि: ।[1]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार आपिशलि के पिता का नाम 'अपिशलि' होना चाहिये, परन्तु बाह्वादिगण[2] में 'अपिशलि' पद का पाठ न होने से उज्ज्वलदत्त की व्युत्पत्ति चिन्त्य है।

अपिशल शब्द का अर्थ—पिशल का अर्थ है क्षुद्र, अत: अपिशल का अर्थ होगा महान्। वर्धमान ने अपिशल का अर्थ 'कुल-प्रधान' किया है।[3] तदनुसार इसकी व्युत्पत्ति '**पिश अवयवे—कल (औणादिक) प्रत्यय:, पिश्यत इति पिशल:**=क्षुद्र:, **न पिशलोऽपिशल:**' होगी। वाचस्पत्यकोश में '**अपिशलते इति अपिशल:, अच्**' व्युत्पत्ति लिखी है।

नामान्तर—आपिशलि के लिए आपिशल नाम का भी व्यवहार परोक्ष रूप में उपलब्ध होता है। यथा—

१. **शिक्षा आपिशलीयादिका**। काव्यमीमांसा, पृष्ठ ३।

२. **तथेत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्**। वाक्यपदीय वृषभदेव टीका, भाग १, पृष्ठ १०५।

इन प्रयोगों में प्रस्तुत **आपिशलीय** पद अणन्त **आपिशल** शब्द से ही छ(=ईय) प्रत्यय होकर सम्भव हो सकता है। इञन्त आपिशलि से **इञश्च** (४।२।११२) के नियम से **आपिशल** शब्द निष्पन्न होता है।

अपिशल के **अण्** और **इञ्** दोनों सामान्य अपत्यार्थक प्रत्यय होकर **आपिशल** और **आपिशलि** प्रयोग उपपन्न होते हैं।[4]

स्वसा का नाम—आपिशलि पद क्रौड्यादिगण[5] में पढ़ा है।

---

१. तुलना करो—अपिशलिर्मुनिविशेष:, तस्यापत्यमापिशलि:, बाह्वादित्वादिञ्। उणादिकोष ४।१२८॥ २. अष्टा० ४।१।९६॥

३. देखो पूर्व पृष्ठ ११४। ४. विशेष द्रष्टव्य काशकृत्स्न प्रकरण पूर्व पृष्ठ १०७। ५. अष्टा० ४।१।८०॥

तदनुसार आपिशलि की किसी स्वसा का नाम 'आपिशल्या' होगा। अभिनव शाकटायन १।३।५ की चिन्तामणि टीका में भी 'आपिशल्या' का निर्देश मिलता है। इसी प्रकार अन्य व्याकरणों में भी इस प्रकरण में आपिशल्या स्मृत है।

गोत्र—पूर्व पृष्ठ १०६ पर बौधायन प्रवराध्याय का जो वचन उद्धृत किया है तदनुसार आपिशलि भृगुवंश का है।

आपिशलि-शाला—आपिशलि पद छात्र्यादि गण[1] में पढ़ा है। तदनुसार शाला उत्तरपद होने पर 'आपिशलिशाला' में आपिशलि पद को आद्युदात्त होता है।[2] इससे व्यक्त होता है कि पाणिनि के समय में आपिशलि की शाला देश-देशान्तर में अत्यन्त प्रसिद्ध थी।

शाला शब्द का अर्थ—यद्यपि शाला शब्द का मुख्यार्थ गृह है, तथापि 'पदेषु पदैकदेशाः प्रयुज्यन्ते'[3] न्याय के अनुसार यहां 'शाला' शब्द पाठशाला के लिये प्रयुक्त हुआ है। महाराष्ट्र, गुजरात, पञ्जाब आदि अनेक प्रान्तों में पाठशाला के लिये केवल शाला शब्द का व्यवहार होता है। पुराण पञ्चलक्षण में रेमकशाला का वर्णन है, इस में पैप्पलाद आदि ने विद्याध्ययन किया था। मुण्डक उपनिषद् में गृहपति शौनक के लिए महाशाल[4] शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है। वहां शाला का अर्थ निश्चित ही पाठशाला है। अतः आपिशलि-शाला का अर्थ निश्चय ही आपिशलि का विद्यालय है।

देश—आपिशलि आचार्य किस देश का था यह किसी प्रमाण से नहीं जाना जाता है। तथापि उत्तरदेशीय पाणिनि वाल्मीकि के साथ आपिशलि का निर्देश होने से यह उत्तर भारतीय है, इतना निश्चित है। उत्तर भारत में वाराणसी पर्यन्त व-ब का भेद स्पष्ट रहता है। उससे प्राग्देशों में सांकर्य बढ़ते-बढ़ते 'व' 'ब' रूप में परिणत

---

१. गणपाठ ६।२।८६॥ २. छात्र्यादयः शालायाम् (अष्टा० ६।२।८६) सूत्र से। ३. तुलना करो—पदेषु पदैकदेशान्-देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। महाभाष्य १।१।४५॥ ४. अनेक व्याख्याताओं ने 'महाशाल' का अर्थ 'बड़ा घर वाला' किया है। वह चिन्त्य हैं। शौनक गृहपति है। गृहपति वह आचार्य कहाता है जो दश सहस्र छात्रों के भोजन छादन एवं अध्यायन की व्यवस्था करे। अतः उस के लिये प्रयुक्त 'महाशाल' का अर्थ आधुनिक प्रयोगानुसार 'विश्व-विद्यालय' के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

हो जाता। आगे पृष्ठ १४२ पर उद्धृत व-ब के बोधक सं० ४ के प्रामाण से संभावना हो सकती है कि आपिशलि प्राग्देशीय रहा हो।

काल

पाणिनोय अष्टक में आपिशलि का साक्षात् उल्लेख होने से इतना निश्चित है कि यह पाणिनि से प्राचीन है। पदमञ्जरीकार हरदत्त के लेख से प्रतीत होता है कि आपिशलि पाणिनि से कुछ ही वर्ष प्राचीन है। वह लिखता है—

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन, आपिशलिना तर्हि केनावगतम् ? ततः पूर्वेण व्याकरणेन ॥[1]

पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, एवमापिशलिः ॥[2]

पाणिनि विक्रम से लगभग २९०० सौ वर्ष प्राचीन है, यह हम पाणिनि के प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध करेंगे।

बौधायन श्रौत के प्रवराध्याय में भृगुवंश में आपिशलि गोत्र का उल्लेख मिलता है।[3] मत्स्य पुराण १९४।४१ में भी भृगुवंश्य आपिशलि का निर्देश उपलब्ध होता है। प० गुरुपद हालदार ने आपिशलि को याज्ञवल्क्य का श्वसुर लिखा है,[4] परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया। याज्ञवल्क्य ने शतपथ का प्रवचन विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। आपिशली शिक्षा में सात्यमुग्री और राणायनी शाखा के अध्येताओं का उल्लेख है।[5]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आपिशलि का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ३००० वर्ष पूर्व अवश्य है।

---

१. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६। २. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

३. भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः ········पैङ्गलायनाः, वैहीनरयः··· ··· काशकृत्स्नाः ·····पाणिनिर्वाल्मीकिः······आपिशलयः।

४. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ५१६। ५. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति। ६। ९॥ तुलना करो—छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। महाभाष्य, एओङ् सूत्र।

आपिशल व्याकरण का परिमाण

जैन आचार्य पाल्यकीर्ति अपने शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृति ३।२।१६१ में उदाहरण देता है—**अष्टका आपिशलपाणिनीयाः**। यह उदाहरण शाकटायन व्याकरण की यक्षवर्मकृत चिन्तामणिवृत्ति २।४।१८२ में भी उपलब्ध होता है। इससे विदित होता है कि आपिशल व्याकरण में आठ अध्याय थे। आपिशलि विरचित शिक्षा ग्रन्थ में भी आठ ही प्रकरण हैं।

आपिशल व्याकरण की विशेषता

काशिका ४।३।११५ में उदाहरण है—**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलं पुष्करणम्**। सरस्वतीकण्ठाभरण ४।६।२४६ की हृदयहारिणी टीका में '**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलमान्तःकरणम्**'[1] पाठ है। वामन ने ६।२।१४ की वृत्ति में '**आपिशलयुपज्ञं गुरुलाघवम्**' उदाहरण दिया है। इन में कौन सा पाठ शुद्ध है यह अभी विचारणीय है। अतः सन्दिग्ध अवस्था में नहीं कह सकते कि आपिशल व्याकरण की अपनी क्या विशेषता थी।

आपिशल व्याकरण का प्रचार

महाभाष्य ४।१।१४ से विदित होता है कि कात्यायन और पतञ्जलि के काल में आपिशल व्याकरण का महान् प्रचार था। उस काल में कन्याएं भी आपिशल व्याकरण का अध्ययन करती थीं।[2]

आपिशल व्याकरण का स्वरूप

पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन व्याकरणों में केवल आपिशल व्याकरण ही ऐसा है जिसके सब से अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं[3] और अन्य पाठों का परिचय भी मिलता है। इन के आधार

---

१. निरुक्त १। १३ के 'एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च' पाठ में 'अन्तकरण' पद प्रयुक्त है। स्कन्दस्वामी ने 'अन्तकरण' का अर्थ 'प्रत्यय' किया है। क्या सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका का पाठ 'अन्तकरण' हो सकता है? २. आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी।

३. यह स्थिति इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण तक थी। उस के पश्चात् काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीका प्रकाश में आई। उस में काशकृत्स्न व्याकरण के १३५ सूत्र उपलब्ध हो गए। द्र०—पृष्ठ १०६।

पर कहा जा सकता है कि यह व्याकरण पाणिनीय व्याकरण के सदृश सर्वाङ्गपूर्ण सुव्यवस्थित तथा उससे कुछ विस्तृत था, और इस में लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था।

आपिशल व्याकरण के उपलब्ध सूत्र

शतशः व्याकरण ग्रन्थों के पारायण से हमें आपिशल व्याकरण के निम्न सूत्र उपलब्ध हुए हैं—

१. उभस्योभयोऽद्विवचनटापोः ।[१]

२. विभक्त्यन्तं पदम् ।[२]

३. मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषा प्राणिषु ।[३]

४. चिरसाययोर्मश्च प्रगप्राह्णयोरेच्च ।[४]

५. धेनोरञः ।[५]

---

१. आपिशलिस्त्वेनमर्थं सूत्रयत्येव—'उभस्योभयोऽद्विवचनटापोः' इति । तन्त्रप्रदीप २।३।८ ।। भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९५ में प्रो॰ कालीचरण शास्त्री हुबली के लेख में उद्धृत । तुलना करो—'केचित् पुनरेवं पठन्ति—उभस्योभयोरद्विवचने ।' भर्तृहरि महाभाष्य-दीपिका पृष्ठ २७० ।

२. कलापचन्द्र (सन्धि २०) में सुषेण विद्याभूषण ने लिखा है—'अर्थः पदम्' आहुरैन्द्राः, 'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, सुप्तिङन्तम् पदम्' पाणिनीयाः (देखो पूर्व पृष्ठ ८७) । हैम लिङ्गानुशासन विवरण, पृष्ठ १५८ पर निर्दिष्ट । तुलना करो—ते विभक्त्यन्ताः पदम् । न्यायसूत्र २।२।५७।। विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम् । भरत नाटयशास्त्र १४।३९।।

३. प्रदीप २।३।१७।। पदमञ्जरी २।३।१७, भाग १, पृष्ठ ४२७ ।। शब्दकौस्तुभ २।३।१७।। 'विभाषा प्राणिषु' इत्यापिशलीयं सूत्रम् । हरिनामामृत व्याकरण कारक ३४ । आपिशलिवाक्येन उपमानवाचकात् ततोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीत्युच्यते' प्रदीपोद्योते नागेशः (२।३।१७) ।

४. इत्यापिशलीयं सूत्रम् । सुपद्ममकरन्द ५।३।५१,५२।।

५. न्यास ४।२।४५, भाग १ पृष्ठ ९४२ । धातुवृत्ति धेट् धातु, पृष्ठ १६७ । धातुवृत्ति का मुद्रित पाठ अशुद्ध है । पदमञ्जरी ४।२।४५ में 'धेनुरनञिकमुत्पादयति इत्यापिशलिसूत्रम्' भाष्यपङ्क्ति को ही सूत्र बना दिया हैं । व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ५२१ में भी यही भाष्यपङ्क्ति आपिशलि के नाम से उद्धृत है ।

६. शताच्च ठन्यतावग्रन्थे ।[1]
७. शब्विकरणे गुणः ।[2]
८. करोतेश्च ।[3]
९. मिदेश्च ।[4]
१०. तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु[5] च्छन्दसि ।[6]
११. ञमङणनम् (?)[7]

(क) 'तद्‌र्हम्'[8] सूत्र का अभाव

काशकृत्स्न व्याकरण के प्रकरण में वाक्यपदीय तथा उसके टीकाकार हेलाराज का जो वचन उद्धृत किया है[9] उससे विदित होता

---

१. महाभाष्य-प्रदीप ५ । १ । २१ ।। यहां कैयट ने जितना अंश अष्टाध्यायी से भिन्न था, उतने ही का निर्देश किया है । पं० गुरुपद हालदार ने व्याकरण दर्शनेर इतिहास के प्राक्कथन पृष्ठ ३२ पर आपिशल और काशकृत्स्न के मत से याज्ञवल्क्य स्मृति (२।२०२) का 'शतकं शतम्' प्रयोग उद्धृत किया है । वह हमें नहीं मिला । २. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७ । आपिशलिस्तु 'शब्विकरणे गुणः' इत्यभिधाय 'करोतेः मिदेश्च' इत्युक्तवान् । तन्त्रप्रदीप ७।३।८६।। भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९५ में उद्धृत । तुलना करो—अनि च विकरणे, करोतेः, मिदेः । कातन्त्र ३।७।३-५ ।

३. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७ । तन्त्रप्रदीप ७।३।८६, पूर्वोद्धृत उद्धरण । कातन्त्र ३।७।४ पूर्वोद्धरण । ४. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७ । तन्त्रप्रदीप ७।३।८६, पूर्वोद्धरण । कातन्त्र ३।७।५ पूर्वोद्धरण ।

५. टाबन्तं संज्ञात्वेन विनियुक्तम् । पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ८३८ । तुलना करो—'अथवा आर्धधातुकासु इति वक्ष्यामि । कासु आर्धधातुकासु ? उक्तिषु युक्तिषु, रूढिषु, प्रतीतिषु, श्रुतिषु, संज्ञासु ।' महाभाष्य २।४।३५।।

६. काशिका ७।३।९५।। धातुवृत्ति पृष्ठ २४१ । छान्दसोऽयमित्यापिशलिः । धातुप्रदीप पृष्ठ ८० । ७. पञ्चपादी उणादि आपिशलि-प्रोक्त है यह हम उणादि के प्रकरण में लिखेंगे । द्र०—उणादि के 'ञमन्ताड्डः' (१।१०७) सूत्र में ञम् प्रत्याहार । आपिशल-शिक्षा के 'ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च' सूत्र में ञमङणन आनुपूर्वीविशेष का सबन्ध आपिशल व्याकरण के प्रत्याहार सूत्र से प्रतीत होता है । पाणिनीयशिक्षा के 'ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः' सूत्र में वर्णानुक्रम से पाठ है । ८. अष्टा० ५।१।११७।।

९. देखो पूर्व पृष्ठ ११३ ।

है कि काशकृत्स्न व्याकरण के सदृश आपिशल व्याकरण में भी 'तदर्हम्' सूत्र नहीं था।

(ख) 'नाज्झलौ' सूत्र का अभाव

पाणिनि का **नाज्झलौ** (१।१।१०) सूत्र आपिशल व्याकरण में नहीं था, क्योंकि उसकी शिक्षा में—

ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः । ३ । ६ ॥
विवृतकरणाः स्वराः । ३ । ७ ॥

सूत्रों द्वारा अ इ ऋ के ह श ष ऊष्मों के प्रयत्न भिन्न भिन्न माने हैं। अतः प्रयत्नैक्य के अभाव में न सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है, न प्रतिषेध की ही आवश्यकता है। पाणिनीय शिक्षा में **विवृतकरणा वा** सूत्र द्वारा पक्षान्तर में ऊष्मों का भी विवृतकरण प्रयत्न स्वीकार करने से पक्ष में सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है। अतः पाणिनि के मत में उस का **नाज्झलौ** सूत्र द्वारा प्रतिषेध आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि आपिशल व्याकरण में उक्त सूत्र नहीं था।

आपिशलि के प्रकीर्ण उद्धरण

पूर्वोद्धृत सूत्रों के अतिरिक्त आपिशलि के नाम से अनेक वचन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—अनन्तदेव भाषिकसूत्र की व्याख्या में लिखता है—
यथापिशलिनोक्तम्—ऋवर्णलृवर्णयोर्दीर्घा [न] भवन्तीति।[1]

२—कविराज ने आपिशलि का निम्न मत उद्धृत किया है—
एकवर्णकार्यं विकारः, अनेकवर्णकार्यमादेश इत्यापिशलीयं मतम्।[2]

३—कातन्त्रवृत्ति की दुर्गविरचित टीका में आपिशलि का निम्न श्लोक उद्धृत है—

तथा चापिशलीयः श्लोकः—
आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसंगेन लोपः सर्वापकर्षणात्॥[3]

---

१. काशी के छपे हुए यजुःप्रातिशाख्य के अन्त में, पृष्ठ ४६६। शतपथ सायणभाष्य भाग १, पृष्ठ ३१८ पर कोष्ठ में निर्दिष्ट 'न' पद मूल में छपा है।

२. कातन्त्रटीका २।३।३३॥ तुलना करो—'विकारो नाम वर्णात्मक आदेशः। शब्दकौस्तुभ, पृष्ठ ३४४।

३. कातन्त्रवृत्ति पृष्ठ ४७९।

४—भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर ने आपिशलि का निम्न डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है—

तथा चापिशलिः—

दन्त्योष्ठ्यत्वाद् वकारस्य वहव्यधवृधां न भष् ।
उदूठौ भवतो यत्र यो वः प्रत्ययसन्धिजः ।
अन्तस्थं तं विजानीयाच्छेषो वर्गीय उच्यते ॥[1]

५—जगदीश तर्कालङ्कार ने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में आपिशलि का निम्न मत उद्धृत किया है—

सदृशत्वं तृणादीनां मन्यकर्मण्यनुक्तके ।
द्वितीयावच्चतुर्थ्यापि बोध्यते बाधितं यदि ॥
इत्यापिशलेर्मतम् ॥[2]

६, ७—उणादिसूत्र का वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त आपिशलि के निम्न दो वचन उद्धृत करता है—

आपिशलिस्तु—न्यङ्क्वोर्नैचभावं शास्ति न्याङ्कवं चर्म ।[3]

स्वधा पितृतृप्तिरित्यापिशलिः ।[4]

८—भानुजी दीक्षित ने अपनी अमरकोषटीका में आपिशलि का निम्न वचन उद्धृत किया है—

शश्वदभीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रमिति सातत्ये इत्यव्यय-प्रकरणे आपिशलिः ।[5]

९—कातन्त्रवृत्ति की दुर्गटीका में आपिशलि का निम्न श्लोक उद्धृत है—

आपिशलीयं मतं तु—

पादस्त्वर्थसमाप्तिर्वा ज्ञेयो वृत्तस्य वा पुनः ।
मात्रिकस्य चतुर्भागः पाद इत्यभिधीयते ॥[6]

---

१. भाषावृत्ति की भूमिका पृष्ठ १७ । २. पृष्ठ ३७५, काशी सं० ।

३. उणादिवृत्ति पृष्ठ ११ । तुलना करो—न्यङ्क्वोस्तु पूर्वे प्रकृतैजागमस्याभ्युदयाङ्गतां स्मरन्ति । यथाहुः—न्यङ्क्वोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम् इति । वाक्यपदीय वृषभदेवटीका भाग १, पृष्ठ ५५ ॥ विशेष देखो, पूर्व पृष्ठ २७,२८ ।

४. उणादिवृत्ति पृष्ठ १९१ । ५. अमरटीका १।१।६६ पृष्ठ २७ ।

६. कातन्त्र पृष्ठ ४६१ । कातन्त्र परिभाषा वृत्ति द्र०—परिभाषासंग्रह (पूना) पृष्ठ ६४ ।

इनमें प्रथम उद्धरण का संबन्ध आपिशल-शिक्षा के साथ है। षष्ठ उद्धरण निश्चय ही आपिशल व्याकरण का है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम उद्धरणों का सम्बन्ध यद्यपि आपिशल व्याकरण से है तथापि इनके मूल आपिशल सूत्र नहीं हैं। सम्भव है उसकी किसी वृत्ति से ये वचन उद्धृत किये हों। सप्तम, अष्टम और नवम उद्धरण उसके किसी कोश से लिये गए होंगे।

चतुर्थ उद्धरण की विशिष्टता—इस उद्धरण में दन्त्योष्ठ्य वकार का परिगणन कराया है। व-ब के उच्चारण दोष से संदेह उत्पन्न होना स्वाभविक है, उसकी निवृत्ति के लिये उक्त वचन पढ़ा गया है। अथर्व परिशिष्टों में भी एक **दन्त्योष्ठ्यविधि** नाम का ग्रन्थ है। इस का भी यही प्रयोजन है। इस प्रकार के प्राचीन प्रयासों से ज्ञात होता है कि व-ब सम्बन्धी उच्चारण दोष अतिपुरातन हैं।

आपिशल और पाणिनीय व्याकरण की समानता

आपिशलि के जो सूत्र ऊपर उद्धृत किये हैं, उन से यह स्पष्ट है कि आपिशल और पाणिनीय व्याकरण दोनों परस्पर में बहुत समान हैं। यह समानता न केवल सूत्ररचना में है, अनेक संज्ञा, प्रत्यय और प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं।

संज्ञाएं—उपरि निर्दिष्ट सूत्रों में द्विवचन, विभाषा, गुण और सार्वधातुका, संज्ञाओं का उल्लेख है। पाणिनीय व्याकरण में भी ये ही संज्ञाएं हैं। केवल सार्वधातुका टाबन्त के स्थान में पाणिनि ने सार्वधातुक अकारान्त संज्ञा पढ़ी है।

प्रत्यय—पूर्व उद्धृत सूत्रों में **टाप्, ठन् और शप्** प्रत्यय पढ़े हैं। ये ही प्रत्यय पाणिनीय व्याकरण में भी हैं।

प्रत्याहार—सृष्टिधर ने उपरिनिर्दिष्ट आपिशलि का जो डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है। उसके '**बहव्यधवृधां न भष्**' चरण में भष् प्रत्याहार का निर्देश मिलता है। पाणिनि ने भी यही प्रत्याहार बनाया है।

इन के अतिरिक्त आपिशलि के धातुपाठ और गणपाठ के जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं वे भी पाणिनीय धातुपाठ और गणपाठ से बहुत समानता रखते हैं। आपिशलि के व्याकरण में भी पाणिनीय

व्याकरण के सदृश आठ ही अध्याय थे, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] इतना ही नहीं, आपिशलशिक्षा और पाणिनीयशिक्षा के सूत्र परस्पर बहुत सदृश हैं, दोनों का प्रकरणविच्छेद भी सर्वथा समान है। इस अत्यन्त सादृश्य से प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है। पदमञ्जरीकार हरदत्त तो इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है। वह लिखता है—

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन।[2]

पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, एवमापिशलिरपि।[3]

अन्य ग्रन्थ

१ **धातुपाठ**—इसके उद्धरण महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि कई ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका विशेष वर्णन धातुपाठ के प्रकरण में किया है।[4]

२. **गणपाठ**—इसका उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में किया है।[5] इसका विशेष वर्णन गणपाठ के प्रकरण में देखें।[6]

३. **उणादिसूत्र**—हमारा विचार है कि पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि विरचित हैं। इस विषय पर उणादिप्रकरण में विस्तार से लिखा है।[7]

४. **शिक्षा**—आपिशलशिक्षा का उल्लेख पाणिनीय शिक्षा में साक्षात् मिलता है।[8] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की वैदिकाभरण टीका में

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ १३८। २. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६।

३. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

४. द्र०—भाग २, अध्याय २०, आपिशल धातुपाठ। ५. इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्यानि पूर्वापराधरेति……। पृष्ठ २८७; हमारा हस्तलेख। तुलना करो—'त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि'। कैयट, भाष्यप्रदीप १।१।३३॥ ६. द्र०—भाग २, अध्याय २३।

७. द्र०—भाग २, अध्याय २४, 'आपिशल उणादिपाठ'।

८. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति। पाणिनीयशिक्षा वृद्ध-पाठ (हमारा संस्करण) सूत्र ८।२५। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उपलब्ध कोश में ८ वां प्रकरण लगभग सारा ही त्रुटित था।

आपिशलि का एक सूत्र उद्धृत है।[1] राजशेखरप्रणीत काव्यमीमांसा[2] और वृषभदेवविरचित वाक्यपदीय की टीका[3] में भी इसका निर्देश है। इसके अष्टम प्रकरण के २३ सूत्रों का एक लम्बा उद्धरण हेमचन्द्र ने अपने हैम शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में दिया है।[4]

इस शिक्षा के दो हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में हैं। यह मेहरचन्द लक्ष्मणदास भूतपूर्व लाहौर द्वारा प्रकाशित वैदिक स्टडीज़ पत्रिका में छप चुकी है। इसका सम्पादन डाक्टर रघुवीरजी एम०ए० ने किया है। पाणिनीय और चान्द्र शिक्षा के साथ इस शिक्षा में पाणिनीय शिक्षा के समान ही आठ प्रकरण हैं। मैंने भी **आपिशल-शिक्षा का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है।** उस में आपिशलशिक्षा के सूत्र जिन-जिन ग्रन्थों में उद्धृत हैं उनका निर्देश नीचे टिप्पणी में कर दिया है।

५. कोश—यह अप्राप्य है। भानुजी दीक्षित के उपरि निर्दिष्ट आठवें उद्धरण से स्पष्ट है कि आपिशलि ने कोई कोश भी रचा था। संख्या ७ और ९ का उद्धरण भी कोश से ही लिया गया है।

६. अक्षरतन्त्र—इस ग्रन्थ में सामगान सम्बन्धी स्तोभों का वर्णन है। इस का प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से किया था।[5]

७ साम-प्रातिशाख्य—धातुवृत्ति (मैसूर संस्करण) के सम्पादक महादेव शास्त्री ने सामप्रातिशाख्य को आपिशलि-विरचित माना है।[6] पर यह चिन्त्य है। द्र०—सं० व्या० इतिहास, भाग २, अध्याय २८, सामप्रातिशाख्य प्रकरण।

———

१. 'शेषाः स्थानकरणाः' इत्यापिशलिशिक्षावचनात्। तै० प्रा० २। ४६, पृष्ठ ६०।

२. शिक्षा आपिशलीयादिका। काव्यमी० पृष्ठ ३।

३. तथेत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्। वाक्यपदीय वृषभदेव टीका भाग १, पृष्ठ १०५। वृषभदेव जिसे आपिशलि सूत्र कहता है वह मुद्रित ग्रन्थ में कुछ भेद से मिलता है। सम्भव है भर्तृहरि ने उसका अर्थतः अनुवाद किया हो।

४. तथा चापिशलिः शिक्षामधीते—'नाभिप्रदेशात्......बाह्यः प्रयत्न इति' पृष्ठ ६, १०।

५. द्र०—सं० व्या० इतिहास, अध्याय २८।

६. धातुवृत्ति की भूमिका पृष्ठ ३।

२—काश्यप (३००० वि० पूर्व)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में काश्यप का मत दो स्थानों पर उद्धृत किया है।[1] वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।५ में शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख मिलता है।[2] अतः अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में उल्लिखित काश्यप एक व्यक्ति है, इस में कोई सन्देह नहीं।

परिचय

काश्यप शब्द गोत्रप्रत्ययान्त है। तदनुसार इस के मूल पुरुष का नाम कश्यप है।

काल

पाणिनीय शब्दानुशासन में काश्यप का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि यह उससे पूर्ववर्ती है। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार अष्टाध्यायी ४।३।१०३[3] में काश्यप कल्प का निर्देश है।[4] पाणिनि ने व्याकरण और कल्पप्रवक्ता का निर्देश करते हुए किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया, इस से प्रतीत होता है कि वैयाकरण और कल्पकार दोनों एक हैं। यदि यह ठीक हो तो काश्यप का काल भारत युद्ध के लगभग मानना होगा, क्योंकि प्रायः शाखाप्रवक्ता ऋषियों ने ही कल्पसूत्रों का प्रवचन किया था, यह हम वात्स्यायन-भाष्य के प्रमाण से पूर्व लिख आये हैं।[5]

काश्यप व्याकरण

काश्यप व्याकरण का कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ। इस के मत का उल्लेख भी केवल तीन स्थानों पर उपलब्ध होता है। शुक्ल यजुः प्रातिशाक्य के अन्त में निपातों को काश्यप कहा है।[6] हम इस के व्याकरण के विषय में इस से अधिक कुछ नहीं जानते।

---

१. तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य। अष्टा० १।२।२५॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्य काश्यपगालवानम्। अष्टा० ८।४।६७॥

२. लोपं काश्यपशाकटायनौ। ३. काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः।

४. काश्यपकौशिकग्रहणं कल्पे नियमार्थम्। महाभाष्य ४।२।६६॥

५. पूर्व पृष्ठ १६–२२। ६. निपातः काश्यपः स्मृतः। अ० ८ सूत्र ५१ के आगे। मद्रास संस्करण के संस्कर्ता ने इन्हें प्रमाद से टीकाग्रन्थ के अन्तगर्गत छापा है।

अन्य ग्रन्थ

१. कल्प—वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार अष्टाध्यायी ४।३।१०३ में किसी काश्यप कल्प का उल्लेख है।[1]

२. छन्दःशास्त्र—आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र ७। ६ में काश्यप का एक मत उद्धृत किया है।[2] इस से विदित होता है कि काश्यप ने किसी छन्दःशास्त्र का प्रवचन किया था। फूलमण्डी (भटिण्डा-पंजाब) के वैद्य श्री अमरनाथजी ने १६।१।६२ के पत्र में लिखा है कि काश्यप का छन्दःसूत्र उन के मित्र सरदार नन्दसिहजी के पास है। बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्होंने दिखाना स्वीकार नहीं किया। विद्या के क्षेत्र में ऐसी संकुचित वृत्ति ग्रन्थों के नाश में प्रमुख कारण होता है।

३. आयुर्वेद संहिता—संवत् १६६५ में आयुर्वेद की काश्यप संहिता प्रकाशित हुई है। इस नष्टप्रायः कौमारभृत्य-तन्त्र के उद्धार का श्रेय नैपाल के राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को है। उन्होंने महापरिश्रम करके एक मात्र त्रुटित ताडपत्रलिखित ग्रन्थ के आधार पर इस का सम्पादन किया है। ग्रन्थ की अन्तरङ्ग परीक्षा से प्रतीत होता है कि यह चरक सुश्रुत के समान प्राचीन आर्ष ग्रन्थ है।

४. शिल्प शास्त्र—कश्यप प्रोक्त शिल्प शास्त्र आनन्दाश्रम पूना से सन् १६२६ में प्रकाशित हो चुका है।

५. अलंकार शास्त्र=काश्यप के अलङ्कार शास्त्र का निर्देश भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[3]

६. पुराण—चान्द्रवृत्ति ३।३।७१ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ३। २२६ की टीका में किसी काश्यपीय पुराण का उल्लेख मिलता है।[4] वायुपुराण ६१।५६ के अनुसार वायुपुराण के प्रवक्ता का नाम

---

१. पूर्व पृष्ठ १४६ टि० ३,४। २. सिंहोन्नता काश्यपस्य।

३ पूर्वोषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य……। काव्यादर्श, हृदयङ्गमा टीका। काव्यादर्श की श्रुतपाल की टीका में भी निर्देश मिलता है। द्र०—काव्यप्रकाश हरिदत्त एकादशतीर्थ कृत हिन्दी टीका का आरम्भ।

४. कल्पं चेति किम्? काश्यपीया पुराणसंहिता।

अकृतव्रण काश्यप था।[1] विष्णुपुराण की श्रीधर की टीका पृष्ठ ३६६ में पुराण प्रवक्ता अकृतव्रण को काश्यप कहा है।

७. **काश्यपीय सूत्र**—उद्योतकर अपने न्यायवार्तिक में कणादसूत्रों को काश्यपीय सूत्र के नाम से उद्धृत करता है।[2] सम्भव है कणाद कश्यप गोत्रीय हो।

व्याकरण, कल्प, छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, अलंकार-शास्त्र, पुराण और कणादसूत्रों का प्रवक्ता एक ही व्यक्ति है वा भिन्न-भिन्न, यह अज्ञात है।

३—गार्ग्य (३१०० वि० पूर्व)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर किया।[3] गार्ग्य के अनेक मत ऋक्प्रातिशाख्य[4] और वाजसनेय-प्रातिशाख्य[5] में उपलब्ध होते हैं। उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण से विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था।

परिचय

गार्ग्य पद गोत्रप्रत्ययान्त है, तदनुसार इसके मूल पुरुष का नाम गर्ग था। गर्ग पूर्व निर्दिष्ट वैयाकरण भरद्वाज का पुत्र था। इससे अधिक इसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

अन्यत्र उल्लेख—किसी नैरुक्त गार्ग्य का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में किया है।[6] सामवेद का पदपाठ भी गार्ग्यविरचित माना जाता है।[7] बृहद्देवता १।२६ में यास्क और रथीतर के साथ गार्ग्य

---

१. आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपोऽह्यकृतव्रणः। २. तथा काश्यपीयम्—सामान्य-प्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति। न्यायवार्तिक १।१।२३ पृष्ठ ६६। यह वैशेषिक (२।२।१७) का सूत्र है। उद्योतकर विक्रम की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थकार है। देखो, श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० सं० पृष्ठ ३४३। ३. अड् गार्ग्यगालवयोः। अष्टा० ७।३।९९॥ ओतो गार्ग्यस्य। ८।३।२०॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥

४. व्याडिशाकल्यगार्ग्याः।१३।३१॥ ५. ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सखख्योखख्यमुखख्यवर्जम्। ६. तत्र नामानि सर्वाण्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १।१२॥ अन्यत्र निरुक्त १।३॥ १३।३१॥ ७. बह्वृचानां मेहना इत्येक पदम्, छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि म+इह+नास्ति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणो-

का मत उद्धृत है।[1] ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य में गार्ग्य के अनेक मतों का निर्देश है।[2] चरक सूत्रस्थान १।१० में गार्ग्य का उल्लेख है। नैरुक्त गार्ग्य और सामवेद का पदकार एक ही व्यक्ति हैं, यह हम अनुपद लिखेंगे। बृहद्देवता १।२६ में निर्दिष्ट गार्ग्य निश्चित ही नैरुक्त गार्ग्य है। प्रातिशाख्यों में उद्धृत मत वैयाकरण गार्ग्य के हैं, यह उन मतों के अवलोकन से निश्चित हो जाता है। यद्यपि नैरुक्त गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य की एकता में निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं, तथापि हमारा विचार है दोनों एक ही हैं।

एक दृप्त बालाकि गार्ग्य शतपथ १४।५।१।१ में उद्धृत है। हरिवंश पृष्ठ ५७ के अनुसार शैशिरायण गार्ग्य त्रिगर्तों का पुरोहित था। प्रश्नोपनिषद् ४।१ में सौर्यायणि गार्ग्य का उल्लेख मिलता है। ये निश्चय ही विभिन्न व्यक्ति हैं। यह इनके साथ प्रयुक्त विशेषणों से स्पष्ट है।

काल

अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख होने से यह निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है। गार्ग्य का मत यास्कीय निरुक्त में उद्धृत है। यदि नैरुक्त और वैयाकरण दोनों गार्ग्य एक ही हों तो यह यास्क से भी प्राचीन होगा। यास्क का काल भारतयुद्ध के समीप है। अतः गार्ग्य विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष प्राचीन है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गार्ग्य को धन्वन्तरि का शिष्य लिखा है, और उसके साथ गालव का निर्देश किया है।[3] पाणिनीय व्याकरण में भी दो स्थानों पर गार्ग्य और गालव का साथ-साथ निर्देश मिलता है। क्या इस साहचर्य से वैद्य गार्ग्य गालव और वैयाकरण गार्ग्य गालव एक हो सकते हैं? यदि इन की एकता प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाय तो गार्ग्य गालव का काल विक्रम से लगभग ५५०० वर्ष पूर्व होगा।

भयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। दुर्गवृत्ति ४।४॥ मेहना एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः। स्कन्दटीका ४।३॥

१. चतुर्भ्यं इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्यरथीतराः। आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च।

२. देखो पूर्व १४८ पृष्ठ की टि० ४,५।

३. प्रभृतिग्रहणान्निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः।१।३॥

गार्ग्य का व्याकरण

गार्ग्य के व्याकरण का कोई सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में गार्ग्य के जो मत उद्धृत हैं उनसे विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था। यदि सामवेद का पदकार ही व्याकरणप्रवक्ता हो तो मानना पड़ेगा कि गार्ग्य का व्याकरण कुछ भिन्न प्रकार का था। सामपदपाठ में मित्र पुत्र[1] आदि अनेक पदों में अवग्रह करके अवान्तर दो-दो पद दर्शाए हैं, जो पाणिनीय व्याकरणानुसार (धातु प्रत्यय के संयोग से) एक ही पद हैं। सम्भव है शाकटायन के सदृश गार्ग्य ने भी एक पद की अनेक धातुओं की कल्पना की हो। गार्ग्य और शाकटायन का विरोध निरुक्त की दुर्गवृत्ति १।१३ में उपस्थापित किया है।

अन्य ग्रन्थ

प्राचीन वाङ्मय में गार्ग्यविरचित निम्न ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

१. **निरुक्त**—यास्क ने अपने निरुक्त में तीन स्थान पर गार्ग्य का मत उद्धृत किया है।[2] बृहद्देवता १।२६ का मत भी निरुक्तशास्त्र-विषयक है।[3] गार्ग्य के निरुक्त के विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ (संहिताओं के भाष्यकार) पृष्ठ १६८ देखें।

२, **सामवेद का पदपाठ**—सामवेद का पदपाठ गार्ग्यकृत माना जाता है। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द का भी यही मत है।[4] वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१७७ के उव्वट-भाष्य में गार्ग्यकृत पदपाठ-विषयक एक प्राचीन नियम उद्धृत है—

पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः।
अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति॥

इस नियम के अनुसार गार्ग्य के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप नहीं होता। शाकल्य और माध्यन्दिन के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप हो जाता है। हमने इस नियम के अनुसार सामवेद के पदपाठ

---

१. मि त्रम्, पृष्ठ १. मन्त्र ५। पुत् त्रस्य, पृष्ठ १८८, मन्त्र २।
२. पूर्व पृष्ठ १४८ टि० ६। ३. पूर्व पृष्ठ १४६ टि० १।
४. पूर्व पृष्ठ १४८ टि० ७।

को देखा। उस में पुनरुक्त पदों का पाठ सर्वत्र मिलता है। अतः सामवेद का पदपाठ गार्ग्यकृत ही है, इस में कोई सन्देह नहीं।

गार्ग्यकृत पदपाठ के विशेष नियमों के परिज्ञान के लिये हमारा सम्पादित **माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठः** के आरम्भ में पृष्ठ २४-२६ देखें।

श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अपने सुप्रसिद्ध वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ १५४ में सामवेदीय पदपाठ के कुछ पदों की यास्कीय निर्वचनों से तुलना की है। तदनुसार उन्होंने नैरुक्त और पदकार दोनों के एक होने की सम्भावना प्रदर्शित की है। हमने भी वैदिक यन्त्रालय अजमेर से सं० २००६ में प्रकाशित सामवेद के षष्ठ संस्करण का संशोधन करते समय सामवेदीय पदपाठ की अन्य पदपाठों और यास्कीय निर्वचनों के साथ विशेषरूप से तुलना की। उस से हम भी इसी परिणाम पर पहुंचे कि सामवेदीय पदकार और नैरुक्त गार्ग्य एक है।

३. **शालाक्य-तन्त्र**—सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के मतानुसार गार्ग्य धन्वन्तरि का शिष्य है।[1] उसने शालाक्य तन्त्र की रचना की थी। संभवतः वैद्य गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य दोनों एक व्यक्ति हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। एक गार्ग्य चरक सूत्रस्थान १।१० में भी स्मृत है।

४. **भू-वर्णन**– गार्ग्य ने भूवर्णन विषयक कोई ग्रन्थ लिखा था, उसी के अनुसार वायुपुराण ३४।६३ में **'मेरुकर्णिका'**–वर्णन प्रकरण में उसे **'ऊर्ध्ववेणीकृत'** दर्शाया है।

५. **तक्ष-शास्त्र**—आपस्तम्ब ने अपने शुल्बसूत्र में एक श्लोक उद्धृत किया है। टीकाकार करविन्दाधिप के मत में वह श्लोक गार्ग्य के तक्षशास्त्र का है।[2]

६. **लोकायत-शास्त्र**—गणपति शास्त्री ने अर्थशास्त्र की किसी प्राचीन टीका के अनुसार अपनी व्याख्या में लिखा है—**लोकायतं न्यायशास्त्रं, ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतम्**। भाग १, पृष्ठ २७।

१, पूर्व पृष्ठ १४६ टि० ३। २. वेदार्थावगमनस्य बहुविद्यान्तराश्रयत्वात् तक्षशास्त्रे गार्ग्यागस्त्यादिभिरङ्गुलिसंख्योक्तं रथपरिमाणश्लोकमुदाहरन्ति—अथापि···। मैसूर संस्क० पृष्ठ ६६।

७. **देवर्षि-चरित**—महाभारत शान्तिपर्व २१०।२१ में गार्ग्य को देवर्षिचरित का कर्ता कहा है।[1]

८. **साम-तन्त्र**—पं० सामव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र की भूमिका में गार्ग्य को सामतन्त्र का प्रवक्ता लिखा है। किसी हरदत्तविरचित सर्वानुक्रमणी में सामतन्त्र को औदव्रजि प्रोक्त कहा है।[2]

इन में निरुक्त, सामपदपाठ निश्चय ही वैयाकरण गार्ग्य कृत हैं, शेष ग्रन्थों के विषय में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

४—गालव (३१०० वि०पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख चार स्थानों में किया है।[3] पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ६।१।७७ में गालव का व्याकरण संबन्धी एक मत उद्धृत किया है।[4] इनसे विस्पष्ट है कि गालव ने कोई व्याकरणशास्त्र रचा था।

परिचय

गालव का कुछ भी परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। यदि गालव शब्द अन्य वैयाकरण नामों के सदृश तद्धितप्रत्ययान्त हो तो इसके पिता का नाम गलव वा गलु होगा। महाभारत शान्तिपर्व ३४२। १०३,१०४ में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव[5] को क्रमपाठ और शिक्षा का प्रवक्ता कहा है।[6] शिक्षा का संबन्ध व्याकरणशास्त्र के साथ है।

---

१. देवर्षिचरितं गार्ग्यः। चित्रशाला प्रैस पूना।

२. पूर्व पृष्ठ ६८। तथा इसी ग्रन्थ का दूसरा भाग अ० २८।

३. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य। अष्टा० ६।३।६१॥ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य। अष्टा० ७।१।७४॥ अड् गार्ग्यगालवयोः। अष्टा० ७।३।९९॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥

४. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। दधियत्र, दध्यत्र; मधुवत्र, मध्वत्र।

५. कई बाभ्रव्य पाञ्चाल और गालव को पृथक् मानते हैं। परन्तु हमारा मत है कि ये तीनों शब्द एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हैं। विशेष द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १९०–१९२ (द्वि०सं०)।

६. पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात्। बाभ्रव्यगोत्रः स बभूव प्रथमं क्रमपारगः॥ नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्। क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः॥

प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी ने भी शिक्षा-ग्रन्थों का प्रवचन किया है। तदनुसार यदि शिक्षा का प्रणेता पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव ही व्याकरणप्रवक्ता हो तो गालव का बाभ्रव्य गोत्र होगा और पाञ्चाल उसका देश। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गालव को धन्वन्तरि का शिष्य कहा है।[1] यदि यही गालव व्याकरणप्रवक्ता हो तो गालव का एक आचार्य धन्वन्तरि होगा।

अन्यत्र उल्लेख—निरुक्त[2] बृहद्देवता,[3] ऐतरेय आरण्यक[4] और वायु-पुराण[5] में गालव के मत उद्धृत हैं। चरक संहिता के प्रारम्भ में भी गालव का उल्लेख है।[6]

काल

अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख होने से निश्चित है कि वह पाणिनि से प्राचीन है। हमारे मत में महाभारत में उल्लिखित पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव ही शब्दानुशासन का प्रवक्ता है। यही निरुक्त-प्रवक्ता भी है। अतः उसका काल शौनक और भारत-युद्ध से प्राचीन है। बृहद्देवता १।२४ में गालव को पुराण कवि कहा है।[7] यदि धन्वन्तरि शिष्य गालव ही शब्दानुशासन का प्रवक्ता होवे तो गालव का काल धन्वन्तरि शिष्य गार्ग्य के समान (द्र० पृष्ठ १४९) विक्रम से लगभग साढे पाँच सहस्र वर्ष पूर्व होगा।

गालव व्याकरण

हम पूर्व (पृष्ठ १५२) गालव का एक मत उद्धृत कर चुके हैं—**इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्**। यह वचन पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ६।१।७३ में उद्धृत किया है। तदनुसार लोक में 'दध्यत्र मध्वत्र' के स्थान में 'दधियत्र मधुवत्र' प्रयोग भी साधु हैं। यह यण्व्यवधानपक्ष आचार्य पाणिनि से भी अनुमोदित है। पाणिनि ने 'भूवादयो धातवः'[8] सूत्र में वकार का व्यवधान किया है। हम इस विषय पर पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं।[9]

---

१. पूर्व पृष्ठ १४९ टि० ३। २. शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः।४।३॥
३. १।२४॥ ५।३९॥ ६।४३॥ ७।३८॥ ४. नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेदिति जातूकर्ण्यः। समापयेदिति गालवः। ५। ३। ३॥
५. शरावं चैव गालवः। ३४। ६३॥ ६. सूत्रस्थान १। १०॥
७. नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणा. कवयश्च ये। मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते॥ ८. अष्टा० १।३।१॥ ९. देखो पूर्व पृष्ठ २६,२७।

अन्य ग्रन्थ

१. **संहिता**—शैशिरि-शिक्षा के प्रारम्भ में गालव को शौनक का शिष्य और शाखा का प्रवर्तक कहा है।[1] शिक्षा का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है।

२, **ब्राह्मण**—देखो पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २ पृष्ठ ३०।

३. **क्रम-पाठ**—महाभारत शान्तिपर्व ३४२।११३ में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव को क्रमपाठ का प्रवक्ता कहा है।[2] ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ में इसे प्रथम क्रमप्रवक्ता लिखा है।[3]

४. **शिक्षा**—महाभारत शान्तिपर्व ३४२।१०४ के अनुसार गालव ने शिक्षा का प्रणयन किया था।[4]

५. **निरुक्त**—यास्क ने अपने निरुक्त ४।३ में गालव का एक निर्वचनसंबन्धी पाठ उद्धृत किया है।[5] उससे प्रतीत होता है कि गालव ने कोई निरुक्त रचा था। इस विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ पृष्ठ १७९-१८० देखें।

६. **दैवत ग्रन्थ**—बृहद्देवता में चार स्थान पर गालव का मत उद्धृत है।[6] उनमें से १। २४ में गालव को पुराण कवि कहा है।[7] यह मत निर्वचनसंबन्धी है। शेष तीन स्थान पर ऋचाओं के देवता संबन्धी मतों का निर्देश है। उनसे प्रतीत होता है कि गालव ने स्वप्रोक्त संहिता के किसी अनुक्रमणी ग्रन्थ का भी प्रवचन किया था।

---

१. मुद्गलो गालवो गार्ग्यः शाकल्यः शैशिरिस्तथा। पञ्च शौनकशिष्यास्ते शाखाभेदप्रवर्तकाः। वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ १८७, (द्वि० सं०) पर उद्धृत। श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अनेक पुराणों के आधार पर पाठ का संशोधन करके इसे शाकल्य का शिष्य माना है। वै० वा० इ० भाग १ पृ० १८७ (द्वि० सं०)॥

२. पूर्व पृष्ठ १५२ टि० ६।

३. इति प्र बाभ्रव्य उवाच क्रमं क्रमप्रवक्ता प्रथमं शशंस च। इसकी व्याख्या में उव्वट ने लिखा है—बाभ्रव्यो बभ्रुपुत्रो भगवान् पाञ्चाल इति।

४, पूर्व पृष्ठ १५२ टि० ६।

५. पूर्व पृष्ठ १५३ टि० ७।

६. पूर्व पृष्ठ १५३ टि० ३।

७: पूर्व पृष्ठ १५३ टि० ७।

७. **शालाक्य-तन्त्र**—धन्वन्तरि शिष्य गालव ने शालाक्य-तन्त्र की रचना की थी। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इसका निर्देश किया है।[1]

८. **कामसूत्र**—वात्स्यायन कामसूत्र १।१।१० में लिखा है पाञ्चाल बाभ्रव्य ने सात अधिकरणों में कामशास्त्र का संक्षेप किया था।[2]

९. **भू-वर्णन**—वायुपुराण ३४।६३ में मेरुकर्णिका के वर्णन में गालव का मत उल्लिखित है। तदनुसार उसके मत में मेरुकर्णिका का आकार 'शराव' के सदृश है—**शरावं चैव गालवः**। इस से प्रतीत होता है कि गालव का कोई भूवर्णन भी था। भूवर्णन ज्योतिष का अंग है। अतः सम्भव है गालव ने कोई ज्योतिष संहिता लिखी हो।

५—चाक्रवर्मण (३००० वि० पूर्व)

चाक्रवर्मण आचार्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी[3] तथा उणादिसूत्रों[4] में मिलता है। भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इसका एक मत उद्धृत किया है।[5] श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट के **'हेतौ वा'** सूत्र की वृत्ति में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है। इनसे इस का व्याकरणप्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वंश—चाक्रवर्मण पद अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार इस के पिता का नाम चक्रवर्मा था।[6] गुरुपद हालदार ने वायुपुराण के अनुसार चक्रवर्मा को कश्यप का पौत्र लिखा है।[7]

काल

यह आचार्य पाणिनि से प्राचीन है इतना निश्चित है। पञ्चपादी उणादि-सूत्र आपिशलि की रचना है, यह हम उणादि-प्रकरण में लिखेंगे। हम ऊपर लिख चुके हैं कि उणादि (३।१४४) में चाक्र-

---

१. पूर्व पृष्ठ १४६ टि० ३। २. सप्तभिरधिकरणैर्बाभ्रव्यः पाञ्चालः संचिक्षेप।

३. ई चाक्रवर्मणस्य। अष्टा० ६।१।१३०॥ ४. कपश्चाक्रवर्मणस्य। पञ्च० उ० ३।१४४॥ दश० उ० ७।११॥ ५. १।१।२७, अगले पृष्ठ की टि० १।

६. काशिका ६।४।१७०॥ ७. व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ५१६।

वर्मण का उल्लेख है। अतः इस का काल आपिशलि से भी पर्व अर्थात् विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य मानना होगा।

चाक्रवर्मण-व्याकरण

इस व्याकरण का अभी तक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

द्वय की सर्वनाम संज्ञा—पाणिनीय मतानुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। भट्टोजि दीक्षित ने माघ १२।१३ प्रयुक्त **'द्वयेषाम्'** पद में चाक्रवर्मण व्याकरणानुसार सर्वनामसंज्ञा का उल्लेख किया है। और **'नियतकालाः स्मृतयः'** इस नियम के अनुसार उसका असाधुत्व प्रतिपादन किया है।[1] इससे प्रतीत होता है कि चाक्रवर्मण आचार्य के व्याकरणानुसार द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी।

आधुनिक वैयाकरण 'नियतकालाः स्मृतयः' इस नियम के अनुसार पाणिनि आदि मुनित्रय के मत से शब्द के साधुत्व-असाधुत्व की व्यवस्था मानते हैं। यह मत वस्तुतः चिन्त्य है। यह हम पूर्व संकेतित कर चुके हैं।[2] महाभाष्य आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार का कोई वचन नहीं मिलता।

नियतकालाः स्मृतयः का अप्रामाण्य—पाणिनीय वैयाकरण सब शब्दों को नित्य मानते हैं।[3] ऐसी अवस्था में प्राचीनकाल में साधु माने हुए शब्द को उत्तर काल में असाधु मानना उपपन्न नहीं हो सकता। हां, यदि शब्दों को अनित्य मानें तो देश काल और उच्चारण भेद से शब्द के विकृत हो जाने पर उक्त व्यवस्था मानी जा सकती है, परन्तु ऐसी कल्पना करने पर दो दोष उपस्थित होते हैं। एक वैयाकरणों को अपने शब्दनित्यत्वरूपी मुख्य सिद्धान्त से हाथ धोना पड़ता है और विकृत शब्दों को साधु मानना पड़ता है। अतः इस प्रकार के नियमों की कल्पना करने पर सब से प्रथम स्व-

---

१. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् तद्रीत्या अयं प्रयोग इति, तदपि न। मुनित्रयमतेनेदानीं साध्वसाधुविभागः। तस्यैवेहानींतनशिष्टैर्वेदाङ्गतया परिगृहीतत्वात्। दृश्यन्ते हि नियतकालाः स्मृतयः। यथा कलौ पाराशरी स्मृतिरिति। शब्दकौ० १।१।२७॥

२. पूर्व पृष्ठ ३४ टि० २।

३. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १॥ सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते। महाभाष्य १।१।२०॥

सिद्धान्त की हानि तथा विकृत हुए शब्दों की साधुता स्वीकार करनी होगी। यदि 'नियतकालाः स्मृतयः' के नियम से प्रयोग की व्यवस्था मानी जाय अर्थात् अमुक शब्द अमुक समय में प्रयोगार्ह है अमुक समय में नहीं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस व्यवस्था के मानने पर **'अस्त्यप्रयुक्तः'**[1] के उत्तर में महाभाष्यकार ने जो विस्तार से शब्द के महान् प्रयोग विषय का उल्लेख किया है,[2] वह उपपन्न नहीं हो सकता। अतः नवीन लोगों का इस प्रकार के नियमों का बनाना चिन्त्य है।

वस्तुतः **नियतकालाः स्मृतय** नियम धर्मशास्त्र विषयक है। क्योंकि देश काल के अनुसार सामजिक नियमों में परिवर्तन होता रहता है। अतः तदनुसार स्मृतियों में भी कुछ-कुछ परिवर्तत होना स्वाभाविक है।

अब रही द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा। महाभाष्यकार ने **'द्वये प्रत्याया विधीयन्ते तिङः कृतश्च'**[3] इस वाक्य में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा मानी है। यद्यपि यहां द्वय पद को स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त मानकर **'प्रथमचरमतयाल्पार्ध०'**[4] सूत्र से जस्‌विषय में इस की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा मानी जा सकती है, तथापि आधुनिक वैयाकरणों के **'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'**[5] इस द्वितीय नियम से 'प्रथमचरम०' सूत्र से द्वय शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि महाभाष्यकार ने 'द्वय' पद में होने वाले **'अयच्'** को स्वतन्त्र प्रत्यय माना है[6] न कि तयप् का आदेश। अतः यहां 'प्रथमचरम०' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। महाभाष्यकार के मत में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती है यह पूर्व उद्धरण से व्यक्त है। इसीलिये चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में 'प्रथमचरम०' सूत्र में 'अय' अंश का प्रक्षेप करके **'प्रथमचरमतयायाल्पार्ध'**[7] ऐसा न्यासान्तर किया है।

---

१. महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १। २. 'महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः' आदि ग्रन्थ। महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १॥

३. महाभाष्य २।३।६५॥ ६।२।१३९॥ ४. अष्टा० १।१।३३॥

५. भाष्यप्रदीपविवरण ३।१।८०॥ ६. अयच् प्रत्ययान्तरम्। महाभाष्य १।१।४४,५६॥ ७. चान्द्र व्याक० २।१।१४॥ हेमचन्द्र ने भी 'अय' का पृथग्ग्रहण किया है। उदाहरण में त्रय शब्द की भी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा मानी है। देखो हैम बृहद्वृत्ति १।४।१०॥

'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस नियम में भी वे ही पूर्वोक्त दोष उपस्थित होते हैं, जो **'नियतकालाः स्मृतयः'** में दर्शाए हैं। आधुनिक वैयाकरणों के उपर्युक्त दोनों नियम शास्त्रविरुद्ध होने से अशुद्ध हैं, यह स्पष्ट है। अतः किसी भी शिष्टप्रयोग को इन नियमों के अनुसार अशुद्ध बताना दुःसाहसमात्र है। नवीन वैयाकरणों के इस मत की आलोचना प्रक्रियासर्वस्व के रचयिता नारायण भट्ट ने **'अपाणिनीय-प्रामाणिकता'** नामक लघु ग्रन्थ में भले प्रकार की है। वैयाकरणों को यह ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिये।[1]

प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शिष्ट-प्रयुक्त शब्दों के साधुत्व ज्ञान के लिए हमारा **'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयपदानां साधुत्वविवेचनम्'** निबन्ध[2] देखिए।

६—भारद्वाज (३००० वि० पूर्व)

भारद्वाज का उल्लेख पाणिनीय तन्त्र में केवल एक स्थान पर मिलता है।[3] अष्टाध्यायी ४।२।१४५ में भी भारद्वाज शब्द पाया जाता है,[4] परन्तु काशिकाकार के मतानुसार वह भारद्वाज पद देश-वाची है, आचार्यवाची नहीं।[5] भारद्वाज का व्याकरणविषयक मत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १७।३[6] और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य २।५।६ में मिलता है।

परिचय

भारद्वाज के पूर्व पुरुष का नाम भरद्वाज है। सम्भवतः यह भरद्वाज वही है जो इन्द्र का शिष्य दीर्घजीवी अनूचानतम भरद्वाज था।

चतुर्वेदाध्यायी—न्यायमञ्जरी में जयन्त भारद्वाज को चतुर्वेदा-ध्यायी कहता है।[7]

अनेक भारद्वाज—प्रश्नोपनिषद् ६।१ में सुकेशा भारद्वाज का उल्लेख है, यह हिरण्यनाभ कौसल्य का समकालिक है। बृहदारण्यक

---

१. यह ग्रन्थ 'ब्रह्मविलास मठ पेरुरकाडा ट्रिवेण्ड्रम्' से प्रकाशित हुआ है।

२. द्र०—वेदवाणी, वर्ष १४, अङ्क १,२,४,५।

३. ऋतो भारद्वाजस्य। अष्टा० ७।२।६३॥ ४. कृकर्णपर्णाद् भारद्वाजे।

५. भारद्वाजशब्दोऽपि देशवचन एव, न गोत्रशब्दः। काशिका ४।२।१४५॥

६. अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः। ७. चतुर्वेदाध्यायी भारद्वाज इति। पृष्ठ २५६, लाजरस प्रेस काशी।

उपनिषद् ४।१।५ में गर्दभीविपीत भारद्वाज का निर्देश है, यह याज्ञ-वल्क्य का समकालिक है। कृष्ण भारद्वाज का उल्लेख काश्यप संहिता सूत्रस्थान २७।३ में मिलता है। द्रोण भारद्वाज द्रोणाचार्य के नाम से प्रसिद्ध ही है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत है।[1] टीकाकारों के मतानुसार वे मत द्रोण भारद्वाज के हैं।

भारद्वाज देश—काशिकाकार जयादित्य के मतनुसार अष्टा-ध्यायी ४।२।१४५ में भारद्वाज देश का उल्लेख है। वायुपुराण ४५।११६ में उदीच्य देशों में भारद्वाज देश की गणना की है।[2]

काल

हम ऊपर अनेक भारद्वाजों का उल्लेख कर चुके हैं। अष्टा-ध्यायी में केवल गोत्रप्रत्ययान्त भारद्वाज शब्द से निर्देश किया है। अतः जब तक यह निर्णीत न हो कि वह कौन भारद्वाज है तब तक उसका कालज्ञान होना कठिन है। हमारे विचार में यह भारद्वाज दीर्घजीवीतम अनूचानतम वैयाकरण भरद्वाज बार्हस्पत्य का पुत्र द्रोण भारद्वाज है। द्रोणाचार्य की आयु भारतयुद्ध के समय ४०० वर्ष की थी, ऐसा महाभारत में स्पष्ट लिखा है।[3] पुनरपि पाणिनीय अष्टक में भारद्वाज का साक्षात् उल्लेख होने से निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह विक्रम से ३००० वर्ष प्राचीन अवश्य है।

भारद्वाज व्याकरण

इस व्याकरण के केवल दो मत ही प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उनसे इसके स्वरूप और परिमाण आदि के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। वाजसनेय प्रातिशाख्य अ० ८ के अन्त में आख्यातों को भारद्वाज-दृष्ट कहा है। उसका अभिप्राय मृग्य है।

भारद्वाज वार्तिक—महाभाष्य में बहुत स्थानों पर भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख मिलता है।[4] वे प्रायः कात्यायनीय वार्तिकों से मिलते हैं और उनकी अपेक्षा विस्तृत तथा विस्पष्ट हैं। हमारा

---

१. १।७॥ १।१५॥ १।१६॥ ५।६॥ ८।३॥

२. वयसाऽशीतिपञ्चकः (८०×५=४००)। द्रोण पर्व १२५।७३; १९२।६४॥ विशेष द्र०—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ १५० (द्वि० सं०)।

३. आत्रेयाश्च भरद्वाजाः प्रस्थलाश्च कसेरुकाः।

४. महाभाष्य १।१।२०,५६॥ ३।१।९८॥ इत्यादि।

विचार है ये मारद्वाजीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखे गये हैं। इसके कई प्रमाण वार्तिककार भारद्वाज प्रकरण में लिखेंगे।

अन्य ग्रन्थ

आयुर्वेद संहिता—भारद्वाज ने कायचिकित्सा पर एक संहिता रची थी। इसके अनेक उद्धरण आयुर्वेद के टीकाग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

अर्थशास्त्र—चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[1] टीकाकारों के मतानुसार वे द्रोण भारद्वाज के हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

७—शाकटायन (३००० वि० पूर्व)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शाकटायन का उल्लेख तीन बार किया है।[2] वाजसनेयप्रातिशाख्य[3] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[4] में भी इस का अनेक स्थानों में निर्देश मिलता है। यास्क ने अपने निरुक्त में वैयाकरण शाकटायन का मत उद्धृत किया है।[5] पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में शाकटायन को व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता कहा है।[6]

परिचय

वंश—महाभाष्य ३।३।१ में शाकटायन के पिता का नाम शकट लिखा है।[7] पाणिनि ने शकट शब्द नडादिगण[8] में पढ़ा है। वैयाकरणों के मतानुसार शकट उस के पितामह का नाम होना चाहिये, परन्तु वैयाकरणों की गोत्राधिकार की वर्तमान व्याख्या सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास गोत्र-प्रवराध्याय से न केवल विपरीत ही है अपितु गोत्रा-

---

१. पूर्व पृष्ठ १५६ टि० १।　　२. लङः शाकटायनस्यैव। अष्टा० ३।४।१११॥ व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य। अष्टा० ८।३।१८॥ त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य। अष्टा० ८।४।५०॥

३. ३।६,१२,८७॥ इत्यादि॥　　४. १।१६॥ १३।३६॥

५. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१२॥

६. व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य ३।३।१॥ वैयाकरणानां शाकटायनो……। महाभाष्य ३।२।११५॥　　७. व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।　　८. नडादिभ्यः फक्। अष्टा० ४।१।९९॥

धिकार प्रत्ययों का अनन्तरापत्य में दृष्ट प्रयोगों की उपपत्ति में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है अतः यह व्याख्या त्याज्य है। गोत्राधिकार विहित प्रत्यय अनन्तर अपत्य में भी होते हैं, और पौत्र-प्रभृति अपत्यों के लिए इन्हीं गोत्राधिकार विहित प्रत्ययों का प्रयोग होता है, अन्य प्रत्ययों का नहीं। इतना ही शास्त्रकार पाणिनि का अभिप्राय है।[1]

वर्धमान ने शकट का अर्थ **शकटमिव भारक्षमः** किया है।[2]

शाकटायन और काण्व—अनन्तदेव ने शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य ४।१२९ के भाष्य में पुराण के अनुसार शाकटायन को काण्व का शिष्य कहा है और पक्षान्तर में उसे ही काण्व बताया है।[3] पुनः शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य ४।१९१ के भाष्य में लिखा है कि शाकटायन काण्व पर्याय है मत युक्त नहीं है।[4] संस्काररत्नमाला में भट्ट गोपीनाथ ने गोत्रप्रवर प्रकरण में दो शाकटायनों का उल्लेख किया है। एक वाध्र्यश्ववंश्य[5] और दूसरा काण्ववंश्य।[6] इन से इतना निश्चित है कि शाकटायन का संबन्ध काण्व वंश के साथ अवश्य है। हमारा विचार है शुक्लयजुःप्रातिशाक्य और अष्टाध्यायी में स्मृत शाकटायन काण्व-वंश का है। यदि यह बात प्रमाणान्तर से और पुष्ट हो जाय तो शाकटायन का समय निश्चित करने में बहुत सुगमता होगी।

मत्स्य पुराण १९६।४४ के निर्देशानुसार कोई शाकटायन गोत्र आङ्गिरस भी है।

आचार्य—हम ऊपर लिख चुके हैं कि अनन्तदेव पुराणानुसार शाकटायन को काण्व का शिष्य मानता है। परन्तु शैशिरि शिक्षा के

---

१. इस का सोपपत्तिक वर्णन हम अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या में करेंगे। २. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १४९। ३. असौ पदस्य वकारो न लुप्यते असस्थाने स्वरे परे शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। काण्वशिष्यः सः, पुराणे दर्शनात्। तेन शिष्याचार्ययोरेकमतत्वात् काण्वमतेनाप्ययमेव। यद्वा शाकटायन इति काण्वाचार्यस्यैव नामान्तरमुदाहरणम्।

४. यद्वा सुपदेऽशाकटायनः इति अप्रश्लेषेण सूत्रं व्याख्यायते। नेदं काण्वमतमिति कैश्चिदुक्तम्, शाकटायन इति शब्दस्य काण्वपर्यायत्वात् 'परिण इति शाकटायनः' (वा० प्र० ३।८७) इत्यादौ तथा दृष्टत्वादिति निरस्तम्।

५. संस्काररत्नमाला पृष्ठ ४३०। ६. संस्काररत्नमाला पृष्ठ ४३७।

प्रारम्भ में उसे शैशिरि का शिष्य कहा है—

शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च ।[1]

यद्यपि इस श्लोकांश और एतत्सहपठित अन्य श्लोकों का पाठ बहुत भ्रष्ट अशुद्ध है, तथापि इतना व्यक्त होता है कि शाकटायन शैशिरि या उस के शिष्य का शिष्य था । इन श्लोकों की प्रामाणिकता अभी विचारणीय है। तथा इस में किस शाकटायन का उल्लेख है यह भी अज्ञात है।

पुत्र—वामन काशिका ६।२।१३३ में 'शाकटायनपुत्र' उदाहरण देता है। यही उदाहरण रामचन्द्र और भट्टोजि दीक्षित ने भी दिया है।

जीवन की विशिष्ट घटना—शाकटायन के जीवन की एक घटना महाभाष्य ३।२।११५ में इस प्रकार लिखी है—

अथवा भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते । तद्यथा—वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यन्तं नोपलेभे ।

अर्थात्—जागता हुआ भी कोई पुरुष वर्तमान काल को नहीं ग्रहण करता । जैसे रथमार्ग पर बैठे हुए वैयाकरणों में श्रेष्ठ शाकटायन ने सड़क पर जाते हुए गाड़ियों के समूह को नहीं देखा ।

महाभाष्य में इस घटना का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि शाकटायन के जीवन की यह कोई महत्त्वपूर्ण और लोकपरिज्ञात घटना है । अन्यथा इसका उदाहरण रूप से उल्लेख न होता ।

श्रेष्ठत्व– काशिका १।४।८६ में एक उदाहरण है—'**अनुशाकटायनं वैयाकरणाः**' अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं। काशिका १।४।८८ में इसी भाव का दूसरा उदाहरण '**उपशाकटायनं वैयाकरणाः**' मिलता है ।

श्रेष्ठता का कारण—निरुक्त १।१२ तथा महाभाष्य ३।३।१ से विदित होता है कि वैयाकरणों में शाकटायन आचार्य ही ऐसा था जो सम्पूर्ण नाम शब्दों को आख्यातज मानता था ।[2] निश्चय ही शाक-

---

१. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र जिल्द ४, भाग १ सी, सन् १९२८, पृष्ठ ५४६, ६६।

२. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । निरुक्त । नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । महाभाष्य ।

टायन ने किसी ऐसे महत्त्वपूर्ण व्याकरण की रचना की थी, जिस में सब शब्दों की धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई गई थी। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कारण ही शाकटायन को वैयाकरणों में श्रेष्ठ माना गया।

शाकटायन के मत की आलोचना—गार्ग्य को छोड़कर सब नैरुक्त आचार्य समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानते हैं। निरुक्त १।१२, १३ के अवलोकन से विदित होता है कि तात्कालिक वैकाकरण शाकटायन और नैरुक्तों के इस मत से असहमत थे। उन्होंने इस मत की कड़ी आलोचना की थी। निरुक्त की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने **शाकटायनोऽतिपाण्डित्याभिमानात्** ऐसा लिखा है। यास्क ने उन वैयाकरणों की आलोचना को पूर्वपक्षरूप में रख कर उसका युक्तियुक्त उत्तर दिया है।[1] पूर्वपक्ष में शाकटायन के सत्य[2] शब्द के निर्वचन को व्यङ्ग्यरूप से उद्धृत किया है।[3] इसका समुचित उत्तर करते हुए यास्क ने लिखा है—यह शाकटायन की निर्वचनपद्धति का दोष नहीं है, अपितु उस व्यक्ति का दोष है जो इस युक्तियुक्त पद्धति को भले प्रकार नहीं जानना।[4]

अन्यत्र उल्लेख—वाजसनेयप्रातिशाख्य और ऋक्प्रातिशाख्य में शाकटायन के मत के मत उद्धृत हैं यह हम पूर्व लिख चुके। शौनक चतुरध्यायी २।२४ और ऋक्तन्त्र १।१ में भी शाकटायन के मत निर्दिष्ट हैं।

चतुरध्यायी के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ के कौत्सीय पाठ में लिखा है—

> **समासावग्रहविग्रहान् पदे यथोवाच छन्दसि ।**
> **शाकटायनः, तथा प्रवक्ष्यामि चतुष्टयं पदम् ॥**[5]

---

१. देखो निरुक्त १।१४॥ २. दुर्गमतानुसार। स्कन्द की व्याख्या दुर्गाचार्य से भिन्न है। स्कन्द की व्याख्या युक्त है। ३. अथानन्वितेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च। निरुक्त १।१३॥

४. योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः, सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा। निरुक्त १।१४। तथा इसकी दुर्ग और स्कन्दव्याख्या।

५. द्र०—न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, सितम्बर १६३८, पृष्ठ ३६१।

बृहद्देवता में शाकटायन के मतों का उल्लेख बहुत मिलता है।[3] वे प्रायः दैवतविषयक हैं। बृहद्देवता २।६५ में शाकटायन का एक उपसर्गविषयक मत उद्धृत है। बृहद्देवताकार ने कहीं कोई भेदक विशेषण नहीं दिया। अतः उसके ग्रन्थ में उद्धृत सब मत निश्चय ही एक शाकटायन के हैं। केशव ने अपने नानार्थार्णवसंक्षेप में शाकटायन को बहुत उद्धृत किया है। उसने एक स्थान पर शाकटायन का विशेषण **आदिशाब्दिक** दिया है।[4] हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि में भी शाकटायन का एक वचन उद्धृत है।[5] चतुर्वर्गचिन्तामणि के अतिरिक्त सर्वत्र निर्दिष्ट शाकटायन एक ही व्यक्ति है यह निश्चित है। बहुत सम्भव है हेमाद्रि द्वारा स्मृत शाकटायन भी भिन्न व्यक्ति न हो।

काल

यास्क ने शाकटायन का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। यास्क का काल विक्रम से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व निश्चित है। यदि शाकटायन काण्व का शिष्य हो वा स्वयं काण्वशाखा का प्रवक्ता हो तो निश्चय ही इस का काल विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा। ३००० वि० पूर्व तो अवश्य है।

शाकटायन व्याकरण का स्वरूप

शाकटायन व्याकरण अनुपलब्ध है। अतः वह किस प्रकार का था, यह हम विशेषरूप से नहीं कह सकते। इस व्याकरण के जो मत विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत हैं, उन से इस विषय में जो प्रकाश पड़ता है वह इस प्रकार है—

लौकिक वैदिक पदान्वाख्यान—निरुक्त, महाभाष्य और प्रातिशाख्यों के पूर्वोक्त प्रमाणों से व्यक्त है कि इस व्याकरण में लौकिक वैदिक उभयविध पदों का अन्वाख्यान था। चतुरध्यायी के पूर्वनिर्दिष्ट (पृष्ठ १६३) कौत्सीय पाठ से विदित होता है कि शाक-

---

१. बृहद्देवता २।१,६५।। ३।१५६॥ ४।१३८।। ६।४३।। ७।६६।। ८।११, ६०।। २. शाकटायनसूरिस्तु व्याचष्टे स्मादिशाब्दिकः ।। ६२ ।। भाग २, पृष्ठ ६। ३. यत्तूक्तविरुद्धार्थं शाकटायनवचनम्—'जलाग्निभ्यां विपन्नानां संन्यासे वा गृहे पथि। श्राद्धं न कुर्वीत तेषां वै वर्जयित्वा चतुर्दशीम्' इति। चतुर्वर्गचिन्तामणि श्राद्धकल्प पृष्ठ २१५, एशियाटिक सो० संस्क०।

टायन ने पदपाठस्थ अवग्रह आदि निदर्शक प्रातिशाख्यसदृश कोई छन्दःसम्बन्धी ग्रन्थ रचा था।

नागेश की भूल—नागेश भट्ट ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत के प्रारम्भ में लिखा है—शाकटायन व्याकरण में केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान था।[1] प्रतीत होता है उसने अभिनव जैनशाकटायन व्याकरण को प्राचीन आर्ष शाकटायन व्याकरण मान कर यह पंक्ति लिखी है। नागेश के लेख में स्ववचनविरोध भी है। वह महाभाष्य ३।३।१ के विवरण में पञ्चपादि उणादि सूत्रों को शाकटायन प्रणीत कहता है।[2] पञ्चपादी उणादि में अनेक ऐसे सूत्र हैं जो केवल वैदिक शब्दों के व्युत्पादक हैं।[3] इतना ही नहीं, प्रातिशाख्यों में शाकटायन के व्याकरणविषयक अनेक ऐसे मतों का उल्लेख है[4] जो केवल वेदविषयक हैं। अतः शाकटायन व्याकरण में केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान मानना नागेश की भारी भूल है। पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायनविरचित हैं वा नहीं, इस विषय में हम उणादि प्रकरण में लिखेंगे।[5]

शब्दनिर्वचनप्रकार—निरुक्त १।१३ के '**एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च**' के दुर्गाचार्य कृत व्याख्यान से विदित होता है कि शाकटायन ने सत्य शब्द की निरुक्ति '**इण् गतौ**' तथा '**अस् भुवि**' इन दो धातुओं से की थी। दुर्गाचार्य इसी प्रकरण में लिखा है—शाकटायन आचार्य ने कई पदों की सिद्धि अनेक धातुओं से की थी और कई पदों की एक एक धातु से।[6]

---

१. किं लौकिकशब्दमात्रं शाकटायनादिशास्त्रमधिकृतम्। नवाह्निक पृष्ठ ६, कालम १, निर्णयसागर संस्क०। २. एवं च कृत्वा 'कृवापा' इत्युणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्। ३. १।२॥ २।८०,८७,१०१, १०३. ११६॥ ३।६६॥ ४।१२०, १४१, १४७, १७०, २२१॥ ४. ऋक्प्रातिशाख्य १।१६॥ १३।३६॥ वाज० प्राति० ३।६.१२ ८८॥ ४।५,१२६,१६१॥

५. हमने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस से प्रकाशित दशपादी-उणादिवृत्ति के उपोद्घात में भी इस विषय पर विशेष विचार किया है।

६. शाकटायनाचार्योऽनेकैश्च धातुभिरेकमभिधानमनुविहितवान् एकेन चैकम्। निरुक्त टीका १।१३॥ निरुक्त के इस प्रकरण की दुर्ग व्याख्या खींचातानी पूर्ण है। सम्भव है उसने यह व्याख्या उपनिषदों में अपकृत् निर्दिष्ट

स्कन्द की व्याख्यानुसार शाकटायन ने 'इण्' धातु से कारित (=णिच्=इ) प्रत्यय और 'अस्' के सकार से केवल स् (=सु-प्रथमैकवचन) और सकारादि सन् आदि प्रत्ययों की कल्पना की थी।

अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति—नाम पदों की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति केवल शाकटायन आचार्य ने नहीं की, अपितु शाकपूणि आदि अनेक प्राचीन नैरुक्त आचार्य इस प्रकार की व्युत्पत्ति करते थे।[1] ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों में भी इस प्रकार की अनेक व्युत्पत्तियां उपलब्ध होती हैं। यथा—

हृदय—**तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकमक्षरम्, हरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरम्, ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं लोकं य एवं वेद।**[2]

भर्ग—**भ इति भासयतीमाँल्लोकान्, र इति रञ्जयतीमानि भूतानि, ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः। तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः।**[3]

शब्दों का त्रिविधत्व—न्यासकार जितेन्द्र बुद्धि ३।३।१ में लिखता है—

तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति।[4]

अर्थात् शाकटायन के मत में शब्द तीन प्रकार के हैं। जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द। यदृच्छा शब्द उसके मत में नहीं हैं। महाभाष्यकार ने यदृच्छा शब्दों की सत्ता स्वीकार करके भी सिद्धान्त रूप से **न सन्ति यदृच्छाशब्दाः** स्वीकार किया है।[5] मीमांसक भी यदृच्छा शब्दों को स्वीकार नहीं करते। द्र०—लोकवेदाधिकरण १।३। अधि० १०।

सत्ये त्रीण्यक्षराणि पाठ से भ्रान्त होकर की होगी। निरुक्त के इस प्रकरण की ठीक व्याख्या स्कन्द स्वामी ने की है, वह द्रष्टव्य है। दुर्ग की व्याख्या में तो निरुक्त-पदों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता।

१. अग्निः—त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः इतादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकामादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः। निरुक्त ७।१४॥

२. शत० १४।८।५।१॥

३. मैत्रायण्यारण्यक ६।७॥

४. तुलना करो—प्रक्रिया कौमुदी भाग २, पृष्ठ ६०० के पाठ के साथ।

५. द्र०—ऋलृक् सूत्रभाष्य।

२३ उपसर्ग—२० उपसर्ग प्रायः सब आचार्यों को सम्मत हैं। परन्तु शाकटायन आचार्य 'अच्छ' 'श्रद्' और 'अन्तर्' इन तीन को भी उपसर्ग मानता है। इस विषय में बृहद्देवता २। ९५ में शौनक लिखता है—

> **अच्छ श्रदन्तरित्येतान् आचार्यः शाकटायनः।**
> **उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते तु त्रयोऽधिकाः॥**

पाणिनि ने 'अच्छ' 'श्रत्' और 'अन्तर्' की केवल गति संज्ञा मानी है। कात्यायन ने 'श्रत्' और 'अन्तर्' शब्द को उपसर्ग संज्ञा का भी विधान किया है।[२]

शाकटानन के अन्य ग्रन्थ

१, दैवत ग्रन्थ—हम पूर्व लिख चुके हैं कि शौनक ने बृहद्देवता में शाकटायन के देवता विषयक अनेक मत उद्धृत किये हैं। अतः प्रतीत होता है शाकटायन ने ऋग्वेद की किसी शाखा की देवतानुक्रमणी सदृश कोई ग्रन्थ रचा था।

२. निरुक्त—इस के लिए कौण्ड भट्ट कृत वैयाकरणभूषणसार की काशिका व्याख्या पृष्ठ २६३ देखना चाहिए।

३. कोष—केशव ने अपने नानार्थार्णवसंक्षेप में शाकटायन के कोषविषयक अनेक उद्धरण दिये हैं,[३] जिन से विदित होता है कि शाकटायन ने कोई कोष ग्रन्थ भी रचा था।

४. ऋक्तन्त्र—नागेश भट्ट लघुशब्देन्दुशेखर के प्रारम्भ में ऋक्तन्त्र को शाकटायन-प्रणीत कहता है।[६] सामवेदीय सर्वानुक्रमणी के रचयिता किसी हरदत्त का भी यही मत है।[४] भट्टोजि दीक्षित और अर्वाचीन पाणिनीय शिक्षा के दोनों टीकाकार ऋक्तन्त्र को आचार्य औदव्रजि-विचित मानते हैं।[४]

५. लघु-ऋक्तन्त्र—किन्हीं के मत में यह शाकटायनप्रणीत है, परन्तु यह ठीक नहीं है। इस में पृष्ठ ४६ पर पाणिनि का उल्लेख

---

२. श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम्। महाभाष्य १।४।५८॥ अन्तःशब्दास्याङ्किविधिसमासणत्वेषूपसंख्यानम्। महाभाष्य १।४।६४॥

३, श्वश्रूः श्वशुरयोषिति। पितृस्वसारस्त्वस्यार्थं व्याचष्टे शाकटायनः। भाग १, पृष्ठ १९॥ इत्यादि। ४. देखो पूर्व पृष्ठ ६८ टि० २।

मिलता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुसार शाकटायन पाणिनि से प्राचीन है।

६ **सामतन्त्र**—कई इसे शाकटायन कृत मानते हैं,[1] कई गार्ग्य कृत[1]। सामवेदानुक्रमणी का कर्ता हरदत्त इसे औदव्रजिविरचित मानता है।[1]

७. **पञ्चपादी-उणादिसूत्र**—श्वेतवनवासी[2] तथा नागेश भट्ट[3] आदि कतिपय अर्वाचीन वैयाकरण पञ्चपादी उणादि को शाकटायन-विरचित मानते हैं। नारायण भट्ट[4] आदि कतिपय विद्वान् इसे पाणिनीय स्वीकार करते हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि शाकटायन अनेक धातुओं से एक पद की व्युत्पत्ति दर्शाता है, परन्तु समस्त पञ्चपादी उणादि में एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जिस की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शाई हो। अतः ये उणादि सूत्र शाकटायन-प्रणीत नहीं हैं। इस पर विशेष विचार उणादि के प्रकरण में किया है।

श्राद्धकल्प—हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि में शाकटायन के श्राद्ध-कल्प का एक वचन उद्धृत किया है।[5] यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है। अतः इस के विषय में हम कुछ विशेष नहीं जानते।

इन ग्रन्थों में से प्रथम दो ग्रन्थ वैयाकरण शाकटायन विरचित प्रतीत होते हैं। शेष ग्रन्थों का रचयिता सन्दिग्ध है।

२—शाकल्य (३१०० वि० पूर्व)

पाणिनि ने शाकल्य आचार्य का मत अष्टाध्यायी में चार बार उद्धृत किया है।[6] शौनक[7] और कात्यायन[8] ने भी अपने प्रातिशाख्यों में शाकल्य के मतों का उल्लेख किया है। ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ६८ टि० ४। २. येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी विरचिता। उणादिवृत्ति पृष्ठ १,२। ३. पूर्व पृष्ठ १६५ टि० २।

४. अकारमुकुरस्त्यादौ उकारं दर्दुरस्य च। बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट्। उणादिवृत्ति पृष्ठ १०। ५. पूर्व पृष्ठ १६४ टि० ३।

६. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा० १।१।१६॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। अष्टा ६।१।१२७॥ लोपः शाकल्यस्य। अष्टा० ८।३।१६॥ सर्वत्र शाकल्यस्य।८।४।५१॥ ७. ऋक्प्राति० ३।१३,२२॥ ४।१३॥ इत्यादि। ८. वाज० प्राति० ३।१०॥

के नाम से उद्धृत समस्त नियम शाकल्य के ही हैं।[१] महाभाष्यकार ने ६। १। १२७ में शाकल्य के नियम का शाकल नाम से उल्लेख किया है।[२] लक्ष्मीधर ने गार्हस्थ्य काण्ड पृष्ठ १६९ में शाकल्य के किसी व्याकरण संबन्धी नियम की ओर संकेत किया है।[३]

शाकल्य का शाकल नामान्तर से भी क्वचित् उल्लेख मिलता है।[४] इस नाम में 'शकल' से औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय जानना चाहिये।

परिचय

शाकल्य पद तद्धितप्रत्यायान्त है, तदनुसार शाकल्य के पिता का नाम शकल था। पाणिनि ने शकल पद गर्गादिगण[५] में पढ़ा है।

अनेक शाकल्य—संस्कृत वाङ्मय में शाकल्य,[६] स्थविर शाकल्य[७] विदग्ध शाकल्य[८] और वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य[९] ये चार नाम उपलब्ध होते है। पाणिनीय सूत्रपाठ में स्मृत शाकल्य और ऋग्वेद का पदकार वेदमित्र शाकल्य निश्चय ही एक व्यक्ति है, क्योंकि ऋक्पदपाठ में व्यवहृत कई नियम पाणिनि ने शाकल्य के नाम से उद्धृत किये हैं।[१०] ऋक्प्रातिशाख्य पटल २ सूत्र ८१, ८२ की उव्वट व्याख्या के अनुसार शाकल्य और स्थविर शाकल्य भिन्न भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।[११] जिस विदग्ध शाकल्य के साथ याज्ञ-

---

१. ऋक्प्राति० ६।१४,२०,२७ इत्यादि। २. सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधो वक्तव्यः। इस वार्तिक में अष्टा ६।१।१२७ में निर्दिष्ट शाकल्य मत का प्रतिषेध किया है।

३. हारीत सूत्र 'जातपुत्राययाधानम्' को उद्धृत करके लक्ष्मीधर लिखता है—जातपुत्रायाधानमित्यत्र जातपुत्रशब्दः प्रथमाबहुवचनान्तः शाकल्यमताश्रयेण यकारपाठः। अर्थात् 'जातपुत्राः आधानम्' में शाकल्य मत से विसर्ग को यकार होगया है। ४. पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः। कात्या० प्राति० ४। १७७, १८१ टीका में उद्धृत प्राचीन श्लोक।

५. गर्गादिभ्यो यञ्। अष्टा० ४। १। १०५॥

६. देखो यही पृष्ठ १६६ टि० ७। ७. ऋक्प्राति० २।८१॥

८. शतपथ १४।६।९।१॥ ९. ऋक्प्राति० १।५१॥ वायुपुराण ६२।६३ पूना सं०। विष्णु पुराण ३।४।२०॥ ब्रह्माण्ड पुराण ३५।१॥ बंबई संस्क०। १०. अष्टा० १।१।१६,१७,१८ के नियम।

११. तासां शाकल्यस्य स्थविरस्य मतेन किञ्चिदुच्यते। ऋक्प्राति० टीका २।८१॥ इतराऽस्माकं शाकलानां स्थितिः। ऋक्प्राति० टीका २।८२॥

वल्क्य का जनकसभा में शास्त्रार्थ हुआ था वह भी भिन्न व्यक्ति है। वायु (अ० ६०।३२) आदि पुराणों में वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य को याज्ञवल्क्य का प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है। कई शाकल्य को ऐतरेय महीहास से भी पूर्ववर्ती मानते है। यह ठीक नहीं है (द्र० पृष्ठ १६८)।

शाकल्य और शौनकों का संबन्ध

पाणिनि ने कार्तकौजपादि गण (६।२।३७) में **शाकलशुनकाः** पद पढ़ा है। काशिकाकार के मतानुसार यहां शाकल्य के शिष्यों और शुनक के पुत्रों का द्वन्द्व समास है। इस उदाहरण से विदित होता है कि शाकल्य शिष्यों और शुनक पुत्रों (शौनकों) का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध था। सम्भव है इसी कारण शौनक ने शाकल चरण का प्रातिशाख्य तथा अनुवाकानुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी आदि १० अनुक्रमणियां लिखी हों।

काल

पाणिनि ने ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक को उद्धृत किया है।[1] शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल्य तथा उस के व्याकरण के मत उद्धृत किये हैं।[2] शौनक ने महाराज अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में नैमिषीयारण्य में किये गये किसी द्वादशाह सत्र में ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन किया था।[3] अतः शौनक का काल विक्रम से लगभग २९०० वर्ष पूर्व निश्चित है। तदनुसार शाकल्य उससे भी प्राचीन व्यक्ति है। महाभारत अनुशासनपर्व १४ में सूत्रकार शाकल्य का उल्लेख है, वह वैयाकरण शाकल्य प्रतीत होता है। शाकल्य ने शाकल चरण तथा उसके पदपाठ का प्रवचन किया था।

महिदास ऐतरेय ने ऐतरेय ब्राह्मण का प्रवचन किया है। अष्टाध्यायी ४।३।१०५ के **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'** सूत्र की काशिकादि वृत्तियों के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण पाणिनि को दृष्टि में पुराणप्रोक्त है। इस की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से भी होती है। छान्दोग्य ३।१६।६ में लिखा है— **'एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः······ स ह षोडशवर्षशत-**

---

१. शौनकादिभ्यश्छन्दसि। अष्टा० ४।३।१०६॥ २. पूर्व १६८ पृष्ठ, टि० ७। ३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३७३ (द्वि० सं०)।

मजीवत्'[1]। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४।२।११ में भी लिखा है—'**एतद्ध तद्विद्वान् ब्राह्मण उवाच महिदास ऐतरेयः......स ह षोडश-वर्षशतं जिजीव**'। इव उद्धरणों में '**आह**' '**उवाच**' और '**जिजीव**' परोक्षभूत की क्रियाओं का उल्लेख है। इन से प्रतीत होता है कि महिदास ऐतरेय छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के प्रवचन से बहुत पूर्व हो चुका था। छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् का प्रवचन विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष हुआ था। अतः महिदास ऐतरेय विक्रम से ३५०० वर्ष पूर्व अवश्य हुआ होगा। ऐतरेय ब्राह्मण १४।५ में एक पाठ है—

यदस्य पूर्वमपरं यद्वास्यापरं तद्वास्य पूर्वम्। अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति।

इस वचन के आधार पर शाकल्य का काल महिदास ऐतरेय से प्राचीन मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐतरेय आरण्यक के पंचम प्रपाठक के समान ऐतरेय ब्राह्मण की अन्तिम दो पञ्जिकाए अर्वाचीन हैं। उन्हें शौनक प्रोक्त माना जाता है। इतना ही नहीं, ऐतरेय ब्राह्मण का वर्तमान प्रवचन भी शौनक द्वारा परिष्कृत है। अतः जब तक किसी दृढ़तर प्रमाण से यह प्रमाणित न हो जावे कि ऐतरेय ब्राह्मण का उक्त पाठ ऐतरेय का ही प्रवचन है, परिष्कर्ता शौनक का नहीं, तब तक इस वचन के आधार पर शाकल्य को ऐतरेय से प्राचीन नहीं माना जा सकता।

ऐतरेय ब्राह्मण के वचन का अर्थ—सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के उपर्युक्त वचन का अर्थ न समझ कर लिखा है—शाकल शब्द सर्प विशेष का वाची है। शाकल नाम के सर्प की जैसी गति है वैसे ही अग्निष्टोम की है।[2] षडगुरुशिष्य का भी यही भाव है।[3] ये दोनों व्याख्याएं नितान्त अशुद्ध हैं। यहां उक्त वचन का अभिप्राय इतना ही है कि शाकल चरण के आदि और अन्त अर्थात् उपक्रम और उप-

---

१. गङ्गानाथ झा ने **षोडशशतम्** का अर्थ १६०० वर्ष किया है। यह अशुद्ध है। इस का कारण संस्कृतभाषा के वाग्व्यवहार को न जानना है। शुद्ध अर्थ ११६ वर्ष है।

२. शाकल्यशब्दः सर्पविशेवाची । शाकलनाम्नोऽहेः सर्पविशेषस्य यथा सर्पणं गमनं तथैवायमग्निष्टोमः। ३. सर्पः शाकलनामा तु बालं दृष्ट्वा दुवं मुखे। चक्रवन्मण्डलीभूतः सर्पनहिः परिदृश्यते॥

संहार के समान होने से उस की गति अर्थात् आद्यन्त की प्रतीत नहीं होती। शाकल चरण के प्रथम मण्डल में १९१ सूक्त हैं और दशम मण्डल में भी १९१ सूक्त हैं। यही उपक्रम और उपसंहार की समानता यहां अग्निष्टोम से दर्शाई है।

हमारे विचार में आचार्य शाकल्य का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व है।

शाकल्य का व्याकरण

पाणिनि और प्रातिशाख्यों में उद्धृत मतों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शाकल्य के व्याकरण में लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था।

कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय का जो सूचीपत्र बड़ोदा की गायकवाड़ ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है, उसमें शाकल व्याकरण का उल्लेख है।[1] सम्भव है वह कोई अर्वाचीन ग्रन्थ हो।

कई विद्वानों का मत है कि शाकल्य ने कोई व्याकरणशास्त्र नहीं रचा था। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने शाकल्यकृत ऋक्पदपाठ से उन नियमों का संग्रह किया है। यह मत अयुक्त है। पाणिनि आदि ने शाकल्य के कई ऐसे मत उद्धृत किये हैं जिनका संग्रह पदपाठ से नहीं हो सकता। यथा—**इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च**[2], **कुमारी अत्र**। यहां संहिता में प्रकृतिभाव तथा ह्रस्वत्व का विधान है। पदपाठ में संहिता का अभाव होता है। अतः ऐसे नियम उसके व्याकरण से ही संगृहीत हो सकते हैं।

अन्य ग्रन्थ

शाकल चरण—पुराणों में वेदमित्र शाकल्य को शाकल चरण की पांच शाखाओं का प्रवक्ता लिखा है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य ४।४ में शौनक ने '**विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते**'[4] आदि में श्रूयमाण छकारादेश का विधान शाकल्य के पिता के नाम से किया है।[5] इससे स्पष्ट है कि शाकल्य ने ऋग्वेद की प्राचीन संहिता का केवल प्रवचन मात्र

---

१. पृष्ठ ३। २. अष्टा० ६।१।१२७॥

३. वेदमित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तमः। चकार संहिताः पञ्च बुद्धिमान् पदवित्तमः॥ वायुपुराण ६०।६३॥ ४. ऋ० ३।३३।१॥

५. सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानैः शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्।

किया है, परिवर्तन नहीं किया। अन्यथा इस नियम का उल्लेख उसके पिता के नाम से नहीं होता।

पदपाठ—शाकल्य ने ऋग्वेद का एक पदपाठ रचा था। उस का उल्लेख निरुक्त ६।२८ में मिलता है।[1] वायुपुराण ६०।६३ में वेदमित्र शाकल्य को **पदवित्तम** कहा है।[2] इस से स्पष्ट है कि शाकल चरण प्रवर्तक ने ही पदपाठ की रचना की है। ऋग्वेद के पदपाठ में व्यवहृत कुछ विशिष्ट नियम[3] पाणिनि ने '**संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञः ऊँ**'[4] सूत्रों में उद्धृत किये हैं। अतः वैयाकरण शाकल्य और शाकल चरण तथा उसके पदपाठ का प्रवक्ता निस्संदेह एक व्यक्ति है। शाकल्यकृत पदसंहिता का उल्लेख महाभाष्य १।४।८४ में मिलता है।[5] शाकल्यकृत पदपाठ का एक नियम शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के व्याख्याकार उव्वट ने उद्धृत किया है।[6]

चरणव्यूह परिशिष्ट के व्याख्याता महिदास के मतानुसार शाकल्य ने ऋग्वेद के **संहिता, पद, क्रम, जटा और दण्ड-पाठ** का वात्स्यादि शिष्यों के लिये प्रवचन किया था।[7] क्या वायुपुराण ६०। ६३ में कही गई पांच संहिताएं ये ही हैं? संदेह का कारण यह है इन पाठों के लिये भी **पद-संहिता, क्रम-संहिता** आदि का प्रयोग होता है।

माध्यन्दिन पदपाठ—इस पदपाठ का प्रवचन भी शाकल्यकृत है। ऐशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के पुस्तकालय में एक माध्यन्दिन संहिता के पदपाठ का हस्तलेख विद्यमान है। उसके अन्त में उसे शाकल्यकृत लिखा है। अन्य साक्ष्य के अभाव में अनुसंधाता लोग इसे प्रमाद पाठ मानकर उपेक्षा करते रहे। परन्तु जब हमें सं० २०२० में हमारे मित्र श्री पं० मदनमोहन व्यास (केकड़ी-राजस्थान) ने वि० सं० १४७१ का लिखा संपूर्ण पदपाठ हमें दिया तब हमें यह

---

१. वा इति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्त त्वेवमाख्यातमभविष्यत्।

२. पूर्व पृष्ठ १७२, टि० ३।

३. वायो इति १।२।१। ऊँ इति १।२४।३॥ ४. अष्टा० १।१।१६-१८॥

५. शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्।

६. देखो पूर्व पृष्ठ १५०। ७. शाकल्यः संहिता-पद-क्रम-जटा-दण्डरूपं च पञ्चधा व्यासं कृत्वा वात्स्यमुद्गलशालीयगोसत्यशिशिरेभ्यो ददौ। चौखम्बा-सीरीजमुद्रित शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अन्त में। पृष्ठ ३।

देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उसके अंतिम १० अध्यायों के अन्त में शाकल्यकृते का स्पष्ट निर्देश विद्यमान है। यह पदपाठ कुछ अवान्तर नियमों में भिन्नता रखता है। हमने माध्यन्दिन संहिता के पदपाठ का जो संशोधित संस्करण छापा है उस में इस विषय पर विस्तार से विवचना की है। हमारा मत है कि माध्यन्दिन पदपाठ भी शाकल्य कृत है।

९—सेनक (२९५० वि० पूर्व)

पाणिनि ने सेनक आचार्य का उल्लेख केवल एक सूत्र में किया है।[1] अष्टाध्यायी से अतिरिक्त इस आचार्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अतः इसके विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

१०—स्फोटायन=औदुम्बरायण (२९५० वि० पूर्व)

आचार्य स्फोटायन का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक स्थान पर उद्धृत है।[2] इस के अतिरिक्त इस का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

परिचय

पदमञ्जरीकार हरदत्त काशिका ३।१।१२३ की व्याख्या में लिखता है—

स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते।[3]

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में यह आचार्य वैयाकरणों के महत्त्वपूर्ण स्फोट तत्त्व का उपज्ञाता था। अत एव वह वैयाकरण-निकाय में स्फोटायन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस का वास्तविक नाम अब ज्ञात हो चुका है वह है। **औदुम्बरायण**। अतः यह पक्ष चिन्त्य है। द्वितीय पक्ष (स्फौटायन पाठ) में इस के पूर्वज का नाम स्फोट था। स्फोट या स्फौटायन का उल्लेख हमें किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिला।

---

१. गिरेश्च सेनकस्य। अष्टा० ५।४।११॥

२. अवङ् स्फोटायनस्य। अष्टा० ६।१।१२३॥

३. पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ४८४।

आचार्य हेमचन्द्र अपने अभिधानचिन्तामणि कोश में लिखता है—**स्फोटायने तु कक्षीवान्**।[२] इसी प्रकार केशव भी नानार्थार्णवसंक्षेप में—'**स्फोटायनस्तु कक्षीवान्**'[३] लिखता है। इन उद्धरणों से इतना व्यक्त होता है कि स्फोटायन कक्षीवान् का नाम था। क्या यहां कक्षीवान् पद से उशिक्-पुत्र कक्षीवान् अभिप्रेत है?

नाम का निश्चय—हेमचन्द्र और केशव के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि इस आचार्य का स्फोटायन नाम ठीक है, न कि स्फौटायन।

वैमानिक-आचार्य—भरद्वाज आचार्य कृत यन्त्रसर्वस्व अन्तर्गत वैमानिक प्रकरण के प्रकाश में आने से स्फोटायन भी विमानशास्त्र-विशेषज्ञ के रूप में प्रकट हुए हैं। भरद्वाज का एक सूत्र है—

चित्रिण्येवेति स्फोटायनः।

इस की व्याख्या में लिखा है—

तदुक्तं शक्तिसर्वस्वे—वैमानिकगतिवैचित्र्यादिद्वात्रिंशतिक्रियायोगे एकैव चित्रिणी शक्त्यलमिति शास्त्रे निर्णीतं भवति इत्यनुभवतः शास्त्राच्च मन्यते स्फोटायनाचार्यः।[३]

इस सूत्र और व्याख्या से स्पष्ट है कि स्फोटायन आचार्य एक महान् वैज्ञानिक आचार्य था।

काल

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्फोटायन का निर्देश होने से यह आचार्य विक्रम से २९५० वर्ष प्राचीन है, यह स्पष्ट है। यदि हेमचन्द्र और केशव का लेख ठीक हो और कक्षीवान् से उशिक्-पुत्र कक्षीवान् अभिप्रेत हो तो इसका काल इस से कुछ अधिक प्राचीन होगा। भरद्वाजीय विमानशास्त्र में स्फोटायन का उल्लेख होने से भी स्फोटायन का काल प्राचीन सिद्ध होता है। भरतमिश्र ने स्फोट-तत्त्व के प्रतिपादक का नाम **औदुम्बरायण** लिखा है।[४] क्या कक्षीवान् और औदुम्बरायण

---

१. पृष्ठ ३४०। २. पृष्ठ ८३, श्लोक १३६।

३. बृहद् विमानशास्त्र, श्री स्वामी ब्रह्ममुनि सम्पादित, पृष्ठ ७४।

४, भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि······अपलपितम्। स्फोटसिद्धि पृष्ठ १।

का परस्पर कुछ संबन्ध सम्भव हो सकता है? यास्क ने अपने निरुक्त १।२ में औदुम्बरायण का मत उद्धृत किया है।[1] वहां टीकाकारों के मतानुसार औदुम्बरायण के मत मे शब्द का अनित्यत्व दर्शाया गया है। परन्तु वाक्यपदीय २।३४३ से ज्ञात होता है कि औदुम्बरायण आचार्य शब्द नित्यत्ववादी है। वह एक अखण्ड वाक्य स्फोट का प्रतिपादन करता है। इस दृष्टि से निरुक्त में प्रदर्शित दोष अखण्ड वाक्य स्फोट में भी तदवस्थ ही रहते हैं। अतः भर्तृहरि के मतानुसार निरुक्त टीकाकारों की व्याख्या अशुद्ध जाननी चाहिये। भर्तृहरि का एतद्विषयक वचन इस प्रकार है—

वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च शाश्वतम्।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ॥

वाक्य० २।३४३॥

इस सिद्धान्त का विशद प्रतिपादन प्रथमवार डा० सत्यकाम वर्मा ने अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ ११९-१२२) किया है।

स्फोट-तत्त्व

यदि हरदत्त की प्रथम व्याख्या ठीक हो तो निश्चय ही वैयाकरणों के स्फोटतत्त्व का उपज्ञाता यही आचार्य होगा। स्फोटवाद वैयाकरणों का प्रधानवाद है। उनके शब्द नित्यत्ववाद का यही आधार है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के लेखानुसार स्फोट द्रव्य है, ध्वनि उस का गुण है।[2] नैयायिक और मीमांसक स्फोटवाद का खण्डन करते हैं। स्फोटवाद अत्यन्त प्राचीन है। भागवत पुराण १७।७५।९ में भी स्फोट का उल्लेख मिलता है।

भरद्वाजीय विमान शास्त्र में स्फोटायन आचार्य का मत निर्दिष्ट होने से हमें इसमें सन्देह होता था कि स्फोटायन नाम का कारण वैयाकरणीय स्फोट पदार्थ है। हमारा विचार था कि यह नाम विमान के किसी विशिष्ट प्रकार के स्फोट से उत्पन्न अयन=गति का उपज्ञाता होने के कारण उक्त नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। अर्थात् उसने विमानों

---

१. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।

२. एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः। १।१।७०॥

की गति विशेष के लिए किसी विशिष्ट प्रकार के स्फोट अथवा स्फोटक द्रव्यों का प्रथमतः प्रयोग किया होगा।

यह हमारा अनुमानमात्र था, परन्तु अब भर्तृहरि के ऊपर उद्धृत वचन से यह स्पष्ट सा हो गया है कि आचार्य स्फोटायन सम्भवतः शाब्दिकों में प्रसिद्ध स्फोट तत्त्व का आद्य उपज्ञाता था।

अध्याय का उपसंहार

इस अध्याय में पाणिनीय तन्त्र में स्मृत १० दश आचार्यों का वर्णन किया है। पूर्व अध्याय में वर्णित आचार्यों को मिलाकर पाणिनि से प्राचीन २६ छबीस वैयाकरण आचार्यों का उल्लेख प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होता है।

अब अगले अध्याय में भारतीय वाङ्मय में सुप्रसिद्ध आचार्य पाणिनि और उसके शब्दानुशासन का वर्णन करेंगे।

पांचवां अध्याय

पाणिनि और उसका शब्दानुशासन

(२६०० विक्रम पूर्व)

संस्कृत भाषा के जितने प्राचीन आर्ष व्याकरण बने, उन में सम्प्रति एकमात्र पाणिनीय व्याकरण साङ्गोपाङ्ग रूप में उपलब्ध होता है। यह प्राचीन आर्ष वाङ्मय की एक अनुपम निधि है। इस से देववाणी का प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वाङ्मय सूर्य के आलोक की भांति प्रकाशमान है। इस की अत्यन्त सुन्दर, सुसम्बद्ध और सूक्ष्मतम पदार्थ को द्योतित करने की क्षमतापूर्ण रचना को देखने वाला प्रत्येक विद्वान् इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगता है। भारतीय प्राचीन आचार्यों के सूक्ष्मचिन्तन सुपरिपक्व ज्ञान और अद्भुत प्रतिभा का निदर्शन कराने वाला यह अनुपम ग्रन्थ हैं। इस से देववाणी परम गौरवान्वित है। संसार भर में किसी भी इतर प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाषा का ऐसा परिष्कृत व्याकरण आज तक नहीं बना।

परिचय

पाणिनि के नामान्तर—त्रिकाण्डशेष में पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के निम्न पर्याय लिखे हैं[1]—

(१) पाणिन, (२) पाणिनि, (३) दाक्षीपुत्र, (४) शालङ्कि, (५) शालातुरीय, (६) आहिक।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के याजुष-पाठ में **(७) पाणिनेय**[2] नाम भी उपलब्ध होता है। यशस्तिलक चम्पू में **(८) पणिपुत्र**[3] शब्द का भी व्यवहार मिलता है।

---

१. पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालङ्किपाणिनौ। शालोत्तरीयः······ । तुलना करो—सालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिकः। वैजयन्ती, पृष्ठ ९५।

२. दाक्षीपुत्रः पाणिनेयो येनेदं व्याहृतं भुवि। पृष्ठ ३८।

३. पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु। आश्वास २, पृष्ठ २३६।

१. **पाणिन**—इस नाम का उल्लेख काशिका ६।२।१४ तथा चान्द्रवृत्ति २।२।६८ में मिलता है।[1] यह **पणिन्** नकारान्त शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस का निर्देश अष्टाध्यायी ६।४।१६५ में भी मिलता है।[2]

'पाणिनीय' शब्द की मूल प्रकृति भी **पाणिन** अकारान्त शब्द है। उस से 'छ' (ईय) प्रत्यय होकर 'पाणिनीय' प्रयोग उपपन्न होता है।[3] अतः महाभाष्य में निर्दिष्ट **पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्** वचन अर्थ प्रदर्शन परक है, विग्रह प्रदर्शक नहीं है। इकारान्त **पाणिनि** शब्द से **इञश्च** (४।२।११२) के नियम से प्रोक्तार्थ में अण् प्रत्यय होकर **पाणिन** शब्द उपपन्न होता है। यथा आपिशलि और काशकृत्स्नि शब्दों से 'आपिशलम्' और 'काशकृत्स्नम्' शब्द उपपन्न होते हैं।[4] भट्टोजिदीक्षित ने 'पाणिनि' शब्द से 'पाणिनीय' की उपपत्ति दर्शाई है, वह चिन्त्य है। तुलना करो—

पाणिन (छ) = **पाणिनीय**, पाणिनि (अण्) = **पाणिन**।
आपिशल (छ) = **आपिशलीय**, आपिशलि (अण्) = **आपिशल**।
काशकृत्स्न (छ) = **काशकृत्स्नीय**, काशकृत्स्नि (अण्) = **काशकृत्स्न**।

२. **पाणिनि**—यह ग्रन्थकार का लोकविश्रुत नाम है। इस नाम की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरणों में दो मत हैं—

(क) 'पणिन्' से अपत्यार्थ में अण् होकर 'पाणिन', उस से पुनः अपत्यार्थ में 'इञ्' होकर 'पाणिनि' प्रयोग निष्पन्न होता है।[5]

१, पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। तुलना करो—पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः। काशिका ४।६।८६॥ २. गाथिविदथिगणिपणिनश्च।

३, पाणिनीयमिति—पाणिनशब्दात् वृद्धाच्छः (४।२।११४) इति छः। न्यास ४।३।१०१।। ४. आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निशब्दाभ्यामिञश्च] (४।२।१–२) इत्यण्। न्यास ४।३।१०१।। इस पर विशेष विचार काशकृत्स्न के प्रकरण में (पृष्ठ १०७) कर चुके हैं। 'आपिशलीयम', 'काशकृत्स्नीयम्' शब्द अकारान्त आपिशल और काशकृत्स्न से निष्पन्न होते हैं। ५. पणिनोऽपत्यमित्यण् पाणिनः। पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः। कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।१।७३॥ पणिनो गोत्रापत्यं पाणिनः, तस्यापत्यं पाणिनिः। बालमनोरमा भाग १ पृष्ठ ३६२ (लाहौर संस्करण)।

(ख) 'पणिन्' नकारान्त का पर्याय 'पणिन' अकारान्त स्वतन्त्र शब्द है। उस से अत इञ् (४।१।९५) के नियम से 'इञ्' होकर पाणिनि शब्द उपपन्न होता है।[1] पाणिनि के लिए प्रयुक्त 'पणिपुत्र' शब्द भी इसी का ज्ञापक है कि पाणिनि 'पणिन्' (नकारान्त) का अपत्य है, 'पाणन' का नहीं। 'पणिन्' नकारान्त से भी बह्वादि (४।१।९६) आकृतिगणत्व से इञ् प्रत्यय सम्भव है।

हमारे विचार में द्वितीय मत अधिक युक्त है। क्योंकि गोत्र-प्रकरणों में पाणिन और पाणिनि दोनों ही नाम गोत्ररूप में स्मृत हैं।[2] प्रथम पक्ष मानने पर 'पाणिन' गोत्र होगा और 'पाणिनि' युवा। यदि ऐसा होता तो युवप्रत्ययान्त 'पाणिनि' का गोत्ररूप से उल्लेख न होता।

यदि 'पाणिन' 'पाणिनि' को क्रमशः गोत्र और युव प्रत्ययान्त माने तब भी प्राचीन व्यवहार के अनुसार माता पिता के जीवित रहते हुए युव प्रत्ययान्त नामों से व्यवहृत होते हैं, किन्तु उन के स्वर्गवास के पश्चात् गोत्र प्रत्ययान्त का ही प्रयोग होता है। यही प्रमुख कारण है कि एक व्यक्ति के युव-गोत्र प्रत्ययान्त दो-दो नाम प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा—कात्यायन कात्य।

३. **पाणिनेय**—इस का प्रयोग श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के याजुष पाठ में ही उपलब्ध होता है, और वह भी पाठान्तर रूप में। इस शिक्षा की शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका में लिखा है—

पाणिनेय इति पाठें शुभ्रादित्वं कल्प्यम्।

अर्थात्—पाणिनेय प्रयोग की सिद्धि शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३) सूत्र निर्दिष्ट गण को आकृति गण मानकर करनी चाहिए।[3]

४. **पणिपुत्र**—इस का प्रयोग यशस्तिलक चम्पू में मिलता है।

---

१. पणिनः मुनिः। पाणिनिः पणिनः पुत्रः। काशकृत्स्न धातुव्याख्यान १।२०६। तथा यही ग्रन्थ १।४८०॥ दोनों स्थानों पर अकारान्त पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। २. इस पर विशेष विचार अनुपद ही किया जायगा।

३. द्र०—चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ आकृतिगणतामस्य बोधयति—गाङ्गेयः पाण्डवेय इत्येवमादि सिद्धं भवति। काशिका ४।१।१२३॥

५. दाक्षीपुत्र— इस नाम का उल्लेख महाभाष्य[1], समुद्रगुप्तविरचित कृष्णचरित[2] और श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा[3] में मिलता है।

६. शालङ्कि—यह पितृव्यव्यपदेशज नाम है ऐसा म० म० पं० शिवदत्त शर्मा का मत है।[4] पाणिनि के लिए इस पद का प्रयोग कोश ग्रन्थों से अन्यत्र हमें उपलब्ध नहीं हुआ। पैलादिगण (२।४।६६) में 'शालङ्कि' पाठ सामर्थ्य से शलङ्कु को शलङ्क आदेश और इञ् होता है।[5]

पैलादि गण २।४।५६ में पठित शालङ्कि पद का पाणिनि के साथ संबन्ध है अथवा नहीं, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, परन्तु इतना निश्चित है कि वह प्राग्देशीय गोत्र नहीं था।[6] महाभाष्य ४।१।६०, १६५ में **शालङ्केर्यूनश्छात्राः शालङ्काः** पाठ उपलब्ध होता है। यहां शालङ्कि पद अष्टाध्यायी २।४।५६ के नियम से शालङ्कि के अपत्य का वाचक है। शालङ्कि का अपत्य शालङ्कायन और उसका अपत्य शालङ्कायनि कहा जाता है। ऐसा काशकृत्स्न धातुपाठ के टीकाकार चन्नवीर कवि का कथन है।[7] काशकृत्स्न धातुपाठ में शलकि (ङ्क) स्वतन्त्र धातु पढ़ी है।[8] शालङ्कायन-प्रोक्त ग्रन्थ के अध्ययन करने वाले शालङ्कायनियों का निर्देश लाटयायन श्रौत में उपलब्ध होता है।

एक शालङ्कायन गोत्र कौशिक अन्वय में भी है।[9] इस गोत्र के व्यक्ति राजन्य हैं।[10] काशिका ४।३।१२५ तथा ६।२।३० में **बाभ्रव्य-**

---

१. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः १।१।२०॥

२. दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः। मुनिकविवर्णन श्लोक १६।

३. शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते। श्लोक ५६।

४. महाभाष्य नवाह्निक, निर्णयसागर संस्क० भूमिका पृष्ठ १४।

५. पैलादिपाठ एव ज्ञापक इञो भावस्य। काशिका ४।१।६६॥

६. अन्ये पैलादय इञन्तास्तेभ्यः 'इञः प्राचाम्' इति लुकि सिद्धेऽप्रागर्थः पाठः। काशिका २।४।५६॥ इसी प्रकार तत्त्वबोधिनी में भी लिखा है।

७. शलङ्कः—ब्रह्मणः पुत्रः। शालङ्किः—शलङ्कस्य पुत्रः। शालङ्कायनः—शलङ्केः पुत्रः। शालङ्कायनिः—शालङ्कायनस्य पुत्रः (काश० धातुव्याख्यानम् १।४६४॥

८. क श० धातु० १।४६४॥

९. शलङ्कु शलङ्कं चेत्यत्र पठ्यते···गोत्रविशेषे कौशिके फकं स्मरन्ति। काशिका ४।१।६६॥

१०. शालङ्कायना राजन्याः। काशिका ४।३।११०॥

शालङ्कायनिका उदाहरण द्वारा बाभ्रव्यों और शालङ्कायनियों का विरोध प्रदर्शित कराया है। बाभ्रव्य भी कौशिक अन्वय में हैं।[1] अतः ये शालङ्कायनि कौशिक ही होंगे। काशिका ५।१।५८ में शालङ्कायनियों के तीन विभागों का निर्देश मिलता है।[2]

७. **शा (सा) लातुरीय**—पाणिनि के लिए इस नाम का निर्देश वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के संवत् ३१० के ताम्रशासन,[3] भामह के काव्यालंकार,[4] काशिकाविवरण-पञ्जिका (न्यास)[5] तथा गणरत्नमहोदधि[6] में मिलता है।

८. **आहिक**—इस नाम के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं और न ही इस का प्रयोग कोश से अन्यत्र हमें उपलब्ध हुआ।

वंश—हम पूर्व लिख चुके हैं कि पं० शिवदत्त शर्मा ने पाणिनि का शालङ्कि नाम पितृ-व्यपदेशज माना है और पाणिनि के पिता का नाम शलङ्क लिखा है।[7] गणरत्नावली में यज्ञेश्वर भट्ट ने भी शालङ्कि के पिता का नाम शलङ्क ही लिखा है।[8] कैयट[9] हरदत्त[10] और वर्धमान[11] शालङ्कि का मूल शलङ्कु मानते हैं।

हरदत्त ने पाणिनि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाई है—

पणोऽस्यास्तीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः।[12]

यही व्युत्पत्ति कैयट आदि अन्य व्याख्याता भी मानते हैं।[13]

वैयाकरणों की भूल—उत्तरकालीन कैयट हरदत्त आदि सभी वैयाकरण लक्षणैकचक्षु[13] बन गए। उन्होंने यथाकथमपि लक्षणानुसार शब्दसाधुत्व बताने की ही चेष्टा की, लक्ष्य पर उन्होंने कोई ध्यान

---

१. मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः। अष्टा० ४।१।१०६॥

२. त्रिकाः शालङ्कायनाः।

३. राज्यसालातुरीयतन्त्रयोरुभयोरपि निष्णातः।

४. सालातुरीयपदमेतदनुक्रमेण। ६। ६२॥

५. शालातुरीयेण प्राक् ठञश्छ इति नोक्तम्। न्यास ५।१।१॥ भाग २, पृष्ठ ३॥

६. शालातुरीयस्तत्र भवान् पाणिनिः। पृष्ठ १।

७. भूमिका, महा० नवा० निर्णयसागर संस्क०, पृष्ठ १४।

८. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १२२।

९. महाभाष्य-प्रदीप ४।१।९०॥

१०. पदमञ्जरी २।४।५९॥

११. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ११५।

१२. पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ १४। १३. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ १७६, टि० ५।

नहीं दिया। हम पूर्व लिख चुके हैं कि **पाणिन** और **पाणिनि** दोनों नाम एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।[1] ऐसी अवस्था में पाणिन को पाणिनि का पिता बताना साक्षात् ऐतिह्यविरुद्ध है। इतना ही नहीं, जिस पाणिनि शब्द को ये वैयाकरण युवप्रत्ययान्त कहते हैं वह तो गोत्रप्रवर प्रकरण में गोत्ररूप से पठित है।[2] इसलिए पाणिनि का पिता पाणिन नहीं, अपितु **पणिन्** ही है और इसी का दूसरा रूप **पणिन** अकारान्त है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।२० में पाणिनि का **दाक्षीपुत्र** नाम से स्मरण किया है।[3] दाक्षी पद गोत्रप्रत्ययान्त 'दाक्षी' का स्त्रीलिङ्ग रूप है। इस से व्यक्त होता है कि पाणिनि की माता दक्ष-कुल की थी।

मातृबन्धु—संग्रहकार व्याडि का एक नाम दाक्षायण है।[4] तदनुसार वह पाणिनि का मामा का पुत्र=ममेरा भाई होना चाहिए। परन्तु काशिका ६।२।६९ के **कुमारीदाक्षाः** उदाहरण में दाक्षायण को ही दाक्षि नाम से स्मरण किया है। अतः प्राचीन पद्धति के अनुसार दाक्षि और दाक्षायण दोनों ही नाम संग्रहकार व्याडि के हैं। इसलिए संग्रहकार व्याडि पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा ही है, यह निश्चित है। व्याडि पद क्रौडयादि गण (४।१।८०) में पढ़ा है, तदनुसार व्याडि की भगिनी दाक्षी का नाम **व्याडया** भी है। पाणिनि की माता दाक्षी के लिए व्याडया का प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ। इसी नाम परम्परा के अनुसार पाणिनि के नाना अर्थात् दाक्षी के पिता का नाम **व्यड** था।

अनुज=पिङ्गल—कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका में छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता पिङ्गल को पाणिनि का अनुज लिखा है।[5] श्लोकात्मक पाणिनीय की शिक्षाप्रकाश नाम्नी व्याख्या के रचियता का भी यही मत है।[6]

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ १७८–१८०। २. देखिए इसी प्रकरण में पाणिनि गोत्र, पृष्ठ १८८। ३. दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। १।१।२०॥

४. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। महा० २।३।६६॥

५. तथा च सूच्यते भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः' (९७) इति परिभाषा। पृष्ठ ७०। ६. ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनेजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते। शिक्षासंग्रह, काशी संस्क० पृष्ठ ३८५।

इस प्रकार पाणिनि के पूरे वंश का चित्र इस प्रकार बनता है—
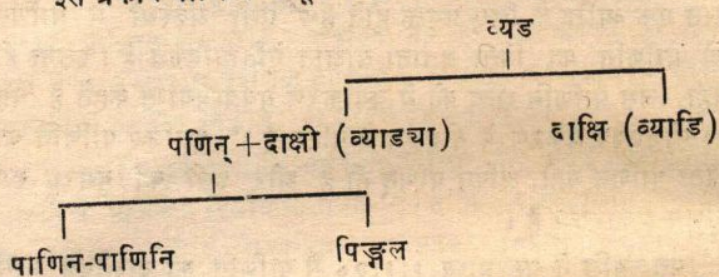
आचार्य—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में दो स्थानों पर बहुवचनान्त आचार्य पद का निर्देश किया है।[1] हरदत्त का मत है कि पाणिनि बहुवचनान्त आचाय पद से अपने गुरु का उल्लेख करता है।[2] ऐतरेय आरण्यक,[3] शांखायन आरण्यक,[4] हारीत धर्मसूत्र,[5] यास्कीय निरुक्त,[6] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य,[7] ऋक्तन्त्र,[8] पातञ्जल महाभाष्य,[9] कौटल्य अर्थशास्त्र,[10] वात्स्यायन कामसूत्र[11] और कामन्दकीय नीतिसार[12] आदि में बहुवचनान्त आचार्य पद का व्यवहार बहुधा मिलता है, परन्तु वह अपने गुरु के लिये व्यवहृत हुआ है यह अनिश्चित है। महाभाष्य में एक स्थान पर कात्यायन के लिये और तीन स्थानों पर पाणिनि के लिये बहुवचनान्त आचार्य पद प्रयुक्त हुआ है।[9] कथासरित्सागर आदि के अनुसार पाणिनि के गुरु का नाम

---

१. अष्टा० ७।३।४६।। ८।४।५२।। २. आचार्यस्य पाणिनेर्य आचार्यः स इहाचार्यः, गुरुत्वाद् बहुवचनम्। पद० भाग २, पृष्ठ ८२१।

३. ३।२।६।। ४. नान्तेवासिने ब्रूयात्……नाप्रवक्त्र इत्याचार्याः।८।११।। ५. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्याचार्याः। उद्धृत कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकाण्ड, पृष्ठ ११६।

६. मध्यममित्याचार्याः।७।२२।। ७. आदिरस्योदात्तसम इत्याचार्याः।१।४६।। ८. वायुं प्रकृतिमाचार्याः। पृष्ठ १।

९. नह्याचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।१।१।आ० १।। तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तते आचार्याणाम्।१।१।आ० २।। इहेङ्गितेन चेष्टितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते।६।१।३७।। ८।२।३।।

१०. १।४।। २।९।। ३।४, ५, ७ इत्यादि ३६ स्थानों पर।

११. १।२।२१।। १।३।७ इत्यादि १० स्थानों पर। १२. ८।५८।।

'वर्ष' था।[1] वर्ष का अनुज 'उपवर्ष' था। एक उपवर्ष जैमिनीय सूत्रों का वृत्तिकार था।[2] एक उपवर्ष धर्मशास्त्रों में स्मृत है।[3]

हमारे विचार में जैमिनीय सूत्र-वृत्तिकार और धर्मशास्त्रों में स्मृत उपवर्ष एक ही है। यह उपवर्ष जैमिनि से कुछ ही उत्तरकालीन है। अवन्तिसुन्दरीकथासार में वर्ष और उपवर्ष का तो उल्लेख है, परन्तु उसमें पाणिनि का उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन वैयाकरण महेश्वर को पाणिनि का गुरु मानते हैं, परन्तु इस में कोई प्रमाण नहीं है। कथासरित्सागर की कथाएं ऐतिहासिक दृष्टि से पूरी प्रामाणिक नहीं हैं। अतः पाणिनि के आचार्य का नाम सन्दिग्ध है। हां, यदि कथासरित्सागर में स्मृत उपवर्ष भी प्राचीन जैमिनीय-वृत्तिकार और धर्मशास्त्रों में स्मृत उपवर्ष ही हो और उसी का भाई वर्ष हो तो उसे पाणिनि का आचार्य माना जा सकता है। उस अवस्था में कथासरित्सागरकार का इन वर्ष उपवर्ष को नन्दकालिक लिखना भ्रान्तिमूलक मानना पड़ेगा। कई आधुनिक विद्वान् भी पाणिनि का काल नन्द से प्राचीन मानते हैं।

शिष्य=कौत्स—पातञ्जल महाभाष्य ३।२।१०८ में एक उदाहरण है—**उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्**। इसी सूत्र पर काशिका वृत्ति में दो उदाहरण और दिये हैं—**अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, उपशुश्रूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्**। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि कोई कौत्स पाणिनि का शिष्य था। जैनेन्द्र आदि व्याकरण की वृत्तियों में भी गुरु-शिष्यसम्प्रदाय का इस प्रकार उल्लेख मिलता है।[4] एक कौत्स निरुक्त १।१५ में उद्धृत है।[5]

---

१. अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत्॥ कथा० लम्बक १, तरङ्ग ४, श्लोक २०।

२. शाबरभाष्य १।१।५॥ केशव, कौशिकसूत्र टीका, पृष्ठ ३०७। सायण, अथर्वभाष्योपोद्घात पृष्ठ ३५। प्रपञ्चहृदय पृष्ठ ३८।

३. तथा च प्रवरमञ्जरीकारः शिष्टसम्मतिमाह—शुद्धाङ्गिरो गर्गमये कपयः पठिता अपि। आचार्यैरुपवर्षाद्यैर्भरद्वाजाः स्मृरेव ते। द्विविधानपि गर्गांस्तानुपवर्षो महामुनिः। अनुक्रम्य त्ववैवाह्यान् भरद्वाजतया जगौ। वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, पृष्ठ ६१३, ६१४ में उद्धृत।

४. जैनेन्द्र व्या० महानन्दिवृत्ति २।२।८८, ६६॥

५. यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थको भवतीति कौत्सः।

गोभिल गृह्यसूत्र,[1] आपस्तम्ब धर्मसूत्र,[2] आयुर्वेदीय कश्यपसंहिता[3] और सामवेदीय निदानसूत्र[4] में भी किसी कौत्स का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद की शौनकीय चतुरध्यायी भी कौत्सकृत मानी जाती है।[5] एक वरतन्तुशिष्य कौत्स रघुवंश ५।१ में निर्दिष्ट है।[6] पाणिनि शिष्य कौत्स इन से भिन्न है। क्योंकि रघुवंश के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में कौत्स स्मृत है, वे सब पाणिनि से पूर्वभावी हैं।

कात्यायन—नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर से ध्वनित होता है कि कात्यायन पाणिनि का साक्षात् शिष्य है। पतञ्जलि के साक्षात् शिष्य न होने से उसने त्रिमुनि उदाहरण को चिन्त्य यहा है अथवा प्रकारान्तर से उपपत्ति दर्शाई है।[7] हमारा भी यही विचार है कि वार्तिककार वररुचि कात्यायन पाणिनि का साक्षात् शिष्य है। इस विषय पर विशेष कात्यायन के प्रकरण में लिखेंगे।

अनेक शिष्य—काशिका ६।२।१०४ में पाणिनि के शिष्यों को दो विभागों में बांटा है—**पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः**। महाभाष्य १।४।१ में पतञ्जलि ने भी लिखा है- **उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः, केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति**। इस से भी विदित होता है कि पाणिनि के अनेक शिष्य थे और उसने अपने शब्दानुशासन का भी अनेक बार प्रवचन किया था।

देश—पाणिनि का एक नाम शालातुरीय है। जैनलेखक वर्धमान गणरत्नमहोदधि में इस की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाता है—

शलातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्र भवान् पाणिनिः।[8]

अर्थात्- शलातुर ग्राम पाणिनि का अभिजन था।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।९३ में साक्षात् शलातुर पद पढ़कर अभिजन अर्थ में शालातुरीय पद की सिद्धि दर्शाई है। भोजीय सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२१० में 'सलातुर' पद पढ़ा है।

---

१. ३।१०।४॥ २. १।१६।४॥ १।२८।१॥ ३. पृष्ठ ११५।
४. २।१,१०॥ ३।११॥ ८।१०॥ ५. पूर्व पृष्ठ ६८, टि० ३।
६. कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः। ७. अव्ययीभाव प्रकरण में 'संख्या वंश्येन' सूत्र की व्याख्या में।
८. गण० महो० पृष्ठ १।

अभिजन और निवास में भेद—महाभाष्य ४।३।९० में अभिजन और निवास में भेद दर्शाया है—

अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्, निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते ।

इस लक्षण के अनुसार शलातुर पाणिनि के पूर्वजों का वास-स्थान था, पाणिनि स्वयं कहीं अन्यत्र रहता था। पुरातत्त्वविदों के मतानुसार पश्चिमोत्तर-सीमा प्रान्तस्थ अटक समीपवर्ती वर्तमान 'लाहुर' ग्राम प्राचीन शलातुर है।

अष्टाध्यायी के '**उदक् च विपाशः**,[1] **वाहीकग्रामेभ्यश्च**[2]' इत्यादि सूत्रों तथा इनके महाभाष्य से प्रतीत होता है कि पाणिनि का वाहीक देश से विशेष परिचय था। अतः पाणिनि वाहीक देश वा उसके अतिसमीप का निवासी होगा।

तपःस्थान—स्कन्द पुराण में लिखा है कि पाणिनि ने **गोपर्वत** पर तपस्या की थी और उसी के प्रभाव से वैयाकरणों में प्रमुखता प्राप्त की थी।[3]

सम्पन्नता—पाणिनि का कुल अत्यन्त सम्पन्न था। उसने अपने शब्दानुशासन के अध्ययन करने वाले छात्रों के लिये भोजन का प्रबन्ध कर रक्खा था। उसके यहां छात्र को विद्या के साथ-साथ भोजन भी प्राप्त होता था। इसी भाव को प्रकट वाला '**ओदन-पाणिनीयाः**' उदाहरण पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।७३ में दिया है। काशिका ६।२।६९ में वामन ने पूर्वपदान्तोदात 'ओदनपाणिनीयाः' यह उदाहरण निन्दार्थ में दिया है। इसका अर्थ है—'**ओदनप्रधानाः पाणिनीयाः**' अर्थात् जो श्रद्धा के विना केवल ओदनप्राप्ति के लिये पाणिनीय शास्त्र को पढ़ता है, वह इस प्रकार निन्दावचन को प्राप्त होता है।

मृत्यु—पाणिनि के जीवन का किञ्चिन्मात्र इतिवृत हमें ज्ञात नही। पञ्चतन्त्र में प्रसंगवश किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें पाणिनि जैमिनि और पिङ्गल के मृत्यु-कारणों का

---

१. अष्टा० ४।२।७४। २. अष्टा० ४।२।११७॥

३. गोपर्वतमिति स्थानं शम्भोः प्रख्यापितं पुरा।। यत्र पाणिनिना लेभे वैयाकरणिकाग्रता॥ अरुणाचल माहात्म्य, उतरार्ध २। ६८, वगवासी संस्क०।

उल्लेख है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तु रहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥[1]

इससे विदित होता है कि पाणिनि को सिंह ने मारा था। वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी। मास और पक्ष का निश्चय न होने से पाणिनीय वैयाकरण प्रत्येक त्रयोदशी को अनध्याय करते हैं। यह परिपाटी काशी आदि स्थानों में हमारे अध्ययन काल तक वर्तमान थी।

अनुज=पिङ्गल की मृत्यु—पञ्चतन्त्र के पूर्व उद्घृत श्लोक के तृतीय चरण में लिखा है—पिङ्गल को समुद्रतट पर मगर ने निगल लिया था।

पाणिनि की महत्ता—आचार्य पाणिनि की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि उस के दोनों पाणिनि और पाणिन नाम गोत्ररूप से लोक में प्रसिद्ध हो गए। अर्थात् उसके वंशजों ने अपने पुराने गोत्र नाम के स्थान पर इन नए नामों का व्यवहार करने में अपना अधिक गौरव समझा।

पाणिनि गोत्र—बौधायन श्रौत सूत्र प्रवराध्याय (३) तथा मत्स्य पुराण १९७।१० के गोत्रप्रकरण में पाणिनि गोत्र का निर्देश है।[2]

---

१. पञ्चतन्त्र, मित्रसंप्राप्ति श्लोक ३६, जीवानन्द संस्क०। चक्रदत्तविरचित चिकित्सासंग्रह का टीकाकार निश्चुलकर (सं० ११६७-११७७=सन् ११११०-११२७) इस श्लोक को इस प्रकार पढता है—'तदुक्तम्-छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्, सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तु रपहरत प्राणान् प्रियान् पाणिनेः। मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती वने जैमिनिम्, अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली जून १९४७ पृष्ठ १४२ में उद्धृत।

२. पैङ्गलायनाः वैहीनरयः,······काशकृत्स्नाः, पाणिनिर्वाल्मीकि······ आपिशलयः। बौ० श्रौ०॥ पाणिनिश्चैव आर्षेयाः सर्वे एते प्रकीर्तिताः। मत्स्य पुराण॥

पाणिन गोत्र—वायु पुराण ६१।९९ तथा हरिवंश १।२७।४९ में पाणिन गोत्र स्मृत है।[1]

पाणिनि की अतिप्रसिद्धि—काशिकाकार ने २।१।६ की वृत्ति में इतिपाणिनि, तत्पाणिनि और २।१।१३ की वृत्ति में **आकुमारं यशः पाणिनेः** उदाहरण दिए हैं। इन से स्पष्ट है कि पाणिनि की यशः पताका लोक में सर्वत्र फहराने लग गई थी।[2]

पैङ्गलोपनिषद्—पिङ्गल नाम से सम्बद्ध एक पैङ्गलोपनिषद् भी है, परन्तु हमें वह नवीन प्रतीत होती है।

पैङ्गली कल्प—यह कल्प शाकटायन व्याकरण ३।१।१७५ की अमोघा और चिन्तामणि वृत्ति में स्मृत है।

पैङ्गलायन गोत्र—बोधायन श्रौत प्रवराध्याय ३ में पैङ्गलायन गोत्र का भी निर्देश उपलब्ध होता है।[3] यह गोत्र पाणिनि-अनुज पिङ्गल के पुत्र से प्रारम्भ हुआ अथवा किसी प्राचीन पैङ्गलायन से, यह विचारणीय है।

पैङ्गलायनि-ब्राह्मण—बोधायन श्रौत २।७ में पैङ्गलायनि ब्राह्मण का पाठ उद्धृत है।[4] वह किसी प्राचीन पैङ्गलायन प्रोक्त है। इस में णिनि प्रत्यय[5] होकर पैङ्गलायनि-ब्राह्मण प्रयोग निष्पन्न हुआ है। पुराण-प्रोक्त पैङ्गलीकल्प का हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। पाणिनि-अनुज पिङ्गल के पौत्र तक ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन होता रहा, इस में कोई प्रमाण नहीं है। जहां तक व्यास के शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा वेद की अन्तिम शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन का प्रश्न है, वह अधिक से अधिक भारत युद्ध से १०० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष

---

१. बभ्रवः पाणिनश्चैव धानजप्यास्तथैव च। वायु। यहां 'धानञ्जयास्तथैव' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। २. काशिकाकार ने प्रथम उदाहरणों का अर्थ किया है—पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते। अन्तिम उदाहरण का अर्थ नहीं किया। कई विद्वानों का विचार है कि इस का अर्थ 'बालकों पर्यन्त पाणिनि का यश व्याप्त हो गया, ऐसा है। हमारा विचार है 'आकुमार्या आकुमारम्' अर्थात् 'दक्षिण में कुमारी अन्तरीप पर्यन्त पाणिनि का यश पहुंच गया' होना अधिक संगत है। ३. देखो पूर्व पृष्ठ १८८ टि० २।

४. अप्येकां गां दक्षिणां दद्यादिति पैङ्गलायनिब्राह्मणं भवति।

५. पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु। अष्टा० ४।३।१०५॥

पश्चात् तक माना जाता है। अतः बौधायन श्रौत में स्मृत पैङ्गलायनिब्राह्मण पिङ्गल पौत्र पैङ्गलायनि प्रोक्त नहीं हो सकता यह स्पष्ट है।

काल

भारतीय प्राचीन आर्ष वाङ्मय और उसके अतिप्राचीन इतिहास को अधिक से अधिक अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए बद्धपरिकर पाश्चात्य विद्वानों[1] ने पाणिनि का समय ७ वीं शती ईसा पूर्व से लेकर ४ थी शती ईसा पूर्व अर्थात् ६५७ वि० पूर्व से २५८ विक्रम पूर्व तक माना है। पूर्व सोमा गोल्डस्टुकर की है और अन्तिम सीमा बैवर और कीथ द्वारा स्वीकृत है। भारतीय प्राचीन इतिहास के में पाश्चात्य मत, जिसकी मूल भित्ति सिकन्दर[2] और चन्द्रगुप्त मौर्य को काल्पनिक समकालीन मानना है, को अपरीक्षितकारक के समान आंख मुंद कर मानने वाले अंग्रेजी पढ़े अनेक भारतीय भी स्वीकार करते हैं। पाणिनि के काल निर्णय के लिए पाश्चात्य और उन के भारतीय अनुयायी जिन प्रमाणों का उल्लेख करते है, उनमें निम्न प्रमाण मुख्य हैं—

१—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में लिखा है—महापद्म नन्द का मित्र एक पाणिनि नाम का माणव था।[3]

२—कथासरित्सागर में पाणिनि को महाराज नन्द का समकालिक कहा है।[4]

३—बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होने वाले श्रमण शब्द का निर्देश पाणिनि के **कुमारः श्रमणादिभिः** (२।१।७०) सूत्र में मिलता है।

---

१. इस का प्रधान कारण यहूदी ईसाईमत का पक्षपात है। इस के लिये देखो पं० भगवद्दत्त कृत 'Western Indologists : A Study In Motives'.

२. सिकन्दर का आक्रमण चन्द्रगुप्त मौर्य के समय नहीं हुआ। इन दोनों की समकालीनता भ्रममूलक है। मैगस्थनीज के अवशिष्ट इतिवृत्त से भी इनकी समकालीनता कथञ्चित भी सिद्ध नहीं होती, अपितु इसका विरोध विस्पष्ट है। इस तथ्य के परिज्ञानार्थ देखिए पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २८८-२९८, द्वि० सं०।

३. तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः।

४ कथा० लम्बक १, तरङ्ग ४।

४—बुद्धकालिक मंखलि गोसाल नाम काम के आचार्य के लिए प्रयुक्त संस्कृत **मस्करी** शब्द का साधुत्व पाणिनि ने **मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः** (६।१।१५४) सूत्र में दर्शाया है।

५—सिकन्दर के साथ युद्ध में जूझने वाली और उसे पराजित कर के वापस लौटने को बाध्य करने वाली क्षुद्रक मालवों की सेना का उल्लेख पाणिनि ने खण्डिकादि गण (४।२।४५) में पठित **क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्** गणसूत्र में किया है, ऐसा वेबर का मत है।

६—अष्टाध्यायी ४।१।४९ में यवन शब्द पठित है। उसके आधार पर कीथ लिखता है कि पाणिनि सिकन्दर के भारत आक्रमण के पीछे हुआ।

७—राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जिस अनुश्रुति का उल्लेख किया है उसके अनुसार पाटलिपुत्र में होने वाली शास्त्रकार-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिङ्गल और व्याडि ने यशोलाभ प्राप्त किया था।[1] पाटलिपुत्र की स्थापना महाराज उदयी ने कुसुमधुर के नाम से की थी।[2]

ये हैं संक्षेप से कतिपय मुख्य हेतु,[3] जिन के आधार पर पाणिनि का काल ४ थी शती ईसा पूर्व तक खींच कर स्थापित किया जाता है।

अब हम संक्षेप से इन हेतुओं की परीक्षा करते हैं—

१—बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से यह विस्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय व्यक्तिगत विशिष्ट नामों के स्थान पर प्रायः गोत्र नामों का व्यवहार करने का परिचलन था। हम पूर्व (पृष्ठ १८८) लिख चुके हैं कि पाणिनि भी एक गोत्र है। अतः मञ्जुश्रीमूलकल्प में किसी पाणिनि नाम वाले माणव का महापद्म के सखा रूप में उल्लेख मात्र से विना विशिष्ट विशेषण के यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि यह पाणिनि शास्त्रकार पाणिनि ही है।

---

१. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार-परीक्षा – 'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः। अ० १०।

२. वायु पुराण ९९।३१८।। विशेष पतञ्जलि के प्रकरण में देखें।

३. पाश्चात्य मत में दिए जाने वाले हेतुओं के लिए डा० वासदेवशरण अग्रवाल का 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' अध्याय ८ देखें।

प्राचीन परिपाटी को विना जाने ऐसी ऊटपटांग कल्पनाओं के आधार पर अनेक व्यक्ति बौद्ध ग्रन्थों में गोत्र नाम से अभिहित आश्वलायन आदिकों को ही वैदिक वाङ्मय के विविध ग्रन्थों के रचयिता कहने का दुस्साहस करते हैं। इसके विपरीत बौद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर तथागत बुद्ध के साथ धर्मचर्चा करने वाले वेद-वेदाङ्ग पारग विद्वानों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे तो वेदाङ्गों की सत्ता तथागत बुद्ध के काल से बहुत पूर्व स्थिर होती है।

२– कथासरित्सागर के रचयिता को भी बौद्धकालिक गोत्र नाम व्यवहार के कारण भ्रान्ति हुई है और इसीलिए उसने पाणिनि और वररुचि को नन्द का समकालिक लिख दिया है। इस भ्रान्ति की पुष्टि वार्तिककार वररुचि को कौशाम्बी निवासी लिखने[1] से भी होती है। कौशाम्बी प्रयाग के निकट है। पतञ्जलि महाभाष्य में वार्तिककार को स्पष्ट शब्दों में **दाक्षिणात्य** कहता है।[2] इस विरोध से स्पष्ट है कि कथासरित्सागर की कथाओं के आधार पर किसी इतिहास की कल्पना करना नितान्त चिन्त्य है।

इतना ही नहीं, पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने तो महापद्म नन्द का काल भी बहुत अर्वाचीन बना दिया है। भारतीय पौराणिक काल गणनानुसार, जो उत्तरोत्तर शोध द्वारा सत्य सिद्ध हो रही है, नन्द का काल विक्रम से पन्द्रह सोलह सौ वर्ष पूर्व है।

३—यदि श्रमण शब्द का व्यवहार बौद्ध साहित्य में ही, और वह भी केवल बौद्ध परिव्राजकों के लिए होता तो उस के आधार पर कथंचित् पाणिनि को बौद्ध काल में रखा जा सकता था, परन्तु श्रमण शब्द तो तथागत बुद्ध से सैंकड़ों वर्ष पूर्व प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण १४।७।१।२२ तैत्तिरीय आरण्यक २।७।१ में भी उपलब्ध होता है। सभी व्याख्याकारों ने श्रमण शब्द का अर्थ परिव्राट् सामान्य किया है।

अष्टाध्यायी (२।१।७०) में निर्दिष्ट **कुमारश्रमण:** में कुमार शब्द बालक का वाचक नहीं है, अपितु अकृत-विवाह (कुंवारे) का वाचक है। जैसे वृद्धकुमारी[3] में कुमारी शब्द कुंवारी के लिये प्रयुक्त है। अतः कुमारश्रमण वे परिव्राजक कहाते हैं जो ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करते हैं।

१. लम्बक १, तरङ्ग ४। २. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। महा० १। १, आ० १। ३. द्र०—वृद्धकुमारी-न्याय, महाभाष्य ८।२।३॥

४—यदि तुष्यतु दुर्जनः न्याय से अष्टाध्यायी में प्रयुक्त मस्करी शब्द को मंखलि शब्द का संस्कृत रूप मान भी लें तो **मस्करिन्** में प्रयुक्त मत्वर्थक **इनि** प्रत्यय का कोई अर्थ न होगा और न उस का मूलभूत वेणुवाचक **मस्कर** शब्द के साथ कोई संबंध होगा। इतना ही नहीं, यदि पाणिनि की दृष्टि में मस्करी शब्द मंखलि गोसाल का ही वाचक था तो उस के अर्थनिर्देश के लिए पाणिनि ने सामान्य परिव्राजक पद का निर्देश क्यों किया ?

वस्तुतः मस्करी शब्द का संबन्ध वेणुवाचक मस्कर शब्द के साथ ही है। इसीलिए पाणिनि से पूर्ववर्ती ऋक्तन्त्रकार ने **मस्करो वेणुः** (४।७।६) सूत्र में मस्कर शब्द का ही निर्देश किया और उसी से मस्करी को गतार्थ माना। पतञ्जलि की **मा कृत कर्माणि**[1] व्याख्या मस्करी ग्रहण के आनर्थक्य[2] के प्रत्याख्यान के लिए प्रौढिवाद मात्र है। यदि इस व्याख्या को प्रामाणिक भी माना जाए, तब भी मस्करी का मूल वेणुवाचक मस्कर शब्द ही होगा। उस का अर्थ भी है— **मा क्रियतेऽनेनेति**।[3] जिस से अनर्थ रूप कर्मों का निषेध होता है वह मस्कर वेणु अर्थात् दण्ड। और इसी **मा कर=मस्कर** निर्वचन को मानकर पाणिनि ने सुडागम का विधान किया है। वस्तुतः मस्कर और मस्करी दोनों पद **मस्क गतौ**[4] धातु से निष्पन्न है।[5]

वास्तविक स्थिति तो यह है कि मस्करी को मंखलि का संस्कृत रूप मानना ही भ्रान्तिमूलक है। महाभारत में निर्दिष्ट मङ्कि ऋषि[6] के कुल में उत्पन्न होंने से ही मङ्किल का मंखलि उपभ्रंश बना है।

---

१. माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी। महाभाष्य ६।१।१५४॥

२. मस्करिग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथं मस्करी परिव्राजक इति ? इनिनैव मत्वर्थीयेन सिद्धम्। मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी।

३. क्षीरस्वामी, अमरटीका २।४।१६१॥

४, यह धातु पाणिनीय धातुपाठ के प्राच्य उदीच्य आदि सभी पाठों में पठित है।   ५. मस्क+बाहुलकाद् अरः। शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृष्ठ ६५१। इसी प्रकार 'अरिनि' प्रत्यय होकर मस्करिन्। यद्वा—मस्कते इति मस्कः, अच्। तस्मान्मत्वर्थीयो रः, मस्करः, पुनस्तस्मान्मत्वर्थीय इनिः मस्करिन्।   ६. मङ्कि ऋषि की कथा महाभारत शान्तिपर्व अ० १७७ में।

अत एव भगवती सूत्र (१५) आदि में मंखलि को मंख का पुत्र कहना[1] युक्त है। जैनागमों में गोसाल को मंखलिपुत्त भी है कहा।[1]

५—वेबर के मत की आलोचना तो पाश्चात्यमतानुगामी डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ही भले प्रकार कर दी है,[2] अतः उस का यहां पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होगा।

६—'यवनानी' शब्द पर लिखते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी स्पष्ट लिखा है कि भारतीय सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भी यवन जाति से परिचित थे।[3]

यवन जाति के विषय में हम इतना और कहना चाहते हैं कि यवन जाति मूलतः अभारतीय नहीं है। यवन महाराज ययाति के पुत्र के वंशज हैं। महाभारत के स्पष्ट लिखा है—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोस्तु यवनाः स्मृताः।[4]

यह तुर्वसु की सन्तति बृहत्तर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर निवास करती थी। ब्राह्मणों के अदर्शन और धर्मक्रिया के लोप के कारण ये लोग म्लेच्छ बन गए।[5] ये लोग यहीं से प्रवास करके पश्चिम में गए और इन्हीं के यवन नाम पर उस देश का नाम भी यवन=यूनान पड़ा।

इस ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकार न करके किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में यवन शब्द के प्रयोग मात्र से उसे सिकन्दर के आक्रमण से पीछे का बना हुआ कहना दुराग्रह मात्र है।

७—अब शेष रहती है राजशेखर द्वारा उद्धृत अनुश्रुति। अनुश्रुति इतिहास में तभी तक प्रमाण मानी जाती है, जब तक उसका प्रत्यक्ष बलवत् प्रमाण से विरोध न हो। विरोध होने पर अनुश्रुति

---

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ३७६।

२. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४७६। ३. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४७५-४७६। ४. आदि पर्व १३६। २; कुम्भघोण सं०।

५. मनु १०।४३,४४॥ इन्हीं यवनों के एक आततायी राजा 'कालयवन' का वध श्रीकृष्ण ने किया था। इस के विषय में अल्बेरूनी लिखता है—'हिन्दुओं में कालयवन नाम का एक संवत् प्रचलित है।......वे इसका आरम्भ गत द्वापर के अन्त में मानते हैं। इस यवन ने इनके धर्म और देश पर बड़े अत्याचार किये थे।

अनुश्रुतिमात्र रह जाती है। इस के साथ ही यह भी ध्यान रहे कि राजशेखर प्रति-अर्वाचीन ग्रन्थकार है। उस काल तक पहुंचते-पहुंचते अनुश्रुति का रूप ही परिवर्तित हो गया। उस के लेखानुसार तो पतञ्जलि भी पाणिनि का समकालिक बन जाता है।[१] अतः राजशेखर की अनुश्रुति अप्रमाण है।

अब शेष रह जाता है महाराज उदयी के द्वारा पाटलिपुत्र का बसाना। इस के विषय में हम पतञ्जलि के प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे।

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि कालीन भारतवर्ष में गोल्डस्टूकर आदि के मतों का प्रत्याख्यान करके पाणिनि का समय नन्द के काल में ईसा पूर्व ४ थी शती माना है। अब हम उसकी विवेचना करते हैं—

१. पहले हम उस प्रमाण को लेते हैं जिस का निर्देश स्वमत से विरुद्ध होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायियों ने जान बूझ कर उपस्थित नहीं किया। वह है पाणिनि द्वारा **निर्वाणोऽवाते** (८।२।५०) सूत्र में निर्दिष्ट **निर्वाण** पद। वैयाकरण इस सूत्र का उदाहरण देते हैं—

निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो भिक्षुः।

इन में निर्वाण पद का अर्थ है—'शान्त होना'।

पाश्चात्य मतानुसार यदि पाणिनि तथागत बुद्ध से उत्तरकालीन होता तो बौद्ध साहित्य में निर्वाण शब्द का जो प्रसिद्ध मोक्ष अर्थ है, उस का वह उल्लेख अवश्य करता। जो पाणिनि मंखलि गोसाल व्यक्ति विशेष के लिए प्रयुक्त 'मस्करी शब्द का उल्लेख कर सकता है (पाश्चात्यमतानुसार), वह बौद्ध साहित्य में प्रसिद्धतम निर्वाण पद के अर्थ का निर्देश न करे, यह कथमपि सम्भव नहीं। इसलिए पाणिनि द्वारा बौद्ध साहित्य मे प्रसिद्ध निर्वाण पद के अर्थ का उल्लेख न होने से पाश्चात्यसरणि-अनुसार ही यह सिद्ध है कि पाणिनि तथागत बुद्ध से पूर्ववर्ती है।

कालविवेचन में बाह्यसाक्ष्य अपना का स्थान होता ही है तथापि अन्तःसाक्ष्य का महत्त्व सर्वोपरि होता है और वह महत्त्व उस

---

१. पूर्व पृष्ठ १६१ टि० १ देखिए।

अवस्था में और भी बढ़ जाता है जब बाह्यसाक्ष्य और अन्तःसाक्ष्य में विरोध हो। **अन्तरङ्गं बलीयो भवति** यह न्याय प्रसिद्ध ही है। अतः हम पाणिनि के काल निर्णय के लिये अन्तःसाक्ष्य उपस्थित करते हैं।

अन्तःसाक्ष्य

अब पाणिनि के काल-विवेचन के लिए अष्टाध्यायी के उन अन्तः-साक्ष्यों को उद्धृत करते हैं, जिनका निर्देश आज तक किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया। यथा—

२, यह सर्ववादी सम्मत है कि तथागत बुद्ध के काल में संस्कृत भाषा जनसाधारण की भाषा नहीं थी। उस समय जनसाधरण में पालि और प्राकृत भाषाएं ही व्यवहृत होती थीं। इसीलिए तथागत बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने मतों के प्रचार के लिए संस्कृत के स्थान में पालि और प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया। इसके विप-रीत पाणिनीय अष्टाध्यायी में शतशः ऐसे प्रयोगों के साधुत्व का उल्लेख मिलता है, जो नितान्त ग्राम्य जनता के व्यवहारोपयोगी हैं। यथा—

क—शाक बेचने वाले कूजड़ों द्वारा विक्रय के लिए मूली, पालक, मेथी, धनिया, पोदीना आदि-आदि की बांधी गई मुट्ठी अथवा गड्डी के लिए प्रयुक्त होने वाले **मूलकपणः, शाकपणः** आदि शब्दों के साधुत्वबोधन के लिए एक सूत्र है—

नित्यं पणः परिमाणे। ३। ३। ६६॥

इस सूत्र से बोधित शब्द विशुद्ध दैनन्दिन के व्यवहारोपयोगी हैं, साहित्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द नहीं हैं।

ख—वस्त्र रंगने वाले रंगरेजों के व्यवहार में आने वाले **माञ्जि-ष्ठम् काषायम् लाक्षिकम्** आदि शब्दों के साधुत्व ज्ञापन के लिए पाणिनि ने निम्न सूत्र पढ़े हैं—

तेन रक्तं रागात्। लाक्षारोचनाट्टक्। ४। २। १, २॥

ग—पाचकों के (जो कि पुराकाल में शुद्र ही होते थे[1]) व्यवहार में आने वाले **दाधिकम् औदश्वित्कम् लवणः सूपः** आदि प्रयोगों के लिए पाणिनि ने ४।२।१६-२० तथा ४।४।२२-२६ दस सूत्रों का विधान किया है।

---

१. आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः। आप० धर्म० २।२।३।४।

घ– कृषकों के व्यवहारोपयोगी विभिन्न प्रकार के धान्योपयोगी क्षेत्रों के वाचक **प्रैयङ्गवीनम्, ब्रैहेयम्, यव्यम्**, तिल्यम्, तैलीनम् आदि प्रयोगों के लिए ५ । २ । १-४ चार सूत्रों का प्रवचन किया है।

ङ—शूद्रों के अभिवादन प्रत्यभिवादन के नियम का उल्लेख ८।२।८२ में किया है।

इन तथा एतादृश अन्य अनेक प्रकरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोकव्यवहार्य जनसाधारण की भाषा थी।

कीथ की सत्योक्ति– कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में अष्टाध्यायी के उपर्युक्त जनसाधारणोपयोगी शब्दों का निर्देश करके यह स्वीकार किया है कि पाणिनि के समय संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी।[1]

३. पाणिनि की अष्टाध्यायी से तो यह भी पता चलता है कि संस्कृत भाषा केवल जनसाधारण की ही भाषा नहीं थी, अपितु जनसाधारण वैदिक भाषावत् लोकभाषा में भी उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वरों का यथावत् व्यवहार करते थे। पाणिनीय अष्टाध्यायी के वे सब स्वर-नियम और स्वरों की दृष्टि से प्रत्ययों में सम्बद्ध अनुबन्ध, जिन का संबन्ध केवल वैदिक भाषा के साथ ही नहीं है, इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। पुनरपि हम पाणिनि के दो ऐसे सूत्र उपस्थित करते हैं, जिन का सम्बन्ध एक मात्र लोकभाषा से है। यथा—

क—विभाषा भाषायाम्। ६। १। १८१॥

इस सूत्र के अनुसार भाषा अर्थात् लौकिक संस्कृत के **पञ्चभिः सप्तभिः** तिसृभिः **चतसृभिः** आदि प्रयोगों में विभक्ति तथा विभक्ति से पूर्व अच् को विकल्प से उदात्त बोला जाता था।

ख—उदक् च विपाशः। ४। २। ७४॥

इस सूत्र द्वारा विपाश=व्यास नदी के उत्तर कूल के कूपों के लिए प्रयुक्त होने वाले **दात्तः गौप्तः** प्रयोगों के लिए **अञ्** प्रत्यय का

१. द्र०—कीथ के ग्रन्थ का डा० मङ्गलदेव शास्त्री कृत भाषानुवाद पृष्ठ ११-१३। इसके विपरीत भारतीय विद्वान् अभी तक यही लिखते हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की व्यावहारिक भाषा नहीं थी। द्र०—वाचस्पति गैरोला कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४०। (सन् १९६०)।

विधान किया है। दक्षिण कूल के कूपों के लिए भी दात्तः गौप्तः आदि पद ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उनमें अण् प्रत्यय होता है। अञ् और अण प्रत्ययों का पृथक् विधान केवल स्वरभेद की दृष्टि से ही किया गया है। उत्तर कूल के दात्तः गौप्तः प्रयोग आद्युदात्त प्रयुक्त होते थे। अतः उनके लिए पाणिनि ने अञ् प्रत्यय का और दक्षिण कूल के दात्तः गौप्तः अन्तोदात्त बोले जाते थे, इसलिए उनके लिए अण् प्रत्यय का विधान किया।

यदि पाणिनि के समय उदात्तादि स्वरों का जनसाधारण की भाषा में यथार्थ उच्चारण प्रचलित न होता तो पाणिनि ऐसे सूक्ष्म नियम[1] बनाने की कदापि चेष्टा न करता। पाणिनि के उत्तर काल में लोकभाषा में स्वरोच्चारण के लोप हो जाने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने स्वरविशेष की दृष्टि से पाणिनि द्वारा विहित प्रत्ययों के वैविध्य को हटा दिया।

हमने वैदिक-स्वर-मीमांसा ग्रन्थ के 'स्वरों का लोप' प्रकरण में लिखा है कि कृष्ण द्वैपायन के शिष्य प्रशिष्यों क शाखा प्रवचन काल में स्वरोच्चारण में कुछ-कुछ शैथिल्य आने लग गया था।[2] अतः लोक भाषा में व्यवह्रियमाण स्वरों का यथावत् सूक्ष्म दृष्टि से विधान करने वाले आचाय पाणिनि का काल अन्तिम शाखा प्रवचन काल से अनतिदूर ही होना चाहिए। अन्तिम शाखा प्रवचन काल अधिक से अधिक भारत युद्ध (३१०० वि० पूर्व) से १०० वर्ष उत्तर तक है। अतः पाणिनि का काल भारत युद्ध से २०० वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता।

४—पाणिनि के काल पर प्रकाश डालने वाला एक सूत्र है—

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्। २। १। ५९॥

इस सूत्र का अभिप्राय यह है यदि पञ्चालाः अङ्गाः वङ्गाः मगधाः आदि देशवाची शब्दों की प्रवृत्ति का निमित पञ्चाल अङ्ग वङ्ग मगध नाम वाले क्षत्रिय हैं अर्थात् इन नाम वाले क्षत्रियों के निवास के कारण उस उस प्रदेश के ये नाम प्रसिद्ध हुए, ऐसा पूर्वाचार्यों का मत माना जाए तो इन नाम वाले क्षत्रियों के उस उस

---

१. स्वरे विशेषः। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। काशिका ४।२।७४॥ २. वैदिक-स्वर-मीमांसा पृष्ठ ५१, ५२; द्वि० सं०।

प्रदेश में अभाव हो जाने पर उन उन क्षत्रियों के निवास के कारण उन उन देशों के लिये व्यवहार में आने वाले पञ्चाल आदि शब्दों का व्यवहार भी समाप्त हो जाना चाहिए। क्योंकि जब उन उन नाम वाले क्षत्रियों का उन उन प्रदेशों से संबन्ध ही न रहा, तब तत्संबन्धनिमित्तक शब्दों का प्रयोग भी न होना चाहिए। परन्तु उन उन नाम वाले क्षत्रियों के नाश हो जाने पर भी तत्तत् प्रदेशों के लिए पञ्चाल आदि शब्दों का प्रयोग लोक में होता है। अतः इन देशवाची शब्दों को तत्तत् नाम वाले क्षत्रियों के निवास के कारण नहीं मानना चाहिए। अपितु इन्हें रूढ संज्ञा शब्द स्वीकार करना चाहिए।

भारतीय इतिहास एवं प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ जिन की ओर पाणिनि का संकेत है। इस बात के प्रमाण हैं कि पञ्चालाः अङ्गाः वङ्गाः आदि देश नाम तत्तत् क्षत्रिय वंशों के निवास के कारण ही प्रसिद्ध हुए थे।

अब हमें पाणिनीय उक्ति के आधार पर यह देखना होगा कि भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसा काल कब कब आया, जब क्षत्रियों का बाहुल्येन उन्मूलन हुआ। इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट है कि क्षत्रियों का इस प्रकार का उन्मूलन तीन बार हुआ। प्रथम बार दाशरथि राम से पूर्व जामदग्न्य परशुराम द्वारा, द्वितीय वार सर्वक्षत्रान्तकृत् भारत युद्ध[1] द्वारा और तृतीय वार सर्वक्षत्रान्तकृत् नन्द[2] द्वारा।

इन में से प्रथम वार की स्थिति की ओर पाणिनि का संकेत नहीं नहीं हो सकता, क्योंकि पाणिनि निश्चय ही भारत युद्ध काल का उत्तरवर्ती है। तृतीय वार सर्व क्षत्रों का विनाश नन्द ने किया था, यह उस के सर्वक्षत्रान्तकृत् विशेषण से ही स्पष्ट है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इसी नन्द काल में पाणिनि को मानते है। अब विचारना चाहिए कि यदि पाणिनि के काल में ही नन्द ने पञ्चालादि क्षत्रियों का उन्मूलन किया हो तो पाणिनि उसी काल में उक्त सूत्र की रचना नही कर सकता, क्योंकि क्षत्रविनाश के समकाल ही तस्य

---

१. कृष्ण द्वैपायन व्यास ने भारत-युद्ध के लिये 'सर्वक्षत्रान्तकृत्' शब्द का प्रयोग किया है।

२. नन्द को भी इतिहास में सर्वक्षत्रान्तकृत् माना गया है।

निवास: आदि संबन्ध-ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता। उस सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव के लिए न्यूनातिन्यून दो तीन सौ वर्ष का काल अपेक्षित है। जिस के द्वारा पञ्चाल आदि देशों से उत्पन्न हुए क्षत्रियों का उस देश के साथ तस्य निवासः रूप सम्बन्धज्ञान मिट जाए। ऐसी अवस्था में पाणिनि को नन्द से न्यूनातिन्यून २०० वर्ष पश्चात् मानना होगा। ऐसा मानने पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा खड़ा किया गया ऐतिहासिक प्रासाद लड़खड़ा जायगा। अतः यह काल उन्हें भी इष्ट नहीं दो सकता। हम पूर्व लिख चुके हैं कि पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुसार पाणिनि के काल में न केवल संस्कृत भाषा ही जनसाधारण की भाषा थी, अपितु उस में उदात्त आदि स्वरों का सूक्ष्म उच्चारण भी होता था। नन्द अथवा उस से उत्तर काल में पाणिनि द्वारा बोधित संस्कृत भाषा की वह स्थिति नहीं थी, उस समय जनसाधारण में प्राकृत भाषाओं का ही बोलबाला था। अतः पाणिनि नन्द का समकालिक कदापि नहीं हो सकता। यदि हठधर्मी से यही मन्तव्य स्वीकार किया जाए तो पाणिनि के अन्तःसाक्ष्य से महान् विरोध होगा।

अब रह जाता है द्वितीय वार का सर्वक्षत्र-विनाश, जो भारतयुद्ध द्वारा हुआ था। तदनुसार भारतयुद्ध के अनन्तर लगभग २००-३०० वर्ष के मध्य पाणिनि का समय माना जा सकता है। भारतयुद्ध से लगभग २५० वर्ष पश्चात् पञ्चाल आदि क्षत्रिय पुनः अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त करते हुए इतिहास में दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए पाणिनि का काल भारतयुद्ध से २०० वर्ष पूर्व से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता। पाणिनि शास्त्र के उपरि निर्दिष्ट अन्तःसाक्ष्यों से भी इसी काल की ही पुष्टि होती है। इस काल तक संस्कृत भाषा जन-साधारण में बोली जाती रही और उस में उदात्तादि स्वरों का उच्चारण पर्याप्त सीमा तक सुरक्षित रहा। इस के पश्चात् जन-साधारण में अपभ्रष्ट भाषाओं का प्रयोग बढ़ने लगा और संस्कृत केवल शिष्टों की भाषा रह गई।

अब हम प्राचीन वाङ्मय से कतिपय ऐसे साक्ष्य उपस्थित करते हैं जिन से पाणिनि के काल के विषय में प्रकाश पड़ता है।

पाणिनि के समकालिक आचार्य—हम अपनी उपर्युक्त स्थापना की सिद्धि के लिए पहले पाणिनि के समकालिक वा कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों का संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

१—गृहपति शौनक ऋक्प्रातिशाख्य[1] तथा बृहद्देवता[2] में यास्क को बहुधा उद्धृत करता है।

२—पाणिनि का अनुज पिङ्गल 'उरोबृहती यास्कस्य'[3] सूत्र में यास्क का स्मरण करता है।

३—यास्क निरुक्त १।५ में कौत्स का उल्लेख करता है। महाभाष्य ३।२।१०८ के अनुसार एक कौत्स पाणिनि का शिष्य था।[4]

४—यास्क अपनी तैत्तिरीय अनुक्रमणी में ऋक्प्रातिशाख्य के प्रवक्ता शौनक का निर्देश करता है।[5]

५—पिङ्गल का नाम पाणिनीय गणपाठ ४।१।९६, १०५ में मिलता है।

६—पाणिनि 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'[6] सूत्र में शाखाप्रवक्ता शौनक का उल्लेख करता है।

७—शौनक शाखा का प्रवक्ता गृहपति शौनक[7] ऋक्प्रातिशाख्य के अनेक सूत्रों में व्याडि का निर्देश करता है।[8] व्याडि का ही दूसरा नाम दाक्षायण है। वह पाणिनि का मामा था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

८—व्याडि नाम पाणिनीय गणपाठ ४।१।८० में, तथा दाक्षायण नाम गणपाठ ४।२।५४ में मिलता है।

---

१. न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। १७। ४२॥

२. बृहद्देवता १।२६॥ २।१११,१३२,१३७॥ ३।७६,१००,११२ इत्यादि।

३. छन्दःशास्त्र ३।३०॥ ४. उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।

५. द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाक्षरांश्च जगती ज्योतिष्मती। सापि त्रिष्टुबिति शौनकः॥ वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग, पृष्ठ २०५ पर उद्धृत। तुलना करो ऋक्प्रातिशाख्य १३।७०॥

६. अष्टा० ४।३।१०६॥ ७. मुण्डकोपनिषद् १।१।३ में शौनक को 'महाशाल' कहा है। शंकर ने इस का अर्थ 'महागृहस्थः' किया है। वह चिन्त्य है। महाशाल का मुख्य अर्थ है महती पाठशाला वाला। जिस की शाला में सहस्रों विद्यार्थी अध्ययन करते हों। गृहपति का जो लक्षण धर्मशास्त्रों में लिखा है, तदनुसार दस सहस्र विद्यार्थियों का भरणपोषण करते हुए विद्यादाता आचार्य 'गृहपति' कहाता है।

८. ऋक्प्राति० ३।२३, २८॥ ६।४३॥ १३।३१,३७॥

९—सामवेदीय लघु-ऋक्तन्त्र व्याकरण में पाणिनि का साक्षात् उल्लेख मिलता है।[1]

१०—बौधायन श्रौतसूत्र प्रवराध्याय (३) में पाणिनि का साक्षात् निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः......पैङ्गलायनाः,[2] वैहीनरयः ......काशकृत्स्नाः......पाणिनिर्वाल्मीकि......आपिशलयः।

११—मत्स्य पुराण १९७।१० में पाणिनि गोत्र का उल्लेख मिलता है।[3]

१२—वायु पुराण ९१।९९ में पाणिन गोत्र का निर्देश किया है।[4] पाणिन और पाणिनि एक ही हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5]

१३—ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृति खण्ड अ० ४ श्लोक ६७ में पाणिनि को साक्षात् ग्रन्थकार कहा है।[6]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यास्क, शौनक, व्याडि, पाणिनि, पिङ्गल और कौत्स आदि लगभग समकालिक हैं, इन में बहुत स्वल्प पौर्वापर्य है। यदि इन में से किसी एक का भी निश्चित काल ज्ञात हो जाए, तो पाणिनि का काल स्वतः ज्ञात हो जायगा। अतः हम प्रथम शौनक के काल पर विचार करते हैं—

शौनक का काल—महाभारत आदि पर्व १।१ तथा ४।१ के अनुसार जनमेजय (तृतीय) के सर्पसत्र के समय शौनक नैमिषारण्य में द्वादश वार्षिक सत्र कर रहा था। विष्णु पुराण ४।२१।४ में लिखा है कि जनमेजय के पुत्र शतानीक ने शौनक से आत्मोपदेश लिया था, और मत्स्य २५।४,५ के अनुसार शौनक ने शतानीक को ययातिचरित सुनाया था। वायु पुराण १।१२,१४,२३ के अनुसार अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में कुरुक्षेत्र में नैमिषारण्य के ऋषियों द्वारा किये गये

---

१. ऐचो वृद्धिरिति प्रोक्तं पाणिनीयानुसारिभिः। पृष्ठ ४६।

२. पैङ्गलायनप्रोक्त ब्राह्मण बौधायन श्रौत २।७ में उदधृत है—अप्येकां गां दक्षिणां दद्यादिति पैङ्गलायनिब्राह्मणं भवति।

३. पाणिनिश्चैव आर्षेयाः सर्व एते प्रकीर्तिताः।

४. बभ्रवः पाणिनश्चैव धानजप्यास्तथैव च। यहां 'धानञ्जयास्तथैव' शुद्ध पाठ चाहिए। ५. पूर्व पृष्ठ १७८–१७९।

६. कणादो गौतमः कण्वः पाणिनिः शाकटायनः। ग्रन्थं चकार—.....॥

दीर्घसत्र में सर्वशास्त्रविशारद गृहपति शौनक विद्यमान था।[1] ऋक्प्रातिशाख्य के प्राचीन वृत्तिकार विष्णुमित्र ने शास्त्रावतार विषयक एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। वह लिखता है—

तस्मादादौ शास्त्रावतार उच्यते—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः ।
दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके ॥

इति शास्त्रावतारं स्मरन्ति ।

इन प्रमाणों से विदित होता है कि गृहपति शौनक दीर्घायु था। वह न्यून से न्यून ३०० वर्ष अवश्य जीवित रहा था। अतः शौनक का काल सामान्यतया भारतयुद्ध से लेकर महाराज अधिसीम कृष्ण के काल तक मानना चाहिये। ऋक्प्रातिशाख्य की रचना भारतयुद्ध के लगभग १०० वर्ष पश्चात् अर्थात् ३००० विक्रम पूर्व हुई थी। ऋक्प्रातिशाख्य में स्मृत व्याडि भी इसी काल का व्यक्ति है। व्याडि पाणिनि का मामा था, यह हम पूर्व कह चुके।[2] अतः पाणिनि का समय स्थूलतया विक्रम से २९०० वर्ष प्राचीन है।

यास्क का काल—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४२ श्लोक ७२, ७३ में यास्क का उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ॥

निरुक्त १३।१२ से विदित होता है कि यास्क के काल में ऋषियों का उच्छेद होना प्रारम्भ हो गया था।[3] पुराणों के मतानुसार ऋषियों ने अन्तिम दीर्घसत्र महाराज अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में किये थे।[4] भारतयुद्ध के अनन्तर शनैः शनैः ऋषियों का उच्छेद आरम्भ हो गया था। शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य और बृहद्देवता में यास्क का स्मरण किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] अतः महाभारत तथा निरुक्त के अन्तःसाक्ष्य से विदित होता है कि यास्क का काल भारतयुद्ध के समीप था।

---

१. अधिसीमकृष्णे विक्रान्ते राजन्येऽनुपस्विषि। धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घक्षेत्रे तु ईजिरे। तस्मिन् सत्रे गृहपतिः सर्वशास्त्रविशारदः।

२. पूर्व पृष्ठ १८६। ३. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। ४. वायु पुराण १। १२—१४॥ ९९। २५७—२५९॥ ५. पूर्व पृष्ठ २०१, टि० १, २।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यास्क, शौनक, पाणिनि, पिङ्गल और कौत्स लगभग समकालिक व्यक्ति हैं, अर्थात् इनका पौर्वापर्य बहुत स्वल्प है। अतः पाणिनि का काल भारतयुद्ध से लेकर अधिसीम कृष्ण के काल तक लगभग २५० वर्षों के मध्य है।

पाणिनि का साक्षान्निर्देश—ऊपर उद्धृत प्रमाण संख्या ६-१३ में पाणिनि का साक्षान्निर्देश है। बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय में पाणिनि गोत्र का उल्लेख है। इस की पुष्टि मत्स्य और वायु पुराण के प्रमाणों से होती है।[1] बौधायन आदि श्रौतसूत्रों की रचना तत्तत् शाखाओं के प्रवचन के कुछ अनन्तर हुई है। श्रौत, धर्म आदि कल्प-सूत्रों के रचयिता प्रायः वे ही आचार्य हैं, जिन्होंने शाखाओं का प्रवचन किया था, यह हम न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन और पूर्व-मीमांसाकार जैमिनि के प्रमाणों से पूर्व दर्शा चुके हैं।[2] भागुरि ऐतरेय आदि कुछ पुराण-प्रोक्त शाखाओं के अतिरिक्त सब शाखाओं का प्रवचन-काल लगभग भारतयुद्ध से एक शताब्दी पूर्व से लेकर एक शताब्दी पश्चात् तक है। वर्तमान में उपलब्ध शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत-गृह्य-धर्म आदि कल्पसूत्र, दर्शन, आयुर्वेद, निरुक्त, व्याकरण आदि समस्त उपलब्ध वैदिक आर्ष वाङ्मय अधिक-तर इसी काल के प्रवचन हैं।

एक अन्य प्रमाण—युवानच्वाङ् ने अपने भारत भ्रमण में पाणिनि के प्रकरण में लिखा है—'ब्रह्मदेव और देवेन्द्र ने आवश्यकता-नुसार कुछ नियम बनाये, परन्तु विद्यार्थियों को उनका ठीक प्रयोग करना नहीं आता था। जब मानवी जीवन १०० वर्ष की सीमा तक घट गया, तब पाणिनि का जन्म हुआ।'

आयुर्वेदीय चरक संहिता भारतयुद्ध कालीन वैशम्पायन अपर नाम चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत है। उस में ग्रन्थसंस्कार काल (भारत-युद्ध काल) में १०० वर्ष मानव जीवन की सीमा कही है—**वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणस्मिन् काले** (शारीरस्थान ६।२६)।

इस प्रकार पाणिनीय ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्यों और अन्य प्राचीन प्रमाणभूत वाङ्मय के बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह सर्वथा सुनिश्चित हो जाता है कि पाणिनि का काल लगभग भारतयुद्ध से

---

१. पूर्व पृष्ठ २०२ टि० ३, ४ में उद्धृत पाठ। २. पूर्व पृष्ठ २०—२२।

२०० वर्ष पश्चात् अर्थात् २६०० विक्रम पूर्व है। किसी भी अवस्था में पाणिनि भारतयुद्ध से ३०० वर्ष से अधिक उत्तरवर्ती नहीं है।

डा० सत्यकाम वर्मा ने अपना 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' ग्रन्थ अभी-अभी प्रकाशित किया है। उन्होंने पाणिनि का काल पाश्चात्य इतिहास परम्परा के अनुसार ही स्वीकार किया है। हमें आश्चर्य इस बात पर है कि हमने पाणिनि के काल निर्णय के लिये जो अन्तःसाक्ष्य उपस्थित किये उन पर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। उन जैसे विद्वान् को इन पर कम से कम अपने विचार तो अवश्य प्रस्तुत करने चाहियें थे। वस्तुतः **गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः** कहावत को हीं उन्होंने चरितार्थ किया है। तात्त्विक चिन्तन का उन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया।

पाणिनि की महत्ता

पाणिनीय शब्दानुशासन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से विदित होता है कि पाणिनि न केवल शब्दशास्त्र का परिज्ञाता था, अपितु समस्त प्राचीन वाङ्मय में उसकी अप्रतिहत गति थी। वैदिक वाङ्मय[1] के अतिरिक्त भूगोल इतिहास, मुद्राशास्त्र और लोकव्यवहार आदि का भी वह अद्वितीय विद्वान् था। उसका शब्दानुशासन न केवल शब्दज्ञान के लिये अपितु प्राचीन भूगोल और इतिहास के ज्ञान के लिये भी एक महान् प्रकाशस्तम्भ है।[2] वह अतिप्राचीन और अर्वाचीन काल को जोड़ने वाला महान् सेतु है। महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के विषय में लिखता है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।[3]

अर्थात्—दर्भपवित्रपाणि प्रामाणिक आचार्य ने शुद्ध एकान्त स्थान में प्राङ्मुख बैठकर एकाग्रचित्त होकर बहुत प्रयत्नपूर्वक सूत्रों

---

१. शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इति ऋगर्थपरास्त्रयः। वेङ्कटमाधव मन्त्रार्थानुक्रमणी ऋग्भाष्य ८।१ के प्रारम्भ में। २. पाणिनीय व्याकरण में उल्लिखित प्राचीन वाङ्मय का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

३. महाभाष्य १।१।१, पृष्ठ ३६।

का प्रणयन[1]=प्रकरण विशेष में स्थापन किया है। अतः उस में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने बड़े सूत्र के आनर्थक्य का तो क्या कहना?

पुनः लिखा है—

सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।[2]

अर्थात्—सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्धरूपी सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं देखता।

अशेषशेमुषी-सम्पन्न तर्कप्रवण पतञ्जलि का पाणिनीय शास्त्र के विषय में उक्त लेख उसकी अत्यन्त महत्ता को प्रकट करता है।

जयादित्य '**उदक् च विपाशः**'[3] सूत्र की वृत्ति में लिखता है—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

अर्थात्—सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। वह साधारण से स्वर की भी उपेक्षा नहीं करता।

प्रसिद्ध चीनी यात्री **ह्यूनसांग** लिखता है—ऋषि ने पूर्ण मन से शब्दभण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये, और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची। प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था।[4] इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई।[5]

१२ वीं शताब्दी का ऋग्वेद का भाष्यकार वेङ्कटमाधव लिखता है—**शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः**।[6] अर्थात् ऋग्वेद के ज्ञाता तीन हैं—शाकल्य, पाणिनि और यास्क। वेङ्कटमाधव का यह लेख सर्वथा सत्य है। **वेदार्थ में स्वरज्ञान सब से प्रधान साधन है।** पाणिनि ने स्वरशास्त्र के सूक्ष्मविवेचन की दृष्टि से न केवल प्रत्येक

---

१. तुलना करो—'अग्निं प्रणयति' 'अपः प्रणयन्' आदि श्रौतप्रयोग। इसी दृष्टि से पतञ्जलि ने 'पाणिनीयं महत् सुविहितम्' का उल्लेख किया है (महा० ४।२।६६)। २. ६।१।७७॥ ३. अष्टा ४।२।७४॥

४. ह्यूनसांग के लेख से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि पाणिनीय ग्रन्थ पहिले छन्दोबद्ध था। ग्रन्थपरिमाण दर्शाने की यह प्राचीन शैली है।

५. ह्यूनसांग वाटर्स का अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २२१॥

६. मन्त्रार्थानुक्रमणी, ऋग्भाष्य ८, १ के आरम्भ में।

प्रत्यय तथा आदेश के ञित्, नित्, चित् आदि अनुबन्धों पर विशेष ध्यान रक्खा है अपितु लगभग ४०० सूत्र केवल स्वर-विशेष के परिज्ञान के लिये ही रचे। इससे पाणिनि की वेदज्ञता विस्पष्ट है।

पाणिनीय व्याकरण और माहेश्वर सम्प्रदाय—शिव=महेश्वर ने भी वेदाङ्गों का प्रवचन किया था, यह हम पूर्व (पृष्ठ ६२ में) लिख चुके हैं। पाणिनीय व्याकरण का सम्बन्ध शैव=माहेश्वर सम्प्रदाय के साथ है। यह बात प्रत्याहार सूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहने से ही स्पष्ट है। अङ्कोरवत् के शिलालेख में भी एक शैव-व्याकरण का निर्देश मिलता है। यहां भारत के समान यह किंवदन्ती भी प्रसिद्ध है कि शिवजी के डमरू बजाते ही व्याकरण के शिवसूत्र प्रकट हो गये। द्र०—बृहत्तर भारत पृष्ठ ३३२।

पाणिनीय व्याकरण और पाश्चात्य विद्वान्

अब हम पाणिनीय व्याकरण के विषय में आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का मत दर्शाते हैं[1]—

१. इङ्गलैण्ड देश का **प्रो० मोनियर विलियम्स** कहता है—'संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रक्खा'।

२. जर्मन देशज **प्रो० मैक्समूलर** लिखता है—'हिन्दुओं के व्याकरण अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याकरण साहित्य से चढ़ बढ़ कर है'।

३. **कोलब्रुक** का मत है—'व्याकरण के नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाये गये थे, और उन की शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थी'।

४. **सर W.W. हण्टर** कहता है—'संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोगविधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।…… यह मानव मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है'।

५. लेनिनग्राड के **प्रो० टी० शेरवात्सकी** ने पाणिनीय व्याकरण का कथन करते हुए उसे 'इन्सानी दिमाग की सब से बड़ी रचनाओं में से एक' बताया है।[2]

---

१. हम ने अगले ४ उद्धरण 'महान् भारत' पृष्ठ १४६, १५० से उद्धृत किये हैं। २. पं० जवाहरलाल लिखित 'हिन्दुस्तान की कहानी' पृष्ठ १३१।

क्या कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि का खण्डन करते हैं?

महाभाष्य का यत्किञ्चित् अध्ययन करने वाले और वह भी अनार्ष बुद्धि से, कहते हैं कि कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि के शतशः सूत्रों और सूत्रांशों का खण्डन करते हैं। इसी के आधार पर इन आर्षज्ञान-शून्य लोगों ने **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्**[1] ऐसा वचन भी घड़ लिया है। वस्तुत. अर्वाचीनों का यह मत सर्वथा अयुक्त है। यदि कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि के ग्रन्थ में इतनी अशुद्धियां समझते. तो न कात्यायन अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखता और न पतञ्जलि महाभाष्य, तथा न पतञ्जलि यह कहते कि इस शास्त्र में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है।[2] इस से मानना होगा कि कात्यायन और पतञ्जलि ने उन सूत्रों वा सूत्रांशों का खण्डन नहीं किया, अपितु अपने बुद्धिचातुर्य से प्रकारान्तर द्वारा प्रयोग-सिद्धि का निदर्शनमात्र कराया है। इसी दृष्टि से वर्धमान गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

द्वितीयतृतीयेत्यादिसूत्रं बृहत्तन्त्रे व्यर्थम्। गणसमाश्रयणमेव श्रेयः। पृष्ठ ७६।

अर्थात्—बृहत्तन्त्र (पाणिनीय तन्त्र) में द्वितीयतृतीय (२।२।३) सूत्र व्यर्थ है। उसका गणपाठ में आश्रयण करना अच्छा है।

कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा प्रदर्शित प्रकारान्तर-निर्देश से उत्तरवर्ती चन्द्रगोमी प्रभृति आचार्यों ने बहुत लाभ उठाया है। यह उत्तरवर्ती व्याकरण ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट है।

कृष्णचरित के रचयिता समुद्रगुप्त की सम्मति

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित के आरम्भ में मुनिकवि-वर्णन में वार्तिककार के लिये लिखा है—

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।

---

१. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।१।८०॥ नहि भाष्यकारमतमनादृत्य सूत्रकारस्य कश्चनाभिप्रायो वर्णयितुं युज्यते। सूत्रकारवार्तिककाराभ्यां तस्यैव प्रामाण्यदर्शनात्। तथा चाहुः—चतुष्कपञ्चकस्थानेषूत्तरोत्तरतो भाष्यकारस्यैव प्रामाण्यमिति। तन्त्रप्रदीप ७।१, १२, धातुप्रदीप भूमिका पृष्ठ २ में उद्धृत। इसका पूर्व भाग सर्वथा इतिहास विरुद्ध है। मैत्रेयरक्षित का उक्त कथन तभी सम्भव हो सकता है, जब पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि समकालिक हों।

२. महाभाष्य १।१।१॥ तथा 'सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्'। महाभाष्य ६।१।७७॥

अर्थात्—कात्यायन ने अपने वार्तिकों द्वारा पाणिनीय व्याकरण को पुष्ट किया था।

इससे भी स्पष्ट है कि अर्वाचीन आर्षज्ञान-विहीन वैयाकरणों का कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा पाणिनीय व्याकरण के खण्डन का उद्‌घोष सर्वथा अज्ञानमूलक है।

आधुनिक भारतीयों द्वारा पाणिनि की आलोचना—जिस पाणिनीय तन्त्र की प्रशंसा महाभाष्यकार पतञ्जलि जैसे पदवाक्य-प्रमाणज्ञ विद्वान् करते हैं, और कतिपय पाश्चात्य विद्वान् भी पाणिनि की सूक्ष्मेक्षिका का वर्णन करते हुए नहीं अघाते, उस पाणिनि को कतिपय विद्वान् अज्ञानी कहने में अपना गौरव समझते हैं।

बट कृष्ण घोष ने इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली भाग १० में लिखा है—'पाणिनि ऋक्प्रातिशाख्य को विना समझे नकल करता है।'

पं० विश्वबन्धु शास्त्री ने भी अथर्व प्रातिशाख्य के आरम्भ में शुक्ल याजुष प्रातिशाख्य के एक सूत्र की पाणिनि के सूत्र के साथ तुलना करके लिखा है—'यहां पाणिनि के व्याकरण में न्यूनता रह गई है'। द्र०—पृष्ठ ३४।

वस्तुतः इन महानुभावों ने न प्रातिशाख्यों को समझा है, और न पाणिनीय शास्त्र को। अपने ज्ञान के दर्प में ये पाणिनि को अज्ञ या अल्पज्ञ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः दोनों स्थानों पर पाणिनि के निर्देश में कोई दोष नहीं है।

पाणिनीय तन्त्र का आदि सूत्र

कैयट आदि वैयाकरणों का कथन है कि **'अथ शब्दानुशासनम्'** वचन भाष्यकार का है।[1] पाणिनीय तन्त्र का आरम्भ **'वृद्धिरादैच्'** सूत्र से होता है। यह कथन सर्वथा अयुक्त है। प्राचीन सूत्रग्रन्थों की रचनाशैली के अनुसार यह वचन पाणिनीय ही प्रतीत होता है। महाभाष्य के प्रारम्भ में भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—

अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

---

१. निर्णयसागर मुद्रित महाभाष्य भाग १ पृष्ठ ६। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ३।

इस वाक्य में 'प्रयुज्यते' क्रिया का कर्ता यदि पाणिनि माना जाय, तब तो इसकी उत्तरवाक्य से संगति ठीक लगती है। अन्यथा 'प्रयुज्यते' क्रिया का कर्त्ता पतञ्जलि होगा, और 'अधिकृतम्' का पाणिनि। क्योंकि शास्त्र का रचयिता पाणिनि ही है। विभिन्न कर्त्ता मानने पर यहां एकवाक्यता नहीं बनती।

अब हम '**अथ शब्दानुशासनम्**' सूत्र के पाणिनीय होने में प्राचीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१. अष्टाध्यायी के कई हस्तलेखों का आरम्भ इसी सूत्र से होता है।[1]

२. काशिका और भाषावृत्ति में अन्य सूत्रों के सदृश इस की भी व्याख्या की है, अर्थात् उन्होंने पाणिनीय ग्रन्थ का आरम्भ यहीं से माना है।

३. भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य लिखता है—

व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनिः प्रयोजननामनी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते—अथ शब्दानुशासनमिति।[2]

अर्थात्—व्याकरणशास्त्र का आरम्भ करते हुए भगवान् पाणिनि ने शास्त्र का प्रयोजन और नाम बताने के लिये '**अथ शब्दानुशासनम्**' सूत्र रचा है।

४. मनुस्मृति का व्याख्याता मेधातिथि इस को पाणिनीय सूत्र मानता है। वह लिखता है—

पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते। तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् 'अथ शब्दानुशासनम्' इति सूत्रसन्दर्भमारभते।[3]

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के संग्रह में सं० १९६२ की लिखी पुस्तक। यह इस समय श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में है। दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय की एक लिखित पुस्तक। सं० १९४४ विक्रम में प्रो० बोटलिंक द्वारा मुद्रित अष्टाध्यायी। देखो, प्रो० रघुवीर एम० ए० द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित अष्टाध्यायी-भाष्य, भाग १, पृष्ठ १।

२. भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति के प्रारम्भ में। ३. मनुस्मृति टीका १।१। पृष्ठ १।

अर्थात्—सब पौरुषेय ग्रन्थों में भी ग्रन्थ के प्रयोजन का कथन नहीं होता। भगवान् पाणिनि ने अपने शास्त्र का प्रयोजन विना कहे 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यादि सूत्रसमूह का आरम्भ किया है।

५. न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका ३।४।२६ की व्याख्या में लिखता है—

शब्दानुशासनप्रस्तावादेव हि शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देशस्तत्र स्वं रूपं गृह्यते, नार्थपरनिर्देश इति ज्ञापनार्थम्।[1]

अर्थात्—शब्दानुशासन के प्रस्ताव से ही शब्द का संबन्ध सिद्ध है। पुनः 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'[2] सूत्र में शब्दग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि जहां शब्दप्रधान निर्देश होता है, वहीं रूपग्रहण होता है, अर्थप्रधान में नहीं।

यहां न्यासकार को शब्दानुशासनप्रस्ताव से 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र ही अभिप्रेत है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र पाणिनीय ही है। अत एव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायी-भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—

इदं सूत्रं पाणिनीयमेव। प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति।[3] **दृश्यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेष्वादौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि।**

कैयट आदि ग्रन्थकारों को 'वृद्धिरादैच्'[4] सूत्र के 'मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इस महाभाष्य के वचन से भ्रान्ति हुई है। और इसी के आधार पर अर्वाचीन वैयाकरण प्रत्याहारसूत्रों को भी अपाणिनीय मानते हैं।

क्या प्रत्याहारसूत्र अपाणिनीय हैं?

भर्तृहरि से लेकर भट्टोजि दीक्षित पर्यन्त पाणिनीय वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहारसूत्र महेश्वरविरचित हैं,[5] अर्थात् अपाणिनीय

---

१. न्यास भाग १, पृष्ठ ७५५। २. अष्टा० १।१।६८॥

३. द्र०—पृष्ठ २१०, टि० १। ४. अष्टा० १।१।१॥

५. तत्कथं शिवसमुदाये कार्यभाजिनि अवयवा न लक्ष्यन्ते। महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १७५। इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थकानि। सिद्धान्तकौमुदी के प्रारम्भ में।

हैं। यह मत सर्वथा अयुक्त है। इनको अपाणिनीय मानने में नन्दिकेश्वरकृत काशिका के अतिरिक्त कोई प्राचीन सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय हैं, इस विषय में अनेक प्रमाण हैं। वर्तमान समय में सब से प्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने अष्टाध्यायीभाष्य में महाभाष्य का निम्न प्रमाण उपस्थित किया है—[1]

१. हयवरट्[2] सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है—

एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽक्षु हलो हल्षु।

महाभाष्य में आचार्य पद का व्यवहार केवल पाणिनि और कात्यायन दो के लिये हुआ है। यहां आचार्य पद का निर्देश कात्यायन के लिये नहीं है, अतः प्रत्याहारसूत्रों का रचयिता पाणिनि ही है।

२. वृद्धिरादैच्[3] सूत्र के महाभाष्य में वृद्धि और आदैच् पद का साधुत्व प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—

कृतमनयोः साधुत्वम्, कथम् ? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् क्तिन् प्रत्ययः। आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः।

इस वाक्य में '**कृतम्**' तथा '**उपदिष्टाः**' दोनों क्रियाओं का प्रयोग बता रहा है कि वृध धातु क्तिन् प्रत्यय और आदैच् प्रत्याहार इन सब का उपदेश करने वाला एक ही व्यक्ति है।

३. संवत् ६८७ के लगभग होने वाला स्कन्दस्वामी निरुक्त १।१ की टीका में प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनीय लिखता है—

नापि 'अइउण्' इति पाणिनीयप्रत्याहारसमाम्नायवत्......।[4]

४. सं० ११०० के लगभग होने वाला[5] आश्चर्यमञ्जरी का कर्त्ता कुलशेखरवर्मा प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनिविरचित मानता है—

पाणिनिप्रत्याहार इव महाप्राणझषाश्लिष्टो झषालंकृतश्च—(समुद्रः)।[6]

---

१. भाग १, पृष्ठ १२। २. प्रत्याहारसूत्र ५।
३. अष्टा० १।१।१॥ ४. निरुक्त टीका भाग १, पृष्ठ ८।
५. सं० सा० का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ४०१।
६. अमरटीकासर्वस्व भाग १, पृष्ठ १८६ पर उद्धृत।

५–९. पुरुषोत्तमदेव, सृष्टिधराचार्य, मेधातिथि, न्यासकार और जयादित्य के मत में 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र पाणिनीय है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] अतः उन के मत में प्रत्याहारसूत्र भी पाणिनीय हैं, यह स्वयंसिद्ध है।

१०. अष्टाध्यायी के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में 'हल्'[2] सूत्र के अनन्तर 'इति प्रत्याहारसूत्राणि' इतना ही निर्देश मिलता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय हैं।

भ्रान्ति का कारण—इस भ्रम का कारण अत्यन्त साधारण है। महाभाष्यकार ने 'वृद्धिरादैच्'[3] सूत्र पर लिखा है—**माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते।**

अर्थात्—आचार्य पाणिनि मङ्गल के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में वृद्धि शब्द का प्रयोग करता है।

महाभाष्य की इस पंक्ति में 'आदि' पद को देख कर अर्वाचीन वैयाकरणों को भ्रम हुआ है कि पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ '**वृद्धिरादैच्**' से होता है, अर्थात् उससे पूर्व के सूत्र पाणिनीय नहीं हैं।

इस पर विचार करने से पूर्व आदि मध्य और अन्त शब्दों के व्यवहार पर ध्यान देना आवश्यक है। महाभाष्यकार ने '**भूवादयो धातवः**'[4] सूत्र पर लिखा है—

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वकारागमं प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते।

इस पङ्क्ति में पाणिनीय शास्त्रान्तर्गत आदि मध्य और अन्त के तीन मङ्गलों की ओर संकेत किया है, और '**भूवादयो धातवः**' सूत्र के वकारागम को शास्त्र का मध्य मङ्गल कहा है।

काशिकाकार '**नोदात्तस्वरितोदयम्**'[5] इत्यादि सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

उदात्तपरस्येति वक्तव्ये उदयग्रहणं मङ्गलार्थम्।

---

१. पूर्व पृष्ठ २१०–२११।
२. प्रत्याहारसूत्र १४।
३. अष्टा० १।१।१॥
४. अष्टा० १।३।१॥
५. अष्टा० ८।४।६७॥

यह शास्त्र के अन्त का मङ्गल है।

इन उद्धरणों में प्रयुक्त आदि मध्य और अन्त शब्दों पर ध्यान देने से विदित होगा कि मध्य और अन्त शब्द यहां अपने मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। यह विस्पष्ट है, क्योंकि 'भूवादयो धातवः' शास्त्र के ठीक मध्य में नहीं है। इसी प्रकार 'नोदात्तस्वरितोदयम्' सूत्र भी सर्वान्त में नहीं है, अन्यथा शास्त्र के अन्तिम सूत्र 'अ अ'[1] को अपाणिनीय मानना होगा। महाभाष्यकार ने 'अइउण्'[2] सूत्र पर 'अ अ' को पाणिनीय माना है।[3] अतः महाभाष्य के उपर्युक्त उद्धरणों में आदि मध्य और अन्त शब्द सामीप्यादि सम्बन्ध द्वारा लक्षणार्थ में प्रयुक्त हुए हैं, यह स्पष्ट है।

आदि और अन्त शब्द का इस प्रकार लाक्षणिक प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होता है। नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक आचार्य वररुचि अपने निरुक्तसमुच्चय के प्रारम्भ में लिखता है—

मन्त्रार्थज्ञानस्य शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति।[4]

शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति।[5]

इन दोनों उद्धरणों में क्रमशः निरुक्त १।१८ और १३।१३ के पाठ को निरुक्त के आदि और अन्त का पाठ लिखा है। क्या इससे आचार्य वररुचि के मत में निरुक्त का प्रारम्भ 'योऽर्थज्ञ' से माना जायगा? वररुचि ने अपने ग्रन्थ में निरुक्त १।१८ से पूर्व के अनेक पाठ उद्धृत किये हैं।[6]

अतः ऐसे वचनों के आधार पर इस प्रकार के भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों की कल्पना करना सर्वथा अयुक्त है। इसलिये पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ 'अथ शब्दानुशासनम्' से

---

१. अष्टा० ८।४।६८॥ २. प्रत्याहारसूत्र १।

३. यदयम् 'अ अ' इत्यकारस्य विवृतस्य संवृतताप्रत्यापत्तिं शास्ति।

४. निरुक्तसमुच्चय (हमारा संस्करण) पृष्ठ १।

५. निरुक्तसमुच्चय (हमारा संस्करण) पृष्ठ १।

६. निरुक्तसमुच्चय (हमारा संस्करण) पृष्ठ १,२,३ इत्यादि।

समझना चाहिये, और प्रत्याहारसूत्र भी पाणिनीय ही मानने चाहियें। यही युक्तियुक्त है।

इसी प्रकार की एक भूल कात्यायनकृत वार्तिकपाठ के सम्बन्ध में भी हुई है। इसका निर्देश हम कात्यायन के प्रकरण में करेंगे।

पाणिनीय और आपिशल शिक्षा के प्रकरणविच्छेद के साथ अष्टाध्यायी के अध्यायों की तुलना की जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे दोनों की शिक्षाओं में प्रथम स्थान प्रकरण से पूर्व पठित सूत्र उसके उपोद्घात रूप हैं, और आठ प्रकरणों से बहिर्भूत होते हुए भी शिक्षा के अङ्ग हैं, उसी प्रकार अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय का आरम्भ 'वृद्धिरादैच्' से होने पर भी **'अथ शब्दानुशासनम्'** और प्रत्याहारसूत्र अध्यायविच्छेद से बहिर्भूत होते हुए भी अष्टाध्यायी के अङ्ग और पाणिनि द्वारा ही प्रोक्त हैं।

अष्टाध्यायी के पाठान्तर

पहले हमारा विचार था कि पाणिनि के खिल ग्रन्थों[1] में ही पाठान्तर अधिक हुए हैं, अष्टाध्यायी का पाठ प्रायः सुरक्षित रहा है। परन्तु शतशः ग्रन्थों का पारायण करने पर विदित हुआ कि सूत्रपाठ में भी पर्याप्त पाठान्तर हो चुके हैं। हां, इतना ठीक है कि अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इस में पाठान्तर स्वल्प हैं। हमने व्याकरण के सब मुद्रित ग्रन्थों और अन्य विषय के विविध ग्रन्थों का पारायण करके सूत्रपाठ के लगभग डेढ़ सौ पाठान्तर संगृहीत किये हैं।[2]

पाठान्तरों के तीन भेद—पाणिनीय सूत्रपाठ के जितने पाठान्तर उपलब्ध होते हैं, उन्हें हम तीन भागों में बांट सकते हैं। यथा—

१—कुछ पाठान्तर ऐसे है, जो पाणिनि के स्वकीय प्रवचनभेद से उत्पन्न हुए हैं। यथा—**उभयथा[3] ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रति-**

१. धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन ये अष्टाध्यायी के खिल अर्थात् परिशिष्ट माने जाते हैं। देखो काशिका १।३।२॥

२. रामलाल कपूर ट्रस्ट से मुद्रित अष्टाध्यायी के विशेष संस्करण (सं० २०२८) में हमने ये सब पाठभेद दे दिये हैं।

३. काशिका ६।२।१०४ में उदाहरण है—'पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः'। इन उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि पाणिनि ने बहुधा अष्टाध्यायी का प्रवचन किया था।

पादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति।[1]

शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति। ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणम्—उभयथा सूत्रप्रणयनात्।[2]

२—वृत्तिकारों की व्याख्याओं के भेद से। यथा—जरद्भिरित्यपि पाठः केनचिदाचार्येण बोधितः।[3]

काण्डेविद्धिभ्य इत्यन्ये पठन्ति।[4]

सम्भव है ये पाठभेद भी आचार्य के प्रवचन-भेद से हुए हों, और वृत्तिविशेषों में सुरक्षित रहे हों।

३—लेखक आदि के प्रमाद से। यथा—एवं चटकावैरगित्येतत् सूत्रमासीत्। इदानीं प्रमादात् चटकाया इति पाठः।[5]

ग्रन्थकार के प्रवचनभेद से उत्पन्न पाठान्तर अत्यन्त स्वल्प हैं। वृत्तिकारों के व्याख्याभेद और लेखकप्रमाद से हुए पाठान्तर अधिक है।[6]

क्या सूत्रों में वार्तिकांशों का प्रक्षेप काशिकाकार का है ?

कैयट[7] हरदत्त[8] आदि[9] वैयाकरणों का मत है कि जिन जिन सूत्रों में वार्तिकांशों का पाठ मिलता है, वह काशिकाकार का प्रक्षेप है। परन्तु हमारा विचार है कि ये प्रक्षेप काशिकाकार के नहीं हैं, अपितु उससे बहुत प्राचीन हैं। हमारे इस विचार में निम्न कारण हैं—

पाणिनि का सूत्र है—अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च।[10] इस पर महाभाष्य में वार्तिक पढ़ा है—घञ्विधाववहाराधारावायानामुप-

१. महाभाष्य १।४।१॥ २. काशिका ४।१।११७॥ देखो इस सूत्र का न्यास—'उभयथा ह्येतत् सूत्रमाचार्येण प्रणीतम्'।

३. पदमञ्जरी २।१।६७। भाग १, पृष्ठ ३८४।

४. पदमञ्जरी ४।१।८१। भाग २, पृष्ठ ७०॥ ५. न्यास ४।१।१२८॥

६. पं० रामशंकर भट्टाचार्य ने हमारे द्वारा संगृहीत तथा स्वयं संगृहीत अष्टाध्यायी के पाठान्तरों का संकलन 'सारस्वती सुषमा' (काशी सं० वि० वि०) के चैत्र सं० २००६ के अङ्क (७।१) में प्रकाशित किया है।

७. ३।३।१२१॥ ८. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ २२३, ६६४। भाग २, पृष्ठ १२०, ४७३, ५८२। ९. दीक्षित, शब्दकौस्तुभ ४।४।१७, पृष्ठ २०७। १०. अष्टा० ३।३।१२२॥

संख्यानम् ।[1] काशिकाकार ने 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारा-वायाश्च'[2] पाठ मानकर चकार से 'अवहार' प्रयोग का संग्रह किया है। यदि वार्तिकान्तर्गत 'आधार' और 'आवाय' पदों का सूत्रपाठ में प्रक्षेप काशिकाकार ने किया होता, तो वह वार्तिक-निर्दिष्ट तृतीय 'अवहार' पद का भी प्रक्षेप कर सकता था। परन्तु वह उसका प्रक्षेप न करके चकार से संग्रह करता है।

२—पाणिनि के 'आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च'[3] सूत्र के विषय में महाभाष्य में वार्तिक पढ़ा है—लपिदभिभ्यां च।[4] काशिकाकार ने 'आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च'[5] सूत्रपाठ माना है, और 'दाम्यम्' प्रयोग की सिद्धि चकार से दर्शाई है। यदि सूत्रपाठ में 'लपि' का प्रक्षेप काशिकाकार ने किया, तो 'दभि' का क्यों नहीं किया? अतः 'दाम्यम्' प्रयोग की सिद्धि के लिये सूत्रपाठ में 'दभि' का पाठ न करके चकार से संग्रह करना इस बात का ज्ञापक है कि इस प्रकार के प्रक्षेप काशिकाकार के नहीं हैं।

३—लाक्षारोचनाट्ठक्[6] सूत्र पर वार्तिक है—ठक्प्रकरणे शकल-कर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्। काशिकाकार ने लाक्षारोचनाशकलकर्द-माट्ठक्[7] सूत्र मान कर लिखा है—'शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते'[8] शाकलम्, कार्दमम्। काशिकाकार से प्राचीन चान्द्र व्याकरण में 'शकलकर्दमाद्वा'[9] ऐसा सूत्र पढ़ा है। यदि सूत्रपाठ में शकल कर्दम का प्रक्षेप जयादित्य ने किया होता, तो वह 'शकलकर्दमाभ्यामण-पीष्यते' ऐसी इष्टि न पढ़ कर सीधा 'शकलकर्दमाद्वा' सूत्र बनाकर प्रक्षेप करता।

४—काशिकाकार ७।२।४९ पर लिखता है—'केचिदत्र भरज्ञपि-सनितनिपतिदरिद्राणामिति पठन्ति'।

अर्थात्—कई वृत्तिकार इस सूत्र में तनि, पति, दरिद्रा ये तीन धातुएं अधिक पढ़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि किन्हीं प्राचीन वृत्तियों में इस सूत्र का बृहत् पाठ विद्यमान होने पर भी वामन ने उस पाठ को

---

१. अ० ३।३।१२१॥ २. काशिका ३।३।१२२॥
३. अष्टा० ३ । १ । १२६ ॥ ४. अष्टा० ३ । १ । १२४ ॥
५. काशिका ३ । १ । १२६ ॥ ६. अष्टा० ४ । २ । २ ॥
७. महाभाष्य ४ । २ । २ ॥ ८. काशिका ४ । २ । २ ॥
९. चान्द्र ३।१।२॥ जैनेन्द्र शब्दार्णव-चन्द्रिका ३।२।२ में भी यही पाठ है।

स्वीकार नहीं किया। यदि उसे प्रक्षेप करना इष्ट होता, तो वह यहां भी इन धातुओं का प्रक्षेप कर सकता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि काशिकाकार जहां जहां बृहत् पाठ को पाणिनीय मानता था, वहीं वहीं उसने उसे स्वीकार किया है।

काशिकाकार पर अर्वाचीनों के आक्षेप

जिस प्रकार काशिकाकार पर प्राचीन वैयाकरणों ने पाणिनीय सूत्रपाठ में वार्तिकांशों के प्रक्षेप का आक्षेप किया है, उसी प्रकार अर्वाचीन लोग भी चन्द्रगोमी के वैशिष्ट्य और उस के सूत्रपाठ को पाणिनीय पाठ में सन्निविष्ट करने का आक्षेप काशिकाकार पर लगाते हैं।

प्रो० कीलहार्न कहते हैं—'काशिकाकार ने चन्द्रगोमी की सामग्री का अपनी वृत्ति-रचना में पर्याप्त उपयोग किया है। इसलिए कात्यायन के वार्तिकों के आधार पर रचित चन्द्रगोमी के कुछ सूत्रों को भी काशिकाकार ने पाणिनि के मौलिक सूत्रों के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया।'[1]

प्रो० बेल्वाल्कर लिखते हैं—'चन्द्रगोमी द्वारा प्रस्तुत किए गए सम्पूर्ण संशोधनों को पाणिनीय सम्प्रदाय में अन्तर्भूत करके उपस्थित करना ही काशिकाकार का उद्देश्य था।'[2]

हमारे विचार में काशिकाकार पर लगाए गए ये आक्षेप नितान्त असत्य हैं। काशिकाकार ने कहीं पर भी चान्द्र सूत्रपाठ को पाणिनीय सूत्रपाठ में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न नहीं किया। अपनी इस स्थापना के लिये हम उपरि निर्दिष्ट सूत्रों को ही उपस्थित करते हैं।

१—पाणिनि का **'अध्यायन्यायोद्याव०'** सूत्र चान्द्र व्याकरण में है ही नहीं। इस सूत्र और इस के वार्तिक में पढ़े कतिपय शब्दों का १।३।१०१ की वृत्ति में बहुलाधिकार द्वारा साधुत्व कहा है। अतः उक्त पाणिनीय सूत्र का काशिकाकार का पाठ चान्द्र पाठ पर आश्रित नहीं है, यह स्पष्ट है।

२—पाणिनि के **आसुयुवपिरपि०** सूत्र का चान्द्र पाठ है—**आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमिदमः** (१।१।१३३)। इस पाठ से तो यह विदित

---

१. 'सं० व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' में पृष्ठ ८२, ८३ पर उद्धृत। २. वही, पृष्ठ १०० पर उद्धृत।

होता है कि चन्द्र के सन्मुख पाणिनि का काशिकाकार संमत **आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च** पाठ ही विद्यमान था, उसी में उसने वार्तिकोक्त **दभि** अंश का प्रक्षेप **चम** के अन्त में किया। यदि उसके पास पाणिनि का लघु **आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च** सूत्रपाठ होता, तो वह वार्तिकोक्त **लपिदभि** धातुओं को इकट्ठा एक स्थान में ही सन्निविष्ट करता, न कि **लपि** को मध्य में और **दभि** को अन्त में। इतना ही नहीं, यदि काशिकाकार यहां चन्द्र का अनुकरण कर रहा है, तो उस ने **दभि** का प्रक्षेप क्यों नहीं किया ? इससे दो बातें स्पष्ट हैं, एक तो काशिकाकार ने चन्द्र का अनुकरण नहीं किया, दूसरा चन्द्र के पास भी इस सूत्र का काशिकाकार सम्मत बृहत् पाठ ही पाणिनीय सूत्र के रूप में विद्यमान था।

३—काशिकाकार का **लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट्ठक्** सूत्रपाठ यदि चान्द्र पाठ पर आश्रित होता, तो काशिकाकार चन्द्रगोमी के प्रत्यक्ष पठित **शकलकर्दमाद्वा** सूत्र के होते हुए उसी रूप से प्रक्षेप न करके **शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते** ऐसी इष्टि न पढ़ता। यह इष्टि पढ़ना ही बताता है कि काशिकाकार ने चान्द्र सूत्र पाठांश को पाणिनीय पाठ में प्रक्षिप्त नहीं किया। हां, उसके मत को इष्टि के रूप में संगृहीत कर दिया।

४—काशिकाकार ने ७।२।४९ पर लिखा है—'**केचिदत्र भरज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणाम् इति पठन्ति**'। चन्द्रगोमी का सूत्र है—**सनिवन्तर्ध ज्ञपिसनितनिपतिदरिद्रः** (५।४।११९)। यदि काशिकाकार ने अन्यत्र चान्द्र सूत्रांशों का पाणिनीय सूत्रपाठ में प्रक्षेप किया होता, तो वह यहां पर सीधा प्रक्षेप करके **केचित् पठन्ति** का निर्देश न करता।

इन उदाहरणों से ही स्पष्ट है कि काशिकाकार पर प्रो० कीलहार्न और डा० बेल्वाल्कर के लगाए गए आक्षेप सर्वथा निर्मूल हैं। इस विवेचना से इतना तो व्यक्त है कि काशिकाकार ने स्ववृत्ति की रचना में जहां पाणिनितन्त्र की प्राचीन वृत्तियों से सहारा लिया, वहां चान्द्र आदि प्राचीन व्याकरणों और उन की वृत्तियों से भी उपयोगी अंश स्वीकार किये। परन्तु काशिकाकार ने पाणिनीय सूत्रपाठ में वार्तिकांशों का अथवा चान्द्र सूत्रांशों का प्रक्षेप किया, यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। काशिकाकार के संमुख पाणिनीय

अष्टाध्यायी के लघु और बृहत् दोनों पाठ थे। उन में से उसने पाणिनि के बृहत् पाठ पर अपनी वृत्ति रची, और वह बृहत् पाठ प्राच्य पाठ था, हम यह अनुपद लिखेंगे।

हमारे द्वारा इतने स्पष्ट प्रमाण उद्धृत करने पर भी डा० सत्यकाम वर्मा ने काशिका में विद्यमान पाठभेदों का उत्तरदायित्व काशिकाकार पर डालने की कैसे चेष्टा की, यह हमारी समझ में नहीं आता। क्या इस का कारण कैयट आदि भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मत का विवेचना विना किये स्वीकार कर लेना नहीं है?

अष्टाध्यायी का त्रिविध पाठ

पूर्व पृष्ठ २१५,२१६ पर हमने पतञ्जलि और जयादित्य जैसे प्रामाणिक आचार्यों के उद्धरणों से यह प्रतिपादन किया है कि आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र का अनेक बार और अनेकधा प्रवचन किया है। इस की पुष्टि काशिका ६।२।१०४ के **पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः** उदाहरणों से भी होती है। उस प्रवचनभेद से ही मूल शास्त्र में भी कुछ भेद होगया है। आचार्य ने जिन शिष्यों को जैसा भी प्रवचन किया, उन की शिष्य-परम्परा में वही पाठ प्रचलित रहा। अष्टाध्यायी और उस के खिल पाठ (धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ) के विविध पाठों का सूक्ष्म अन्वेक्षण करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आचार्य पाणिनि के पञ्चाङ्ग व्याकरण का ही त्रिविध पाठ है। वह पाठ सम्प्रति प्राच्य उदीच्य और दाक्षिणात्य भेद से त्रिधा विभक्त है।

प्राच्य पाठ—अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर काशिका वृत्ति है, वह प्राच्य पाठ है।

उदीच्य पाठ—क्षीरस्वामी आदि कश्मीरदेशीय विद्वानों से आश्रीयमाण पाठ उदीच्य पाठ है।

दाक्षिणात्य पाठ—जिस पाठ पर कात्यायन ने अपने वार्तिक लिखे हैं, वह दाक्षिणात्य पाठ है।

वृद्ध लघु पाठ—ये तीन पाठ दो विभागों में विभक्त हैं—वृद्ध पाठ और लघुपाठ। प्राच्यपाठ वृद्धपाठ है, और उदीच्य तथा दाक्षिणात्य पाठ लघुपाठ हैं। उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठों में अवान्तर भेद अति स्वल्प है।

धातुपाठ, गणपाठ और उणादिपाठ के उक्त पाठवैविध्य का वर्णन हम ने उन उन प्रकरणों में यथास्थान किया है। इस के लिए (द्वितीय भाग में) पाठक तत्तत्प्रकरण देखें।

अन्य शास्त्रों के विविध पाठ— यह पाठवैविध्य अनेक प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। किसी के वृद्ध लघु दो पाठ हैं, तो किसी के वृद्ध मध्यम और लघु तीन पाठ। यथा—

१—निरुक्त की दुर्ग और स्कन्द की टीकाएं लघुपाठ पर हैं, और सायण द्वारा ऋग्भाष्य में उद्धृत पाठ वृद्धपाठ है। निरुक्त के दोनों पाठों के द्विविध हस्तलेख अद्ययावत् उपलब्ध होते हैं।

२—मनु और चाणक्य के साथ बहुत्र वृद्ध विशेषण देखा जाता है। वृद्धमनु के अनेक वचन वर्तमान मनुस्मति में उपलब्ध नहीं होते। वर्तमान मनुपाठ लघु पाठ है। चाणक्यनीति के वृद्ध और लघु पाठ आज भी उपलब्ध हैं।

३—हारिद्रवीय गृह्य के महापाठ का एक वचन कौषीतकि गृह्य की भवत्रात टीका पृष्ठ ६६ पर उद्धृत है।

४—भरत-नाटयशास्त्र के १८००० श्लोकों का वृद्धपाठ, १२००० श्लोकों का मध्यपाठ और ६००० श्लोकों का लघुपाठ था। वर्तमान नाटयशास्त्र का पाठ लघुपाठ है। बड़ोदा के संस्करण में कहीं-कहीं [ ] कोष्ठान्तर्गत मध्य अथवा वृद्धपाठ भी निर्दिष्ट हैं।

डा० सत्यकाम वर्मा को अष्टाध्यायी के लघु और बृहत् पाठ पर आपत्ति है। उन का कहना है कि—'क्या अष्टाध्यायी का बृहत्पाठ स्वीकार करते ही पातञ्जल महाभाष्य का अधिकांश विचार निरर्थक नहीं रह जाता? और सब से बड़ी बात तो यह है कि जो बात पतञ्जलि और कात्यायन सदृश पाणिनि के निकटवर्ती वैयाकरणों को ज्ञात नहीं थी, उसे उन से भी आठ नौ सदी बाद आनेवाले वृत्तिकार जयादित्य वा वामन कैसे जान पाये?' (पृष्ठ १४५)।

इस पर हमें यही कहना है कि डा० सत्यकाम वर्मा का लेख उन के स्वलेख के ही विपरीत है। वे इस से पूर्व पृष्ठ १४४ पर लिखते हैं—'इन शिष्यों में से कुछ ने पहले सूत्रपाठ को पढ़ा और प्रामाणिक माना होगा, जब कि कुछ ने दूसरे को। यदि इसे स्वीकार कर लिया

जाये, तो उन की पूर्व आपत्ति स्वयं समाहित हो जाती है। कात्यायन इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जिस को हम लघुपाठ कहते हैं। उन्होंने उसी पाठ पर अपने वार्तिक लिखे। भाष्यकार ने कात्यायन के वार्तिकपाठ पर ही भाष्य रचा। बृहत्पाठ अन्य परम्परा में सुरक्षित रहा। उस पर जयादित्य वा वामन ने अपनी वृत्ति लिखी। हम लिख चुके हैं कि दाक्षिणात्य और औदिच्यपाठ लघुपाठ हैं। कात्यायन भी दाक्षिणात्य है, अतः उसकी परम्परा में लघुपाठ ही प्रचलित था।

पाणिनीय शास्त्र के नाम

पाणिनीय शास्त्र के चार नाम उपलब्ध होते हैं—अष्टक, अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन और वृत्तिसूत्र।

अष्टक, अष्टाध्यायी– पाणिनीय ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, अतः उसके ये नाम प्रसिद्ध हुए। इनमें अष्टाध्यायी नाम सर्वलोकविश्रुत है।

शब्दानुशासन—यह नाम महाभाष्य के आरम्भ में मिलता है। वहां लिखा है—**अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ।**[1]

आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन और योगानुशासन भी तत्तद् विषयक ग्रन्थों के नाम हैं।

वृत्तिसूत्र—पाणिनीय सूत्रपाठ के लिये 'वृत्तिसूत्र' पद का प्रयोग महाभाष्य में दो स्थानों पर उपलब्ध होता है।[2] चीनी-यात्री इत्सिंग ने भी इस नाम का निर्देश किया है।[3] जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी में उद्धृत एक श्लोक में वृत्तिसूत्र का उल्लेख मिलता है।[4] नागेश ने महाभाष्य २।१।१ के प्रदीपविवरण में लिखा है—

पाणिनीयसूत्राणां वृत्तिसद्भावाद् वार्त्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वैषम्यबोधनायेदम् ।

---

१. महाभाष्य की प्रथम पंक्ति। २. महाभाष्य २।१।१, पृष्ठ ३७१। २।२।२४, पृष्ठ ४२४। ३. इत्सिंग की भारतयात्रा, पृष्ठ २६८।

४. वृत्तिसूत्रं तिला माषाः कपत्री कोद्रवौदनम् । अजडाय प्रदातव्यं जडीकरणमुत्तमम् ॥ पृष्ठ ४१८। पं० गुरुपद हालदार ने लिखा है—भाष्य के अतिरिक्त 'वृत्तिसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता (व्या० द० इ० पृष्ठ ३६४)। यह लेख ठीक नहीं।

अर्थात् पाणिनीय सूत्र पर वृत्तियां हैं, वार्तिकों पर नहीं। अतः दोनों में भेद दर्शाने के लिये पाणिनीय सूत्रों के लिये वृत्तिसूत्र पद का प्रयोग किया है।

नागेश का **'वार्तिकानां तदभावात्'** हेतु सर्वथा ठीक है। भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में दो स्थानों पर वार्तिक के लिये **'भाष्यसूत्र'** पद का व्यवहार किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि वार्तिकों पर भाष्य ग्रन्थ ही लिखे गए, वृत्तियां नही लिखी गईं। पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियां ही लिखी गईं, उन पर सीधे भाष्य ग्रन्थों की रचना नहीं हुई।

अन्य कारण—वृत्तिसूत्र नाम का एक अन्य कारण भी सम्भव है। यास्क ने लिखा है—

संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति। २। १॥

यहां वृत्ति का अर्थ व्याकरणशास्त्र है।

पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि ४। २२ की स्वोपज्ञ वृत्ति में लिखा है—

विशेषणं विशेष्येण इति वृत्तिः।

यहां **विशेषणं विशेष्येण** यह पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण १।३। ५२ का सूत्र है।

इस आधार पर वृत्तिसूत्र का अर्थ होगा व्याकरणसूत्र।

अपर कारण—वृत्ति शब्द का अर्थ पतञ्जलि ने शास्त्रप्रवृत्ति किया है।[2] वैयाकरणों में व्याकरणशास्त्रीय सुप् कृत तिङ् आदि पांच वृत्तियां अथवा प्रवृत्तियां प्रसिद्ध हैं। तदनुसार वृत्तिसूत्र शब्द का अर्थ होगा सुप् आदि वृत्तियों के शास्त्र-प्रवृत्तियों के बोधक सूत्र।

पं० गुरुपद हालदार ने 'वृत्तिसूत्र' पद का अर्थ न समझ कर विविध कल्पनाएं की हैं[3], वे चिन्त्य हैं।

मूलशास्त्र—गार्ग्य गोपालयज्वा अपनी तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की टीका में पाणिनीय शास्त्र का निर्देश **मूलशास्त्र** के नाम से करता है। यथा—

क—मूलशास्त्रे त्ववर्णपूर्वस्यापि कस्यचित् 'रोरि' इति लोपः स्मर्यते।[4]

---

१ महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २८१, २८२। २. महाभाष्य १।१, आ० १ के अन्त में। ३. व्या० द० इतिहास, पृष्ठ ३६४। ४. तै० प्रा० ८। १६, मैसूर सं०, पृष्ठ २४।

ख— तदुक्तं मूलशास्त्रे 'ओमभ्यादाने' अच: प्लुत इति ।[1]

गोपालयज्वा का पाणिनीय शास्त्र को मूलशास्त्र कहने में क्या अभिप्राय है, यह हमें ज्ञात नहीं । हो सकता है वह प्रातिशाख्यों को अथवा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को पाणिनीयमूलक समझता हो । यदि उसका यही अभिप्राय हो, तो यह उसकी भ्रान्ति है । तै० प्रा० पाणिनीय शास्त्र से निश्चित ही प्राचीन है ।

अष्टिका—पाणिनीयाष्टक का एक नाम **अष्टिका** भी है ।[2]

पाणिनीय शास्त्र का मुख्य उपजीव्य

पाणिनीय अष्टाध्यायी एवं पाणिनीय शिक्षा में जिस प्रकार आठ अध्याय एवं आठ प्रकरण हैं, उसी प्रकार पाणिनि से पूर्वभावी आपिशलि के शब्दानुशासन एवं शिक्षा में भी आठ अध्याय और आठ प्रकरण हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं ।[3] दोनों आचार्यों के दोनों ग्रन्थों में वर्तमान यह समानता यह इङ्गित करती है कि पाणिनीय तन्त्र का मुख्य उपजीव्य आपिशल-तन्त्र है । इतना ही नहीं, पदमञ्जरीकार तो इसे और भी स्पष्टरूप में कहता है—

'कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन । आपिशलिना तर्हि केनावगतम् ? ततः पूर्वव्याकरणेन' ।[4]

पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते; एवमापिशलिः' ।[5]

पाणिनीय तन्त्र की विशेषता

आचार्य चन्द्रगोमी अपने व्याकरण २।२।६८ की स्वोपज्ञ-वृत्ति में एक उदाहरण देता है— **पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्** ।

काशिका,[6] सरस्वतीकण्ठाभरण[7] और वामनीय लिङ्गानुशासन[8] की वृत्तियों में **'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्'** पाठ है ।

---

१. तै० प्रा० १७ । ६, मैसूर सं०, पृष्ठ ४०७ । २. अष्टिका पाणिनीयाष्टाध्यायी । बालमनोरमा । भाग, १, पृष्ठ ५१५ (लाहौर) ।

३. आपिशल व्याकरण का परिमाण, पृष्ठ १३८, आपिशल-शिक्षा पृष्ठ १४५ । ४. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६ ।

५. पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ७ । ६. काशिका २।४।२१॥

७. दण्डनाथ वृत्ति ३ । १ । १२६ ॥ ८. पृष्ठ ७ ।

इन उदाहरणों का भाव यह है कि कालविषयक परिभाषाओं से रहित व्याकरण सर्वप्रथम पाणिनि ने ही बनाया।[1] प्राचीन व्याकरणों में भूत भविष्यत् अनद्यतन आदि कालों की विविध परिभाषाएं लिखी थीं। पाणिनि ने लोकप्रसिद्ध होने से उन्हें छोड़ दिया। इस विषय को पाणिनि ने स्वयं निम्न सूत्र से दर्शाया है—**कालोपसर्जने च तुल्यम्**। १। २। ५७॥

इसका भाव यह है कि काल और उपसर्जन संज्ञाएं अशिष्य हैं, अर्थ के अन्य=लोक के प्रमाण होने से। अर्थात्—काल की विविध संज्ञाओं के अर्थ लोक-विज्ञात होने से शास्त्र में परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं है।

इस के अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र में पूर्व व्याकरणों की अपेक्षा कई सूत्र अधिक हैं, यह हम पूर्व काशकृत्स्न के प्रकरण में लिख चुके हैं। जिन सूत्रों पर महाभाष्यकार ने आनर्थक्य की आशङ्का उठाकर उनकी प्रयत्नपूर्वक आवश्यकता दर्शाई है, वे सूत्र निश्चय ही पाणिनि के स्वोपज्ञ हैं, उससे पूर्वकालिक तन्त्रों में वे सूत्र नहीं थे।[2]

पाणिनीय तन्त्र पूर्व तन्त्रों से संक्षिप्त

हमारे भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जाता है कि उत्तरोत्तर ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व ग्रन्थ अधिक विस्तृत थे, उनका उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ। व्याकरण के वाङ्मय में भी यही नियम उपलब्ध होता है। पाणिनीय व्याकरण के संक्षिप्त होने में निम्न प्रमाण हैं—

१. पाणिनि ने **'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्,[3] कालोपसर्जने च तुल्यम्'**[4] इन सूत्रों से दर्शाया है कि उसने अपने ग्रन्थ में प्रधान, प्रत्ययार्थवचन, भूत, भविष्यत्, अनद्यतन आदि काल तथा उपसर्जन आदि अनेक विषयों की परिभाषाएं नहीं रचीं। प्राचीन व्याकरणों में इनका उल्लेख था, परन्तु पाणिनि ने इनके लोकप्रसिद्ध होने से इन्हें छोड़ दिया। यही पाणिनीय तन्त्र की पूर्व-तन्त्रों से उत्कृष्टता थी, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

---

१. अकालकमिति कालपरिभाषारहितमित्यर्थः। न्यास ४। ३। १५५॥ पाणिनिना प्रथमं कालाधिकाररहितं व्याकरणं कर्तुं शक्यमिति परिज्ञातम्। वामनीय लिङ्गानुशासन, पृष्ठ ७। २. पूर्व पृष्ठ ११२, ११३।

३. अष्टा० १। २। ५६॥ ४. अष्टा० १। २। ५७॥

२. माधवीय-धातुवृत्ति में '**क्षिणोति ऋणोणि तृणोति**' आदि प्रयोगों में धातु की उपधा को गुण का निषेध करने के लिये आपिशल व्याकरण के सूत्र उद्धृत किये हैं।[1] पाणिनीय व्याकरण में ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं होता।

अर्वाचीन वैयाकरण '**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**'[2] इस कल्पित नियम के अनुसार '**क्षेणोति अर्णोति तर्णोति**' प्रयोगों की कल्पना करते हैं, जो सर्वथा अयुक्त है। वैयाकरणों के शब्दनित्यत्व पक्ष में '**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**' की कल्पना उपपन्न ही नहीं हो सकती, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि '**क्षेणोति अर्णोति तर्णोति**' पदों का व्यवहार सम्प्रति उपलभ्यमान संस्कृत वाङ्मय में कहीं नहीं मिलता, परन्तु '**क्षिणोति ऋणोति**' आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[4]

३. चाक्रवर्मण व्याकरण के अनुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] पाणिनीय व्याकरण के अनुसार केवल जस् विषय में विकल्प से इसकी सर्वनाम संज्ञा होती है।

हमारे विचार में पाणिनीय व्याकरण के संक्षिप्त होने के कारण उसमें कुछ नियम छूट गये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—

नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति।[6]

अर्थात् एक उदाहरण के लिये सूत्र नहीं रचे गए।

४. राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है—

तद्धि शास्त्रप्रायोवादो यदुत तद्धितमूढाः पाणिनीयाः।[7]

---

१. धातुवृत्ति, पृष्ठ ३५६, ३५७। २. महाभाष्यप्रदीपविवरण ३। १। ८०॥ ३. देखो पृष्ठ ३४, टि० ३, पृष्ठ १५५–१५८।

४. क्षिणोति, रघुवंश २। ४०॥ क्षिणोमि, यजुः ११। ८२॥ ऋणोति, यजुः ३९। २५॥ ऋ० १। ३५। ६॥ दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शस्त्रं शास्त्रमिवाबुधम्। चरक सिद्धि० १२।७८॥ ५. पूर्व पृष्ठ ३४, १५६।

६. महाभाष्य ७। १। ९६॥ तुलना करो—नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। महाभाष्य १। १। १२, ४१॥ ३। १। ६७॥

७. काव्यमीमांसा अ० ६।

अर्थात्—शास्त्रों में यह प्रायोवाद है कि पाणिनीय तद्धित में मूढ़ होते हैं।

यद्यपि राजशेखर ने पाणिनीयों के तद्धितमूढ़त्व में कोई कारण उपस्थित नहीं किया, तथापि प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पाणिनि का तद्धित प्रकरण यद्यपि दो अध्याय घेरे हुए है, तथापि वह अत्यन्त संक्षिप्त है। उस के द्वारा प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त सहस्रों तद्धित प्रयोग गतार्थ नहीं होते।[1] अर्थात् पाणिनि ने तद्धित प्रकरण में अत्यधिक संक्षेप किया है।

५. महाभारत का टीकाकार देवबोध माहेन्द्र=ऐन्द्र व्याकरण को समुद्र से उपमा देता है, और पाणिनीय तन्त्र को गोष्पद से।[2] अर्थात् ऐन्द्र तन्त्र की अपेक्षा पाणिनीय तन्त्र अत्यन्त संक्षिप्त है।

६. पाणिनीय तन्त्र के सूत्रों में लगभग १०० ऐसे प्रयोग हैं, जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। यथा—'**जनिकर्तुः**' '**तत्प्रयोजकः**'[3] **पुराण, सर्वनाम** और ग्रन्थवाची **ब्राह्मण** शब्द।[4] अत एव महाभाष्यकार ने पाणिनि के अनेक सूत्रों में छान्दस वा सौत्र कार्य माना है।[5] इसी प्रकार पाणिनि के जाम्बवतीविजय काव्य में भी बहुत से प्रयोग ऐसे हैं, जो उसके व्याकरण के अनुसार नहीं हैं। इसका कारण केवल यही है कि पाणिनि ने इन ग्रन्थों में उस समय की व्यवहृत लोकभाषा का प्रयोग किया है, परन्तु उस का व्याकरण तात्कालिक भाषा का संक्षिप्त व्याकरण है। इसीलिये ये प्रयोग उसके व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि पाणिनि ने केवल प्राचीन व्याकरणों का संक्षेप किया है, उसमें उसकी अपनी ऊहा कुछ नहीं। हम पूर्व लिख चुके हैं कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनेक नये सूत्र रचे हैं, जो प्राचीन व्याकरणों में नहीं थे। वे उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-

---

१. तुलना के लिये महाभारत के पाण्डवेय आदि तद्धित प्रयोग तथा निरुक्त के 'दण्ड्यः......दण्डमर्हतीति वा दण्डेन सम्पद्यत इति वा' (२।२) आदि तद्धितार्थक निर्वचन देखे जा सकते हैं।

२. अगले पृष्ठ में उद्ध्रियमाण श्लोक। ३. पूर्व पृष्ठ ३२, प्रकरण ८।

४. पूर्व पृष्ठ ३३ की टि० १। ५. महाभाष्य १।१।१॥ १।४।३॥ ३।४।६०, ६४॥

बुद्धि के द्योतक हैं। लाघव करने के कारण कुछ नियमों का उल्लेख न होना स्वाभाविक है। उसे दोष मानना अपनी अज्ञता बोधन करना है।

इस से यह भी सिद्ध है कि जो पद पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते, उन्हें केवल अपाणिनीय होने के कारण अपशब्द नहीं कह सकते। प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग हैं, जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।[1] अत एव महाभारत के टीकाकार देवबोध ने लिखा है—

> न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
> अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं नहि न विद्यते ॥ ७ ॥
> यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
> पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥ ८ ॥[2]

महाभाष्यकार ने भी अष्टाध्यायी का प्रयोजन शिष्ट-प्रयोगों के ज्ञान का मार्ग-प्रदर्शन कराना ऐसा लिखा है—**शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी** ६।३।१०६॥ इतना ही नहीं सुधाकर नामक वैयाकरण का कहना है कि यदि लक्षण शिष्ट-प्रयोगों का अनुगमन नहीं करता, तो वह लक्षण ही नहीं है—'**शिष्टप्रयोगोपगीतनाम्नः शब्दराशेरनाश्रयणे प्रधानविरोधाल्लक्षणस्यालक्षणत्वं माभूत्**।' दैवम्, पृ० ८५, हमारा सं०।

अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी

पाणिनि ने संपूर्ण अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी। महाभाष्य १। १। ५० में लिखा है—

यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्तिः, सा किं प्रकृतितो भवति—स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति। आहोस्विदादेशतः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति। कुतः पुनरियं विचारणा? उभयथा हि तुल्या संहिता 'स्थानेन्तरतम उरण् रपरः' इति।

महाभाष्यकार ने अन्यत्र कई स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के सूत्रविच्छेद को प्रामाणिक न मानकर नये-नये सूत्रविच्छेद दर्शाये हैं। यथा—

नैवं विज्ञायते—कड्ङ्करपो यञश्चेति। कथं तर्हि? कड्ङ्करपोऽयञश्चेति।[3]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २६–३६।   २. महाभारत टीका के प्रारम्भ में।
३. महाभाष्य ४। १। १६॥

इन प्रमाणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी संहिता-पाठ में रची थी। यद्यपि पाणिनि ने प्रवचनकाल में सूत्रों का विच्छेद अवश्य किया होगा (क्योंकि उसके विना सूत्रार्थ का प्रवचन सम्भव नहीं), तथापि महाभाष्यकार ने उसके संहितापाठ को ही प्रामाणिक माना है।

सूत्रपाठ एकश्रुतिस्वर में था[1]

महाभाष्य के अध्ययन से विदित होता है कि पाणिनि ने समस्त सूत्रपाठ एकश्रुतिस्वर में पढ़ा था। टीकाकार कहीं-कहीं स्वरविशेष की सिद्धि के लिये विशिष्टस्वर-युक्त पाठ मानते हैं। कैयट ने कुछ प्राचीन वैयाकरणों के मत में अष्टाध्यायी में एकश्रुतिस्वर ही माना है।[2]

नागेशभट्ट सूत्रपाठ को एकश्रुतिस्वर में नहीं मानता। वह अपने पक्ष की सिद्धि में **'चतुरः शसि'**[3] सूत्रस्थ महाभाष्य की **'आद्युदात्त-निपातनं करिष्यते'** पंक्ति को उद्धृत करता है।[4] परन्तु यह पंक्ति ही स्पष्ट बता रही है कि सूत्रपाठ सस्वर नहीं था, एकश्रुति में था। अन्यथा महाभाष्यकार **'करिष्यते'** न लिख कर **'कृतम्'** पद का प्रयोग करता। इतना ही नहीं यदि अष्टाध्यायी की रचना पाणिनि ने सस्वर की होती, तो वह **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः** (७।१।७५) में साक्षात् उदात्त पद का निर्देश न करके 'अनङ्' के अकार को ही उदात्त पढ़ देता। अतः सूत्रपाठ की रचना एकश्रुतिस्वर में

---

१. अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्? यदयम् 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्युदात्तग्रहणं करोति, तत् ज्ञापयत्याचार्योऽभेदका गुणा इति। यदि हि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्। महाभाष्य १।१।१॥ एकश्रुतिनिर्देशात् सिद्धम्। महाभाष्य ६।४।१७२॥

२. अन्ये त्वाहुः—एकश्रुत्या सूत्राणि पठ्यन्ते इति। भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१। पृष्ठ १५३, निर्णयसागर संस्क०।

३. अष्टा० ६।१।१६८॥

४. नन्वेवमपि चतसर्याद्युदात्तनिपातनसामर्थ्याच्चतस्र इत्यत्र 'चतुरः शसि' इत्यस्याप्रवृत्तिरिति भाष्योक्तमनुपपन्नम्······। सम्पूर्णाष्टाध्यायी आचार्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न मानम्। क्वचित्कस्यचित् पदस्यैकश्रुत्या पाठो यथा दाण्डिनायनादिसूत्रे ऐक्ष्वाकेति, एतावदेव भाष्याल्लभ्यते। भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१। पृष्ठ १५३, निर्णयसागर संस्क०। परिभाषेन्दुशेखर में 'अभेदका गुणाः' परिभाषा (११८) के व्याख्यान में भी यही लिखा है।

मानना युक्त है। यह दूसरी बात है कि कहीं-कहीं इष्ट स्वर की सिद्धि के लिये व्याख्याकार सूत्रस्थ शब्दविशेष में स्वरविशेष का निर्देश स्वीकार करते हैं। यथा—**सत्यादशपथे** (५।४।६६) में सत्य शब्द के यत्प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्तत्व की प्राप्ति (द्र०—६।१।२०७) में अन्तोदात्तत्व की सिद्धि के लिये 'सत्य' शब्द का अन्तोदात्त स्वर से निर्देश मानते हैं।[1]

प्रतिज्ञापरिशिष्ट[2] में लिखा है—**तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्** ।[3] अर्थात् अङ्ग और उपाङ्ग ग्रन्थों में तान अर्थात् एकश्रुतिस्वर ही है।[4]

सस्वरपाठ का एक हस्तलेख

भूतपूर्व डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में अष्टाध्यायी का नं० ३१११ का हस्तलेख था। उस हस्तलेख में अष्टाध्यायी के केवल प्रथमपाद पर स्वर के चिह्न हैं। वे चिह्न स्वरशास्त्र के नियमों के अनुसार शत प्रतिशत अशुद्ध हैं। हमारे पास भी अष्टाध्यायी के कुछ हस्तलिखित पत्रे हैं। इन्हें हमने काशी में अध्ययन करते हुए संवत् १९९१ में गंगा के जलप्रवाह से प्राप्त किया था। उनके साथ कुछ अन्य ग्रन्थों के पत्रे भी थे। अष्टाध्यायी के उन पत्रों में सूत्रपाठ के किसी किसी अक्षर पर खड़ी रेखा अङ्कित है। हमने अपने कई मित्रों को वे पत्रे दिखाए, परन्तु उस चिह्न का अभिप्राय समझ में नहीं आया। प्रतीत होता है नागेश आदि के उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखते हुए किसी स्वरप्रक्रिया से अनभिज्ञ लेखक ने मनमाने स्वर-चिह्न लगाने की धृष्टता की है, अन्यथा ये चिह्न सर्वथा अशुद्ध न होते।

अष्टाध्यायी में प्राचीन सूत्रों का उद्धार

पाणिनि ने अपनी रचना सूत्रों में की है। कई आचार्य सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति, **'सूचनात् सूत्रम्'**[5] अर्थात् संकेत करने वाला संक्षिप्त

---

१. द्र०—ऋग्वेद सायण भाष्य १।१।५॥ २. प्रतिज्ञा-परिशिष्ट दो प्रकार का है—एक प्रातिशाख्य का परिशिष्ट है। दूसरा श्रौतसूत्र का। ३. चौखम्बा सीरिज (काशी) मुद्रित यजुःप्रातिशाख्य के अन्त में मुद्रित। ४. हमारे पास निरुक्त के हस्तलेख के कुछ पत्रे हैं, जिन में निरुक्त के कुछ वाक्यों पर स्वरचिह्न हैं। निरुक्त निश्चय ही सस्वर था। इस के लिए देखिए हमारा 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' ग्रन्थ, पृष्ठ ३९, ४० (प्र० सं०)।

५. सूचनात् सूत्रणाच्चैव······सूत्रस्थानं प्रचक्षते। सुश्रुत सूत्रस्थान ३।

वचन करते हैं। पाणिनि ने कई स्थानों पर बहुत लाघव से काम लिया है। उसी के आधार पर अर्वाचीन वैयाकरणों में प्रसिद्ध है— **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः** ।[1] सूत्ररचना में गुरु-लाघवविचार का प्रारम्भ काशकृत्स्न आचार्य से हुआ था।[2] पाणिनि ने शाब्दिक लाघव का ध्यान रखते हुए अर्थकृत लाघव को प्रधानता दी है।[3] अत एव उस के व्याकरण में 'टि, घु' आदि अल्पाक्षर संज्ञाओं के साथ सर्वनाम और सर्वनामस्थान जैसी महती संज्ञाएं भी उपलब्ध होती हैं। ये सब महती संज्ञाएं उसने प्राचीन ग्रन्थों से ली हैं, क्योंकि वे लोकप्रसिद्ध हो चुकी थीं। स्वशास्त्रीय विभाषा संज्ञा होने पर भी उसने कई सूत्रों में **'उभयथा, अन्यतरस्याम्'** आदि शब्दों से व्यवहार किया है, जो कि लोकविज्ञात होने से अर्थलाघव की दृष्टि से युक्त हैं। इसी दृष्टि से पाणिनि ने अपने शास्त्र में अनेक सूत्र अक्षरशः प्राचीन व्याकरणों के स्वीकार कर लिये हैं, कहीं-कहीं उनमें स्वल्प उचित परिवर्तन भी किया है। यही निरभिमानता ऋषियों की महत्ता और परोपकार-बुद्धि की द्योतिका है। अन्यथा वे भी अर्वाचीन वैयाकरणों के सदृश सर्वथा नवीन शब्द-रचना करके अपने बुद्धिचातुर्य का प्रदर्शन कर सकते थे, परन्तु ऐसा करने से पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त क्लिष्ट हो जाता, और छात्रों के लिये अधिक लाभकर न होता।

पाणिनीय व्याकरण में कई स्थानों में स्पष्ट प्राचीन व्याकरणों के श्लोकांशों की झलक उपलब्ध होती है। यथा—

---

१२ ॥ सूचयति सूते सूत्रयति वा सूत्रम् । दुर्गसिंह, कातन्त्रवृत्तिटीका, परिशिष्ट पृष्ठ ४०६ ॥ सूत्रं सूचनकृत्, सूत्र्यते ग्रथ्यते इति सूत्रम्, सूचनाद्वा । हैम अभि० चिन्ता० पृष्ठ १०८ ॥ वायुपुराण ४६ । १४२ में सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १३३।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ११६।

३. ननु च पूर्वाचार्या अपि वैयाकरणत्वाल्लाघवमभिलषन्तः किमिति गरीयसीः स्वरादिसंज्ञाः प्रणीतवन्तः? सत्यम्, अन्वर्थत्वात् तासाम् । अयमर्थः—द्विविधं हि लाघवं भवति—शब्दकृतमर्थकृतं च । तत्रार्थकृतमेव लाघवं प्रधानं परार्थप्रवृत्तत्वात्तेषामभीष्टम् । त्रिलोचनटीका, कातन्त्र परिशिष्ट, पृष्ठ ४७२।

१. पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति ।[1] अनुष्टुप् के दो चरण ।

२. तदस्मै दीयते युक्तं श्राणामांसौदनाट्टिठन् ।[2] अनुष्टुप् के दो चरण ।

३. नोदात्तस्वरितोदयम् ।[3] अनुष्टुप् का एक चरण ।

४. वृद्धिरादैजदेङ् गुणः ।[4] अनुष्टुप् का एक चरण ।

प्रथम उद्धरण में अष्टाध्यायी के क्रमशः दो सूत्र हैं, उन्हें मिलाकर पढ़ने पर वे अनुष्टुप् के दो चरण बन जाते हैं। उत्तर सूत्र में चकार से 'हन्ति' अर्थ का समुच्चय होता है। अतः पाणिनीय पद्धत्यनुसार सूत्ररचना 'तिष्ठति च' ऐसी होनी चाहिये। काशिकाकार ने लिखा है—चकारो भिन्नक्रमः[5] प्रत्ययार्थं समुच्चिनोति।[6] प्रतीत होता है पाणिनि ने ये दोनों सूत्र इसी रूप में किसी प्राचीन छन्दोबद्ध व्याकरण से लिये हैं। छन्दोरचना में चकार को यहीं रखना आवश्यक है, अन्यथा छन्दोभङ्ग हो जाता है। द्वितीय उद्धरण में पाणिनीय सूत्र के 'नियुक्त' पद में से 'नि' का परित्याग करने से दो सूत्र अनुष्टुप् के दो चरण बन जाते हैं। तृतीय उद्धरण पाणिनीय सूत्र का एक देश है। यह अनुष्टुप् का एक चरण है। इस में उदय शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि यह अक्षररचना पाणिनि की नहीं है। अन्यथा वह 'नोदात्तस्वरितयोः' इतना लिखकर कार्यनिर्वाह कर सकता था। ऋक्प्रातिशाख्य ३।१७ में पाठ है—स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। सम्भव है पाणिनि ने इसी का अनुकरण किया हो। चौथा उद्धरण भी पाणिनि के दो सूत्रों का है, जो अनुष्टुप् का एक चरण है। श्लोकबद्ध रचना के कारण ही 'वृद्धि' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ है, जब कि अन्यत्र संज्ञी के निर्देश के पश्चात् संज्ञा का निर्देश किया जा सकता है।[7]

---

१. अष्टा० ४।४।३५, ३६॥ २. द्र०—अष्टा० ४।४।६६,६७।
३. अष्टा० ८।४।६७॥ ४. अष्टा० १।१।१, २॥
५. तुलना करो—ऋक्प्रातिशाख्य १।२६॥ उव्वटभाष्य—चकारो भिन्नक्रमः समुच्चयार्थीयः। ६. अत एव चान्द्रव्या० ३।४।३३ में 'परिपन्थं तिष्ठति च' पाठ है। ऐसा ही जैन शाकटायन ३।२।२३ में भी पाठ है। ७. तदेतदेकमाचार्यस्य मंगलार्थं मृष्यताम् (१।१।१) भाष्यवचन के

ऐसे श्लोकबद्ध सूत्रांश पाणिनीय धातुपाठ में भी मिलते हैं। इन का निर्देश २१ वें अध्याय में किया है।

आपिशलि के कुछ सूत्र मिले हैं, वे पाणिनीय सूत्रों से बहुत मिलते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्र भी आपिशल शिक्षासूत्रों से बहुत समानता रखते हैं। पाणिनीय शिक्षा का वृद्ध पाठ अधिक समान है।[1]

पाणिनि से प्राचीन कोई व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं। प्रातिशाख्यों और श्रौतसूत्रों के अनेक सूत्र पाणिनीय सूत्रों से समानता रखते हैं। बहुत से सूत्र अक्षरशः समान हैं। इस से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के अनेक सूत्र अपने ग्रन्थ में संगृहीत किये हैं। हमारा विचार है कि यद्यपि पाणिनि ने सम्पूर्ण प्राचीन व्याकरण वाङ्मय का उपयोग किया है, पुनरपि उस का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है।[2]

प्राचीन सूत्रों के परिज्ञान के कुछ उपाय

पाणिनीय तन्त्र में कितने सूत्र वा सूत्रांश प्राचीन व्याकरणों से संगृहीत हैं, इस का कुछ परिज्ञान निम्न कतिपय उपायों से हो सकता है—

१—एक सूत्र अथवा अनेक सूत्र मिलकर अथवा सूत्रांश जो छन्दो रचना[3] के अनुकूल हो। यथा—

वृद्धिरादैजदेङ्गुणः[4]— अनुष्टुप् का दूसरा चरण।
इग्यणः सम्प्रसारणम्[5]— „ „ „ „
तङानावात्मनेपदम्[6]— „ „ „ „
कृत्तद्धितसमासाश्च[7]— „ „ प्रथम „

२—एक सूत्र में अनेक चकारों का योग। तुलना करो—

आधार 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' को कैयट आदि संज्ञासूत्र न मानकर परिभाषासूत्र मानते हैं। यह उनकी भूल है। संभव है यह भी किसी प्राचीन श्लोकबद्ध व्याकरण का अंश हो। उसी के अनुरोध से संज्ञा का पूर्व प्रयोग हो।

१. शिक्षा के वृद्ध और लघु दो पाठ हैं। २. देखो पूर्व पृष्ठ १४३।

३. विशेष द्रष्टव्य 'मञ्जूषा' पत्रिका, (कलकत्ता) वर्ष ५, अङ्क ४, पृष्ठ ११७, ११८। ४. अष्टा० १।१।१,२॥ ५. अष्टा० १।१।४५॥

६. अष्टा० १।४।१००॥ ७. अष्टा० १।२।४६॥

अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च आनुनासिक्य-भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ।[1]

इस पाणिनीय शिक्षासूत्र की आपिशल शिक्षा के—

ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च ।
आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः[2] **॥**

सूत्र के साथ । पाणिनि ने आपिशलि के श्लोकबद्ध सूत्र में ही '**अवर्ण**' पद और जोड़ दिया । इससे वह गद्य बन गया । परन्तु आपिशल शिक्षा में छन्दोऽनुरोध से पठित अनेक चकार उसके सूत्र में वैसे ही पड़े रह गए ।[3]

३—चकार का अस्थान में पाठ । यथा—

पक्षीमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति ।[4]

४—प्राचीन प्रत्यय आदि के प्रयोग । यथा—

आङि चापः ।[5] **औङ आपः**[6] **।**

५—प्राचीन संज्ञाओं का निर्देश । यथा—

उभयथर्क्षु ।[7] **अन्यतरस्याम् ।**[8]
गोतो णित् ।[9] **यूस्त्र्याख्यौ नदी ।**[10]

---

१. सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का लघुपाठ, प्रकरण ६ ।

२. आपिशल शिक्षा, प्रकरण ६ । ३. इसी प्रकार प्राचीन श्लोकात्मक सूत्रों से पाणिनीय सूत्रों में आए हुए निष्प्रयोजन चकार को दृष्टि में रखकर पतञ्जलि ने कहा है—'एवं तर्हि सर्वे चकाराः प्रत्याख्यायन्ते ।' महा० १ । ३ । ६३ ॥ ४. अष्टा० ४ । ४ । ३५, ३६ । द्र० पूर्व पृष्ठ २३२ । इसी प्रकार चकार का अस्थान में प्रयोग पाणिनीय धातुपाठ में भी मिलता है । यथा 'चते चदे च याचने' (क्षीरतरङ्गिणी १ । ६०८) । इस पर विशेष विचार के लिये क्षीरतरङ्गिणी के उक्त पाठ पर हमारी टिप्पणी, तथा इसी ग्रन्थ का द्वितीय भाग पृष्ठ ६५—६७ द्रष्टव्य हैं । ५. अष्टा० ७ । ३ । १०५ ॥

६. अष्टा० ७ । १ । १८ ॥ ७. अष्टा० ८ । ३ । ८ ॥

८. अष्टाध्यायी में बहुत्र प्रयुक्त । ९. अष्टा० ७ । १ । ९० ॥ इस सूत्र में ओकारान्तों की 'गो' संज्ञा प्राचीन आचार्यों की है । द्र० पूर्व पृष्ठ ७६ ।

१०. अष्टा० १ । ४ । ३ ॥ नदी संज्ञा प्राचीन आचार्यों की है । द्र० पूर्वपृष्ठ ७६ ॥

६—प्राचीन धात्वादि का निर्देश । यथा—

इनसोरल्लोपः[1] सूत्र में आपिशल **स भुवि**[2] का ।

७—कार्यी का षष्ठी से निर्देश करने के स्थान में प्रथमा से निर्देश ।[3] यथा—

अल्लोपोऽनः[4] में **अत्** । ति **विंशतेर्डिति**[5] में ति ।

व्याख्याकारों ने **अत्** और ति को पूर्वसूत्र निर्देशानुसार-नपुंसकलिंग में प्रथमा का रूप न समझकर अविभक्त्यन्त माना है, वह चिन्त्य है ।

अष्टाध्यायी के पादों की संज्ञाएं

अष्टाध्यायी के प्रत्येक पाद की विभिन्न संज्ञाएं उस उस पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर रक्खी हैं । विक्रम की १५ वीं शताब्दी से प्राचीन ग्रन्थों में इन संज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है । सीरदेव की परिभाषावृत्ति से इन संज्ञाओं के कुछ उदाहरण नीचे लिखते हैं । यथा—

गाङ्कुटादिपादः	(१।२)	**परिभाषावृत्ति पृष्ठ**	३३
भूपादः	(१।३)	,, ,,	४३
द्विगुपादः	(२।४)	,, ,,	७६
सम्बन्धपादः	(३।४)	,, ,,	६३
अङ्गपादः	(६।४)	,, ,,	१३५

रावणार्जुनीय काव्य का रचयिता भीम भट्ट भी अपने ग्रन्थ में सर्वत्र **'गाङ्कुटादिपादे' 'भूवादिपादे'** आदि का ही व्यवहार करता है ।

पाणिनि के अन्य व्याकरण ग्रन्थ

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की पूर्ति के लिये निम्न ग्रन्थों का का प्रवचन किया है ।[6]

---

१. अष्टा० ६ । ४ । ११ ॥ २. सकारमात्रमस्तिधातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते । तथाहि न तस्य पाणिनिरिव 'अस् भुवि' इति गणपाठः । किं तर्हि 'स भुवि' इति स पठति । न्यास १ । ३ । २२ ॥ ३. पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्दिश्यते । कैयट, महाभाष्य-प्रदीप ६ । १ । १६३ ॥ पुनः वही ८ । ४ । ७ पर लिखता है—पूर्वाचार्याः कार्यभाजान् षष्ठ्या न निरदिक्षन् । ४. अष्टा० ६ । ४ । १३४ ॥ ५. अष्टा ६ । ४ । १४२ ॥

६. अडियार पुस्तकालय के व्याकरण-विभाग के सूचीपत्र में संख्या ३८४

१. धातुपाठ २. गणपाठ
३. उणादिसूत्र ४. लिङ्गानुशासन

ये चारों ग्रन्थ पाणिनीय शब्दानुशासन के परिशिष्ट हैं। अत एव प्राचीन ग्रन्थकार इनका 'खिल' शब्द से व्यवहार करते हैं।[1] इन ग्रन्थों का इतिहास द्वितीय भाग में लिखा गया है, वहां देखिए।

५. अष्टाध्यायी की वृत्ति—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन का स्वयं बहुधा प्रवचन किया था। प्रवचनकाल में सूत्रार्थपरिज्ञान के लिये वृत्ति का निर्देश करना आवश्यक है। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ की कोई स्वोपज्ञ वृत्ति रची थी, इसमें अनेक प्रमाण हैं। इसका विशेष वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में किया जायगा।

पाणिनि के अन्य ग्रन्थ

१. शिक्षा

पाणिनि ने शब्दोच्चारण के यथार्थ परिज्ञान के लिये एक छोटा सा सूत्रात्मक शिक्षाग्रन्थ बनाया था। इसके अनेक सूत्र व्याकरण के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिस प्रकार आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर अपने चान्द्र व्याकरण की रचना की, उसी प्रकार उसने पाणिनीय शिक्षासूत्रों के आधार पर अपने शिक्षासूत्र रचे। अर्वाचीन श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का मूल ये ही शिक्षासूत्र हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का विशेष प्रचार हो जाने से सूत्रात्मक ग्रन्थ लुप्तप्रायः हो चुका है।

शिक्षासूत्रों का उद्धार—पाणिनि के मूल शिक्षाग्रन्थ के पुनरुद्धार का श्रेय श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने महान् परिश्रम से इसे उपलब्ध करके **'वर्णोच्चारण-शिक्षा'** के नाम से संवत् १९३६ के अन्त में प्रकाशित किया था।[2] छोटे बालकों के लाभार्थ

पर निर्दिष्ट गणपाठ के हस्तलेख के आदि में लिखा है—अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च। लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात् ॥ उणादिसूत्र भी पाणिनीय है, इस के लिये देखिए इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ १७२–१७७॥ १. उपदेशः शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठः खिलपाठश्च। काशिका १।३।२॥ नहि उपदिशन्ति खिलपाठे (उणादिपाठे)। भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १४६॥ २. इसका विशेष वर्णन हमने 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में किया है। द्र०—पृष्ठ १५५-१५८।

सूत्रों का भाषानुवाद भी साथ में दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के १० जनवरी सन् १८८० के पत्र से ज्ञात होता है कि उन्हें इस ग्रन्थ का हस्तलेख सन् १८७९ के अन्त में मिला था।[1] वर्णोच्चारण-शिक्षा की भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं लिखा है—

'ऐसे ऐसे भ्रमों की निवृत्ति के लिये बड़े परिश्रम से पाणिनि-मुनिकृत शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर उन सूत्रों की सुगम भाषा में व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्या की शुद्ध प्रसिद्धि करता हूं।'

पाणिनि से प्राचीन आपिशलशिक्षा का वर्णन हम पृष्ठ १४४-१४५ पर कर चुके हैं। उसके साथ पाणिनीय शिक्षा की तुलना करने से प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का जो हस्तलेख मिला था, वह अपूर्ण और अव्यवस्थित था। जैसे आपिशल व्याकरण के सूत्र पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से मिलते हैं, और दोनों में आठ-आठ अध्याय समान हैं, उसी प्रकार आपिशल शिक्षा और पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों में भी अत्यधिक समानता है, और दोनों में आठ-आठ प्रकरण हैं।

शिक्षासूत्रों के दो पाठ—पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के अष्टाध्यायी के समान ही लघु और बृहत् दो प्रकार के पाठ हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस हस्तलेख के आधार पर शिक्षासूत्रों को प्रकाशित किया था, वह लघु पाठ का था (और वह खण्डित भी था)। इस का दूसरा एक वृद्ध पाठ भी है, जिस में कुछ सूत्र और सूत्रांश अधिक हैं। इन दोनों पाठों को हमने सम्पादित करके **शिक्षा-सूत्राणि** में प्रकाशित किया है।

क्या पाणिनीय शिक्षासूत्र कल्पित हैं—डा० मनोमोहन घोष एम० ए० ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९३८ में [श्लोकात्मिका] पाणिनीय शिक्षा का एक संस्करण प्रकाशित किया है। उस की भूमिका में बड़े प्रयत्न से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन शिक्षासूत्रों को पाणिनि के नाम से प्रकाशित किया है, वे उनके द्वारा कल्पित हैं।

---

१. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी द्वारा सम्पादित 'महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ १७८ (द्वि० सं०)। यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर से प्रकाशित हुआ है।

हमने 'मूल पाणिनीय शिक्षा' शीर्षक लेख में डा० मनोमोहन घोष के लेख की सप्रमाण आलोचना करते हुए अनेक प्रमाणों को उपस्थित करके यह सिद्ध किया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षासूत्र उनके द्वारा कल्पित नहीं हैं, अपितु वे वास्तविक रूप में पाणिनीय हैं, और अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत हैं। हमारा यह लेख 'साहित्य' पत्रिका (पटना) के वर्ष ७ अङ्क ४ (सन् १९५७) में प्रकाशित हुआ है। इस लेख के पश्चात् पाणिनीय शिक्षासूत्रों का एक कोश और उपलब्ध हो गया। उस से यह सर्वथा प्रमाणित हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं।

हमारा संस्करण—हमने सन् १९४९ में पाणिनीय शिक्षासूत्रों का एक पाठ आपिशल और चान्द्र शिक्षासूत्रों के साथ प्रकाशित किया था। वह पाठ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित ही था।

नया संस्करण—तत्पश्चात् पाणिनीय शिक्षा का एक नया कोश उपलब्ध हो गया। हमने विविध ग्रन्थों के साहाय्य से पाणिनीय शिक्षासूत्रों के लघु और वृद्ध दोनों पाठों का सम्पादन किया है। उस में विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत समस्त पाणिनीय शिक्षासूत्रों का तत्तत् स्थानों पर निर्देश कर दिया है। आरम्भ में बृहत् भूमिका में इन सूत्रों के विषय में ज्ञातव्य सभी विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व में नये प्रमाण उपस्थापित किये हैं।

श्लोकात्मिका शिक्षा—इस शिक्षा के पाणिनि-प्रोक्त न होने का प्रत्यक्ष प्रमाण उसका प्रथम श्लोक ही है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।

इस अन्तःसाक्ष्य की उपस्थिति में भी श्लोकबद्ध शिक्षा को पाणिनि-प्रोक्त कहना मानना वा सिद्ध करने का प्रयत्न करना 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' कहावत के अनुसार निस्सार है।

शिक्षाप्रकाश-टीका के रचयिता के मतानुसार श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा की रचना पाणिनि के अनुज पिङ्गल ने की है।[1]

तोलकाप्पियं नामक तामिल व्याकरण, जो ईसा से बहुत पूर्व का है, में पाणिनीय शिक्षा के श्लोकों का अनुवाद मिलता है।[2] भर्तृहरि

१ 'जेष्ठभ्रातृभिर्विहिते व्याकरणेऽनुजस्तत्रभगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते।' आदि में। २. द्र०—आर० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री का जर्नल ओरियण्टल रिसर्च मद्रास सन् १९३१, पृष्ठ १८३।

भी वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ व्याख्या में इस शिक्षा का **'आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान्०'** श्लोक को उद्धृत करता है।[1]

दो प्रकार के पाठ—श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के भी दो पाठ हैं—एक लघु, दूसरा वृद्ध। लघु याजुष पाठ कहाता है, और वृद्ध आर्च पाठ। याजुष पाठ में ३५ श्लोक हैं, और आर्च पाठ में ६० श्लोक हैं। ये श्लोक ११ वर्ग अथवा खण्डों में विभक्त हैं। शिक्षा-प्रकाश और शिक्षापञ्जिका टीकाएं लघु पाठ पर ही हैं।

सस्वर-पाठ—काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में पृष्ठ ३७८-३८४ तक आर्च पाठ का एक सस्वर-पाठ छपा है। इसमें स्वर-चिह्न बहुत अव्यवस्थित हैं। प्रतीत होता है लेखकों और पाठकों की उपेक्षा के कारण यह अव्यवस्था हुई है। परन्तु इसके आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूल पाठ सस्वर था।

२. जाम्बवती विजय

इसका दूसरा नाम **'पातालविजय'** भी है। इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण का पाताल में जाकर जाम्बवती की विजय और परिणय कथा का वर्णन है। इस काव्य को पाणिनि-विरचित मानने में आधुनिक लेखकों ने अनेक आपत्तियां उपस्थित की हैं। हम ने उन सब का सप्रमाण समाधान इस ग्रन्थ के 'काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' शीर्षक तीसवें अध्याय में किया है। पाठक इस विषय में वह प्रकरण अवश्य देखें।

अभिनव सूचना—कुछ समय हुआ काफिरकोट के पास से पाकिस्तान के अधिकारियों को भामह के काव्यालङ्कार की किसी व्याख्या की एक जीर्ण प्रति उपलब्ध हुई। इस के विषय में यह अनुमान किया जाता है कि यह उद्भट का विवरण है। इस प्रति का हस्तलेख भोजपत्रों पर दशम शती की शारदा लिपि में लिखा हुआ है। यह अभी अभी प्रकाशित हुई है। इसके ३४ वें पृष्ठ के अन्त में और ३५ वें पृष्ठ के आदि में निम्न पाठ है—

......इदमुदाहरणं समासोक्तेः—उपोढ [........................] परोऽपि मोहाद् गलितं न रक्षित (म्)। अत्र शशिरजनी व्याषाणपरे य प्र ××× सहसु × त [

१. ब्रह्मकाण्ड श्लोक ११५, पृष्ठ १९२, बनारस संस्करण।

इस पर सम्पादक ने जो पाठशोधन कर पाठपूर्ति की है, वह इस प्रकार है—

उपोपरागेण विलोलतारकं, तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा परोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

यह प्राय: पाणिनि के नाम से स्मृत है। पी. पिटर्सन ने JRAS १८९१, पृष्ठ ३१३-३१६ में पाणिनि के नाम से उद्धृत वचनों का संग्रह किया है। ग्रार पिशल ने माना है कि काव्यकार पाणिनि ही वैयाकरण पाणिनि है। ZDMGXXXIX पृष्ठ ९५-८, ३१३-३१६। तथा ग्रभी ग्रभी के० उपाध्याय ने भी IHQXIII, पृष्ठ १६७ में यही लिखा है। पैरिस से प्रकाशित दुर्घट-वृत्ति भाग १ पृष्ठ ७३ में रेणु ने ग्रनुमान किया है कि काव्यकार पाणिनि ९ वीं शती से पूर्व का है। ग्रब इतना निश्चित हो गया कि काव्यकार पाणिनि उद्भट (ग्राठवीं शती) से पूर्वभावी है।

हमारा निश्चित मत है कि ज्यों-ज्यों पुरानी सामग्री प्रकाश में ग्राती जाएगी, त्यों-त्यों काव्यकार पाणिनि ग्रौर वैयाकरण पाणिनि का एकत्व भी सुदृढ़ होता जायगा।

हर्ष का विषय है कि डा० सत्यकाम वर्मा ने ग्रपने 'सं० व्या० का उद्भव और विकास' ग्रन्थ में पाश्चात्य मनोवृत्ति का त्याग करके इस काव्य को वैयाकरण पाणिनि की कृति स्वीकार किया है।

३. द्विरूपकोश

लन्दन की इण्डिया ग्राफिस लाइब्रेरी में द्विरूपकोश का एक हस्तलेख है। उसकी संख्या ७८९० है। यह कोश छः पत्रों में पूर्ण है। ग्रन्थ के अन्त में 'इति पाणिनिमुनिना कृतं द्विरूपकोशं सम्पूर्णम्' लिखा है।

यह कोश वैयाकरण पाणिनि की कृति है वा ग्रन्य को, यह अज्ञात है।

पूर्वपाणिनीयम्

इस नाम का एक २४ सूत्रात्मक ग्रन्थ ग्रभी काठियावाड़ से प्रकाशित हुग्रा है। इस के अन्वेषण और सम्पादनकर्त्ता श्री पं० जीवराम कालिदास राजवैद्य हैं। उसके सूत्र इस प्रकार हैं—

ग्रोम् नमः सिद्धम्

१. ग्रथ शब्दानुशासनम्। २. शब्दो धर्मः।

३. धर्मादर्थकामापवर्गाः ।	४. शब्दार्थयोः ।
५. सिद्धः ।	६. सम्बन्धः ।
७. ज्ञानं छन्दसि ।	८. ततोऽन्यत्र ।
९. सर्वमार्षम् ।	१०. छन्दोविरुद्धमन्यत् ।
११. अदृष्टं वा ।	१२. ज्ञानाधारः ।
१३. सर्वः शब्दः ।	१४. सर्वार्थः ।
१५. नित्यः ।	१६. तन्त्रः ।
१७. भाषास्वेकदशी ।	१८. अनित्यः ।
१९. लौकिकोऽत्र विशेषेण ।	२०. व्याकरणात् ।
२१. तज्ज्ञाने धर्मः ।	२२. अक्षराणि वर्णाः ।
२३. पदानि वर्णेभ्यः ।	२४. ते प्राक् ।

सम्पादक महोदय ने इस ग्रन्थ को पाणिनिविरचित सिद्ध करने का महान् प्रयत्न किया है, परन्तु उनकी एक भी युक्ति इसे पाणिनीय सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इस ग्रन्थ के उन्हें दो हस्तलेख प्राप्त हुए हैं। उनमें एक हस्तलेख के प्रारम्भ में 'कात्यायनसूत्रम्' ऐसा लिखा है। हमारे विचार में ये सूत्र किसी अर्वाचीन कात्यायन विरचित हैं।

महाभाष्यस्थ पूर्वसूत्र—महाभाष्य में निम्न स्थानों पर 'पूर्वसूत्र' पद का प्रयोग मिलता है।

१. अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते।[1]

२. पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते।[2]

३. पूर्वसूत्रनिर्देशो वापिशलमधीत इति। पूर्वसूत्रनिर्देशो वा पुनरयं द्रष्टव्यः। सूत्रेऽप्रधानस्योपसर्जनमिति संज्ञा क्रियते।[3]

४. पूर्वसूत्रनिर्देशश्च। चित्वान् चित इति।[4]

५. अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयं, पूर्वसूत्रेषु च येऽनुबन्धा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते।······ निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात्।[5]

६. पूर्वसूत्रनिर्देशश्च।[6]

---

१. महा० अ० १, पा० १, आ० २॥ पृष्ठ ३६।

२. महा० १। २। ६८॥ पृष्ठ २४८।

३. ४। ४। १४॥ पृष्ठ २०५।   ४. ६। १। १६३॥ पृष्ठ १०४।

५. ७। १। १८॥ पृष्ठ २४७।   ६. ८। ४। ७॥ पृष्ठ ४५५।

महाभाष्य के इन ६ उद्धरणों में से केवल प्रथम उद्धरण पूर्व-पाणिनीय के '**अक्षराणि वर्णाः**'[1] सूत्र के साथ मिलता है। भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में महाभाष्योक्त पूर्वसूत्र पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

एवं ह्यन्ये पठन्ति— 'वर्णा अक्षराणि' इति।[2]

इस से प्रतीत होता है कि ये पूर्वपाणिनीय सूत्र भर्तृहरि के समय विद्यमान नहीं थे। अन्यथा वह '**वर्णा अक्षराणि**' के स्थान पर '**अक्षराणि वर्णाः**' ऐसा पाठ उद्धृत करता।

पूर्वपाणिनीय का शब्दार्थ—पूर्वपाणिनीय के सम्पादक को भ्रांति होने का एक कारण इसके शब्दार्थ को ठीक न समझना है। उन्होंने पूर्वपाणिनीय नाम देखकर इसे पाणिनीय समझ लिया। वस्तुतः इस का अर्थ है- '**पाणिनीयस्य पूर्व एकदेशः पूर्वपाणिनीयम्**'; अर्थात् पाणिनीय शास्त्र का पूर्व भाग। पूर्वोत्तर भाग के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह एक व्यक्ति की रचना हो और समान काल की हो। विभिन्न रचयिता और विभिन्न काल की रचना होने पर भी पूर्वोत्तर विभाग माने जाते हैं। जैसे—पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा। कातन्त्र के भी इसी प्रकार दो भाग हैं।

पूर्वपाणिनीय की प्राचीनता—पूर्वपाणिनीय के सम्पादक ने इस की प्राचीनता में जितने प्रमाण दिये हैं, वे सब निर्मूल हैं। अब हम इस की प्राचीनता में एक प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं—

काशिका ६।२।१०४ में एक प्रत्युदाहरण है—'**पूर्वपाणिनीयं शास्त्रम्**।' यहां शास्त्र पद का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि काशिका-कार का संकेत किसी 'पूर्वपाणिनीय' ग्रन्थ की ओर है।

हरदत्त ने इस प्रत्युदाहरण की व्याख्या '**पाणिनीयशास्त्रं पूर्वं चिरन्तनमित्यर्थः**' की है। यह क्लिष्ट कल्पना है। सम्भव है उसे इस ग्रन्थ का ज्ञान न रहा हो।

इस अध्याय में हमने पाणिनि और उस के शब्दानुशासन तथा तद्विरचित अन्य ग्रन्थों का संक्षिप्त वर्णन किया है। अगले अध्याय में आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय का वर्णन करेंगे।

---

१. पूर्वपाणिनीय सूत्र २२।   २. महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ ११६।

छठा अध्याय

आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय

पाणिनीय अष्टाध्यायी से भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इस अध्याय में हम पाणिनि के समय विद्यमान उसी वाङ्मय का उल्लेख करेंगे, जिस पर पाणिनीय व्याकरण से प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हमारे इस लेख का मुख्य आश्रय पाणिनीय सूत्रपाठ और गणपाठ है, तथापि उसका आशय व्यक्त करने के लिये कहीं-कहीं महाभाष्य और काशिकावृत्ति का भी आश्रय लिया है। हमारा विचार है कि काशिकावृत्ति के जितने उदाहरण हैं, वे प्रायः प्राचीन वृत्तियों के आधार पर हैं,[1] और सभी प्राचीन वृत्तियों का आधार पाणिनीय वृत्ति है। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन पर स्वयं वृत्ति लिखी थी, यह हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में सिद्ध करेंगे। इस प्रकार काशिका के उदाहरण बहुत अंश तक अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक हैं।[2]

पाणिनि ने अपने समय के समस्त संस्कृत वाङ्मय को निम्न भागों में बांटा—

१. दृष्ट, २. प्रोक्त, ३. उपज्ञात, ४. कृत, ५. व्याख्यान।

दृष्टादि शब्दों का अर्थ—पाणिनि ने प्राचीन वाङ्मय के विभागीकरण के लिये जिन दृष्ट प्रोक्त उपज्ञात कृत और व्याख्यान शब्दों का व्यवहार किया है, उन का अभिप्राय इस प्रकार है—

---

१. सकिखीति·· अपचितपरिमाणः शृगालः किखी, अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात्। पदमञ्जरी २।१।३॥ भाग १, पृष्ठ ३४४। काशिका में 'ससखि' उदाहरण छपा है. वह अशुद्ध है। अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतदिति चिरन्तनप्रयोगः। पदमञ्जरी २।१।७॥ भाग १, पृष्ठ ३७१।

२. रामचन्द्र भट्टोजि दीक्षित आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने उन प्राचीन उदाहरणों को, जिनसे भारतीय पुरातन इतिहास और वाङ्मय पर प्रकाश पड़ता था, हटाकर साम्प्रदायिक उदाहरणों का समावेश करके प्राचीन वाङ्मय और इतिहास की महती हानि की है।

१. **दृष्ट**—दृष्ट शब्द का अर्थ है—देखा गया। इस विभाग में पाणिनि ने उस वाङ्मय का निर्देश किया है, जो न किसी के द्वारा कृत है और न प्रोक्त। अर्थात् पूर्वतः विद्यमान वाङ्मय के विषय में ही किन्हीं विशेष विषयों का जो विशिष्ट दर्शन है, वह दृष्ट के अन्तर्गत समझा जाता है।

२. **प्रोक्त**—प्रोक्त का शब्दार्थ है—प्रकर्ष रूप से उक्त=कथित। इस विभाग में वह सारा वाङ्मय आता है, जो पूर्वतः विद्यमान स्व-स्व-विषयक वाङ्मय को ही देश-काल की परिस्थिति के अनुसार ढालकर विशेष रूप में शिष्यों को पढ़ाया जाता है। इस विभाग में सम्पूर्ण शास्त्रीय वाङ्मय का अन्तर्भाव होता है।

३. **उपज्ञात**—उपज्ञात शब्द का अर्थ है—ग्रन्थप्रवक्ता द्वारा स्व-मनीषा से विज्ञात। इसके अन्तर्गत प्रोक्त ग्रन्थों के वे विशिष्ट अंश संगृहीत होते हैं, जिन्हें पूर्व ग्रन्थों का देशकालानुसार प्रवचन करते हुए प्रवक्ता ने अपनी अपूर्व मेधा के आधार पर सर्वथा नए रूप में सन्निविष्ट किया हो।

४. **कृत**—इस का सामान्य अर्थ है—बनाया हुआ। इस विभाग में वह वाङ्मय संगृहीत होता है, जिन की पूरी वर्णानुपूर्वी ग्रन्थकार की अपनी हो।

५. **व्याख्यान**—इस का भाव स्पष्ट है। समस्त टीका टिप्पण और व्याख्या ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आते हैं।

हम भी इसी विभाग के अनुसार पाणिनीय व्याकरण में उल्लिखित प्राचीन वाङ्मय का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

१. दृष्ट

पाणिनि का सूत्र है—**दृष्टं साम**[1]। यहां साम शब्द सामवेद में पठित ऋचाओं के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु जैमिनि के '**गीतिषु सामाख्या**'[2] लक्षण के अनुसार ऋचाओं के गान का वाचक है। काशिका वृत्ति में '**दृष्टं साम**' सूत्र के उदाहरण '**क्रौञ्चम्, वासिष्ठम्, वैश्वामित्रम्**' दिये हैं। वामदेव ऋषि से दृष्ट वामदेव्य साम के लिये '**वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ च**'[3] पृथक् सूत्र बनाया है। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार **आग्नेय, कालेय, औशनस, औशन, औपगव**

१. अष्टा० ४।२।७॥ २. मीमांसा २।१।३६॥ ३. अष्टा० ४।२।८॥

सामों का भी उल्लेख मिलता है ।[1] दृष्ट का अर्थ है—जो देखा गया हो । यह कृत और प्रोक्त से भिन्न है । अतः इसका अर्थ है कि जिसकी रचना में मनुष्य का कोई सम्बन्ध न हो, अर्थात् जो अपौरुषेय हो । यद्यपि ऋक् और यजुः मन्त्रों के अपौरुषेयत्व के विषय में पाणिनि ने साक्षात् कुछ नहीं कहा, तथापि '**ऋच्यध्यूढं साम गीयते**'[2] इस वचन के अनुसार सामगान ऋचा के आधार पर होता है । इसलिये यदि आध्रियमाण साम दृष्ट अर्थात् अपौरुषेय हैं, तो उनके आधारभूत ऋक् मन्त्रों का अपौरुषेयत्व स्वतःसिद्ध है । यजुर्मन्त्रों के अपौरुषेयत्व के विषय में साक्षात् वा असाक्षात् कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

सामगान के दो भेद हैं । एक—सामवेद की पूर्वार्चिक की ऋचाओं में उत्पन्न साम । इसे प्रकृति-साम वा योनि-साम कहा जाता है । दूसरा—'**यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति**'[3] वचन द्वारा उत्तरार्चिक की ऋचाओं में अतिदिष्ट होता है । यह ऊह गान कहाता है । शबरस्वामी आदि मीमांसकों का सिद्धान्त है कि प्रकृति-गान अपौरुषेय है (पाणिनि ने भी इसे ही दृष्ट कहा है), और ऊह गान आतिदेशिक होने से पौरुषेय है ।[4]

यद्यपि पाणिनि ने इस प्रकरण में केवल **साम** का ही उल्लेख किया है, तथापि **दृष्टम्** इस योगविभाग से उन मन्त्रों और मन्त्र-समूहों में भी दृष्ट अर्थ में प्रत्यय होता है, जो किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा दृष्ट हैं । यथा—

माधुच्छन्दसम् । वैश्वामित्रम् । गार्त्समदम् ।

इस तथा एतत्-सदृश अन्य शब्दों का ब्राह्मण, आरण्यक और कल्पसूत्रों में जहां-जहां **शंसति** किया के साथ प्रयोग आया है, वहां सर्वत्र तत्तद् ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्र अथवा सूक्त अभिप्रेत हैं । यह ध्यान रहे कि सम्पूर्ण भारतीय प्राचीन वाङ्मय में मन्त्र दृष्ट माने गए हैं, कृत नहीं ।

---

१. सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक् । दृष्टे सामनि जाते चाऽप्यण् डिद् द्विर्वा विधीयते । तीयादीकक् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते ॥ महाभाष्य ४।२।७॥

२. छान्दोग्यो० १ । ६ ॥ तथा भाट्टदीपिका ६ । २ । २ पर पाठभेद से उद्धृत । ३. भाट्टदीपिका ६ । २ । २ पर उद्धृत । ४. देखो शाबर-भाष्य अ० २, पाद २, अधि० २ ॥

२. प्रोक्त

प्रोक्त शब्द का अर्थ है– कहा हुआ, पढ़ाया हुआ । पढ़ाना स्वरचित ग्रन्थों का भी होता है, और पररचित ग्रन्थों का भी । 'तेन प्रोक्तम्'[1] सूत्र से दोनों प्रकार के प्रवचन में प्रत्यय होता है । यथा— **पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः ।**[2] जिन्होंने अपने ग्रन्थ को स्वयं नहीं पढ़ाया, उन में 'कृते ग्रन्थे'[3] सूत्र से प्रत्यय होता है । प्राचीन वाङ्मय में प्रोक्त अर्थ में **संस्कृत** तथा **प्रतिसंस्कृत** शब्द का भी व्यवहार मिलता है । कहीं-कही पर **सुकृत** और **सुविहित** शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है ।

संस्कृत—इस शब्द का व्यवहार आयुर्वेदीय चरक संहिता के सिद्धिस्थान अ० १२ में इस प्रकार मिलता है—

> **विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ॥ ६५ ॥**
> **संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ।**
> **अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ॥ ६६ ॥**
> **संस्कृतं तत्त्वसंपूर्णं .... ।**

अर्थात्—[संस्कर्ता पूर्वाचार्यों द्वारा] संक्षेप से कहे गए विशिष्ट अर्थ को विस्तार से कहता है, और विस्तार से कहे गए अभिप्राय का संक्षेप करता है । इस प्रकार संस्कर्ता पुराने शास्त्र को पुनः नया अर्थात् स्वदेशकाल के अनुसार उपयोगी बना देता है......।

चरक के इस पाठ से संस्कर्ता अथवा प्रवक्ता के नए प्रवचन-कार्य का प्रयोजन भी व्यक्त हो जाता है ।

प्रतिसंस्कृत—इस शब्द का प्रयोग भी आयुर्वेद की चरक संहिता के प्रत्यध्याय के अन्त में पठित निम्न वचन में मिलता है—

> **'अग्निवेश-कृते तन्त्रे चरक-प्रतिसंस्कृते' ।**

सुकृत—महाभाष्य १ । ४ । ८३ में कहा है—

> **शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत् ।**

यदि यहां संहिता शब्द से मन्त्रसंहिता अभिप्रेत है, तब तो यहां प्रोक्त अर्थ में ही सुकृत शब्द का व्यवहार है, यह स्पष्ट है । क्योंकि

---

१. अष्टा० ४ । ३ । १०१ ॥ २. महा० ४ । ३ । १०१ ॥
३. अष्टा० ४ । ३ । ११६ ॥

पाणिनि के मतानुसार संहिताएं प्रोक्त हैं। संहिता शब्द का व्यवहार पदपाठ के लिये भी होता है। इसलिए यदि यहां संहिता पद से शाकल्य की पदसंहिता अभिप्रेत हो, तो उस का भी समावेश प्रोक्त के अन्तर्गत ही होगा। पदसंहिता का कृत विभाग में भी कथंचित् समावेश किया जा सकता है।

सुविहित—महाभाष्य ४।३।६६ में लिखा है—

पाणिनीयं महत् सुविहितम्।

पाणिनीय शास्त्र प्रोक्त है, वह कृत नहीं है। इसलिए यहां **सुविहितम्** का अर्थ **सुप्रोक्तम्** ही है, **सुकृतम्** नहीं।

इसी प्रकार काशिका ४।२।७४ में पठित '**शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः**' वचन में भी कृति का अर्थ प्रवचन ही समझना चाहिए।

इस प्रोक्त-विभाग में पाणिनि ने अनेक प्रकार के ग्रन्थों का निर्देश किया है। हम यहां उनका सूत्रानुसार उल्लेख न करके विषय-विभागानुसार उल्लेख करेंगे। यथा—

१—संहिता—संहिताएं दो प्रकार की हैं। एक मूलरूप, और दूसरी व्याख्यारूप।[1] दूसरी प्रकार की संहिताओं का शाखा शब्द से व्यवहार होता है। अनेक विद्वान् संहिताओं के उपर्युक्त दो विभाग नहीं मानते। उनके मत से सब संहिताएं समान हैं, परन्तु यह ठीक नहीं।[2] महाभाष्यकार के मतानुसार चारों वेदों की ११३१ संहिताएं हैं।[3] यह संख्या कृष्ण द्वैपायन व्यास और उस के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त संहिताओं की है। व्यास से प्राचीन ऐतरेय प्रभृति संहिताएं इन से प्रथक् हैं। पाणिनि के सूत्रों और गणों में निम्न चरणों तथा शाखा ग्रन्थों[4] का उल्लेख मिलता है—

---

१ वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्। शतपथ हरिस्वामी-भाष्य, प्रथम काण्ड का आरम्भ। यहां हरिस्वामी ने स्पष्टतया वेद और शाखाओं का पार्थक्य माना है। "आर्य जगत्" पत्र (लाहौर) सं० २००४ ज्येष्ठ मास के अङ्क में मेरा 'वैदिक सिद्धान्त विमर्श' लेख सं० ४। २. देखो इस पृष्ठ की टिप्पणी १। ३. एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः। १।१। आ० १॥

४. चरणों और शाखा में भेद है। शाखाएं चरणों के अवान्तर विभाग का नाम है। तुलना करो—भोजवर्मा (१२ वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र—जमद-

४।३।१०२—तैत्तिरीय, वारतन्तीय, खाण्डिकीय, औखीय।४।३। १०४—हारिद्रव, तौम्बुरव, औलप, आलम्ब, पालङ्ग, कामल, आर्चाभ, आरुण, ताण्ड, श्यामायन। गणपाठ ४।३।१०६—शौनक, वाजसनेय, साङ्गरव, शाङ्गरव, साम्पेय, शाखेय (? शाभीय), खाडायन, स्कन्ध, स्कन्द, देवदत्तशठ, रज्जुकठ, रज्जुभार, कठशाठ, कशाय, तलवकार, पुरुषासक, अश्वपेय।४।३।१०७—कठ, चरक।४। ३।१०८—कालाप।४।६।१०९—छागलेय।४।३।१२८—शाकल।४।३।१२९— छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच। गणपाठ ६।२।३७—शाकल, आर्चाभ, मौद्गल, कठ, कलाप, कौथुम,, लौगाक्ष, मौद।७।४।३८—काठक।

महाभाष्य ४।२।६६ में "क्रौड" और "काङ्कत", तथा पाणिनि से प्राचीन आपिशलशिक्षा के षष्ठ प्रकरण में "सात्यमुग्रीय" और "राणायनीय" का नाम मिलता है।[1] सात्यमुग्रि आचार्य का निर्देश अष्टा० ४।३।८० में साक्षात् किया है।

इन नामों में जो नाम गणपाठ में आये हैं, उन में कतिपय सन्दिग्ध हैं, और कतिपय नामों में केवल शाब्दिक भेद है। यथा—स्कन्ध और स्कन्द तथा साङ्गरव और शाङ्गरव आदि।

संहिता ग्रन्थों के उपर्युक्त नाम सूत्र-क्रमानुसार लिखे हैं। इन का वेदानुसार सम्बन्ध इस प्रकार है—

ऋग्वेद—बह्वृच, शाकल, मौद्गल तथा हरदत के मत में काठक।[2]

ग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकाण्वशाखाध्यायिने ···। वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १७३ (द्वि० सं०) पर उद्धृत। चरण के लिए प्रतिशाखा शब्द का, और शाखा के लिये अनुशाखा शब्द का भी व्यवहार होता है। इस के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ २८५, २८६। पाश्चात्य तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने 'चरण' का अर्थ '**स्कूल**' किया है। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'वैदिक-विद्यापीठ' माना है। (पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २९०)। दोनों का अभिप्राय एक ही है। यह विचार मूर्खतापूर्ण है।

१. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयाः ह्रस्वानि पठन्ति। तुलना करो—ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारं चाधीयते। महाभाष्य एओङ् सूत्र, तथा १।१।४७॥ २. पदमञ्जरी ७।४।३८॥ महाभाष्य २।२।२९ के 'कठश्चायं बह्वृचश्च' पाठ से कठ शाखा का संबन्ध ऋग्वेद के साथ नहीं है, यही ध्वनित होता है।

इन में शाकल संहिता पाणिनि से पुराणप्रोक्त ऐतरेय ब्राह्मण १४। ५ में उद्धृत है।[1]

शुक्ल-यजुर्वेद—वाजसनेय, शापेय।

कृष्ण-यजुर्वेद—तैत्तिरीय, वारतन्तीय, खाण्डिकीय, औखीय, हारिद्रव, तौम्बुरव, औलप, छागल, आलम्ब, पालङ्ग, कमल, आर्चाभ, आरुण, ताण्ड ?, श्यामायन, खाडायन, कठ, चरक, कालाप।

सामवेद—तलवकार, सात्यमुग्रीय, राणायनीय, कौथुम, लौगाक्ष, छन्दोग।

अथर्ववेद—शौनक, मौद, पैप्पलाद।

अनिश्चित वेद-सम्बन्ध—वे शाखाएं जिन का सम्बन्ध हम किसी वेद के साथ निश्चित नहीं कर सके—औक्थिक,[2] याज्ञिक, साङ्गरव, शाङ्गरव, साम्पेय, शाखेय, (? शाभीय), स्कन्ध, स्कन्द, देवदत्तशठ, रज्जुकठ, रज्जुभार, कठशाठ, कशाय, पुरुषासक, अश्वपेय क्रौड, काङ्कत।

इन शाखाओं का विशेष वर्णन श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रथम भाग में देखना चाहिये।

शाखाओं से सम्बद्ध **पदपाठ** तथा **क्रमपाठ** का आगे वर्णन करेंगे।

२. **ब्राह्मण**—वेद की जितनी शाखाएं प्रसिद्ध हैं, प्रायः उन सब के ब्राह्मणग्रन्थ भी पुराकाल में विद्यमान थे। ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन भी उन्हीं ऋषियों ने किया था, जिन्होंने उन की संहिताओं का। अतः पूर्वोद्धृत शाखाग्रन्थों के निर्देश के साथ-साथ उन के ब्राह्मणग्रन्थों का भी निर्देश समझना चाहिये। इस सामान्य निर्देश के अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों में निम्न ब्राह्मणग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

ब्राह्मणों के दो भेद—पाणिनि ने **'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि'**[3] सूत्र में ब्राह्मणग्रन्थों का सामान्य निर्देश किया है। **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'**[4] सूत्र में ब्राह्मणग्रन्थों के प्राचीन और अर्वाचीन दो विभाग दर्शाए हैं।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण का वर्तमान पाठ शौनक प्रोक्त है।

२. उक्थसूत्र गार्ग्यकृत उपनिदान के अन्त में स्मृत हैं।

३. अष्टा० ४। २। ६६॥ ४. अष्टा० ४। ३। १०५॥

पाणिनि-निर्दिष्ट पुराणप्रोक्त और अर्वाक्प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों की सीमा का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। हमारे विचार में वह सीमा है—कृष्णद्वैपायन का शाखा-प्रवचन। अर्थात् कृष्ण द्वैपायन के शाखा-प्रवचन से पूर्व प्रोक्त पुराण, और उस के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त अर्वाचीन हैं। इस की पुष्टि काशिकाकार के **याज्ञवल्क्यादयोऽचिर-काला इत्याख्यानेषु वार्ता** (४।३।१०५) वचन से भी होती है।

काशिकाकार जयादित्य ने पुराण-प्रोक्त ब्राह्मणों में '**भाल्लव, शाटचायन ऐतरेय**' का, और अर्वाचीन ब्राह्मणों में '**याज्ञवल्क्य**' अर्थात् **शतपथ** ब्राह्मण का निर्देश किया है। शतपथ ब्राह्मण का दूसरा नाम **वाजसनेय** ब्राह्मण भी है। इस का निर्देश गणपाठ ४।३।१०६ में उपलब्ध होता है। अष्टाध्यायी ४।२।६६ की काशिका वृत्ति में भाल्लव आदि प्राचीन ब्राह्मणों के साथ '**ताण्ड**', और अर्वाचीन ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य के साथ '**सौलभ**' ब्राह्मण का भी नाम मिलता है। यह सौलभ ब्राह्मण संभवतः उसी क्षत्रियकुल-संभूता ब्रह्मवादिनी संन्यासिनी सुलभा द्वारा प्रोक्त होगा, जिसका विदेह जनक के साथ ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद हुआ था।[1] शांखायन गृह्य ४।६ तथा कौषीतकि गृह्य २।५ के तर्पण में '**सुलभा मैत्रेयी**' पाठ मिलता है। आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में भी सुलभा का नाम मिलता है। अतः सम्भव है सौलभ ब्राह्मण ऋग्वेद का हो।

लाटचायन श्रौत में एक सूत्र है—'**तथा पुराणं ताण्डम्**'।[2] इस में ताण्ड का पुराण विशेषण दिया है। इस सूत्र से पाणिनि द्वारा दर्शाए गये ब्राह्मणों के पुराण और अर्वाचीन दो विभागों तथा काशिका वृत्ति ४।२।६६ मे पुराण ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ताण्ड नाम की पुष्टि होती है। लाटचायन के सूत्र से यह भी विदित होता है कि ताण्ड ब्राह्मण भी दो प्रकार का था—एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन। सम्भवतः वर्तमान ताण्डच ब्राह्मण अर्वाचीन हो।

संक्षिप्तसार व्याकरण के टीकाकार गोयीचन्द्र औत्थासानिक ने '**अयाज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे**'[3] सूत्र की वृत्ति में पुराण-प्रोक्त ऐतरेय और शाटचायन ब्राह्मण के साथ '**भागुरि**' ब्राह्मण का उल्लेख किया है।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व अ० ३२०। २. ला० श्रौ० ७।१०।१७॥
३. तद्धित प्रकरण ४५४।

यह ब्राह्मण भी पुराण-प्रोक्त है। एक पुराण-प्रोक्त **पङ्गलायनि** ब्राह्मण बौधायन श्रौत २।७ में उद्धृत है।[1]

वार्तिककारोक्त पुराण सीमा—कात्यायन ने **'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्'**[2] कह कर याज्ञवल्क्य ब्राह्मण को भी प्राचीन बताया है। संभव है कात्यायन ने पाणिनि के पुराण-प्रोक्त शब्द का अर्थ 'सूत्रकार से पूर्वप्रोक्त' इतना सामान्य ही स्वीकार किया हो। महाभाष्यकार ने इस वार्तिक पर आदि पद से सौलभ ब्राह्मण का निर्देश किया है। इससे इतना स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य और सौलभ ब्राह्मण का प्रवचन पाणिनि से पूर्व हो गया था।

वेद की शाखाओं का अनेक बार प्रवचन—सर्ग के आदि से लेकर भगवान् वेदव्यास और उन के शिष्य-प्रशिष्यों पर्यन्त वेद की शाखाओं का अनेक बार प्रवचन हुआ है।[3] भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा जो शाखाओं का प्रवचन हुआ, वह अन्तिम प्रवचन है। छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से विदित होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवक्ता महिदास ऐतरेय की मृत्यु इन की रचना से बहुत पूर्व हो चुकी थी। अत एव इन ग्रन्थों में उसके लिये परोक्षभूत की क्रियाओं का प्रयोग हुआ है।[4] षड्गुरु-शिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की वृत्ति के आरम्भ में ऐतरेय को याज्ञवल्क्य की **इतरा=कात्यायनी** नाम्नी पत्नी में उत्पन्न कहा है।[5] वह सर्वथा काल्पनिक है।

ऐतरेय ब्राह्मण कृष्ण द्वैपायन व्यास से पुराण-प्रोक्त है। परन्तु उस में शाकल संहिता का परोक्षरूप से उल्लेख मिलता है।[6] इस का कारण यह कि ऐतरेय ब्राह्मण का वर्तमान प्रवचन शौनक का है। उसी ने अन्त के १० अध्याय भी जोड़े हैं। मूल ऐतरेय में ३० ही अध्याय थे।

---

१. पूर्व पृष्ठ १८९, टि० ४। २. महाभाष्य ४।२।६६॥

३. यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्राह्मणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्......। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, भाष्यकरण शङ्कासमाधान विषय, पृष्ठ ३६४, रालाकट्र सं०।

४. पूर्व पृष्ठ १७०, १७१। ५. आसीद् विप्रो याज्ञवल्क्यो द्विभार्यः, तस्य द्वितीयामितरेति चाहुः। स ज्येष्ठयाऽऽकृष्टचित्तः प्रियां तामुक्त्वा द्वितीयामितरेति होत्रे॥ ६. पूर्व पृष्ठ १७१।

वायु आदि पुराणों में २८ व्यासों का वर्णन उपलब्ध होता है।[1] उन में कृष्ण द्वैपायन व्यास अट्ठाईसवां है। उससे विदित होता है कि कृष्ण द्वैपायन से पूर्व न्यूनातिन्यून २७ बार शाखा-प्रवचन अवश्य हो चुका था।

पाणिनि ने **'त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्'**[2] सूत्र में तीस और चालीस अध्याय वाले **'त्रैंश'** और **'चात्वारिंश'**[3] संज्ञक ब्राह्मणों का निर्देश किया है।[4] त्रैंश और चात्वारिंश नामों से किन ब्राह्मण-ग्रन्थों का उल्लेख है, यह अज्ञात है। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। षड्गुरुशिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की वृत्ति के प्रारम्भ में उसका **'चात्वारिंश'** नाम से उल्लेख किया है।[4] **त्रैंश** नाम ऐतरेय के प्रारम्भिक ३० अध्यायों का है, अन्तिम १० अध्याय अर्वाचीन हैं। आश्वलायन गृह्य ३।४।४, कौषीतकि गृह्य २।५ तथा शांखायन गृह्य ४।६ के तर्पण प्रकरण में **ऐतरेय महैतरेय** का निर्देश मिलता है। क्या यहां ऐतरेय से प्राचीन ३० अध्याय और महैतरेय से उत्तरवर्ती १० अध्याय मिलाकर पूरे ४० अध्याय अभिप्रेत हैं? यह विचारणीय है। कौषीतकि और शांखायन ब्राह्मणों में भी ३० अध्याय उपलब्ध होते हैं। सम्भव है पाणिनि का **त्रैंश** प्रयोग इन के लिए हो। कीथ के मत में पाणिनि ने **चात्वारिंश** शब्द से ऐतरेय का निर्देश किया, और **त्रैंश** शब्द से कौषीतकि का।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी के मत में—

पञ्चविंश	के	२५ प्रपाठक	=४० प्रपाठक
षड्विंश	,,	५ ,,	
मन्त्र-ब्राह्मण	,,	२ ,,	
छान्दोग्य उपनिषद्	,,	८ ,,	

४० प्रपाठक का कभी एक ही ताण्ड्य या छान्दोग्य ब्राह्मण था। आचार्य शंकर ने वेदान्त भाष्य में मन्त्र-ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के वचन ताण्ड्य के नाम से उद्धृत किये हैं।[5] सायणाचार्य

१. वायु पुराण अ० २३ श्लोक ११४ से अन्त पर्यन्त।

२. अष्टा० ५।१।६२॥ ३. त्रिंशदध्यायाः परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि ब्राह्मणानि, चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि, कानिचिदेव ब्राह्मणान्युच्यन्ते। काशिका ५।१।६२॥ ४. चात्वारिंशाख्यमध्यायः चत्वारिंशदिहेति डण्। पृष्ठ २। ५. वेदान्त भाष्य ३।३।२६—

ताण्ड्य और षड्विंश ब्राह्मण में प्रपाठक के स्थान में अध्याय शब्द का व्यवहार करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्रपाठक के स्थान में अध्याय शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है। अतः यह भी सम्भव है कि—चात्वारिंश नाम से पञ्चविंश, षड्विंश, मन्त्रब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के सम्मिलित ४० अध्याय वाले ताण्ड्य ब्राह्मण का निर्देश हो। और त्रैंश नाम से पञ्चविंश तथा षड्विंश के सम्मिलित ३० अध्यायों का संकेत हो। सौ अध्याय वाले शतपथ के १५, ६० और ८० अध्याय क्रमशः **पञ्चदशपथ**, **षष्टिपथ** और **अशीतिपथ** नाम से व्यवहृत होते हैं, यह अनुपद दर्शाएंगे।

'**शतषष्टेः षिकन् पथः**'[1] वार्तिक के उदाहरण में काशिकाकार ने '**शतपथ**' और '**षष्टिपथ**' का उल्लेख किया है। शतपथ का निर्देश देवपथादिगण[2] में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में १०० अध्याय हैं। षष्टिपथ शतपथ का ही एक अंश है। नवमकाण्ड पर्यन्त शतपथ ब्राह्मण में ६० अध्याय हैं। नवमकाण्ड में अग्निचयन का वर्णन है। प्रतीत होता है कि वार्तिककार के समय में शतपथ के ६० अध्यायों का पठन-पाठन विशेष रूप से होता था। काशिका २।१।६ के '**साग्न्यधीते**' उदाहरण से भी इसकी पुष्टि होती है, क्योंकि इस उदाहरण में अग्निचयनान्त ग्रन्थ पढ़ने का निर्देश है। शतपथ के नवम काण्ड पर्यन्त विशेष पठन-पाठन होने का एक कारण यह भी है कि शतपथ के प्रथम ९ काण्डों में यजुर्वेद के प्रारम्भिक १८ अध्यायों के प्रायः सभी मन्त्र क्रमशः व्याख्यात हैं। आगे यह विशेषता नहीं है। प्रतिज्ञा

ताण्डिनां···· देव सवितः ·· मन्त्र ब्रा० १।१।१॥ वेदान्त भाष्य ३।३।२६—अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—अश्व इव रोमाणि········छा० उप० ८।१३।१॥ वेदान्त भाष्य ३।३३६—ताण्डिनामुपनिषदि—स आत्मा तत्त्वमसि ···· छा० उप० ६।८।७ इत्यादि। शंकराचार्य ने यहां अर्वाचीन ताण्ड्य ब्राह्मण के अवयवभूत छान्दोग्य उपनिषद् और मन्त्र ब्राह्मण के लिये ताण्ड शब्द से 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४।३।१०५) सूत्र से णिनि प्रत्यय किया है, वह चिन्त्य है। प्रतीत होता है उन्हें ताण्ड ब्राह्मण के पुराण और अर्वाचीन दो भेदों का ज्ञान नहीं था।

१. यह कात्यायन से भिन्न आचार्य विरचित श्लोकवार्त्तिक का एक अंश है। पूरा श्लोक काशिका में व्याख्यात है। महाभाष्य में इतना अंश ही व्याख्यात है। २. अष्टा० ४।३।१००॥

सूत्र-परिशिष्ट की चतुर्थ कण्डिका में शतपथ के १५ तथा ८० अध्यायात्मक '**पञ्चदशपथ**' और '**अशीतिपथ**' दो अवान्तर भेद और दर्शाये हैं।

अष्टाध्यायी के '**न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः**'[1] सूत्र में '**सुब्रह्मण्य**' निगद का उल्लेख है। सुह्मण्य निगद माध्यन्दिन शतपथ में उपलब्ध होता है।[2] स्वल्प पाठभेद से काण्व शतपथ में भी मिलता है। परन्तु पाणिनि तथा कात्यायन प्रदर्शित स्वर माध्यन्दिन और काण्व दोनों शतपथों में नहीं मिलता। शतपथ का तीसरा भेद **कात्यायन** भी है।[3] सम्भव है पाणिनि और वार्तिककार प्रदर्शित स्वर उसमें हो, अथवा इन दोनों का संकेत किसी अन्य ग्रन्थस्थ सुब्रह्मण्या निगद की ओर हो। सुब्रह्मण्या का व्याख्यान षड्विंश ब्राह्मण १।१।८ से १।२ के अन्त तक मिलता है। परन्तु षड्विंश में सम्प्रति स्वरनिर्देश उपलब्ध नहीं होता।

३. **अनुब्राह्मण**—पाणिनि ने '**अनुब्राह्मणादिनिः**'[4] सूत्र में '**अनुब्राह्मण**' का साक्षात् उल्लेख किया है।

अनुब्राह्मण पद का अर्थ—काशिकाकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—**ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्** । अनुब्राह्मण शब्द से पाणिनि को कौनसा वा कौनसे ग्रन्थ अभिप्रेत हैं, यह कहना कठिन है।

शांखायन श्रौत के भाष्यकार आनर्तीय ब्रह्मदत्त ने ४।१०।१ में लिखा है—

एवं तर्ह्यनुब्राह्मणमेतत् महाकौषीतकोदाहृतं कल्पकारेणाध्यायत्रयम्।

इस से विदित होता है कि कल्पसूत्रकारों द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों का जो भाग कल्पसूत्रों में संगृहीत किया गया है, वह कल्पसूत्रगत भाग 'अनुब्राह्मण' कहाता है। इस के प्रकाश में अनुब्राह्मण का अभिप्राय **अनुगतो ब्राह्मणम्** होना चाहिए।

यह भी सम्भव है कि यहां अनुब्राह्मण शब्द आरण्यक-ग्रन्थों का वाचक हो, क्योंकि उनमें कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों का

---

१. अष्टा० १।२।३७॥ २. शत० ३।३।४।१७-२०॥
३. देखो—'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २७७ द्वि० सं०।
४. अष्टा० ४।२।६२॥

सम्मिश्रण है। और उनकी रचनाशैली भी ब्राह्मणग्रन्थानुसारिणी है। आरण्यक ग्रन्थों के प्रवक्ता भी प्रायः वे ही ऋषि हैं, जो तत्तत् शाखा वा ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवक्ता हैं। बृहदारण्यक आदि कई आरण्यक साक्षात् ब्राह्मणग्रन्थों के अवयव हैं। अतः पाणिनि के ग्रन्थ में आरण्यक ग्रन्थों का साक्षात् निर्देश न होने पर भी वे पाणिनि द्वारा ज्ञात अवश्य थे। यह भी सम्भव है कि अनुब्राह्मण नामक कोई विशिष्ट ग्रन्थ रहा हो।

४. **उपनिषद्**—इस शब्द का अर्थ है—समीप बैठना। इसी अर्थ को लेकर पाणिनि ने '**जीविकोपनिषदावौपम्ये**'[1] सूत्र में उपमार्थ में उपनिषत् शब्द का व्यवहार किया है।[2] ग्रन्थवाची उपनिषत् शब्द का उल्लेख ऋगयनादिगण[3] में मिलता है। इस गणपाठ से यह भी व्यक्त होता है कि **पाणिनि के काल में उपनिषदों पर व्याख्यान ग्रन्थों की रचना भी प्रारम्भ** हो गई थी[4], अथवा वे व्याख्यानयोग्य समझी जाती थीं। सम्प्रति उपलभ्यमान **ईश आदि मुख्य १५ उपनिषदें** संहिता ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के ही विशिष्टांश हैं। अतः ये पाणिनि को अवश्य ज्ञात रही होंगी। अष्टाध्यायी ४।३।१२९ में छन्दोग शब्द से आम्नाय अर्थ में छान्दोग्य पद सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् इसी छान्दोग्य आम्नाय से सम्बन्ध रखती है। एक पैङ्गलोपनिषद्, जिसका आचार्य पिङ्गल से संबन्ध जोड़ा जा सकता है, मिलती है, परन्तु यह नवीन रचना है।

५. **कल्पसूत्र**—इन में श्रौत, गृह्य और धर्म सम्बन्धी त्रिविध सूत्रों का समावेश होता है। शुल्बसूत्र श्रौतसूत्रों के ही परिशिष्ट हैं। अष्टाध्यायी के '**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु**'[5] सूत्र में साक्षात् कल्पसूत्रों का निर्देश है। पाणिनि ने इसी सूत्र से उनके प्राचीन और नवीन दो भेद भी दर्शाए हैं। काशिकाकार ने इसी सूत्र पर पुराण कल्पों में '**पैङ्ग**' तथा '**आरुणपराज**' को उद्धृत किया है, और अर्वाचीनों में '**आश्मरथ**' को। काशिका का मुद्रित '**आरुणपराजः**' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। सम्भव है यहां '**आरुणपराशरः**' पाठ हो। भट्ट

---

१. अष्टा० १।४।७९॥ २. द्र०—कौटिल्य अर्थशास्त्र का औपनिषद् प्रकरण। ३. अष्टा० ४।३।७३॥

४. यहां 'तस्य व्याख्यानः' अर्थ की अनुवृत्ति है।

५. अष्टा० ४।३।१०५॥

कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक अ० १, पा० २, अधि० ६ में लिखा है—'**अरुण-पराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात्**'। '**पैङ्गली कल्प**' का निर्देश जैन शाकटायन ३। १। ७५ की अमोघा और चिन्तामणि वृत्ति में है। बौधायन श्रौत २। ७ में एक **पैङ्गलायनि ब्राह्मण** उद्धृत है, क्या पैङ्गलीकल्प का उसके साथ सम्बन्ध है, वा यह पैङ्गीकल्प का अपपाठ है? पाणिनि ने '**काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः**'[1] सूत्र में '**काश्यप**' और '**कौशिक**' ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कात्यायन के '**काश्यपकौशिकग्रहणं कल्पे नियमार्थम्**'[2] वार्तिक से प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र में काश्यप और कौशिक कल्पों का निर्देश है। कौशिक कल्प आथर्वण कौशिकसूत्र प्रतीत होता है। गृहपति शौनक पाणिनि का समकालिक वा किंचित् पौर्वकालिक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] उसका एक शिष्य आश्वलायन है।[4] उसी ने आश्वलायन श्रौत और गृह्यसूत्रों का प्रवचन किया है। शौनक का दूसरा शिष्य कात्यायन है,[5] जिसने कात्यायन श्रौत और गृह्यसूत्रों[6] की रचना की (वर्तमान में उपलब्ध कात्यायन स्मृति आधुनिक) है। अतः ये ग्रन्थ पाणिनि के काल में अवश्य विद्यमान रहे होंगे। अष्टाध्यायी के '**यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु**'[7] सूत्र में '**न्यूङ्ख**' का उल्लेख है। ये न्यूङ्ख आश्वलायन श्रौत ७। ११ में मिलते हैं। महाभाष्य ४। २। ६० में '**विद्यालक्षणकल्पान्तादिति वक्तव्यम्**' वार्तिक के उदाहरण '**पाराशरकल्पिकः, मातृकल्पिकः**' दिये हैं। अष्टाध्यायी ४।२।६० और ४।३।६७, ७०, ७२ से विदित होता है कि पाणिनि के समय '**राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, पाकयज्ञ, इष्टि**' आदि विविध यज्ञों पर प्रक्रिया ग्रन्थ रचे जा चुके थे। पाणिनि के '**यज्ञे समि स्तुवः,**[8] **प्रे स्त्रोऽयज्ञे,**[9] **परौ यज्ञे,**[10] **प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे**'[11]

---

१. अष्टा० ४। ३। १०३॥ २. महाभाष्य ४। २। ६६॥
३. पूर्वपृष्ठ २०२, २०३। ४. पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २८ (द्वि० सं०)। ५. एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् आश्वलायनः। वेदार्थदीपिका पृष्ठ ५७।
६. कात्यायनगृह्य पारस्करगृह्य से भिन्न है। इसके हस्तलेख कई पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। ७. अष्टा० १। २। ३४॥
८. अष्टा० ३। ३। ३१॥ ९. अष्टा० ३। ३। १३॥
१०. अष्टा० ३। ३। ३७॥ ११. अष्टा० ७। ३। ६२॥

आदि सूत्रों में यज्ञविषयक कई पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है। अष्टाध्यायी के **छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृच-नटाञ्ञ्यः**[1] सूत्र में छन्दोग, **औक्थिक,**[2] याज्ञिक, बह्वृच और नट का निर्देश है। काशिकाकार ने कात्यायन के '**चरणाद्धर्माम्नाययोः**'[3] वार्तिक का संबन्ध इस सूत्र में करके नट शब्द से भी धर्म और आम्नाय अर्थ में प्रत्यय का विधान किया है,[4] यह ठीक नहीं है, क्योंकि नट शब्द चरणवाची नहीं है। अत एव आचार्य चन्द्रगोमी ने '**नटाञ्ञ्यो नृत्ये**'[5] पृथक् सूत्र रचकर नट शब्द से केवल नृत्य अर्थ में प्रत्यय-विधान किया है। भोजदेव ने भी चान्द्र व्याकरण का ही अनुसरण किया है।[6] इस प्रकरण में आम्नाय शब्द से किन ग्रन्थों का ग्रहण है, यह अस्पष्ट है। हमारा विचार है कि यहां आम्नाय पद का अभिप्राय प्रत्येक शास्त्र के मूल ग्रन्थों से है।

६. **अनुकल्प**—अष्टाध्यायी ४।२।६० के उक्थादिगण में '**अनुकल्प**' का निर्देश है। अनुकल्प से पाणिनि को क्या अभिप्रेत है, यह अज्ञात है। सम्भव है यहां अनुकल्प पद से कल्पसूत्रों के आधार पर लिखे गये याज्ञिक पद्धतिग्रन्थों का निर्देश हो। आश्वलायन गृह्य की हरदत्त की अनाविला टीका (पृष्ठ १०८) में अनुकल्प का निर्देश है। एक प्राचीन '**कल्पानुपद**' सूत्र मिलता है। वह सामवेदीय याज्ञिक ग्रन्थ है। मनुस्मृति ३।१४७ में **प्रथम कल्प** और **अनुकल्प** का निर्देश है। उसका अभिप्राय प्रधान और गौण से है।

७. **शिक्षा**—जिन ग्रन्थों में वर्णों के स्थान प्रयत्न आदि का उल्लेख है, वे ग्रन्थ '**शिक्षा**' कहाते हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ में शिक्षा-ग्रन्थों का साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु गणपाठ ४।२।६१ में शिक्षा शब्द पढ़ा है। और उसके अध्येता और विशेषज्ञ शैक्षक कहाते थे। इस से व्यक्त है कि पाणिनि के काल में शिक्षा का पठन-पाठन होता था, और उसके कई ग्रन्थ विद्यमान थे। काशिकाकार ने '**शौनकादिभ्यश्छन्दसि**'[7] के '**छन्दसि**' पद का प्रत्युदाहरण '**शौन-**

---

१. अष्टा० ४।३।१२६॥ २. उक्थशास्त्र का निर्देश गार्ग्य के उपनिदान सूत्र के अन्त में तथा चरणव्यूह के याजुषखण्ड में भी उपलब्ध होता है।

३. महाभाष्य ४।३।१२०॥

४ चरणाद्धर्माम्नाययोः, तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति।

५. चान्द्र व्याकरण ३।३।६१॥ ६. नटाञ्ञ्यो नृत्ते। सरस्वती-कण्ठाभरण ४।३।२६१॥

७. अष्टा० ४।३।१०६॥

कीया शिक्षा' दिया है। ऋक्प्रातिशाक्य के व्याख्याकार विष्णुमित्र ने भी शौनकीय शिक्षा का निर्देश किया है।[1] ऋक्प्रातिशाख्य के १३, १४ वें पटलों में वर्णों के स्थान प्रयत्न आदि का वर्णन होने से वे शिक्षा-पटल कहाते हैं। अत एव इन्हें वेदाङ्ग भी कहा है।[2] सम्भव है काशिका के 'शौनकीया शिक्षा' प्रत्युदाहरण में इन्हीं का ग्रहण हो। एक शौनकीया शिक्षा का हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में विद्यमान है।[3] यह प्राचीन आर्षग्रन्थ है या अर्वाचीन, यह अज्ञात है। महाभारत शान्ति पर्व ३४२।१०४ से व्यक्त है कि आचार्य गालव ने **गालवीया शिक्षा** ग्रन्थ रचा था।[4] पाणिनि ने अष्टाध्यायी ८।४।६७ में गालव का निर्देश किया है।[5] आचार्य **आपिशलि की शिक्षा** सम्प्रति उपलब्ध है। आपिशलि का उल्लेख अष्टाध्यायी ६।१।९२ में मिलता है।[6] पाणिनीय शिक्षासूत्रों में भी साक्षात् आपिशलि का निर्देश किया है।[7] इस का एक सुन्दर संस्करण हम ने प्रकाशित किया है। पाणिनि ने स्वयं शिक्षासूत्र रचे थे। उन्हीं के आधार पर श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा की रचना हुई। इस श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा के अधिक प्रचार होने से मूल सूत्रग्रन्थ लुप्त हो गया। इस लुप्त सूत्रग्रन्थ के उद्धार का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने महान् प्रयत्न से इसका एक हस्तलेख प्राप्त करके उसे हिन्दीव्याख्यासहित '**वर्णोच्चारणशिक्षा**' के नाम से प्रकाशित किया। स्वामी दयानन्द को पाणिनीयशिक्षा का जो हस्तलेख प्राप्त हुआ था, वह अनेक स्थानों में खण्डित था। अब इस शिक्षा का दूसरा ग्रन्थ भी उपलब्ध हो गया है। उसके द्वारा यह आर्ष ग्रन्थ अब पूर्ण हो जाता है।[8]

---

१. भगवान् शौनको वेदार्थवित्····· शिक्षाशास्त्र कृतवान्। ऋक्प्राति० वर्गद्वय-वृत्ति, पृष्ठ १३। २. चौदहवें पटल के अन्त में— कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम्। श्लोक ६९।

३. देखो सूचीपत्र भाग २, सन् १९२८, परिशिष्ट पृष्ठ २।

४. क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः। ५ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। ६ वा सुप्यापिशलेः।

७. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति। सूत्र ११९॥

८. इस सूत्रात्मक शिक्षा के भी दो पाठ हैं। एक लघु पाठ दूसरा वृद्ध पाठ। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ लघु पाठ है। और

पाणिनीयशिक्षा के लघुपाठ के सप्तम प्रकरण में **कौशिकशिक्षा** के कुछ श्लोक उद्धृत हैं। उन से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय कौशिकशिक्षा भी विद्यमान थी। **चारायणीशिक्षा** का उल्लेख हम इसी ग्रन्थ में पूर्व पृष्ठ १०५ पर कर चुके हैं। **गौतमशिक्षा** नाम से एक ग्रन्थ काशी से प्रकाशित 'शिक्षासंग्रह' में छपा है। यह रचना-शैली से प्राचीन आर्ष ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसी शिक्षासंग्रह में **नारदी** और **माण्डूकी** शिक्षाएं भी छपी हैं। वे भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त जितनी शिक्षाएं शिक्षासंग्रह में मुद्रित हैं, वे सब अर्वाचीन हैं। **भारद्वाजशिक्षा** के नाम से एक शिक्षा छपी है। ग्रन्थ के अन्त्यलेखानुसार इस का रचयिता भरद्वाज है।[1] इस का संबन्ध तैत्तितीय शाखा के साथ है। हमें इस के प्राचीन होने में सन्देह है। **कोहलीशिक्षा** भी छप चुकी है। कोहल प्राचीन आचार्य है। **याज्ञवल्क्यशिक्षा** यदि याज्ञवल्क्य मुनि प्रोक्त हो, तो वह भी पाणिनि से प्राचीन होगी। इस विवेचना से स्पष्ट है कि न्यून से न्यून शौनकीया, गालवीया, चारायणी, आपिशली, कौशिकीया, कोहली, याज्ञवल्की और पाणिनीया ये आठ शिक्षाएं पाणिनि के समय अवश्य विद्यमान थीं।

शिक्षा के व्याख्यान ग्रन्थ—शिक्षा पद गणपाठ ४।३।७३ में पढ़ा है। वहां **'तस्य व्याख्यानः'** का प्रकरण होने से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय शिक्षा पर व्याख्यान ग्रन्थ भी रचे जा चुके थे। आपिशलशिक्षा के **वृत्तिकार** नामक षष्ठ प्रकरण का प्रथम सूत्र है—**स एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति—अष्टादश प्रभेदमवर्णकुलम् इति**। यहां वृत्तिकार पद से या तो व्याकरण के व्याख्याकारों का निर्देश है या शिक्षा के। हमारा विचार है—यहां वृत्तिकार पद से शिक्षा के व्याख्याकार अभिप्रेत हैं। ऐसा ही एक प्रयोग भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में मिलता है—**बहुधा शिक्षासूत्रकारभाष्यकारमतानि दृश्यन्ते**।[2] इस पर टीकाकार वृषभदेव लिखता है—**शिक्षाकारमतस्योक्तत्वात् शिक्षाणामेव ये**

दूसरा उपलब्ध हुआ पाठ वृद्ध पाठ है। हम ने 'शिक्षा-सूत्राणि' में दोनों पाठों का सम्पादन करके विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशन किया है।

१. यो जानाति भरद्वाजशिक्षाम्...। पृष्ठ ६६।

२. पृष्ठ १०४, लाहौर संस्क०।

भाष्यकारास्ते गृह्यन्ते ।[1] पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के षष्ठ प्रकरण का नाम भी वृत्तिकार ही है। इन उद्धरणों से व्यक्त है कि पाणिनि के समय शिक्षाग्रन्थ पर अनेक वृत्तियां बन चुकी थीं।

८. **व्याकरण**—अष्टाध्यायी के अवलोकन से विदित होता है कि पाणिनि के काल में व्याकरणशास्त्र का वाङ्मय अत्यन्त विशाल था। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में दश प्राचीन वैयाकरणों का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। वे दश आचार्य ये हैं—**आपिशलि** (६।१।९२), **काश्यप** (१।२।२५), **गार्ग्य** (७।३।२०), **गालव** (७।१।१४), **चाक्रवर्मण** (६।१।१६), **भारद्वाज** (७।२।६७), **शाकटायन** (३।४।१११), **शाकल्य** (१।१।१६), **सेनक** (५।४।११२), **स्फोटायन** (६।१।१२३)। इन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में कर चुके हैं। इन के अतिरिक्त '**आचार्याणाम्** (७।३।४९), **उदीचाम्** (४।१।१५३), **एकेषाम्** (८।३।१०४), **प्राचाम्** (४।१।१७) पदों द्वारा अनेक प्राचीन वैयाकरणों का निर्देश किया है। कात्यायन ने '**चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः**'[2] वार्तिक में पौष्करसादि आचार्य का मत उद्धृत किया है। पौष्करसादि के पिता पुष्करसत् का उल्लेख गणपाठ २।४।६४; ७।३।२० में तीन स्थानों पर मिलता है। पौष्करसादि पद भी तौल्वल्यादि गण में पढ़ा है। '**न तौल्वलिभ्यः**'[3] सूत्र से युव प्रत्यय के लोप का निषेध किया है। इससे व्यक्त है कि पाणिनि पौष्करसादि के पुत्र पौष्कर-सादायन से भी परिचित था। अतः पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से निश्चय ही पूर्ववर्ती है। वृत्तिकार जयादित्य ने ४।३।११५ में **काशकृत्स्न व्याकरण** का उल्लेख किया है।[4] पतञ्जलि ने '**काशकृत्स्नी मीमांसा**' का निर्देश महाभाष्य में कई स्थानों पर किया है।[5] काशकृत्स्न के पिता कशकृत्स्न का नाम उपकादिगण[6] तथा काशकृत्स्न का नाम अरीहणादिगण[7] में मिलता है। काशिका-कार ने ४।२।६५ में काशकृत्स्न व्याकरण का परिमाण तीन अध्याय लिखा है।[8] यही परिमाण जैन शाकटायन व्याकरण की

---

१. वही, पृष्ठ १०५। २. महाभाष्य ८।४।४८॥
३. अष्टा० २।४।६१॥ ४. काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्।
५. महाभाष्य ४।१।१४, ९३॥ ४।३।१५५॥
६. अष्टा० २।४।६९॥ ७. अष्टा० ४।२।८०॥ ८. त्रिकाः काशकृत्स्नाः।

अमोघा वृत्ति में दर्शाया है।[1] काशिका ४।२।६५ में दश अध्यायात्मक **वैयाघ्रपदीय व्याकरण** का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त **शिव, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, चारायण, शन्तनु, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गौतम** और **व्याडि** के व्याकरण पाणिनि से प्राचीन हैं। इन सब वैयाकरणों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिखा है।

प्रातिशाख्य—प्रातिशाख्य वैदिक चरणों के व्याकरण ग्रन्थ हैं।[2] इन्हें **पार्षद** और **पारिषद** भी कहा जाता है।[3] प्राचीन काल में इनकी संख्या बहुत थी। इस समय ये प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायनविरचित शुक्लयजुःप्रातिशाख्य, कृष्णयजुः के तैत्तिरीय और मैत्रायणीप्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र, और शौनकप्रोक्त अथर्व प्रातिशाख्य। मैत्रायणीप्रातिशाख्य इस समय हस्तलिखित रूप में ही प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद का आश्वलायन, शांखायन और बाष्कल प्रातिशाख्य तथा कृष्णयजुः का चारायणीयप्रातिशाख्य प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं।[4] इन में से कौनसा प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन है और कौनसा अर्वाचीन, यह कहना कठिन है। परन्तु शौनकीय शांखायन और बाष्कलीय ऋक्प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से पौर्वकालिक है। पाणिनीय गणपाठ ४।२।६२ में एक पद **'छन्दोभाषा'** पढ़ा है। विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वय-वृत्ति में छन्दोभाषा का अर्थ वैदिकभाषा किया है।[5]

६. **निरुक्त**—दुर्गाचार्य (विक्रम ६०० से पूर्व) ने अपनी निरुक्त-वृत्ति में लिखा है—**'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्'**[6], अर्थात् निरुक्त १४

---

१. त्रिकं काशकृत्स्नीयम्। काशिका ५।१।५८ में त्रिकं काशकृत्स्नम्। ३।२।१६१॥ 'काशकृत्स्न व्याकरण और उस के उपलब्ध सूत्र' निबन्ध देखें। २. व्याकरणप्रधानत्वात् प्रातिशाख्यस्य। तै० प्रा० वैदिकाभरण टीका, पृष्ठ ५२५। ३. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरुक्त १।१७॥ सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। महा० ६।१।१४॥

४. इन प्रातिशाख्यों तथा एतत् सदृश ऋक्तन्त्रादि अन्य वैदिक व्याकरण-ग्रन्थों के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का इतिहास इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग अ० २८ में देखिए। ५. छन्दोभाषा पद के विविध अर्थों के लिए देखिए हमारा 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ, पृष्ठ ३७—४०। ६. पृष्ठ ७४, आनन्दाश्रम

प्रकार का है। यास्क ने अपने निरुक्त में १२, १३ प्राचीन नैरुक्त आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने किसी विशेष निरुक्त वा नैरुक्त आचार्य का उल्लेख नही किया। गणपाठ ४।२।६० में केवल 'निरुक्त' पद का निर्देश मिलता है। **'यास्कः, यास्कौ, यास्काः'** पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने **'यस्कादिभ्यो गोत्रे'**[1] सूत्र की रचना की है। यास्कीय निरुक्त में उद्धृत नैरुक्ताचार्यों के अनेक नाम पाणिनीय गणपाठ में मिलते हैं। यास्कीय निरुक्त में निर्दिष्ट गार्ग्य गालव और शाकटायन के व्याकरण-संबन्धी नियम पाणिनि ने नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किये हैं। पतञ्जलि के काल में निरुक्त व्याख्यातव्य ग्रन्थ माना जाता था। महाभाष्य में लिखा है—**निरुक्त व्याख्यायते, व्याकरणं व्याख्यायते इत्युच्यते**।[2] यास्क और उससे प्राचीन नैरुक्ताचार्यों के विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, खण्ड २, अर्थात् 'वेदों के भाष्य-कार' ग्रन्थ देखना चाहिये।[3]

१०. **छन्दःशास्त्र**—पाणिनि ने किसी विशेष छन्दःशास्त्र का नामोल्लेख अपने व्याकरण में नहीं किया, परन्तु गणपाठ ४।३।७३ में छन्दःशास्त्र के **'छन्दोविजिनी, छन्दोविचिती, छन्दोमान, छन्दोभाषा'** ये चार पर्याय पढ़े हैं। इनमें प्रथम तीन छन्दःशास्त्र के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। छन्दोभाषा पद किन्हीं के मत में वैदिक भाषा का वाचक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] परन्तु **तस्य व्याख्यानः** का प्रकरण होने से छन्दोभाषा भी ग्रन्थविशेष का ही वाचक है, यह निश्चित है। महाभाष्य १।२।३२ में छन्दःशास्त्र पद प्रातिशाख्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[5]

गणपाठ ४।३।७३ में निर्दिष्ट नामों से विविध प्रकार के छन्दः-शास्त्रों और उनके व्याख्यानग्रन्थों ('तस्य व्याख्यानः' का प्रकरण होने से) का सद्भाव विस्पष्ट है। अष्टाध्यायी के **'छन्दोनाम्नि च'**[6]

पूना संस्क०। १. अष्टा० २।४।६३॥ २. ४।३।६६॥

३. इन के विशेष परिचय के लिए हमारा 'निरुक्तशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ भी देखना चाहिए। यह शीघ्र छपेगा।

४. पूर्व पृष्ठ २६१। ५. व्याकरणनामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते। नागेश—छन्दःशास्त्रेषु प्रातिशाख्यशिक्षादिषु। ६ अष्टा० ३।३।३४॥

सूत्र से छन्दोवाचक **'विष्टार'** शब्द की सिद्धि दशाई है। यह वैदिक छन्द है। छन्दों के विविध प्रकार के **'प्रगाथ'** संज्ञक समूहों के वाचक पदों की प्रसिद्धि के लिये पाणिनि ने **'सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु'**[1] सूत्र रचा है। प्रसिद्ध छन्दःशास्त्रकार पिङ्गल पाणिनि का अनुज था, यह हम पाणिनि के प्रकरण में लिख चुके हैं।[2] पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में **क्रौष्टुकि** (३।२९), **यास्क** (३।३०), **ताण्डी** (३।३६), **सैतव** (५।१८; ७।१०), **काश्यप** (७।९), **रात** (७।१३), **माण्डव्य** (७।३४) नामक सात छन्दःसूत्रकारों के मत उद्धृत किये हैं। रात और माण्डव्य के मत भट्ट उत्पल ने बृहत्संहिता की विवृत्ति (पृष्ठ १२४८) में भी दिए हैं। सैतव का मत वृत्तरत्नाकर के दूसरे अध्याय में भी उद्धृत है। इस प्रकार पाणिनि के काल में ७ प्राचीन और १ पिङ्गल कृत=८ छन्दःशास्त्र अवश्य विद्यमान थे। वैदिक-छन्दोमीमांसा के चतुर्थ अध्याय के अन्त में हम ने ३० छन्दःशास्त्र-प्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है (पृष्ठ ५९)।[3]

११. **ज्योतिष**—पाणिनि ने उक्थादिगण[4] में एक गणसूत्र पढ़ा है—**द्विपदी ज्योतिषि**। इस में किसी ज्योतिश्शास्त्रसंबन्धिनी 'द्विपदी' दो पादवाली पुस्तक का उल्लेख है। ज्योतिश्शास्त्र से संबन्ध रखने वाले **'उत्पात, संवत्सर, मूहूर्त'** संबन्धी ग्रन्थों का निर्देश गणपाठ ४।३।७३ में मिलता है। नैमित्तिक मौहूर्तिक रूप-धारी गुप्तचरों का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है।[5] नक्षत्रों का वर्णन पाणिनि ने तीन प्रकरणों (४।२।३–५, ११,२२; ४।३।३४–३७) में किया है। इन प्रकरणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि के काल में ज्योतिश्शास्त्र की उन्नति पराकाष्ठा पर थी।

१२. **सूत्रग्रन्थ**—पाणिनि के समय अनेक विषयों के सूत्र विद्यमान थे। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द आदि विषयों के सूत्रग्रन्थों का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। उन से अतिरिक्त जिन सूत्रग्रन्थों का निर्देश पाणिनीय शब्दानुशासन में मिलता है, वे इस प्रकार हैं—

---

१. अष्टा० ४।३।५५॥ २. पूर्व पृष्ठ १८३। ३. इन के परिचय के लिए हमारा 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ देखना चाहिए। यह अभी प्रकाशित नहीं हुआ। ४. अष्टा० ४।२।६०॥

५. '…नैमित्तिकमौहूर्तिकव्यञ्जना…'।१।१३॥

भिक्षुसूत्र—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११ में **पाराशर्य** और **कर्मन्द** प्रोक्त भिक्षुसूत्रों का साक्षात् उल्लेख किया है।[1] पाराशरी भिक्षुओं और ब्राह्मणों के पारस्परिक विरोध का उल्लेख हर्षचरित उच्छ्वास ८ में मिलता है। भिक्षुसूत्र से यहां किस प्रकार के ग्रन्थों का ग्रहण अभिप्रेत है, यह अज्ञात है। कई विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ वेदान्तविषयक सूत्र करते हैं, अन्य इसे सांख्यशास्त्र के प्राचीन सूत्र मानते हैं। सांख्याचार्य पञ्चशिख आदि के लिये भिक्षु पद का व्यवहार देखा जाता है। हमारा विचार है कि यहां भिक्षुसूत्र से उन ग्रन्थों का ग्रहण होना चाहिए, जिनमें भिक्षुओं के रहन-सहन व्यवहार आदि के नियमों का विधान हो। सम्भव है इन्हीं प्राचीन भिक्षुसूत्रों के आधार पर बौद्ध भिक्षुओं के नियम बने हों। भिक्षुओं की जीविका का साधन '**भिक्षा**' पर लिखे गये ग्रन्थ का संकेत अष्टाध्यायी ४।३।७७ के ऋगयनादि गण में मिलता है।

नटसूत्र—अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११ में **शिलाली** और **कृशाश्व** प्रोक्त नट-सूत्रों का निर्देश उपलब्ध होता है।[2] काशिका के अनुसार नटसम्बन्धी किसी आगम का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।११९ में मिलता है। अमरकोश २।१०।१२ में नटों के शैलालिन, शैलूष, जायाजीव, कृशाश्विन और भरत पर्याय लिखे हैं। शैलूष पद यजुः संहिता ३०।६ में भी मिलता है। सम्भवतः ये नटसूत्र भरतनाट्यशास्त्र जैसे नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ रहे होंगे।

१३. इतिहास पुराण—पाणिनि ने प्रोक्ताधिकार के प्रकरण में इन का निर्देश नहीं किया। चान्द्र व्याकरण ३।१।७१ की वृत्ति और भोजदेवविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२२९ की हृदयहारिणी टीका में 'कल्पे' का प्रत्युदाहरण '**काश्यपीया पुराणसंहिता**' दिया है। पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट काश्यपप्रोक्त कल्प, व्याकरण और छन्दःशास्त्र का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।

इतिहासान्तर्गत **महाभारत** का साक्षात् उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६।२।३८ में किया है।[3] इस से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व व्यास की भारत संहिता महाभारत का रूप धारण कर चुकी थी।

---

१. पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः, कर्मन्दकृशाश्वादिनिः।

२. इसी पृष्ठ की टि० १।

३. महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु।

महाभारत से ज्ञात होता है कि उस समय इतिहास पुराण के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति उपलभ्यमान पुराण तो आधुनिक हैं, परन्तु इन की प्राचीन ऐतिह्यसम्बन्धी सामग्री अवश्य प्राचीन पुराणों और इतिहासग्रन्थों से संकलित की गई है। पाणिनि के 'कृत' प्रकरण से कुछ प्राचीन इतिहासग्रन्थों का ज्ञान होता है। उन का उल्लेख हम अगले प्रकरण में करेंगे।

१४. **आयुर्वेद**—पाणिनि ने आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का साक्षात् निर्देश नहीं किया, परन्तु गणपाठ ४।४।६० तथा ४।४।१०२ में आयुर्वेद पद पढ़ा है। आयुर्वेद के कौमारभृत्य तन्त्र की एकमात्र उपलब्ध काश्यपसंहिता के प्रवक्ता भगवान् काश्यप के कल्पसूत्र का उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।१०२ में किया है[1], और व्याकरण का अष्टाध्यायी १।२।२५ में। शल्यतन्त्र की सुश्रुत संहिता पाणिनि से प्राचीन है। काशिका ६।२।६१ के '**भार्यासौश्रुतः**' उदाहरण में सुश्रुतापत्यों का उल्लेख है। चरक की मूल अग्निवेश संहिता के प्रवक्ता अग्निवेश का नाम गर्गादिगण[2] में पढ़ा है। रसतन्त्र-प्रणेता आचार्य व्याडि[3] स्वयं पाणिनि का सम्बन्धी है। अनेक विद्वान् इसे पाणिनि के मामा का पुत्र=ममेरा भाई मानते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि यह पाणिनि का मामा था। यह हम पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं।[4]

१५-१६. **पदपाठ-क्रमपाठ**—पाणिनि ने उक्थादिगण[5] में तीन पद एक साथ पढ़े हैं—**संहिता, पद, क्रम**। इस साहचर्य से विदित होता है कि यहां पठित '**पद**' और '**क्रम**' शब्द निश्चय ही वेद के **पदपाठ** और **क्रमपाठ** के वाचक हैं। पाणिनि ने प्रत्ययान्तर के विधान के लिये **क्रम** और **पद** का निर्देश क्रमादिगण[6] में भी पुनः किया है। पदपाठ से सम्बद्ध **अवग्रह** का साक्षात् निर्देश पाणिनि ने **छन्दस्यृदवग्रहात्**[7] सूत्र मे किया है। **ऊदनोर्देशे**[8] सूत्र में दीर्घ ऊकारादेश का विधान भी अवग्रह की दृष्टि से किया है, ऐसा भाष्यकार का कथन है।[9] ऋग्वेद

---

१. पूर्व पृष्ठ १४७। २. अष्टा० ४।१।१०५॥
३. देखो संग्रहकार व्याडि नामक अगला अध्याय।
४. पूर्व पृष्ठ १८३। ५. अष्टा० ४।२।६०॥
६. अष्टा० ४।२।६१॥ ७. अष्टा० ८।४।२६॥ ८. अष्टा० ६।३।९८॥
९. न ऊदनोर्देश इत्येवोच्येत? ······अवग्रहे दोषः स्यात्।

के शाकल्य-प्रोक्त पदपाठ के कुछ विशेष नियमों का निर्देश पाणिनि ने '**सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञ ऊँ**'[1] सूत्रों में किया है। शाकल्य के पदपाठ की एक भूल यास्क ने अपने निरुक्त में दर्शाई है।[2] पतञ्जलि ने महाभाष्य १ ४।८४ में शाकल्यकृत [पद] संहिता का निर्देश किया है।[3]

महाभारत शान्तिपर्व ३४२। १०३, १०४ से ज्ञात होता है कि आचार्य गालव ने वेद की किसी संहिता का सर्वप्रथम क्रमपाठ रचा था।[4] ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ में इसे बाभ्रव्य पाञ्चाल के नाम से स्मरण किया है।[5] वात्स्यायन कामसूत्र १।१।१० में इसे कामशास्त्र-प्रणेता कहा है।[6] गालवप्रोक्त शिक्षा,[7] व्याकरण,[8] और निरुक्त[9] का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं। सम्भव है सभी संहिताओं के पदपाठ एवं क्रमपाठ पाणिनि से प्राचीन रहे हों।

१७-२०. **वास्तुविद्या, [न]क्षत्रविद्या, उत्पाद (उत्पात), निमित्त विद्याओं** के व्याख्यानग्रन्थों का ज्ञान गणपाठ ४।३।७३ से होता है।

वास्तुविद्या—इस के अन्तर्गत प्रासाद-भवन तथा नगर आदि निर्माण के निर्देशक ग्रन्थों का अन्तर्भाव होता है। मत्स्यपुराण अ० २५१ में अठारह वास्तुशास्त्रोपदेशकों का वर्णन मिलता है। ये सभी पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं।

अङ्गविद्या—इसे सामुद्रिकशास्त्र भी कहते हैं। शतपथ ८।५।४।३ में **पुण्यलक्ष्मीक** का निर्देश मिलता है। महाभाष्य ३।२।५२ में **जायाघ्न तिलकालक और पतिघ्नी पाणिरेखा** का निर्देश है। कौटिल्य अर्थशास्त्र १।११,१२ में अङ्गविद्या में निपुण गूढ पुरुषों का उल्लेख किया है। मनु ६। ५० में अङ्गविद्या से जीविकार्जन का निषेध किया है।[10]

---

१. अष्टा० १। १। १६, १७॥ २. वायः—वा इति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः।६।२८॥

३. शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्।

४. पूर्व पृष्ठ १५२, टि० ६। ५. पूर्व पृष्ठ १५४, टि० ३॥

६. पूर्व पृष्ठ १५५ टि० २। ७. पूर्व पृष्ठ १५४।

८. पूर्व पृष्ठ १५३। ९. पूर्व पृष्ठ १५४।

१०. द्र०—आगे उद्ध्रियमाण मनुवचन।

[न]क्षत्रविद्या—गणपाठ ४।३।७२ में **क्षत्रविद्या** पाठ है। छान्दोग्य उपनिषद् ७।७ में भूतविद्या के साथ क्षत्रविद्या का भी उल्लेख है। मनुस्मृति ६।५० के पूर्वार्ध में इसी गणपाठ में पठित अन्य शब्दों के साथ नक्षत्रविद्या का उल्लेख मिलता है। मनु का वचन इस प्रकार है—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित् ॥

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि गणपाठ में **क्षत्रविद्या** के स्थान में **नक्षत्रविद्या** पाठ उपयुक्त होगा। परन्तु छान्दोग्य उपनिषद् ७।७ में क्षत्रविद्या के साथ-साथ नक्षत्रविद्या का भी निर्देश है। सम्भव है गणपाठ में 'क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या' दोनों पाठ रहे हों, और समता के कारण लिपिकर दोष से 'नक्षत्रविद्या' पाठ नष्ट हो गया हो।

२१–२५. **सर्पविद्या, वायसविद्या, धर्मविद्या, गोलक्षण, अश्वलक्षण**—महाभाष्य ४।२।६० में सर्पविद्या, वायसविद्या, धर्मविद्या, गोलक्षण और अश्वलक्षण के अध्येता और वेत्ताओं का उल्लेख है। अतः उस समय इन विद्याओं के ग्रन्थ अवश्य विद्यमान रहे होंगे। वायसविद्या का अभिप्राय **पक्षि-शास्त्र** है। इसे **वयोविद्या** भी कहा जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् ७।७ में **पित्र्य, राशि, दैव, विधि, वाकोवाक्य, एकायन, देव, ब्रह्म, भूत, क्षत्र, नक्षत्र, सर्पदेवजन** आदि विद्याओं का भी निर्देश मिलता है।

३. उपज्ञात

'उपज्ञात' वह कहाता है, जो ग्रन्थकार की अपनी सूझ हो। काशिका आदि वृत्तिग्रन्थों में **'उपज्ञाते'**[1] के निम्न उदाहरण दिये हैं—

पाणिनीयमकालकं व्याकरणम् । काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् । आपिशलं पुष्करणम् ।

काशिका ६।२।१४ में—**'आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्, व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्'** उदाहरण दिये हैं।

---

१. अष्टा० ४। ३। ११५॥

सरस्वतीकण्ठाभरण (४।३ २४४, २५४) की हृदयहारिणी वृत्ति में—'**चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्, काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशल-मान्तःकरणम्**' पाठ मिलता है।

इन उदाहरणों में पाणिनि, काशकृत्स्न, आपिशलि, व्याडि और चन्द्रगोमी के व्याकरणों का उल्लेख है। चन्द्रोपज्ञ व्याकरण पाणिनि से अर्वाचीन है। उपर्युक्त उदाहरणों की पारस्परिक तुलना से व्यक्त है कि इन का पाठ अशुद्ध है। पाणिनि के विषय में सब का मत एक जैसा है। इस से स्पष्ट है कि पाणिनि ने सब से पूर्व स्वमति से काल-परिभाषारहित व्याकरण रचा[1]। इन व्याकरणों में अकालकत्व आदि अंश ही पाणिनि आदि के स्वोपज्ञ अंश हैं।

इन व्याकरणों के अतिरिक्त और भी बहुत से उपज्ञात ग्रन्थ पाणिनि के काल में विद्यमान रहे होंगे।

४. कृत

कृत ग्रन्थों का उल्लेख पाणिनि ने दो स्थानों पर किया है—'**अधिकृत्य कृते ग्रन्थे**'[2] और '**कृते ग्रन्थे**'[3]। प्रथम सूत्र के उदाहरण काशिकाकार ने '**सौभद्रः, गौरिमित्रः, यायातः**' दिये हैं। इन का अर्थ है—सुभद्रा गौरिमित्र और ययाति के विषय में लिखे गए ग्रन्थ। महाभाष्यकार ने 'यवक्रीत, प्रियङ्गु' और 'ययाति' के विषय में लिखे गये '**यावक्रीत प्रैयङ्गव यायातिक**'[4] आख्यानग्रन्थों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने '**शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः**'[5] में **शिशुक्रन्द**=बच्चों का रोना,[6] **यमसभा**, द्वन्द्वसमास=**अग्निकाश्यप, श्येनकपोत**[7] और **इन्द्रजनन**=इन्द्र की उत्पत्ति, तथा आदि शब्द से **प्रद्युम्नागमन** आदि विषयों के ग्रन्थों का निर्देश किया है। वार्तिक-

---

१. विशेष विचार पृष्ठ २२४, २२५ पर किया है।

२. अष्टा० ४।३।८७॥ ३. अष्टा० ४।३।११६॥

४. यावक्रीत और यायात आख्यान महाभारत में भी हैं।

५. अष्टा० ४।३।८८॥ ६. सर्वत्र 'शिशूनां क्रन्दनम्' बहुवचन से निर्देश होने से विदित होता है कि यह बालकों के रोगजनित विविध प्रकार के रोदन को लक्ष में रखकर लिखा गया 'शिशुक्रन्दीय' ग्रन्थ का निर्देशक है। ७. श्येनकपोतीय आख्यान महाभारत वनपर्व अ० १३१ में द्रष्टव्य।

कार ने '**लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्**'[1] और '**देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः**'[2] वार्तिकों से अनेक कृत ग्रन्थों की ओर संकेत किया है। पतञ्जलि ने प्रथम वार्तिक के उदाहरण '**वासवदत्ता, सुमनोत्तरा**'[3] और प्रत्युदाहरण '**भैमरथी**' तथा द्वितीय वार्तिक के उदाहरण '**दैवासुरम्, राक्षोसुरम्**' दिये हैं।

श्लोक-काव्य—महाभाष्य ४।२।६५ में तित्तिरिप्रोक्त श्लोकों का उल्लेख मिलता है—**तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोका इति**। तित्तिरि वैशम्पायन का ज्येष्ठ भ्राता और उसका शिष्य था।[4] वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक था। उसका चरक नाम उसके कुष्ठी (=चरकी) हो जाने के कारण प्रसिद्ध हुआ था।[5] इसी चरक द्वारा प्रोक्त **चारक श्लोकों** का निर्देश काशिकावृत्ति ४।३।१०७ तथा अभिनव शाकटायन व्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति ३।१।१७१ में मिलता है। सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उखप्रोक्त **औखीय** श्लोकों का उल्लेख किया है।[6] पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।१०२ में तित्तिरि और उख का साक्षात् निर्देश किया है।[7] चरक का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।१०७ में मिलता है।[8] काशिका २।४।२१ में वाल्मीकि द्वारा निर्मित श्लोकों का निर्देश मिलता है। सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२२७ की हृदयहारिणी टीका में **पिप्पलादप्रोक्त श्लोकों** का उल्लेख है। काशिकाकार ने '**कृते ग्रन्थे**'[9] सूत्र के उदाहरण '**वाररुचाः श्लोकाः, हैकुपादो ग्रन्थः, भैकुराटो ग्रन्थः, जालूकः**' दिये हैं। इन में कौनसा ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीन है, यह अज्ञात है। वररुचिकृत श्लोक निश्चय ही पाणिनि से अर्वाचीन हैं। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन है। पतञ्जलि ने महाभाष्य ४।३।१०१ में '**वाररुच काव्य**' का निर्देश किया है। जैन शाकटायन की लघुवृत्ति ३।१।१८६ में '**वाररुचानि वाक्यानि**' पाठ छपा है, वह

---

१. महाभाष्य ४। ३। ८८॥ २. महाभाष्य ४। ३। ८८॥

३. सुमनोत्तर की कहानी बौद्ध वाङ्मय में भी प्रसिद्ध है।

४. पं० भगवद्दत्तजी विरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २८१, द्वि० सं०। ५. द्र०—हमारा 'दुष्कृताय चरकाचार्यम् मन्त्र पर विचार' नामक निबन्ध।

६. काशी संस्क० पृष्ठ ५६।

७. तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्। ८. कठचरकाल्लुक्।

९. अष्टा० ४।३।११६॥

पाठ अशुद्ध है। वहां शुद्ध पाठ '**वाररुचानि काव्यानि**' होना चाहिए। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थतां कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहरणप्रियः ॥

कृष्णचरित की प्रस्तावनान्तर्गत मुनिकविवर्णन में लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ।।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पूर्वोद्धृत राजशेखरीय श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ अशुद्ध है। वहां '**सदारोहणप्रियः**' के स्थान में '**स्वर्गारोहणप्रियः**' पाठ होना चाहिये।[1]

महाभाष्य के प्रथमाह्निक में पतञ्जलि ने **भ्राजसंज्ञक श्लोकों** का उल्लेख किया है, और तदन्तर्गत निम्न श्लोक वहां पढ़ा है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कैयट आदि टीकाकारों के मतानुसार भ्राजसंज्ञक श्लोक कात्यायन विरचित हैं।

पाणिनि ने स्वय '**जाम्बवतीविजय**' नामक एक महाकाव्य रचा था। इसका दूसरा नाम '**पातालविजय**' है। इस महाकाव्य में न्यूनातिन्यून १८ सर्ग थे। पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि-विरचित नहीं मानते, परन्तु यह ठीक नहीं है। भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार यह काव्य व्याकरणप्रवक्ता महामुनि पाणिनि विरचित ही है। इस काव्य के विषय में हमने विस्तार से इसी ग्रन्थ के ३० वें अध्याय में लिखा है।

महाभारत जैसे बृहत्काव्य का साक्षात् निर्देश पाणिनि ने ६।२। ३८में किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2]

ऋतुग्रन्थ—पाणिनि ने '**वसन्तादिभ्यष्ठक्**'[3] में वसन्त आदि ऋतुओं पर लिखे गये ग्रन्थों के पठन-पाठन का उल्लेख किया है।

---

१. वाररुच काव्य के विषय में देखो इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ ३७९।

२. पूर्व पृष्ठ २६४, टि० १।   ३. अष्टा० ४।२।६३॥

वसन्तादि गण में '**वसन्त, वर्षा, हेमन्त, शरद्, शिशिर**' का पाठ है। इस से स्पष्ट है कि इन सब ऋतुओं पर ग्रन्थ लिखे गये थे। सम्भव है कि ये काव्यग्रन्थ हों। कालिदासविरचित ऋतुसंहार इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखा गया होगा।

अनुक्रमणी-ग्रन्थ—अष्टाध्यायी के '**सास्य देवता**' प्रकरण[1] से विदित होता है कि उस समय वैदिक मन्त्रों के देवतानिर्देशक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। शौनक-कृत ऋग्वेद की ऋषि देवता आदि की १० अनुक्रमणियां निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। शौनकीय बृहद्देवता भी देवतानुक्रमणी ग्रन्थ ही है। शौनक के शिष्य आश्वलायन और कात्यायन ने भी ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणियां रची हैं। आश्वलायन सर्वानुक्रमणी इस समय प्राप्त नहीं है, परन्तु अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणी में वह उद्धृत है।[2] सामवेद की नैगेयानुक्रमणी भी प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु वह प्राचीन है या अर्वाचीन इस का अभी निर्णय नहीं हुआ। यजुर्वेद की एक सर्वानुक्रमणी भी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु वह अर्वाचीन अप्रामाणिक ग्रन्थ है।[3]

संग्रह—दाक्षायण की प्रसिद्ध कृति 'संग्रह' ग्रन्थ पाणिनि का समकालिक है। दाक्षायण का ही दूसरा नाम व्याडि है। दाक्षायण पाणिनि का संबन्धी है, यह पतञ्जलि के '**दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः**'[4] वचन से स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान् दाक्षायण को पाणिनि के मामा का पुत्र (ममेरा-भाई) मानते हैं, परन्तु हमारा विचार है कि दाक्षायण पाणिनि का मामा है। यह हम पाणिनि के प्रकरण में लिख चुके हैं।[5] संग्रह नाम गणपाठ ४।२।६० में उपलब्ध होता है। कैयट आदि वैयाकरणों के मतानुसार संग्रह ग्रन्थ का परिमाण एक लक्ष श्लोक था। महावैयाकरण भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यदीपिका में लिखा है कि संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा है। भर्तृहरि के शब्द इस प्रकार हैं—'**चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)**।[6]

---

१. अष्टा० ४।२।२४–३५॥

२. ऋषिदेवतछन्दास्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः। पृष्ठ १७८।

३. देखो हमारा 'वैदिक छन्दोमीमांसा' 'लेखक का निवेदन', पृष्ठ १,२।

४. महाभाष्य १।१।२०॥ ५. पूर्व पृष्ठ १८३।

६. हमारा हस्तलेख पृष्ठ २६।

इतिहास, पुराण, आख्यान, आख्यायिका और कथाग्रन्थों का अष्टाध्यायी में साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु पूर्वनिर्दिष्ट **'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे'**[1] सूत्र तथा **'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्'**[2], **'देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः'**[3], और **'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च'**[4] वार्तिकों में इन विषयों के अनेक ग्रन्थों की ओर संकेत विद्यमान है। काश्यपप्रोक्त पुराणसंहिता का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।[5] **'कथादिभ्यष्ठक्'**[6] सूत्र में कथासंबन्धी ग्रन्थों की ओर संकेत है। उसके अनुसार कथा में चतुर व्यक्ति के लिये **'कथिक'** शब्द का व्यवहार होता है। जैन कथाएं प्रायः इन्हीं प्राचीन कथा-ग्रन्थों के अनुकरण पर रची गई हैं।

५. व्याख्यान

पाणिनि की अष्टाध्यायी ४। ३। ६६–७३ में **'तस्य व्याख्यानः'** का प्रकरण है। इस प्रकरण में अनेक व्याख्यानग्रन्थों का निर्देश है। हम काशिकावृत्ति में दिए गए उदाहरण नीचे उद्धृत करते हैं—

सूत्र ४।३।६६,६७—**सौपः, तैङः, षात्वणत्विकम्, नातानतिकम्।**

सूत्र ४।३।६८—**आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, राजसूयिकः, पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः, पाञ्चौदनिकः, दाशौदनिकः।**

सूत्र ४।३।७०—**पौरोडाशिकः, पुरोडाशिकः।**

सूत्र ४।३।७१—**ऐष्टिकः, पाशुकः, चातुर्होमिकः, पाञ्चहोतृकः, ब्राह्मणिकः, आर्चिकः** (ब्राह्मण और ऋचाओं के व्याख्यान), **प्राथमिकः, आध्वरिकः, पौरश्चरणिकः।**

सूत्र ४।३।७३ में—ऋगयनादि गण पढ़ा है। उस में निम्न शब्द हैं, जिन से व्याख्यान अर्थ में प्रत्यय होता है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, [न]क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा।

इस गण से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में इन विषयों के व्याख्यान ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे।

---

१. अष्टा० ४। ३। ८७।
२. महाभाष्य ४। ३। ८७॥
३. महाभाष्य ४। ३। ८७॥
४. महाभाष्य ४। २। ६०॥
५. पूर्व पृष्ठ १४७।
६. अष्टा० ४। ४। १०२॥

हमने इस लेख में पाणिनीय शब्दानुशासन के आधार पर जितने ग्रन्थों के नाम सङ्कलित किये हैं, वे उस उस विषय के उदाहरणमात्र हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे ग्रन्थ भी उस समय विद्यमान थे, जिन का पाणिनीय शब्दानुशासन में साक्षात् उल्लेख नही है। इतने से अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के समय में संस्कृत का वाङ्मय कितना विशाल था।

प्रो० बलदेव उपाध्याय की भूलें

प्रो० बलदेव उपाध्याय एम.ए., हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, का इसी विषय का एक लेख **'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ'** के पृष्ठ ३७२–३७६ तक छपा है। उस में अनेक भूलें हैं, जिन में से कतिपय भूलों का दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं—

१. पृष्ठ ३७४ में लिखा है—'पाणिनि ने ग्रन्थ अर्थ में उपनिषद् शब्द का व्यवहार नहीं किया।'

उपनिषद् शब्द ग्रन्थविशेष के अर्थ में **'ऋगयनादिभ्यश्च'**[1] सूत्र के ऋगयनादि गण में पढ़ा है। वहां **'तस्य व्याख्यानः'** का प्रकरण होने से पाणिनि ने न केवल उपनिषद् का उल्लेख किया है, अपितु उनके व्याख्यान=टीकाग्रन्थों का भी निर्देश किया है।

२. पृष्ठ ३७५ में लिखा है—'पाणिनि के फुफेरे भाई संग्रहकार व्याडि······।'

महाभाष्य १।४।२० में पाणिनि को **'दाक्षीपुत्र'** कहा है, अतः दाक्षायण अर्थात् व्याडि पाणिनि के मामा का पुत्र (ममेरा भाई) हो सकता है, न कि फुफेरा। वस्तुतः दाक्षायण व्याडि पाणिनि का मामा था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३. पृष्ठ ३७३ में लिखा है—'इन में ऋक्प्रातिशाख्य के रचयिता शाकल्य का नाम अति प्रसिद्ध है।'

उपलब्ध ऋक्प्रातिशाख्य का रचयिता शाकल्य नहीं है, अपितु आचार्य शौनक है। शाकल्य प्रातिशाख्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में वर्णित भी नहीं है।

४. पृष्ठ ३७६ में—'सुनाग' को 'शौनग' लिखा है।

---

१. अष्टा० ४।३।७३॥

५. पृष्ठ ३७६ में लिखा है—'पतञ्जलि ने···कुणि का उल्लेख किया है।'

महाभाष्य में कुणि का नाम कहीं नहीं मिलता। हां महाभाष्य १।१।७५ के **'एङ् प्राचां देशे शैषिकेषु'** वार्त्तिक पर कैयट ने लिखा है—**'भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्'**। अर्थात् भाष्यकार ने कुणि के मत का आश्रयण किया है।

६. पृष्ठ ३७६ में लिखा है—'४।२।६५ के ऊपर काशिका वृत्ति से व्याघ्रपद और काशकृत्स्न नामक व्याकरण के आचार्यों का पता चलता है।'

काशिका ४।२।६५ में 'उदाहरण है—**'दशका वैयाघ्रपदीयाः।'** इस में वर्णित वैयाघ्रपदीय व्याकरण के प्रवक्ता का नाम 'वैयाघ्रपद्य' था, व्याघ्रपद नहीं। व्याघ्रपद से प्रोक्त अर्थ में तद्धित प्रत्यय होकर वैयाघ्रपदीय शब्द उपपन्न नहीं होता, व्याघ्रपदीय होगा।

प्रो० बलदेव उपाध्याय के लेख की कुछ भूलें हमने ऊपर दर्शाई हैं। इसी प्रकार की अनेक भूलें उनके लेख में विद्यमान हैं।

अगले अध्याय में हम संग्रहकार व्याडि का वर्णन करेंगे।

सातवां अध्याय

संग्रहकार व्याडि (२८०० वि० पूर्व)

आचार्य व्याडि अपर नाम दाक्षायण ने संग्रह[1] नाम का एक ग्रन्थ रचा था।[2] वह पाणिनीय व्याकरण पर था, ऐसी पाणिनीय वैयाकरणों की धारणा है।[3] महाराज समुद्रगुप्त ने भी व्याडि को '**दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुः**' लिखा है।[4] पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में 'संग्रह' का उल्लेख किया है,[5] और महाभाष्य २।३।६६ में 'संग्रह' को दाक्षायण की कृति कहा है।[6] संग्रह पद पाणिनीय गणपाठ ४। २। ६० में उपलब्ध होता है। संग्रह शब्द का एक अर्थ है संक्षिप्त वचन। चरक में पठनीय ग्रन्थों के गुणों का वर्णन करते हुए **ससंग्रहम्** विशेषण दिया है। टीकाकार इसका अर्थ संक्षिप्त वचन ही करते हैं। अतः गणपाठ में पठित 'संग्रह' शब्द से क्या अभिप्राय है, यह विचारणीय है।

परिचय

पर्याय—पुरुषोत्तमदेव ने त्रिकाण्ड-शेष में व्याडि के **विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत** और **मेधावी** तीन पर्याय लिखे हैं।

विन्ध्यस्थ—आचार्य हेमचन्द्र इस का पाठान्तर **विन्ध्यवासी**[7], और केशव **विन्ध्यनिवासी**[8] लिखता है। अर्थ तीनों का एक है। एक

---

१. संग्रह का लक्षण—विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः। निबन्धो यः समासेन संग्रहं त विदुर्बुधाः।। भरतनाट्य० ६। ६।।

२. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः। महाभाष्यप्रदीपोद्योत, निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ५५। तथा इसी पृष्ठ (२७५) की तीसरी टिप्पणी।

३. संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। महाभाष्यदीपिका भर्तृहरिकृत, हस्तलेख पृष्ठ ३०। इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्। पुण्यराजकृत वाक्यपदीयटीका, काशी संस्क० पृष्ठ १८३।

४. कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन, श्लोक १६।

५. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्।.... संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे .....। अ० १, पाद १, आ० १।।

६. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

७. अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड ५१६, पृष्ठ ३४०।

८. शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ८३।

विन्ध्यवासी सांख्याचार्य सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में बहुधा उद्धृत है।[१] किसी विन्ध्यवासी ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को बाद में पराजित किया था।[२] वह विन्ध्यवासी विक्रम का समकालिक था।[३]

नन्दिनीसुत—इस नाम का उल्लेख कोशग्रन्थों से अन्यत्र हमें नहीं मिला।

मेधावी—भामह अलङ्कार शास्त्र २।४०,८८ में किसी अलङ्कार-शास्त्र-प्रवक्ता 'मेधावी' को उद्धृत करता है।

इन पर्यायों में व्याडि के प्रसिद्धतम दाक्षायण नाम का उल्लेख नहीं हैं। अतः प्रतीत होता है कि हेम केशव और पुरुषोत्तमदेव के लिखे हुए पर्याय प्राचीन व्याडि के नहीं हैं। व्याडि नाम के कई व्यक्ति हुए हैं, यह हम अनुपद लिखेंगे।

व्याडि—वैयाकरण व्याडि आचार्य का उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य[४] महाभाष्य,[५] काशिकावृत्ति[६] और भाषावृत्ति[७] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

व्याडि पद का अर्थ—धातुवृत्तिकार सायण व्याडि पद का अर्थ इस प्रकाह् करता है—

अडो वृश्चिकलाङ्गूलम्, तेन च तैक्ष्ण्यं लक्ष्यते, विशिष्टोऽडस्तैक्ष्ण्यमस्य व्यडः, तस्यापत्यं व्याडिः। अत इञ्, स्वागतादीनां चेति वृद्धिप्रतिषेधैजागमयोर्निषेधः।[८]

अनेक व्याडि—व्याडि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्राचीन व्याडि संग्रह ग्रन्थ का रचयिता है। इसका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य

---

१. पृष्ठ पंक्ति—४; ७।१०८; ७, १०, ११, १२, १३। १४४; २०। १४८; १०। २. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वि० संस्क०, पृष्ठ ३३७। ३. वही, पृष्ठ ३३७।

४. २।२३, २८; ६।४६; १३।३१, ३७॥

५. आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः। ६।२।३६॥ द्रव्याभिधानं व्याडिः। १।२।६४॥ ६. पूर्व पृष्ठ १३२।

७. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।

८. धातुवृत्ति पृष्ठ ८२, 'चौखम्बा' संस्क०। तुलना करो—काशिका ७।३।७; प्रक्रिया कौ० पूर्वार्ध, पृष्ठ ६१४; गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ३६॥

आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक व्याडि कोशकार है। इसके कोश के अनेक उद्धरण कोशग्रन्थों को टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के निर्देशानुसार व्याडि के कोश में २४ बौद्ध जातकों के नाम मिलते हैं।[1] अतः यह महात्मा बुद्ध से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है। प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने एक रसज्ञ व्याडि का उल्लेख किया है।

दाक्षायण—इस नाम का उल्लेख महाभाष्य २।३।६६ में मिलता है।[2] मैत्रायणी संहिता १।८।६ में दाक्षायणों का निर्देश है।[3]

दर्शपौणमास की आवृत्तिरूप इष्टि भी दाक्षायण इष्टि कहाती है। क्या इस इष्टि का इस दाक्षि अथवा दाक्षायण से कुछ सम्बन्ध है?

दाक्षि– वामन ने काशिका ६।२।६६ में इस नाम का उल्लेख किया है।[4] मत्स्य पुराण १९५।२५ में **दाक्षि गोत्र** का निर्देश उपलब्ध होता है।[5]

यद्यपि दाक्षि और दाक्षायण नामों में गोत्र और युव प्रत्यय के भेद से अर्थ की विभिन्नता प्रतीत होती है, तथापि पाणिन और पाणिनि, तथा काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि आदि के समान दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। इसकी पुष्टि काशिका ४।१।१७ के **'तत्र भवान् दाक्षायणः, दाक्षिर्वा'** उदाहरण से होती है।

वंश—व्याडि नाम से इसके पिता का नाम व्यड प्रतीत होता है। माता का नाम अज्ञात है। दाक्षि और दाक्षायण नामों से इस वंश के मूल पुरुष का नाम **'दक्ष'** विदित होता है। मत्स्य पुराण १९५।२५ में दाक्षि को अङ्गिरा वंश का कहा है। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के लेखानुसार व्याडि दाक्षायण का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था।[6]

स्वसा—पाणिनि ने क्रौडयादि गण[7] में व्याडि का निर्देश किया है। उसके अनुसार उसकी किसी भगिनि का नाम 'व्याडया' प्रतीत

---

१. अभिधानचिन्तामणि, देवकाण्ड, श्लोक १४७ की टीका, पृष्ठ १००, १०१॥ २. पृष्ठ २६३, टि० ९। ३. एतद्ध स्म वा आहुर्दाक्षायणास्तन्तूंत्समवृक्षद् गामन्वव्यावर्तयेति। ४. कुमारीदाक्षाः।

५. कपितरः स्वस्तितरो दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः।

६. ब्राह्मणगोत्रप्रतिषेधादिह न भवति—दाक्षायण इति। न्यास २।४।५८, पृष्ठ ४७०। ७. अष्टा० ४।१।८०॥

होता है। इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] दाक्षि और दाक्षायण के एक होने पर वह व्याडि की बहिन होगी, और पाणिनि उ का भानजा।

आचार्य—विकृतवल्ली नाम का एक लक्षणग्रन्थ व्याडि-विरचित माना जाता है। उसके आरम्भ में शौनक को नमस्कार किया है।[2] आर्ष ग्रन्थों में इस प्रकार नमस्कार की शैली उपलब्ध नहीं होती। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त होगा, वा यह ग्रन्थ किसी **अर्वाचीन** व्याडि विरचित होगा, वा किसी ने व्याडि के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की होगी। व्याडि शौनक का समकालिक है। शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि का उल्लेख किया है। अतः सम्भव हो सकता है कि व्याडि ने शौनक से विद्याध्ययन किया हो। प्राचीन आचार्य अपने ग्रन्थों में अपने शिष्य के मत उद्धृत करने में संकोच नहीं करते थे। कृष्ण द्वैपायन ने अपने शिष्य जैमिनि के अनेक मत अपने ब्रह्मसूत्र में उद्धृत किये हैं।[3]

देश—पुरुषोत्तमदेव आदि ने व्याडि का एक पर्याय विन्ध्यस्थ= विन्ध्यवासी=विन्ध्यनिवासी लिखा है। तदनुसार यह विन्ध्य पर्वत का निवासी था। काशिका २।४।६० में **'प्राचामिति किम्—दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः'** लिखा है। पाणिनि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश का रहने वाला था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] अत उसका सम्बन्धी दाक्षायण भी उसी के समीप का निवासी होगा। इस से भी प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव के लिखे हुए व्याडि के पर्याय आर्ष-कालीन व्याडि के नहीं हैं। काशिका ४।१।१६० में दाक्षि को प्राग्-देशीय लिखा है।[5] यह उस के पूर्वोक्त वचन से विरुद्ध है। हो सकता है कि दो दाक्षि रहे हों। अभिनव शाकटायन व्याकरण २।४।११७ की चिन्तामणि वृत्ति में आङ्ग बाङ्ग प्राग्देशवासियों के साथ दाक्षि पद पढ़ा है।[6] क्या यह दाक्षि विन्ध्यस्थ हो सकता है?

---

१. पूर्व पृष्ठ १८३। २. नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महामुनिम्।

३. १।२।२८, ३१; ३।२।४०, ३।४।१८, ४०; ४।३।१२।।

४. पूर्व पृष्ठ १८७। ५ क्वचिन्न भवत्येव—दाक्षिः।

६. अङ्गबङ्गदाक्षयः आङ्गबाङ्गदाक्षयः।

दाक्षायण देश—दाक्षि व दाक्षायणों का कुल बहुत विस्तृत और समृद्ध था। वह कुल जहां बसा हुआ था, वह स्थान (देश) दाक्षक[1] और दाक्षायणभक्त[2] के नाम से प्रसिद्ध था। काशिका ४।२।१४२ में 'दाक्षिपलद, दाक्षिनगर, दाक्षिग्राम,[3] दाक्षिह्रद, दाक्षिकन्था'[4] संज्ञक ग्रामों का उल्लेख है। काशिका के अनुसार ये ग्राम वाहिक= सतलज और सिन्धु के मध्य थे।[5] काशिका ६।२।५ में 'दाक्षिघोष, दाक्षिकट, दाक्षिपल्वल, दाक्षिह्रद, दाक्षिबदरी, दाक्ष्यश्वत्थ, दाक्षिशाल्मली, दाक्षिपिङ्गल, दाक्षिपिशङ्ग, दाक्षिरक्ष, दाक्षिशिल्पी, दाक्षिपुंस, दाक्षिकूट' का निर्देश मिलता है।

व्याडिशाला—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६।२।८६ के छात्र्यादि-गण में व्याडि पद का निर्देश किया है। तदनुसार शाला उत्तरपद होने पर '**व्याडिशाला**' पद आद्युदात्त होता है। यहां शालाशब्द पाठशाला का वाचक है, यह हम आपिशलिशाला के प्रकरण में लिख चुके हैं।[6]

व्याडिशाला की प्रसिद्धि—काशिका ६।२।६९ में लिखा है—

कुमारीदाक्षाः। कुमार्यादिलाभकामा: दाक्ष्यादिप्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयन्ते तच्छिष्यता वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते।

अर्थात् जो कुमारी की प्राप्ति के लिये दाक्षिप्रोक्त शास्त्र का अध्ययन करते हैं, अथवा उस की शिष्यता स्वीकार करते हैं, वे पूर्व-पदान्तोदात्त कुमारीदाक्ष पद से आक्षिप्त किए जाते हैं।[7]

पाणिनि के द्वारा ६।२।८६ में दाक्षिशाला का निर्देश होने से, तथा काशिका के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य व्याडि का विद्यालय उस समय अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका था।

---

१ दाक्षि+अक, राजन्यादिभ्यो वुञ्। अष्टा० ४।२।५३॥

२. दाक्षि+भक्त, भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधलभक्तलौ। अष्टा० ४।२।५४॥ ३. दाक्षिग्रामः······ दाक्ष्यादयो निवसन्ति यस्मिन् ग्रामे स तेषामिति व्यपदिश्यते। काशिका ६।२।८४॥ ४. ग्रामविशेषस्य संज्ञा। वामनीय लिङ्गानुशासन। पृष्ठ ६, पं० २६। ५. पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः। वाहिका नाम ते देशाः······। महाभारत कर्णपर्व, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।१।७५ में उद्धृत। ६. पृष्ठ १८६।

७. तुलना करो—'अजर्घा यो न जानाति यो न जानाति वर्वरीः। अचीकमत् यो न जानाति तस्मै कन्या न दीयते'॥ किंवदन्ती।

व्याडि का वर्णन

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावना के अन्तर्गत मुनिकविवर्णन में लिखा है—

> रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।
> दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥ १६ ॥
> बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
> महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥ १७ ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि संग्रहकार व्याडि दाक्षीपुत्र-वचन (अष्टाध्यायी) का व्याख्याता, रसाचार्य और श्रेष्ठ मीमांसक था। इसने बलरामचरित लिखकर व्यास और भारत को जीत लिया था, अर्थात् उसका बलचरित भारत से भी महान् था।

रसाचार्य—कृष्णचरित के उपर्युक्त उद्धरण में व्याडि को रसाचार्य कहा है। वाग्भट्ट ने रसरत्नसमुच्चय के आरम्भ में प्राचीन रसाचार्यों में व्याडि का उल्लेख किया है।[1] पार्वतीपुत्र नित्यनाथ-सिद्ध-विरचित रसरत्न के वादिखण्ड उपदेश १, श्लोक ६६—७० में २७ प्राचीन रसाचार्यों के नाम लिखे हैं,[2] उन में सब से प्रथम नाम 'व्यालाचार्य' है। ड-ल का अभेद होने से सम्भव है, यहां शुद्धपाठ **व्याडयाचार्य** हो। रामराजा के रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का उल्लेख मिलता है।[3]

गरुड पुराण में रसाचार्य व्याडि—पं० रामशंकर भट्टाचार्य ने **रसाचार्य व्याडि का पौराणिक निर्देश** शीर्षक एक टिप्पण वेदवाणी पत्रिका (काशी के वर्ष १०, अङ्क ६, पृष्ठ २०) में प्रकाशित किया है। उस में गरुड पुराण पूर्वार्ध अ० ६६, श्लोक ३५-३७ उद्धृत करके बताया है कि व्याडि का रसाचार्यत्व पुराण साहित्य में भी प्रसिद्ध है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

> **आदाय तत्सकलमेव ततोऽन्नभाण्डं**
> **जम्बीरजातरसयोजनया विपक्वम् ।**

---

१. इन्द्रदो गोमुखश्चैव काम्बलिर्व्याडिरेव च। १। ३॥

२. रसरत्नसमुच्चय में भी २७ रसाचार्यों का उल्लेख है।

३. कलायस्त्रिपुटः प्रोक्तः सतीलो वर्तुलो मतः। हरेणु कण्टका ज्ञेयेति व्याडिरिति भरतः। हिस्ट्री आफ दी इण्डियन मेडिशन, पृष्ठ ७५८, ७५९ में उद्धृत।

घृष्टं ततो मृदुतनूकृतपिण्डमूलैः
कुर्यात् यथेष्टमनुमौक्तिकमाशु विद्धम् ॥ ३५ ॥

मृल्लिप्तमत्स्यपुटमध्यगतं तु कृत्वा
पश्चात् पचेत् तनु ततश्च वितानपत्या ।
दुग्धे ततः पयसि तं विपचेत् सुधायां
पक्वं ततोऽपि पयसा शुचिचिक्कणेन ॥ ३६ ॥

शुद्धं ततो विमलवस्त्रनिघर्षणेन
स्यान्मौक्तिकं विपुलसद्गुणकान्तियुक्तम् ।
व्याडिर्जगाद जगतां हि महाप्रभाव-
सिद्धो विदग्धहिततत्परया कृपालुः ॥ ३७ ॥

यहां ३५ वें श्लोक में **रसयोजनया** शब्द स्पष्ट है। ३७ वें में **महाप्रभावसिद्ध** शब्द भी रसशास्त्र का पारिभाषिक पद है।

उपर्युक्त निर्देशों से स्पष्ट है कि आचार्य व्याडि रस=पारद शास्त्र का विशिष्ट प्रवक्ता था।

नागार्जुन रसशास्त्र का उपज्ञाता नहीं—लोक में किंवदन्ती है कि औषध रूप में रस=पारद के व्यवहार का उपज्ञाता बौद्ध विद्वान् नागार्जुन है। वस्तुतः यह मिथ्या भ्रम है। रसचिकित्सा भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी औद्भिजचिकित्सा। चरक और सुश्रुत मुख्यतया औद्भिज और शल्यचिकित्सा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। इसलिये उन में रसचिकित्सा का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। अग्निवेश आदि रसचिकित्सा से परिचित नहीं थे, यह धारणा मिथ्या है। चरक चिकित्सास्थान अध्याय ७ में लिखा है—

श्रेष्ठं गन्धकसंयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा ।
सर्वव्याधिविनाशनमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥

चरक में इस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी उल्लेख है। प्रो० दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी ने रसरत्नसमुच्चयटीका की भूमिका पृष्ठ २, ३ पर अन्य रसों का भी वर्णन दर्शाया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र अध्याय ३४ में सुवर्ण का एक भेद 'रसाविद्ध'=पारद निर्मित बताया है।

वस्तुतः प्राचीन काल में एक एक विषय पर ग्रन्थ लिखने की परिपाटी थी। प्राचीन ग्रन्थकार स्वप्रतिपाद्यविषय से भिन्न विषय

में हस्तक्षेप नहीं करते थे।[1] इसलिये चरक सुश्रुत में रसचिकित्सा का विधान नहीं है।

मीमांसक व्याडि

कृष्णचरित में व्याडि को '**मीमांसकाग्रणी**' लिखा है। अतः सम्भव है कि व्याडि ने मीमांसाशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। जैमिनि आकृति को पदार्थ मानता है।[2] महाभाष्य १।२।६४ में व्याडि को द्रव्यपदार्थवादी लिखा है।[3] इससे स्पष्ट है कि व्याडि '**द्रव्यपदार्थवादी मीमांसक**' रहा होगा। महाभाष्य में काशकृत्स्न-प्रोक्त मीमांसा का उल्लेख मिलता है।[4] वह द्रव्यपदार्थवादी था वा आकृतिपदार्थवादी, यह अज्ञात है।

काल

व्याडि का उल्लेख गृहपति शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में अनेक स्थानों पर किया है।[5] गृहपति शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन भारतयुद्ध के लगभग १०० वर्ष पश्चात् किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[6] व्याडि अपर नाम दाक्षायण पाणिनि का मामा था, यह भी पूर्व लिखा जा चुका है।[7] अतः व्याडि का काल भारत-युद्ध के पश्चात् १००–२०० वर्षों के मध्य है।

संग्रह का परिचय

महाभाष्य २।३।६६ में लिखा है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

अर्थात् दाक्षायणविरचित संग्रह की कृति मनोहर है।

महाभाष्यकार जैसा विवेचनात्मक बुद्धि रखने वाला व्यक्ति जिस कृति को सुन्दर मानता हो, उसकी प्रामाणिकता और उत्कृष्टता में क्या सन्देह हो सकता है?

---

१. तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च। पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः॥ चरक चिकित्सा० २६।१३०, १३१॥ २. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। मीमांसा १।३।३३॥

३. द्रव्याभिधानं व्याडिः। ४. ४।१।१४, ६३; ४।३।१५५॥

५. पूर्व पृष्ठ २०१, टि० ८। ६. पूर्व पृष्ठ २०३।

७. पूर्व पृष्ठ १८३।

संग्रह ग्रन्थ का स्वरूप—संग्रह ग्रन्थ चिरकाल से लुप्त है। इसलिये इसका क्या स्वरूप था, यह हम नहीं कह सकते। इस के जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं, उनके अनुसार इसके विषय में कुछ लिखा जाता है—

संग्रह में ५ अध्याय—चान्द्र व्याकरण ४।१।६२ की वृत्ति में एक उदाहरण है—**पञ्चकः संग्रहः**। इस की **'अष्टकं पाणिनीयम्'** उदाहरण से तुलना करने पर विदित होता है कि संग्रह में पांच अध्याय थे।

संग्रह का परिमाण—वाक्यपदीय का टीकाकार पुण्यराज लिखता है—

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।[1]

नागेश भी संग्रह का परिमाण लक्ष श्लोक मानता है।[2]

संग्रहसूत्र—महाभाष्य ४।२।६० में एक उदादरण है—**सांग्रहसूत्रिकः**। इस से प्रतीत होता है कि संग्रहग्रन्थ सूत्रात्मक था।

संग्रह दार्शनिक ग्रन्थ था—पतञ्जलि महाभाष्य के आरम्भ में लिखता है—

संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वा। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्योऽथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम्।[3]

आगे पुनः लिखता है—

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति।[3]

इन दोनों उद्धरणों से, तथा भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय की स्वोपज्ञटीका में उद्धृत संग्रह के पाठों से विदित होता है कि संग्रह वाक्यपदीय के समान प्रधानतया व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था।

पाणिनीय-अष्टक-व्याख्यान—नागेशकृत भाष्यप्रदीपोद्योत ४।३।३९ में लिखा है—

---

१. वाक्यपदीय टीका, काशी संस्क० पृष्ठ २८३।

२. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। नवाह्निक, निर्णयसागर संस्क०, पृष्ठ ५५।

३. अ० १। पा० १। आ० १॥

एवं च संग्रहादिषु तदुदाहरणदानमसंगतं स्यात् ।

इस से प्रतीत होता है कि संग्रह में कहीं कहीं अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरण भी दिये गए थे ।

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिकाविवरणपञ्जिका ७।३।११ में लिखता है—

श्वोभूतिव्याडिप्रभृतयः श्रयुकः कितीत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारः प्रश्लिष्टः इत्येवमाचक्षते ।

व्याडि ने **श्रयुकः किति** (७।३।११) सूत्र की उक्त व्याख्या सम्भवतः संग्रह में की होगी ।

यह भी संभव हो सकता है कि व्याडि ने अष्टाध्यायी की कोई व्याख्या लिखी हो । इसकी पुष्टि कृष्णचरित के पूर्व उद्धृत श्लोक के **दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटु** पद से भी होती है ।

संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा—महाभाष्य के **'संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्'** इस वचन की व्याख्या में भर्तृहरि लिखता है—

चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि) ।[1]

अर्थात् संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा की थी । यदि भर्तृहरि का यह वचन ठीक हो, तो संग्रह का एक लक्ष श्लोक परिमाण अवश्य रहा होगा ।

संग्रह की प्रतिष्ठा—संग्रह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था । काशिका ६ । २ । ६९ के **'कुमारीदाक्षाः'** उदाहरण से व्यक्त होता है कि अनेक व्यक्ति कुमारी की प्राप्ति (=विवाह) के लिये झूठमूठ अपने को दाक्षि-प्रोक्त ग्रन्थ के ज्ञाता बताया करते थे ।[2] काशिकाकार ने इस उदाहरण की जो व्याख्या की है, वह चिन्त्य है । प्रतीत होता है, उसने इस उदाहरण का भाव नहीं समझा । 'दाक्ष' पद की **'दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते'** व्याख्या में 'दाक्षादिभिः' पाठ अशुद्ध है, वहां **'दाक्ष्यादिभिः'** पाठ होना चाहिये ।

---

१ हमारा हस्तलेख पृष्ठ २६ । २. तुलना करो पूर्व पृष्ठ २७६, टि० ७ में उद्धृत 'अजर्घा यो न……' श्लोक के साथ ।

संग्रह ग्रन्थ की प्रौढता का अनुमान पतञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट निम्न श्लोक से भी होता है—

किरतिं चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो नयेत् ।
प्राप्तिज्ञं तमहमन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः ॥[1]

पतञ्जलि ने महाभाष्य २।३।६६ में दाक्षायण विरचित संग्रह की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः ।

इन उद्धरणों से संग्रह ग्रन्थ का वैशिष्टय सूर्य के समान विस्पष्ट है।

संग्रह के उद्धरण—संग्रह के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ-टीका में संग्रह के १० (दस) वचन उद्धृत हैं। श्री पं० चारुदेवजी ने स्वसम्पादित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के अन्त में उन्हें संगृहीत कर दिया है। हम ने संग्रह के ४ (चार) नये वचन संगृहीत किये हैं।[2] प्रथम और दशम वचन का द्वितीय उद्धरण का स्थान भी हम ने ढूंढा है। आजतक संग्रह के जितने वचन उपलब्ध हुए हैं, वे नीचे दिये जाते हैं—

१. नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[3]

२. अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः ।
पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥[4]

३. शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया ।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ॥[5]

---

१. महा० ७।४।९३॥ कैयट ने पतञ्जलि के भाव को न समझकर संग्रह शब्द का अर्थ 'साधु शब्दराशि' लिखा है।

२. संवत् २००७ तक। तत्पश्चात् ५ नए उद्धरण और उपलब्ध हुए। उन का निर्देश द्वितीयभाग पृष्ठ ३४६ पर किया है।

३. वाक्यपदीय टीका लाहौर संस्क० पृष्ठ ४२। यह वचन पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।३१९ की व्याख्या में भी उद्धृत किया है। वहां तृतीय चरण का पाठ 'पदानामर्थरूपं च' है, सम्भवतः वह अशुद्ध है। ४. वही, पृष्ठ ४३॥

५. वही, पृष्ठ ४३॥

४. संबन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः ।
शब्दैरेव हि शब्दानां संबन्धः स्यात् कृतः कथम् ॥[१]

५. वाचक उपादानः स्वरूपवानव्युत्पत्तिपक्षे । व्युत्पत्तिपक्षे त्वर्थविहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम् । उपादानो द्योतक इत्येके । सोऽयमितिव्यपदेशेन संबन्धोपयोगस्य शक्यत्वात् ।[२]

६. नहि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत् करणे संनिविशते । तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते ।[३]

७. शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥[४]

८. असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते ।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः ॥[५]

९. यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये ।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः ॥[६]

१०. शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः ।[७]

११. शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते ।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः ॥[८]

१२. सस्त्यानं संहननं तमो निवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिप्रतिबन्धतिरोभावः स्त्रीत्वम्, प्रसवो विष्वग्भावो वृद्धिशक्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम् । अविवक्षातः साम्यस्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिरपदार्थत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्वमिति ।[९]

---

१. वाक्यपदीय टीका लाहौर सं०, पृष्ठ ४३ । २ वही, पृष्ठ ५५ ।
३. वही, पृष्ठ ६६ । ४. वही, पृष्ठ ७९ । तथा—यदाह संग्रहकारः—शब्दस्य ग्रहणे हेतुः···। श्रीदेव विरचित स्याद्वादरत्नाकर भाग ३, पृष्ठ ६४५ ।
५. वही, पृष्ठ ८६ । ६. वही, पृष्ठ ८८ । तथा—स्याद्वादरत्नाकर भाग ३, पृष्ठ ६४६ । ७. वही, पृष्ठ १३४ । तथा हेलाराजटीका काण्ड ३, पृष्ठ १११, काशी संस्क० । ८. एतदेव संग्रहकारोक्तश्लोकप्रदर्शनेन संवादयितुमाह । वाक्य० टीका पुण्यराज, काण्ड २, श्लोक, २६७ । ९ वाक्य० टीका हेलाराज, पृष्ठ ४३१, काशी संस्क० । लिङ्गसमुद्देशकारिका १—२ ।

१३. इकां यण्भिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः।[1]

१४. जाज्वलीति संग्रहे।[2]

१५. यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते ।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम् ॥[3]

१६. शब्दे तां जातिं शब्दमेवार्थजातौ जातिः शुक्लादौ द्रव्यशब्दा गुणं कृत्तत्संयोगं योगि चाभिन्नरूपं[4] वाच्यं वाच्येषु [शुक्ल] त्वादयो बोधयन्ति।[5]

१७. किं कार्यः शब्दोऽथ नित्य इति।[6]

१८. असति प्रत्यक्षाभिमाने………।[7]

१९. काश्यपस्तु आत्वपक्षे दिदासते इत्येके इत्युक्त्वा संग्रह इत्त्वव्यतिरिक्तस्य घुकार्यस्योक्तत्वाद् इस्भाव उपदित्सत इत्याह।[8]

२०. ज्ञानं द्विविधं सम्यगसम्यक् च ।[9]

---

१. जैनेन्द्र व्या० महानन्दिटीका १।२।१, पृष्ठ २३। तुलना करो—इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। भाषावृत्ति ६।१।७७॥

२. श्रीकविकण्ठाहारकृत चर्करीतरहस्य । इण्डिया आफिस का हस्तलेख, सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ २०८ ।

३. गौणार्थस्य स्वरूपमप्याह—वाक्य० कां० २ श्लोक २६८ की उत्थानिका पुण्यराज की । तुलना करो—उद्धरण संख्या ११ (कारिका २६७) की उत्थानिका के साथ। ४. कृत्तत्संयोगं योगिनाभिन्नरूपम्' पाठा०, पृष्ठ ७७।

५. शृङ्गारप्रकाश, पृष्ठ ४६ । इस उद्धरण की उत्थानिका इस प्रकार है—'यदाह यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः स तस्य भावः, तदभिधाने त्वतलौ। तस्योपसंग्रहाय संग्रहकारः पठति—शब्दे तां ……'

६. भर्तृ० महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ ३०, हमारा हस्तलेख । इस की उत्थानिका—एवं संग्रह एतत् प्रस्तुतम्—किं नित्यः……।

७. स्याद्वादरत्नाकर, पृष्ठ १०७६। इस की उत्थानिका—एवं च यदाह व्याडिः—असति……। यह उद्धरण अधूरा है। हम ने संकेत के लिए इतना ही लिखा था। इस समय 'स्याद्वादरत्नाकर' ग्रन्थ हमारे पास नहीं है।

८. धातुवृत्ति, पृष्ठ २८७, काशी सं० । यहां ग्रन्थकार ने संग्रह का अभिप्राय स्वशब्दों में लिखा है। ९. भाष्यव्याख्याप्रपञ्च, वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी बंगाल से प्रकाशित पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति आदि के अन्त में। पृष्ठ १२५। इस उद्धरण की उत्थानिका—'अत एव व्याडिः—ज्ञानं……।'

२१. **ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।**
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन मांगलिकावुभौ ।।[1]

इनमें से अन्तिम उद्धरण व्याडि के कोषग्रन्थ का प्रतीत होता है।

संग्रह के उपर्युक्त वचनों से विदित होता है कि संग्रह में गद्य, पद्य दोनों थे।

इनके अतिरिक्त न्यास, महाभाष्यप्रदीप, पदमञ्जरी, योगव्यास-भाष्य आदि में संग्रह के नाम से कुछ वचन उपलब्ध होते हैं।

श्री डा० सत्यकाम वर्मा की भूल—डाक्टर जी ने 'सं० १० के वचन का अर्थ' नामक ग्रन्थ में 'शब्दों की प्रकृति अपभ्रंश शब्द है' लिखा है। यह व्याख्या संग्रहवचन के उद्धर्त्ता भर्तृहरि की व्याख्या के तथा वैयाकरण मत के विपरीत है। उन्होने पाश्चात्य मत के साथ तुलना के लिये उक्त व्याख्या की है। वस्तुतः इस वचन का अर्थ है—अपभ्रंशों की प्रकृति साधु शब्द हैं। **शब्दप्रकृतिः** में बहुव्रीहि समास है—**शब्दः प्रकृतिरस्य**। षष्ठीसमास **शब्दानां प्रकृतिः** मान कर डाक्टर जी ने भूल की है।

न्यास और संग्रह—न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने पांच वचन संग्रह के नाम से उद्धृत किये हैं।[2] वे महाभाष्य में उपलब्ध होते हैं। न्यास के पाठ में संग्रह का अर्थ संक्षेपवचन हो सकता है।

महाभाष्यप्रदीप और संग्रह—कैयट ने महाभाष्य में पठित कई श्लोकों के विषय में '**पूर्वोक्तार्थसंग्रहश्लोकाः**'[3] लिखा है। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं—

१. महाभाष्य में पूर्व प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि में संग्रह ग्रन्थ के श्लोक।

२. पूर्व गद्य में विस्तार से प्रतिपादित अर्थ को संग्रह=संक्षेप से कहने वाले श्लोक।

---

१. भाष्यव्याख्याप्रपञ्च। वही संस्क०, पृष्ठ १२५। इस उद्धरण का अन्त्य पाठ—'ओंकारश्च····· वुभौ॥ इति व्याडिलिखनात्।'

२. ४। २। ८, पृष्ठ ६३०; ४। २। ६, पृष्ठ ६३१; ६। १। ६८ पृष्ठ २४३; ८। १। ६६, पृष्ठ ६४१; ८। २। १०८, पृष्ठ १०३०॥

३. ५। २। ४८॥

कई विद्वान् कैयट की पंक्ति का प्रथम अर्थ समझ कर महाभाष्यनिर्दिष्ट श्लोकों को संग्रह के श्लोक मानते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि ये श्लोक महाभाष्यकार के हैं।

पदमञ्जरी और संग्रह—हरदत्त ने पदमञ्जरी में आठ स्थानों पर संग्रहश्लोक लिखे हैं।[1] उन में कुछ महाभाष्यपठित श्लोक हैं, और कुछ हरदत्त के स्वविरचित प्रतीत होते हैं। हरदत्त ने जिस विषय को प्रथम गद्य में विस्तार से लिखा, अन्त में उसी को संक्षेप से श्लोकों में संगृहीत कर दिया।

प्रक्रियाकौमुदी-टीका और संग्रह—विट्ठल काशिका में उद्धृत 'एकस्मान्ङञणवटा' आदि श्लोक को संग्रह के नाम से उद्धृत करता है।[2] यहां संग्रह शब्द से व्याडि का ग्रन्थ अभिप्रेत नहीं है।

व्यासभाष्य और संग्रह—योगदर्शन के व्यासभाष्य में एक संग्रह श्लोक उद्धृत है।[3] वह व्याडि का नहीं है।

चरक और संग्रह—चरक सूत्रस्थान अध्याय २९ में 'संग्रह' शब्द का प्रयोग मिलता है—**त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहव्याकरणस्य··· प्रवक्तारः।** यहां संग्रहपद संक्षिप्त वचन के लिये प्रयुक्त हुआ है।

यज्ञफल-नाटक और संग्रह—कुछ वर्ष हुए गोण्डल काठियावाड़ से भास के नाम से एक यज्ञफल नाटक प्रकाशित हुआ है। उस के पृष्ठ ११६ पर लिखा है—**ससूत्रार्थसंग्रहं व्याकरणम्।**

रामायण उत्तरकाण्ड और संग्रह—रामायण उत्तरकाण्ड में लिखा है—हनुमान् ने संग्रहसहित व्याकरण का अध्ययन किया था।[4] उत्तरकाण्ड आदिकवि वाल्मीकि की रचना नहीं है, पर है पर्याप्त प्राचीन। उस का संकेत व्याडिविरचित संग्रह ग्रन्थ की ओर मानना अनुचित है। क्या प्राचीन काल में अन्य भी संग्रह ग्रन्थ थे?

---

१. ४।१।७८, पृष्ठ ६८; ४।२।८, ९ पृष्ठ १२७; ५।३।८३, पृष्ठ १६२; ६।१।६८, पृष्ठ ४५१; ६।१।६९ पृष्ठ ४५३ इत्यादि।

२. संग्रहश्लोकानुसारेण कथयति–एकस्मान्···। भाग १, पृष्ठ २०। भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधर इसे भाष्यवचन कहता है। यह उस की भूल है। महाभाष्य में यह वचन उपलब्ध नहीं होता।

३. ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥ इति संग्रहश्लोकः। व्यास भाष्य ३।२६॥

४. ससूत्रवृत्त्यर्थपदं महार्थं ससंग्रहं सिध्यति वै कपीन्द्रः। ३६।४४॥

संग्रह के नाम से अन्य ग्रन्थों के उद्धरण—सायण ने अपने वेद-भाष्यों में अनेक स्थानों पर स्वविरचित जैमिनीयन्यायाधिकरणमाला के श्लोक 'संग्रह' के नाम से उद्धृत किये हैं। अतः संग्रह नाम से उद्धृत सब वचनों को व्याडिकृत संग्रह के वचन नहीं समझना चाहिये।

संग्रह का लोप—भर्तृहरि वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में लिखता है—

> **प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान् ।**
> **संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥ ४८४ ॥**
> **कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।**
> **सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ ४८५ ॥**

इस उद्धरण से विदित होता है कि संग्रह जैसे महाकाय ग्रन्थ के पठन-पाठन का उच्छेद पतञ्जलि से पूर्व ही हो गया था, और शनैः शनैः ग्रन्थ भी नष्ट हो रहे थे। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ-टीका में संग्रह के कुछ उद्धरण दिये हैं।[1] अतः उसके काल तक संग्रह ग्रन्थ पूर्ण वा खण्डित रूप में अवश्य विद्यमान था। भट्ट बाण ने भी हर्षचरित में संग्रह का उल्लेख किया है।[2] उससे बाण के काल में उसकी सत्ता अवश्य प्रमाणित होती है। परन्तु न्यासकार जैसे प्राचीन ग्रन्थकार द्वारा 'संग्रह' का उल्लेख न होना सन्देहजनक है। बाण और न्यासकार में काल का अधिक अन्तर नहीं है। हेलाराज ने प्रकीर्ण-काण्ड की टीका में 'संग्रह' का एक लम्बा वचन उद्धृत किया है।[3] यदि उसने वह उद्धरण किसी प्राचीन टीकाग्रन्थ से उद्धृत न किया हो, तो ११ वीं शताब्दी तक संग्रह ग्रन्थ के कुछ अंशों की विद्य-मानता स्वीकार करनी होगी।

अन्य ग्रन्थ

१. **व्याकरण**—व्याडि ने एक व्याकरणशास्त्र रचा था, उस में दश अध्याय थे। उसका वर्णन हम 'पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित आचार्य' नामक प्रकरण में पूर्व पृष्ठ १३१ पर कर चुके हैं।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २८५-२८६, संख्या १—१० तक उद्धरण।

२. सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि। उच्छ्वास ३, पृष्ठ ८७।

३. देखो पूर्व पृष्ठ २८६, संख्या १२ का उद्धरण।

२. **बलचरित**—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन के जो दो श्लोक पूर्व पृष्ठ २८० पर उद्धृत किये हैं, उनसे स्पष्ट है कि व्याडि आचार्य ने बल=बलराम-चरित का निर्माण करके भारत और व्यास को भी जीत लिया था।

आचार्य व्याडि के काव्य के लिए देखिए इस ग्रन्थ का अध्याय ३०।

३. **परिभाषा-पाठ**—व्याडि ने किसी परिभाषापाठ का प्रवचन किया था, इसके अनेक प्रमाण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। कई एक परिभाषापाठ के हस्तलेख व्याडि के नाम से निर्दिष्ट विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

व्याडि-प्रोक्त परिभाषापाठ के विषय में इस ग्रन्थ के अध्याय २६ में विस्तार से लिखा है। अतः इस विषय में वहीं देखें।

४. **लिङ्गानुशासन**—व्याडिकृत लिङ्गानुशासन का उल्लेख वामन,[1] हर्षवर्धन[2] तथा हेमचन्द्र[3] के लिङ्गानुशासनों में मिलता है। इसका विशेष वर्णन हमने अध्याय २५ में किया है।

५. **विकृतिवल्ली**—विकृतिवल्ली संज्ञक ऋग्वेद का एक परिशिष्ट उपलब्ध होता है। वह आचार्य व्याडिकृत माना जाता है। उसके प्रारम्भिक श्लोक में आचार्य शौनक को नमस्कार किया है।[4] आर्ष-ग्रन्थों में इस प्रकार नमस्कार की शैली उपलब्ध नहीं होती। अतः यह श्लोक या तो किसी शौनकभक्त ने मिलाया होगा, या यह ग्रन्थ अर्वाचीन व्याडिकृत होगा।

६. **कोश**—व्याडि के कोश के उद्धरण कोशग्रन्थों की अनेक टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। यह कोश विक्रम-समकालिक अर्वाचीन व्याडि का बनाया हुआ है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] इस का नाम **उत्पलिनी** था, ऐसा गुरुपद हालदार का मत है।[6]

इस अध्याय में हमने महावैयाकरण व्याडि और उस के 'संग्रह' ग्रन्थ का संक्षिप्त वर्णन किया है। अगले अध्याय में अष्टाध्यायी के वार्तिककारों के विषय में लिखा जायगा।

——

---

१. यद् व्याडिप्रमुखैः, पृष्ठ १, २। व्याडिप्रणीतमथ, पृष्ठ २०।
२. व्याडेः शङ्करचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः। कारिका ६७॥
३. हैम लिङ्गानुशासन विवरण, पृष्ठ १०३।
४. पृष्ठ २७८, टि० २।
५. पृष्ठ २७७।
६. बृहत्त्रयी पृष्ठ ६८।

आठवां अध्याय

अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार

(२८०० विक्रम पूर्व)

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक आचार्यों ने वार्त्तिकपाठ रचे थे। उन के ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं। बहुत से वार्त्तिककारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य में अनेक अज्ञातनामा आचार्यों के वचन '**अपर आहुः**' निर्देशपूर्वक उल्लिखित हैं। वे प्रायः पूर्वाचार्यों के वार्त्तिक हैं। पतञ्जलि ने कहीं-कहीं वार्त्तिककारों के नामों का निर्देश किया है, परन्तु बहुत स्वल्प। महाभाष्य में निम्न वार्त्तिककारों के नाम उपलब्ध होते हैं—

१. कात्य वा कात्यायन। २. भारद्वाज।
३. सुनाग। ४. क्रोष्टा। ५. बाडव।

इन के अतिरिक्त निम्न दो वार्त्तिककारों के नाम महाभाष्य की टीकाओं से विदित होते हैं—

६. व्याघ्रभूति। ७. वैयाघ्रपद्य।

वार्तिक नाम से व्यवहृत ग्रन्थों के दो प्रकार—एक वार्तिक वे हैं, जिन की रचना सूत्रों पर हुई, और उन पर भाष्य रचे गये। इसी लिये कात्यायनीय वार्तिकों के लिये **भाष्यसूत्र** शब्द का व्यवहार होता है। यह प्रकार केवल व्याकरणशास्त्र में उपलब्ध होता है। दूसरे वार्तिक ग्रन्थ वे हैं, जिन की भाष्यों पर रचना की गई। जैसे न्यायभाष्यवार्तिक।[1]

वार्तिक का लक्षण

पराशर उपपुराण में वार्तिक का निम्न लक्षण लिखा है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥[2]

---

१. यथा शावरभाष्य पर कुमारिल के श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक। शंकर के बृहदारण्यक आदि भाष्यों पर सुरेश्वराचार्य के वार्तिक ग्रन्थ।

२. तुलना करो—उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्। काव्यमीमांसा पृष्ठ ५।

यद्यपि यह लक्षण वैयाकरणीय वार्त्तिकों पर भी संबद्ध हो जाता है, तथापि यह लक्षण प्राधान्येन भाष्यग्रन्थों पर लिखे गए वार्तिक ग्रन्थों के लिए ही उपयुक्त है।

वैयाकरणीय वार्तिक पद का अर्थ

वैयाकरण निकाय में 'व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति' के लिए **वृत्ति** शब्द का व्यवहार होता है। यथा—

का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः।[1]

निरुक्त २। १ के **'संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति'** वाक्य में भी वृत्ति शब्द का अर्थ व्याकरणशास्त्र-प्रवृत्ति ही है।

कात्यायन ने भी वृत्ति शब्द का यही अर्थ स्वीकार करके लिखा है—

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणम् अनण्त्वात्[2]।

इस की व्याख्या में कैयट लिखता है—

वृत्तिः शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः, तदनुगतो निर्देशोऽनुवृत्तिनिर्देशः।

शास्त्रप्रवृत्ति की वास्तविक प्रतीति केवल सूत्रों से नहीं होती। उस के लिए सूत्रव्याख्यान की अपेक्षा होती है। इसलिए सूत्रों के लघु व्याख्यान ग्रन्थ, जिन में पदच्छेद विभक्ति अनुवृत्ति उदाहरण प्रत्युदाहरण आदि द्वारा सूत्रतात्पर्य को व्यक्त किया जाता है, को भी **वृत्ति** कहा जाता है। इसी दृष्टि से मूलभूत शब्दानुशासन के लिए **वृत्तिसूत्र** पद का व्यवहार होता है।[3]

वृत्ति शब्द के उक्त अर्थ के प्रकाश में 'वार्तिक' पद का अर्थ होगा **वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्**। अर्थात् जो वृत्ति का व्याख्यान हो, वह 'वार्तिक' कहाता है।

वैयाकरणीय वार्तिकों की सूक्ष्म विवेचना से भी यही बात व्यक्त होती है, कि उन की मीमांसा का आधारभूत विषय वृत्ति=शास्त्र-प्रवृत्ति के निर्देशक ग्रन्थ हैं।

---

१. महा० अ० १, पा० १ के अन्त में। २. महा० १। १, अ इ उण् सूत्रभाष्य। ३. द्र०—पूर्व पृष्ठ २२२।

वार्तिकों के अन्य नाम

वार्तिकों के लिए वैयाकरण वाङ्मय में **वाक्य, व्याख्यान-सूत्र, भाष्यसूत्र, अनुतन्त्र,** और **अनुस्मृति** शब्दों का व्यवहार होता है। यथा—

वाक्य—वार्तिकों के लिए स्वतन्त्ररूप से वाक्य पद का निर्देश कैयट के महाभाष्यप्रदीप में दो स्थानों[1] पर, न्यास[2] तथा देवकृत दैव[3] में एक स्थान पर उपलब्ध होता है। हां, वार्तिककार के लिए **वाक्यकार** पद का प्रयोग तो असकृत् उपलब्ध होता है।[4]

वाक्य पद का अर्थ—वार्तिक के लिए वाक्य पद का प्रयोग सम्भवतः इसलिए होता है कि सूत्रों में क्रिया-पद का प्रयोग नहीं होता। अतः उन में वाक्यत्व लक्षण[5] व्याप्त नहीं होता। वार्तिकों में प्रायः क्रिया-पद भी प्रयुक्त होता है। अतः उन में वाक्यत्व का लक्षण भले प्रकार उपपन्न हो जाता है, अर्थात् वार्तिक संक्षिप्त वचन न होकर वाक्यरूप विस्तृत हैं।

व्याख्यान-सूत्र- व्याख्यानसूत्र पद का प्रयोग केवल कैयट के महाभाष्यप्रदीप में उपलब्ध होता है।[6]

व्याख्यानसूत्र का अर्थ—जिन सूत्रों का व्याख्यान किया जाए, वह 'व्याख्यानसूत्र' कहाते हैं। वार्तिकों पर भाष्यरूपी व्याख्यानग्रन्थ लिखे गए, अतः इन्हें 'व्याख्यानसूत्र' कहा जाता है।

भाष्यसूत्र—भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका[7] में, तथा स्वामी

---

१. सूत्रव्याख्यानार्थत्वाद् वाक्यानाम्.... । ६ । ३ । ३४ ॥ तुल्यविचारत्वाद् भाष्ये त्रिसूत्रीं पठित्वा वाक्यं पठितम्—सपुंकानामिति । ८।३।५॥

२. भाष्यं कात्यायनेन प्रणीतानां वाक्यानां विवरणं पतञ्जलिप्रणीतम्। पृष्ठ १।

३. उपालम्भे **शपेर्वाक्यात्**। श्लोक १३२।

४. द्रष्टव्य—अगला प्रकरण 'वार्तिककार=वाक्यकार'।

५. एकतिङ् वाक्यम्। महा० २।१।१॥

६. व्याख्यानसूत्रेषु लाघवाऽनादरात्। कैयट, महाभाष्यप्रदीप ८।२।६॥ इसी पर नागेश लिखता है—व्याख्यानसूत्रेष्विति वार्तिकेष्वित्यर्थः।

७. भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात्, लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेऽप्याश्रयणाद् इहापि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां प्रवृत्तिः। पृष्ठ ४८। न च तेषु भाष्यसूत्रे गुरुलघुप्रयत्नः क्रियते। तथा [हि]—नहीदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निर्वतयन्ति इति। भाष्यसूत्राणि हि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां समर्थतराणि। पृष्ठ २८१,२८२॥

दयानन्द सरस्वती ने स्वीय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका[1] में वार्तिकों के लिए 'भाष्यसूत्र' पद का प्रयोग किया है। हर्षवर्धनकृत लिङ्गानुशासन टीका में 'वार्तिक' पद का अर्थ ही भाष्यसूत्र लिखा है।[2]

भाष्यसूत्र पद का अर्थ—जिन सूत्रों पर भाष्यग्रन्थ लिखे जाएं, अथवा जो भाष्यग्रन्थों के मूलभूत आधार वाक्यरूप सूत्र हों, उन्हें 'भाष्यसूत्र' कहा जाता है।

अनुतन्त्र—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में वार्तिकों को 'अनुतन्त्र' नाम से उद्धृत किया है।[3]

अनुस्मृति—सायण ने धातुवृत्ति में वार्तिकों के लिए 'अनुस्मृति' शब्द का व्यवहार किया है।[4]

अनुतन्त्र और अनुस्मृति शब्दों में तन्त्र और स्मृति शब्द से पाणिनीय शास्त्र अभिप्रेत है। यतः वार्तिक उस का अनुगमन करते हैं, अतः उन के लिए अनुतन्त्र और अनुस्मृति शब्दों का व्यवहार होता है।

वार्तिककार = वाक्यकार

भर्तृहरि,[5] कुमारिल,[6] जिनेन्द्रबुद्धि,[7] क्षीरस्वामी,[8] हेलाराज,[9] हेमचन्द्र,[10] हरदत्त,[11] सायण[12] और नागेश[13] प्रभृति विद्वान् वार्तिक-

---

१. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोग इति भाष्यसूत्रम्। वैदिकलौकिकसामान्यविशेष नियम प्रकरण, पृष्ठ ३७६, तृ० सं०।

२. 'वार्तिकं भाष्यसूत्राणि।' नपुं० प्रकरण कारिका ४४, शपुस्तक का पाठान्तर। ३. अनुतन्त्रे खल्वपि—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे इति। पृष्ठ ३५, लाहौर संस्क०। ४. अनुस्मृतौ कारशब्दस्य स्थाने करशब्दः पठ्यते। पृष्ठ ३०।

५. एषा भाष्यकारस्य कल्पना, न वाक्यकारस्य। महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १६०। यदेवोक्तं वाक्यकारेण वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ ११९। ६. धर्माय नियमं चाह वाक्यकारः प्रयोजनम्। तन्त्रवार्तिक १।३।८॥ पृष्ठ २७८, पूना सं०। ७. न्यास ६।२।११॥

८. सौत्राश्चुलुम्पादयश्च वाक्यकारीया धातवः। क्षीरत० पृष्ठ ३२२ (हमारा संस्करण)। ९. वाक्यपदीय टीका काण्ड ३, पृष्ठ २, १२, २७ आदि।

१०. सौत्राश्चुलुम्पादयश्च वाक्यकारीया धातव उदाहार्याः। हैम—धातुपारायण के अन्त में। ११. यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्। वाक्यकारो ब्रवीत्येवं तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥ पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

१२. चुलुम्पादयो वाक्यकारीयाः। धातुवृत्ति, पृष्ठ ४०२।

१३ वाक्यकारो वार्तिकमारभते। भाष्यप्रदीपोद्योत ६।१।१३५॥

कार के लिए **वाक्यकार** शब्द का प्रयोग करते हैं। कातन्त्र दुर्गवृत्ति की दुर्गटीका में वाक्यकार शब्द का प्रयोग वार्तिककार के लिए मिलता है।[1] परन्तु वह वार्तिक पाणिनीय तन्त्र संबन्धी नहीं है।

वाक्यकरण—हेमहंसगणि[2] और गुणरत्नसूरि[3] वार्तिककारोक्त धातुओं के लिए **वाक्यकरणीय** शब्द का प्रयोग करते हैं।

वाक्यार्थविद्—भट्ट नारायण ने गोभिल गृह्यसूत्र ३।१०।६, तथा ४।१।२१ के भाष्य में 'वाक्यार्थविद्' के नाम से दो वचन उद्धृत किए हैं। इनमें से प्रथम कात्यायन विरचित कर्मप्रदीप (३।६ १६) में उपलब्ध होता है। कात्यायन के लिए प्रयुक्त वाक्यकार पद के साथ वाक्यार्थविद् शब्द की तुलना करना चाहिए।

पदकार—सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका टीका में वार्तिककार के लिये पदकार शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] पदकार शब्द का प्रयोग महाभाष्यकार पतञ्जलि के लिए होता है, यह हम महाभाष्यकार पतञ्जलि के प्रकरण में लिखेंगे। हमारा विचार है कि युक्तिदीपिका में उद्धृत वचन कात्यायन का वार्तिक नहीं है, महाभाष्यकार पतञ्जलि का वचन है।

न्यासकार ने भी ३।२।१२ में पदकार के नाम से एक वचन उद्धृत किया है। वह न पूर्णतया वार्तिकपाठ से मिलता है, न भाष्यपाठ से।

१. कात्यायन

पाणिनीय व्याकरण पर जितने वार्तिक लिखे गये, उन में कात्यायन का वार्तिकपाठ ही प्रसिद्ध है। महाभाष्य में मुख्यतया कात्यायन के वार्त्तिकों का व्याख्यान है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में दो स्थानों पर कात्यायन को स्पष्ट शब्दो में '**वार्त्तिककार**' कहा है।[5]

---

१. तस्माद् वाक्यकार आह—वो अर्मोविभाषा। मञ्जूषा पत्रिका वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ १६ पर उद्धृत। २. एव लौकिकवाक्यकरणीयानाम्……। न्याय संग्रह, पृष्ठ १२२॥ अथ वाक्यकरणीयाः…। वही, पृष्ठ १३०।

३. चुलुम्पादयो वाक्यकरणीयाः। क्रियारत्नसमुच्चय, पृष्ठ २८४।

४. पदकारश्चाह—जातिवाचकत्वात्। पृष्ठ ७। तुलना करो—दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात्। वार्तिक १।२।१०॥

५. न स्म पुरानद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह। स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण भवति, किं वार्तिककारः प्रतिषेधेन करोति—न स्म पुरानद्यतन

पर्याय—पुरुषोत्तमदेव ने अपने त्रिकाण्डशेष कोष में कात्यायन के १ कात्य, २ कात्यायन, ३ पुनर्वसु, ४ मेधाजित् और ५ वररुचि नामान्तर लिखे हैं ।[1]

१. **कात्य**—यह गोत्रप्रत्ययान्त नाम है । महाभाष्य ३।२।३ में वार्तिककार के लिए इस नाम का उल्लेख मिलता है ।[2] बौधायन श्रौत ७।४ में भी 'कात्य' स्मृत है ।

२. **कात्यायन**—यह युवप्रत्ययान्त नाम है । पूज्य व्यक्ति के सम्मान के लिये उसे युवप्रत्ययान्त नाम से स्मरण करते हैं ।[3] महाभाष्य ३।२।११८ में इस नाम का उल्लेख है ।[4]

३. **पुनर्वसु**—यह नाक्षत्र नाम है । भाषावृत्ति ४।३।३४ में पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय लिखा है ।[5] महाभाष्य १।२।६३ में 'पुनर्वसु माणवक' नाम मिलता है ।[6] परन्तु यह कात्यायन के लिये नहीं है ।

४. **मेधाजित्**—इसका प्रयोग अन्यत्र देखने में नहीं आया ।

५. **वररुचि**—महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच श्लोकों का वर्णन है ।[7] महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में वररुचि को स्वर्गारोहण काव्य का कर्त्ता कहा है ।[8] उस के अनुसार यह वररुचि वार्त्तिककार कात्यायन ही है ।[9]

कथासरित्सागर और बृहत्कथामञ्जरी में कात्यायन का श्रुतधर नाम भी मिलता हैं ।[9]

हमें संख्या ३, ४ के नामों में सन्देह है । कदाचित् ये उत्तरकालीन कात्यायन वररुचि के रहे होंगे ।

इति ३।२।११८॥ सिद्धत्येवं यत्त्विदं वार्तिककारः पठति—'विप्रतिषेधाट्टापो बलीयस्त्वम्' इति एतदसंगृहीतं भवति । ७ । १ । १ ॥

१. मेधाजित् कात्यायनश्च सः । पुनर्वसुर्वररुचिः ।

२. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते ।

३. वृद्धस्य च पूजायाम् । वार्तिक ४ । १ । १६३ ॥

४. देखो, पूर्व पृष्ठ २९६, टि० ५ । ५. पुनर्वसुर्वररुचिः ।

६. तिष्यश्च माणवकः, पुनर्वसू च माणवकौ तिष्यपुनर्वसवः ।

७. वाररुचं काव्म् । ८. आगे स्वर्गारोहणकाव्य के प्रसङ्ग में उद्धरिष्यमाण श्लोक । ९. कथासरित्सागर लम्बक १, तरङ्ग २, श्लोक ६६—७० ।

वंश—कात्य पद गोत्रप्रत्ययान्त है। इस से इतना स्पष्ट है कि कात्य वा कात्यायन का मूल पुरुष 'कत' है।

अनेक कात्यायन—प्राचीन वाङ्मय में अनेक कात्यायनों का उल्लेख मिलता है। एक कात्यायन कौशिक है, दूसरा आङ्गिरस है, तीसरा भार्गव है, और चौथा द्व्यामुष्यायण है। चरक सूत्रस्थान १।१० में एक कात्यायन स्मृत है। यह शालाक्य तन्त्र का रचयिता है।[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र समयाचारिक प्रकरण अ० ५ अ० ५ में भी एक कात्यायन स्मृत है।

याज्ञवल्क्य-पुत्र कात्यायन—स्कन्द पुराण नागर खण्ड अ० १३० श्लोक ७१ के अनुसार एक कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र है। इसने **वेदसूत्र** की रचना की थी।[2] स्कन्द में ही इस कात्यायन को **यज्ञ-विद्याविचक्षण** भी कहा है, और उसके वररुचि नामक पुत्र का उल्लेख किया है।[3] याज्ञवल्क्य-पुत्र कात्यायन ने ही श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्लयजुःपार्षत् आदि सूत्रग्रन्थों की रचना की है। यह कात्यायन कौशिक पक्ष का है। इसने वाजसनेयों के आदित्यायन को छोड़कर आङ्गिरसायन[4] स्वीकार कर लिया था। वह स्वयं प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में लिखता है—

एवं वाजसनेयानामङ्गिरसां वर्णानां सोऽहं कौशिकपक्षः शिष्यः[5] पार्षदः पञ्चदशसु तत्तच्छाखासु साधीयक्रमः।[6]

---

१. अष्टाङ्गहृदय, वाग्भट्ट-विमर्श, पृष्ठ १७।

२. कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। ३. कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम्। पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः॥ अ० १३१, श्लोक ४८, ४६। ४. वाजसनेयों के दो अयन हैं—द्वयान्येव यजूंषि, आदित्यानामङ्गिरसानां च। प्रतिज्ञासूत्र कण्डिका ६, सूत्र ४। इन दोनों का निर्देश माध्यन्दिन शतपथ, ४।४।५।१६,२० में भी मिलता है।

५. प्रतिज्ञापरिशिष्ट के व्याख्याता अण्णा शास्त्री ने 'शिष्य' पद का सम्बन्ध भी कौशिक के साथ लगाया है, परन्तु हमारा विचार है कि शिष्य पद का सम्बन्ध 'आङ्गिरसानां वर्णानां' के साथ है। उन्होंने याज्ञवल्क्यचरित (पृष्ठ ५५) में याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन में भिन्नता दर्शाने के लिये प्रवरभेद का निर्देश किया है, परन्तु वह ठीक नहीं। आङ्गिरसायन को स्वीकार कर लेने पर आङ्गिरस आदि भिन्न प्रवरों का निर्देश युक्त है।

६. प्रतिज्ञापरिशिष्ट, अण्णाशास्त्री द्वारा प्रकाशित, कण्डिका ३१ सूत्र ५।

यही कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के आङ्गिरसायन की कात्यायन शाखा का प्रवर्तक है। कात्यायन शाखा का प्रचार विन्ध्य के दक्षिण में महाराष्ट्र आदि प्रदेश में रहा है।[1]

हमारा विचार है कि याज्ञवल्क्य का पौत्र, कात्यायन का पुत्र वररुचि कात्यायन अष्टाध्यायी का वार्तिककार है। इसमें निम्न हेतु हैं—

१. काशिकाकार ने '**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु**'[2] सूत्र पर आख्यानों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण को अचिरकालकृत लिखा है। परन्तु वार्तिककार ने '**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्**'[3] में याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों का समकालिक कहा है। इस से प्रतीत होता कि वार्तिककार का याज्ञवल्क्य के साथ कोई विशेष सम्बन्ध था। अत एव उसने तुल्यकालत्वहेतु से शतपथ को पुराणप्रोक्त सिद्ध करने का यत्न किया है। अन्यथा पुराणप्रोक्त होने पर भो उक्त हेतु निर्देश के विना '**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः**' इतने वार्तिक से ही कार्य चल सकता था।

२. महाभाष्य से विदित होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य था।[4] कात्यायन शाखा का अध्ययन भी प्रायः महाराष्ट्र में रहा है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३. शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अनेक सूत्र कात्यायनीय वार्तिकों से समानता रखते हैं। यह समानता भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को पुष्ट करती है।

४. वाजसनेय प्रातिशाख्य में एक सूत्र है—**पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु** (३।१२७)। इस में **अवायुषु पद द्वन्द्वेषु** का विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस द्वन्द्व में वायु पूर्वपद में या उत्तरपद में हो, उसके पूर्वपद को दीर्घ नहीं होता। जैसे—**इन्द्रवायुभ्याम् त्वा**। वाजसनेय संहिता में पूर्वपदस्थ वायु का उदाहरण नहीं मिलता, परन्तु मै० सं० ३।१५।११ में **वायुसवितृभ्याम्** में भी दीर्घत्वाभाव

---

१. याज्ञवल्क्यचरित पृष्ठ ८७ से आगे लगा 'शुक्लयजुः' शाखा चित्रपट।

२. अष्टा० ४।३।१०५॥ ३. महाभाष्य ४।२।६६॥

४. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते। अ० १, पा० १, आ० १॥

देखा जाता है। वार्तिककार ने भी वाजसनेय प्रातिशाख्य के अनुसार **उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः** (महा० ६।३।२६) कहा है। परन्तु महाभाष्य में **अग्निवायू वाय्वग्नी** जो उदाहरण दर्शाये हैं वहां उत्तरपदस्थ वायु वाला उदाहरण तो ठीक है, परन्तु **वाय्वग्नी** में यदि वायु को दीर्घ हो भी जाता तब भी सन्धि का रूप यही होता। इस से स्पष्ट है कि प्रातिशाख्य सूत्र के अनुकरण पर ही वार्तिक रचा गया है, परन्तु जैसे वहां वायु पूर्वपद का उदाहरण नहीं मिलता, इसी प्रकार भाष्यस्थ उदाहरण में भी प्रतिषेध का कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उभयत्र पूर्वपदस्थ वायु को दीर्घ का प्रतिषेध कहना समान रूप से व्यर्थ है। हां, पूर्व प्रदर्शित उदाहरणान्तर में दोनों की उपयोगिता हो सकती है।

५. पाणिनि जहां समासाभाव अथवा एकपदत्वाभाव अर्थात् स्वतन्त्र अनेक पद मान कर कार्य का विधान करता है, वहां वार्तिककार शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के समान समासवत् अथवा एकपदवत् मानकर कार्यविधान करता है। यथा—

क—पाणिनि **तिङि चोदात्तवति** (८।१।७१) में गति और तिङ्पदों को पृथक्-पृथक् दो पद मानकर गति को अनुदात्त विधान करता है, वहां कात्यायन **उदात्तगतिमता च तिङा** (२।२।१८) वार्तिक द्वारा समास का विधान करता है।

ख—पाणिनि **सर्वस्य द्वे, अनुदात्तं च** (८।१।१-२) द्वारा द्विर्वचन में दोनों को स्वतन्त्र पद मानता है, परन्तु कात्यायन अव्यय के द्विर्वचन में **अव्ययमव्ययेन** (२।२।१८) वार्तिक द्वारा समास का विधान करता है।

ग—पाणिनि **इव** शब्द के प्रयोग में दोनों को स्वतन्त्र पद मानता है और इव को **चादयोऽनुदात्ताः** नियम के अनुसार अनुदात्त स्वीकार करता है, परन्तु कात्यायन **इवेन विभक्तयलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च** (२।२।१८) वार्तिक द्वारा उसके समास का विधान करता है और पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान करके इव को **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६।१।१५८) नियम से अनुदात्त मानता है।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में उदात्ततिङ्युक्त गति (उपसर्ग), द्विर्वचन और इव पद के प्रयोग को समासरूप मानकर पदपाठ में अन्य समासों के समान अवग्रह से निर्देश करने का विधान किया है। यथा—

अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते । ५।१६।। उपस्तृणन्तीत्युप स्तृणन्ति । अवधावतीत्यत्र धावति ।

इवकारान्त्रेडितायनेषु च । ५ । १८ ।। स्रुचीवेतिस्रुचि इव । प्रप्रेतिप्र प्र ।

५. सायण ने अपने ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में स्पष्ट रूप से वार्तिककार का नाम वररुचि लिखा है ।[1]

डा० वर्मा के मिथ्या आक्षेप और उनका उत्तर

श्री डा० सत्यकाम वर्मा ने अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ (जो प्रायः पाश्चात्य विद्वानों के मतों का संग्रह रूप है) में वार्तिककार कात्यायन के प्रसङ्ग में हमने जो सप्रमाण स्थापनाएं की हैं उनका सप्रमाण उत्तर न देकर पाश्चात्य मत के प्रवाह में बहते हुए हमारे लेख पर जो मिथ्या आक्षेप किये हैं, उनका उत्तर भी हम यहां प्रसङ्गवश देना उचित समझते हैं । वर्मा जी लिखते हैं—

(क) मीमांसक का यह अनुमान कि वाररुच निरुक्त-समुच्चय का लेखक भी वररुचि कात्यायन था । पहली धारणा (अनेक कात्यायन रूप) का फिर भी एक बड़ा आधार है, जब कि दूसरी धारणा (कात्यायन के नाम से निर्दिष्ट सभी ग्रन्थ एक ही व्यक्ति के हैं) का उतना भी आधार नहीं । कारण यह कि निरुक्त-समुच्चय का कर्त्ता अपने संरक्षक राजा और अपने विषय में जो परिचय देता है उस से वह पतञ्जलि से परवर्ती सिद्ध होता है । (पृष्ठ १८३) ।

उत्तर—वर्मा जी का लेख मिथ्या है । मैंने कहीं पर भी निरुक्त-समुच्चयकार वररुचि कात्यायन को वार्तिककार कात्यायन नहीं कहा । इस के विपरीत वृत्तिकार वररुचि के प्रसङ्ग में मैंने इसे विक्रम समकालिक ही माना है । मैं स्वयं अनेक कात्यायन मानता हूं और उन का निर्देश भी मैंने इसी ग्रन्थ में (पृष्ठ २६८) किया है । तब यह लिखना कि मैं निरुक्त-समुच्चयकार और वार्तिककार को एक मानता हूं नितान्त मिथ्या है । किसी लेखक के लेख को

---

१. तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो **वररुचिना वार्तिककारेण** दर्शित:— रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् । षडङ्ग प्रकरण, पृष्ठ २६, पूना संस्करण ।

मिथ्या रूप से उद्धृत करके उसका खण्डन करना विद्वानों के लिये शोभास्पद नहीं है।

उक्त उद्धरण का उत्तरार्ध भी मिथ्या है। निरुक्तसमुच्चयकार ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी अपने संरक्षक का उल्लेख नहीं किया, और ना ही अपना परिचय दिया है। निरुक्तसमुच्चयकार ने तो केवल इतना ही लिखा है –

युष्मत्प्रसादादहं क्षपितसमस्तकल्मषः सर्वसम्पत्संगतो धर्मानुष्ठानयोग्यश्च जातः। निरुक्तसमु० पृष्ठ ५१, संस्क० २॥

इस के अतिरिक्त निरुक्तसमुच्चय में कोई भी संकेत नहीं है। हम ने वृत्तिकार वररुचि (विक्रम समकालिक) के प्रसङ्ग में इस वचन को उद्धृत करके 'यह किसी राजा का धर्माधिकारी था', ही लिखा है। हां, इस अर्वाचीन वररुचि के अन्य ग्रन्थों के अन्त्य-वचनों के साथ तुलना करके हमने इसे विक्रम-समकालिक माना है।

(ख) क्या तब निरुक्तसमुच्चय का कर्त्ता वररुचि, जिसे मीमांसक कात्यायन ही कहते हैं, इस वार्तिककार से भिन्न ठहर सकता है? जब कि दोनों का नाम और वंश मिलते हैं। पर वहां वे उनके बीच सदियों का व्यवधान मानते हैं। पृष्ठ १८४।

उत्तर—वर्मा जी को तो यथा कथंचित् यह सिद्ध करना है कि वार्तिककार कात्यायन उतना प्राचीन व्यक्ति नहीं है, जितना भारतीय वाङ्मय से सिद्ध होता है। वास्तविक बात यह है कि इतिहास में केवल नाम और वंश के सादृश्य से न तो एकता सिद्ध हो सकती है, और न पार्थक्य का निषेध किया जा सकता है। यह तो पाश्चात्य मतानुयायियों की ही हठधर्मिता है कि नामसादृश्य मात्र से विभिन्न व्यक्तियों को एक बना देते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में आश्वलायन आदि गोत्र नाम वाले व्यक्तियों का उल्लेख करके उन्होंने इन्हें ही आश्वलायन आदि शाखा का प्रवक्ता मान लिया। उनका तो यह दुःसाहस सकारण है। उन्हें तो प्राचीन आर्ष वाङ्मय को भी बलात् खींच कर अधिक से अधिक १००० ईसा पूर्व तक लाना है। परन्तु वर्मा जी के पाश्चात्य मतों के अन्धानुकरण का प्रयोजन विचारणीय है।

एक प्राचीन वररुचि कात्यायन का पुत्र है, और वह कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र है, यह मैंने कल्पना से नहीं लिखा (प्रमाण ऊपर देखें)। हां, याज्ञवल्क्य पौत्र कात्यायन वररुचि को वार्तिककार

सिद्ध करने के लिये मैंने जो अनेक प्रमाण दिये हैं, उन की वर्मा जी ने कुछ भी समीक्षा न करके 'तब क्या यह अनिवार्य है कि इन्हें पिता-पुत्र ही स्वीकार किया जाये ? यह संबन्ध तीन चार पीढ़ी के अन्तर से क्यों नहीं ? (पृष्ठ १८४), इतना ही लिखकर सन्तोष किया है। इतिहास में कल्पना का कोई स्थान नहीं। भारतीय इतिहास का जानबूझ कर भ्रष्ट करने के लिये कल्पना करने का दूषित उपक्रम तो पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। वर्मा जी भी इन्हीं के अनुगामी हैं।

(ग) इस से पूर्व वे (मीमांसक) स्वयं ही वार्तिककार और प्रातिशाख्य के कर्त्ता को एक ही बताकर उसे पाणिनि का समकालिक सिद्ध कर चुके हैं। पदे पदे मत बदलने की अपेक्षा यह अधिक उचित होगा कि उक्त दोनों को अलग-अलग ही मानें। पृष्ठ १८४।

उत्तर—हमें वर्मा जी से यह आशा नहीं थी कि वे किसी की समीक्षा करते हुए लेखक के अभिप्राय वा कथन को मिथ्यारूप से उद्धृत करेंगे। मैंने कहीं भी वार्तिककार और प्रातिशाख्य के कर्त्ता को एक नहीं लिखा। मैंने तो स्पष्ट लिखा है कि वार्तिककार वररुचि कात्यायन (कात्ययन का पुत्र) है, और प्रातिशाख्यकार कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र है। यह तो वर्मा जी का ही दोष है, जो पृथक्-पृथक् प्रसंगों के लेखों को लेखक के अभिप्राय के विरुद्ध इकट्ठा करके उद्धृत करते हैं। अतः पदे पदे मत बदलने का दोष मेरे पर थोपना नितान्त मिथ्या है।

(घ) आश्चर्य इसी बात का है कि अन्तिम बात को कहते हुए वेद-प्रवक्ता परिशिष्ट-प्रवक्ता वार्तिककार और प्रातिशाख्यकार आदि के रूप में प्रसिद्ध व्यक्तियों को एक ही व्यक्ति मान बैठे हैं। पृष्ठ १८४, १८५।

उत्तर—वर्मा जी का यह लेख भी मिथ्या है। मैंने वार्तिककार और प्रातिशाख्यकार को एक लिखा ही नहीं। दोनों में क्रमशः पुत्र-पिता का सम्बन्ध है।

अब रही अनेक ग्रन्थों के प्रवक्ता समान नामधारी अनेक व्यक्ति हैं या एक ही व्यक्ति। इस विषय में दोनों ही बातें हो सकती हैं, कि समान नामधारी भिन्न-भिन्न व्यक्ति भी हो सकते हैं और एक भी। इस का निर्णय तो ऐतिहासिक तथ्य पर ही निर्भर है। पा-

श्चात्य विद्वानों ने मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि विविध कालों की जो कल्पना की है वह भारतीय अनवच्छिन्न इतिहास के विपरीत है। हम प्रथम अध्याय में ही जैमिनि और वात्स्यायन सदृश आप्त पुरुषों के वचनों के आधार पर लिख चुके हैं[1] कि मन्त्र-ब्राह्मण-धर्मसूत्र एवं आयुर्वेद के प्रवक्ता प्रायः एक ही थे। बाधक प्रमाण उपस्थित न होने पर इन आप्त पुरुषों के वचनों को प्रमाण मान कर यदि कात्यायन-संहिता कात्यायन-शतपथ कात्यायन-श्रौत-गृह्यसूत्र और प्रातिशाख्य के कर्त्ता को एक माना है, तो कुछ अनु-नहीं किया है। क्योंकि भारतीय प्राचीन वाङ्मय के प्रमाणों से इस तथ्य की ही पुष्टि होती है। श्री वर्मा जी पाश्चात्य विद्वानों पर अन्ध विश्वास करके भारतीय ऋषि-मुनि-आचार्यों को 'झूठा' मान सकते हैं, पर हम अपने नीरजस्तम ऋषियों को झूठा मानने को तैयार नहीं। समस्त प्राचीन आर्ष वाङ्मय उन्हीं नीरजस्तम ऋषि-मुनि-आचार्यों द्वारा प्रोक्त है जिनके विषय में आयुर्वेदीय चरक संहिता में कहा है—

आप्तास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ।
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यम्, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥[2]

इसी प्रकार श्री वर्मा जी ने अपने ग्रन्थ में अन्यत्र भी कई स्थानों पर हमारे लेख को मिथ्या रूप में उद्धृत करके समालोचना की है। उन में से कुछ आवश्यक अंशों का निर्देश आगे तत्तत् प्रकरण में करेंगे।

पाणिनि का शिष्य—पूर्व पृष्ठ १८६ पर लिख चुके हैं कि नागेश भट्ट के मतानुसार वार्तिककार कात्यायन पाणिनि का साक्षात् शिष्य है।

देश—महाभाष्य पस्पशाह्निक में '**यथा लौकिकवैदिकेषु**' वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखा है—

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे च प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते।[3]

---

१. पूर्व पृष्ठ १९-२२। २. चरक, सूत्रस्थान ११। १८, १९॥
३. महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १॥

इससे विदित होता है कि वार्त्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था।

कथासरित्सागर में वार्त्तिककार कात्यायन को कौशाम्बी का निवासी लिखा है[1], वह प्रमाणभूत पतञ्जलि के वचन से विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण है। सम्भव है उत्तरकालीन वररुचि कात्यायन कौशाम्बी का निवासी हो। नाम-सादृश्य से कथासरित्सागर के निर्देश में भूल हुई होगी।।

स्कन्द पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रम आनर्त=गुजरात में था।[2] सम्भव है याज्ञवल्क्य के मिथिला चले जाने पर[3] उसका पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चला गया हो। और उसका पौत्र वार्त्तिककार वररुचि कात्यायन दक्षिण में ही रहता रहा हो।

अन्य प्रमाण—वार्त्तिककार के दाक्षिणात्य होने में एक अन्य प्रमाण भी है। हमने पाणिनीय सूत्रपाठ धातुपाठ और उणादिपाठों के प्रकरण में लिखा है कि इन ग्रन्थों के दाक्षिणात्य औदीच्य और प्राच्य तीन प्रकार के पाठ थे। इनमें प्रथम दो पाठ लघुपाठ हैं, और प्राच्य पाठ वृद्धपाठ है। कात्यायनीय वार्त्तिक अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर ही लिखे गये हैं, यह वार्त्तिकपाठ की पाणिनीय सूत्रपाठ के लघु-वृद्ध पाठों की तुलना से स्पष्ट है। यद्यपि दाक्षिणात्य और औदीच्य दोनों पाठ लघु हैं, तथापि दोनों में कुछ अन्तर भी है।

---

१. द्र०—१।३ वा ४॥ २. नागर खण्ड १७४।५५॥

३. इस लेख पर डा० वर्मा ने आपत्ति की है—'मिथिला की यह जिद् क्यों? वैदेह जनक के साथ उपनिषद् और आरण्यककार याज्ञवल्क्य के सान्निध्य के कारण? तो क्या वे यह मानते हैं कि वैदेह जनक भी महाभारत से कुछ पहले ही हुए? क्या सचमुच याज्ञवल्क्य अनेक नहीं हुए? (सं० व्या० का उद्भव और विकास, पृष्ठ १८६)'। बलिहारी है वर्मा जी के ज्ञान की! यदि भारतीय इतिहास पढ़ा होता, तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि 'जनक' नाम एक व्यक्ति का नहीं है, कुल का नाम है, और वैदेह देशज विशेषण है। उन्होंने सम्भवतः उपनिषद् में उल्लिखित वैदेह जनक को सीता के पिता ही समझा है। उन्हें मालूम होना चाहिये कि उपनिषत् में श्रुत वैदेह जनक का स्वनाम निमि था और सीता के पिता का नाम **सीरध्वज** था। ऐतिहासिक तथ्य का ज्ञान न होने से उलटे याज्ञवल्क्य की अनेकता मान बैठे। जबकि सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में दूसरे याज्ञवल्क्य का संकेत ही नहीं है।

वार्त्तिकपाठ अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर आश्रित होने से भी वार्त्तिककार का दाक्षिणात्यत्व सुतरां सिद्ध है।

डा० सत्यकाम वर्मा ने बेबर मैक्समूलर और गोल्डस्टुकर के मतानुसार उसे प्राग्देशीय माना है। वर्मा जो ने भाष्यकार के कथन को संगति लगाने के लिये कात्यायन गोत्र को दाक्षिणात्य स्वीकार करके भी वार्त्तिककार को प्राच्य मानने का आग्रह किया है। हम बेबर आदि के साध्यसमहेत्वाभासों के आधार पर उन्हें प्राच्य मानें या भाष्यकार के कथन को प्रामाणिक मानें, यह विचारणीय है। यतः वर्मा जी का एतद्ग्रन्थ-विषयक सारा चिन्तन पाश्चात्य मत पर आश्रित है, अतः वे उनके मत को छोड़ने में असमर्थ हैं।

कात्यायन की प्रामाणिकता—पतञ्जलि ने कात्य (कात्यायन) के लिये '**भगवान्**' शब्द का प्रयोग किया है।[1] इससे वार्त्तिककार की प्रामाणिकता स्पष्ट है। न्यासकार भी लिखता है—

एतच्च कात्यायनप्रभृतीनां प्रमाणभूतानां वचनाद् विज्ञायते।[2]

कात्यायनवचनप्रामाण्याद् धातुत्वं वेदितव्यम्।[3]

कात्यायन और शबरस्वामी—ऐसे प्रमाणभूत आचार्य के विषय में मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी लिखता है—**सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य।**[4]

शबरस्वामी का कात्यायन के लिये '**असद्वादी**' शब्द का प्रयोग करना चिन्त्य है।

शबर के दोषारोपण का कारण—शबर नें वार्त्तिककार कात्यायन के लिये जो '**असद्वादी**' विशेषण का प्रयोग किया है, उसका कारण सम्भवतः यह है कि शबर नें कात्यायन के प्रकृत वार्तिक का अभिप्राय नहीं समझा। अथवा दूसरा कारण यह हो सकता है कि महाभाष्य (१।१।७३) में **जिह्वाकात्य** पद का निर्देश मिलता है, और न्यासकार आदि इसका अर्थ **जिह्वाचपलः कात्यः** करते हैं। जैन शाकाटायन २।४।२ की व्याख्या में भी यही अर्थ लिखा है।

---

१. प्रोवाच भगवांस्तु कात्यः ३।२।३॥

२. न्यास ६।३।५०, भाग २, पृष्ठ ४५३, ४५४॥

३. न्यास ३।१।३५, भाग १, पृष्ठ ५२७।

४. मीमांसाभाष्य १०।८।४॥

संभवतः इस चापल्य से प्रभावित होकर शबर ने कात्यायन को असद्वादी कहा हो।

कात्यायन का जिह्वाचापल्य=आवश्यकता से अधिक कहने का स्वभाव उसके वार्तिकों से भी व्यक्त होता है।

काल

यदि हमारा पूर्व विचार ठीक हो, अर्थात् वार्तिककार याज्ञवल्क्य का पौत्र हो, तो वार्तिककार पाणिनि से कुछ उत्तरवर्ती होगा। यदि वह पाणिनि का साक्षात् शिष्य हो, जैसा कि पूर्व लिख चुके हैं, तो वह पाणिनि का समकालिक होगा। अतः वार्तिककार कात्यायन का काल विक्रम से लगभग २९००–३००० वर्ष पूर्व है।

आधुनिक ऐतिहासिकों की भूल—अनेक आधुनिक ऐतिहासिक **'वहीनरस्येद् वचनम्'**[1] वार्तिक में 'वहीनर' शब्द का प्रयोग देखकर वार्तिककार कात्यायन को उदयनपुत्र वहीनर से अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु यह मत सर्वथा अयुक्त है। **वैहिनरि** अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति है। इसका उल्लेख बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) में मिलता है।[2] वहां उसे भृगुवंश्य कहा है। मत्स्य पुराण १९४। १९ में भी भृगुवंश्य वैहिनरि का उल्लेख है। वहां उसका अपना नाम **'विरूपाक्ष'** लिखा है।[3] महाभाष्यकार ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या में लिखा है—

कुणरवाडवस्त्वाह—नैव वहीनरः, कस्तर्हि ? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः।

अर्थात् वैहीनरि प्रयोग वहीनर से नहीं बना, इसकी प्रकृति विहीनर है। कामभोग से रहित=विहीनर का पुत्र वैहीनरि है।

इस वार्तिक में उदयनपुत्र वहीनर का निर्देश नहीं हो सकता। क्योंकि उदयनपुत्र वहीनर भी महाभाष्यकार से कुछ शताब्दी पूर्ववर्ती है।[4] अतः निश्चय ही पतञ्जलि को उदयनपुत्र का वास्तविक

---

१. महाभाष्य ७।३।१॥ २. देखो पूर्व पृष्ठ १३७ टि० ३ में उद्धृत पाठ। ३. वैहिनरिर्विरूपाक्षो रौहित्यायनिरेव च।

४. पाश्चात्यों के मतानुसार। हमारे मत में महाभाष्यकार उदयनपुत्र वहीनर से पूर्ववर्ती है। इसके लिये महाभाष्यकार पतञ्जलि का प्रकरण देखें।

नाम ज्ञात रहा होगा। ऐसी अवस्था में वह कुणरवाडव की व्युत्पत्ति को कभी स्वीकार न करता। कुणरवाडव के 'काम भोग से विहीन' अर्थ से प्रतीत होता है कि वैहीनरि का पिता ऋषि था, राजा नहीं। वैहीनरि पद की व्युत्पत्ति 'वहीनर' और 'विहीनर' दो पदों से दर्शाई है। इससे प्रतीत होता है कि वहीनर और विहीनर दोनों नाम एक ही व्यक्ति के थे। वहीनर वास्तविक नाम था, और विहीनर **विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्** निर्देशानुसार औपाधिक। अपत्यार्थक शब्दों के प्रयोग अनेक बार अप्रसिद्ध शब्दों से निष्पन्न होते हैं। यथा व्यास-पुत्र शुक के लिये **वैयासकि** का सम्बध अप्रसिद्ध **व्यासक** प्रकृति के साथ है, प्रसिद्ध शब्द **व्यास** के साथ नहीं। जिस प्रकार कात्यायन ने वैयासकि पद का सम्बन्ध व्यास से जोड़कर 'अकङ्' का विधान किया, उसी प्रकार वैहीनरि का भी वहीनर से सम्बन्ध व्यक्त करके इत्व का विधान किया है। परन्तु जैसे पतञ्जलि ने वैयासकि की मूल प्रकृति **व्यासक** बताई, उसी प्रकार कुणरवाडव ने भी वैहीनरि की मूल प्रकृति **विहीनर** है, इस ओर संकेत किया।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक के प्रमाण से वार्त्तिककार कात्यायन और कुणरवाडव दोनों उदयनपुत्र वहीनर से अर्वाचीन नहीं हो सकते। कथासरित्सागर आदि में उल्लिखित श्रुत-धर कात्यायन वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति है।

वार्तिक पाठ

कात्यायन का वार्त्तिकपाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके विना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है। पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्त्तिकों के आधार पर अपना महा-भाष्य रचा है। कात्यायन का वार्तिक-पाठ स्वतन्त्ररूप में सम्प्रति उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य से भी कात्यायन के वार्तिकों की निश्चित संख्या की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि उसमें बहुत्र अन्य वार्तिककारों के वचन भी संगृहीत हैं। महाभाष्यकार ने प्रायः उनके नाम का निर्देश नहीं किया।

प्रथम वार्त्तिक—आधुनिक वैयाकरण **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'**[1] को कात्यायन का प्रथम वार्तिक समझते हैं, यह उनकी भूल है। इस

१. महाभाष्य भाग १, पृष्ठ ६।

भूल का कारण भी वही है, जो हमने पृष्ठ २१३ पर पाणिनीय आदि-सूत्र के सम्बन्ध में दर्शाया है। महाभाष्य में लिखा है—

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्द-मादितः प्रयुङ्क्ते।[1]

हमारा विचार है यहां भी 'आदि' पद मुख्यार्थ का वाचक नहीं है। कात्यायन का प्रथम वार्त्तिक **'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'**[2] है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—सायण अपने ऋग्भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् इति। एतानि रक्षादीनि प्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टी-कृतानि।[3]

अर्थात् वररुचि=कात्यायन ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन 'रक्षोहागम' आदि वार्त्तिक में दर्शाये हैं।

२—व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का अन्वाख्यान करके पत-ञ्जलि ने लिखा है—

एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वाऽऽचार्य इदं शास्त्र-मन्वाचष्टे, इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणम् इति।[4]

यहां आचार्य पद निश्चय ही कात्यायन का वाचक है, और इदं शास्त्रं का अर्थ प्रयोजनान्वाख्यान शास्त्र ही है।[5] आचार्य पद महा-भाष्य में केवल पाणिनि और कात्यायन के लिये ही प्रयुक्त होता है यह हम पूर्व[6] कह चुके हैं। यदि व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का निर्दे-शक **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्** वार्तिककार का न माना जाये,

१. महाभाष्य भाग १, पृष्ठ ६, ७।

२. महाभाष्य भाग १, पृष्ठ १।

३. षडङ्ग प्रकरण, पृष्ठ २६, पूना संस्क०। तुलना करो—कात्याय-नोऽपि व्याकरणप्रयोजनान्युदाजहार—रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। तै० सं० सायणभाष्य, भाग १ पृष्ठ ३०।

४. महा० १।१। आ० १॥

५. इदं शास्त्रमिति—प्रयोजनान्वाख्यानमित्यर्थः। कैयट, महाभाष्य-प्रदीप १।१। आ० १॥

६. पृष्ठ २१२।

तो यह आचार्य पद भाष्यकार का बोधक होगा। तो क्या भाष्यकार अपने लिये स्वयं आचार्य पद का प्रयोग कर रहे हैं?

३—महाभाष्य के इस प्रकरण की तुलना **'क्ङिति च'**[1] सूत्र के महाभाष्य से की जाये, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि रक्षादि पांच प्रयोजन वार्तिककार कथित हैं, और **'इमानि च भूयः'** वाक्य-निर्दिष्ट १३ प्रयोजन भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित हैं। **'क्ङिति च'** सूत्र पर प्रयोजनवार्त्तिक इस प्रकार है—**क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणमुपधारोरवीत्यर्थम्।**

महाभाष्यकार ने इस वार्त्तिक में निर्दिष्ट प्रयोजनों की व्याख्या करके लिखा है—**इमानि च भूयः तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि।**

इन दोनों स्थलों पर **'इमानि च भूयः......प्रयोजनानि'** पद समान लेखनशैली के निर्देशक हैं। और दोनों स्थलों पर **'इमानि च भूयः'** वाक्यनिर्दिष्ट प्रयोजन महाभाष्यकार प्रदर्शित हैं, यह सर्वसम्मत है। इसी प्रकार **क्ङिति च** सूत्र के प्रारम्भिक दो प्रयोजन वार्त्तिककार निर्दिष्ट हैं, यह भी निर्विवाद है। अतः उसी शैली से लिखे हुए **'रक्षोहागम'** आदि वाक्य निर्दिष्ट पांच प्रयोजन निःसन्देह कात्यायन के समझने चाहियें। इसलिये कात्यायन के वार्त्तिक पाठ का आरम्भ—**'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्'** से ही होता है।

डा० सत्यकाम वर्मा द्वारा हमारा अशुद्ध उल्लेख—वर्मा जी ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १८० पर लिखा है—'परम्परा से कात्यायन प्रणीत रूप में मान्य **'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे'** पर श्री मीमांसक जी आपत्ति उठाते हैं कि यह वार्त्तिक कात्यायन का नहीं है। और, **यथा लौकिकवैदिकेषु** को वे कात्यायन का प्रथम वार्तिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं......।' पाठक स्वयं विचारें कि हमने **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे** वार्त्तिक कात्यायन का नहीं है, और **यथा लौकिकवैदिकेषु** उसका प्रथम वार्त्तिक है, यह कहां लिखा है? हमने तो इतना ही निर्देश किया है कि **सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे** कात्यायन का प्रथम वार्त्तिक नहीं है, अपितु उससे पूर्वपठित **रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्** प्रथम वार्त्तिक है। वर्मा जी ने इसी प्रकार बहुत स्थानों पर हमारे नाम से मिथ्या बातें लिखी हैं।

---

१. अष्टा० १।१।५॥

महाभाष्य में व्याख्यात वार्त्तिक अनेक आचार्यों के हैं

महाभाष्य में जितने वार्तिक व्याख्यात हैं, वे सब कात्यायन-विरचित नहीं हैं। पतञ्जलि ने अनेक आचार्यों के उपयोगी वचनों का संग्रह अपने ग्रन्थ में किया है। कुछ स्थानों पर पतञ्जलि ने विभिन्न वार्तिककारों के नामों का उल्लेख किया है, परन्तु अनेक स्थानों पर नामनिर्देश किये विना ही अन्य आचार्यों के वार्तिक उद्धृत किये हैं। यथा—

१—महाभाष्य ६।१।१४४ में एक वार्तिक पढ़ा है—**समो हित-तयोर्वा लोपः**। यहां वार्तिककार के नाम का उल्लेख न होने से यह कात्यायन का वार्तिक प्रतीत होता है। परन्तु **'सर्वादीनि सर्वनामानि'**[1] सूत्र के भाष्य से विदित होता है कि यह वचन अन्य वैयाकरणों का है। वहां स्पष्ट लिखा है—**इहान्ये वैयाकरणाः समस्तत विभाषा लोपमारभन्ते—समो हिततयोर्वा इति**।

२—महाभाष्य ४।१।१५ में वार्तिक पढ़ा है—**नञ्स्नञीकक्ख्युं-स्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्**। यहां भी वार्तिककार के नाम का निर्देश न होने से यह कात्यायन का वचन प्रतीत होता है, परन्तु महाभाष्य ३।२।५६ तथा ४।१।८७ में इसे सौनागों का वार्तिक कहा है।

इस विषय पर अधिक विचार हमने इस अध्याय के अन्त में **'महाभाष्यस्थ वार्तिकों पर एक दृष्टि'** प्रकरण में किया है।

अन्य ग्रन्थ

स्वर्गारोहण काव्य—महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच काव्य का उल्लेख मिलता है। वररुचि कात्ययनगोत्र का होने से उसे भी कात्यायन कहा जाता है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं। महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन में लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतधान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥

अर्थात्—जो स्वर्ग में जाकर (श्लेष से स्वर्गारोहण-संज्ञक काव्य

१. अष्टा० १।१।२७॥

रचकर) स्वर्ग को पृथिवी पर ले आया, वह वररुचि अपने मनोहर काव्य से विख्यात है। उस महाकवि कात्यायन ने केवल पाणिनीय व्याकरण को ही अपने वार्तिकों से पुष्ट नहीं किया, अपितु काव्य-रचना में भी उसी का अनुकरण किया है।

यहां समुद्रगुप्त ने भी दोनों नामों से एक ही व्यक्ति को स्मरण किया है।

कात्यायन के स्वर्गारोहण काव्य का उल्लेख जल्हणकृत सूक्ति-मुक्तावली में भी मिलता है। उसमें राजशेखर के नाम से निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

इस श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ कुछ विकृत है। वहां '**सदा-रोहणप्रियः**' के स्थान में '**स्वर्गारोहणप्रियः**' पाठ होना चाहिये।

आचार्य वररुचि के अनेक श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति, सदुक्ति-कर्णामृत, और सुभाषितमुक्तावली आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

कात्यायन मुनि विरचित काव्य के लिये इस ग्रन्थ का 'काव्य-शास्त्रकार वैयाकरण कवि' नामक ३०वां अध्याय देखिये।

२. **भ्राज-संज्ञक श्लोक**—महाभाष्य अ० १, पाद १, आह्निक १ में 'भ्राज' संज्ञक श्लोकों का उल्लेख मिलता है।[1] कैयट,[2] हरदत्त,[3] और नागेशभट्ट[4] आदि का मत है कि भ्राजसंज्ञक श्लोक वार्तिककार कात्यायन की रचना हैं। ये श्लोक इस समय अप्राप्य हैं। इन श्लोकों में से '**यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे०**' श्लोक पतञ्जलि ने महाभाष्य में उद्धृत किया है[5], ऐसा टीकाकारों का मत है।

---

१. क्व पुनरिदं पठितम्? भ्राजा नाम श्लोकाः। २. कात्यायनोपनि-बद्धभ्राजाख्यश्लोकमध्यपठितस्य...। महाभाष्यप्रदीप, नवाह्निक, निर्णयसागर सं०, पृष्ठ ३४।

३. कात्यायनप्रणीतेषु भ्राजाख्यश्लोकेषु मध्ये पठितोऽयं श्लोकः। पद-मञ्जरी भाग १, पृष्ठ १०। ४. भ्राजा नाम कात्यायनप्रणीताः श्लोका इत्याहुः। महाभाष्यप्रदीपोद्योत, नवाह्निक, निर्णयसागर सं०, पृष्ठ, ३३।

५. महाभाष्य प्रथमाह्निक।

अन्य श्लोक—महाभाष्यप्रदीप ३। १। १ में पठित 'अर्थ विशेष उपाधिः' श्लोक भी भ्राजान्तर्गत है। ऐसा पं० रामशंकर भट्टाचार्य का मत है।[1]

३. **छन्दःशास्त्र वा साहित्य-शास्त्र**—कात्यायन ने कोई छन्दः-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा था। इसके लिए इसी ग्रन्थ के अध्याय ३० में कात्यायन के प्रसंग में अभिनव गुप्त का उद्धरण देखें।

४. **स्मृति**—षड्गुरु-शिष्य ने कात्यायन स्मृति और भ्राजसंज्ञक श्लोकों का कर्ता वार्तिककार को माना है।[2] वर्तमान में जो कात्यायन स्मृति उपलब्ध होती है, वह संभवतः अर्वाचीन है। इस का मूल कोई प्राचीन कात्यायन स्मृति रही होगी।

५. **सामुद्रिक ग्रन्थ**—शारीरिक लक्षणों के आधार पर शुभा-शुभ का निदर्शन कराने वाला शास्त्र 'सामुद्रिकशास्त्र' कहाता है। इसी को 'अङ्गविद्या' भी कहा जाता है। यह विद्या भी अतिप्राचीन काल से लब्धास्पद है। (द्र०—पूर्व पृष्ठ २६६)। रामायण बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक ९ की रामायण तिलकटीका में **तथा चोक्तं वररुचिना** निर्देश करके इस शास्त्र का एक वचन उद्धृत है। गोविन्दराजीय टीका में श्लोक ११ की व्याख्या में भी **'तत्रोक्तं वररुचिना'** निर्देश पूर्वक एक वचन निर्दिष्ट है। श्लोक १० की रामायण तिलकटोका में इसी शास्त्र का एक वचन उद्धृत करके **'इति कत्यायनः'** का निर्देश है। इन से विदित होता है कि वररुचि कात्यायन का कोई सामुद्रिक विद्या पर भी ग्रन्थ था।

संख्या ४-५ के ग्रन्थ यदि वार्तिककार वररुचि कात्यायन के न हों, तो वे विक्रमकालीन वररुचि कात्यायन के होंगे।

६. **उभयसारिका-भाण**—मद्रास से चतुर्भाणी प्रकाशित हुई है। उसमें वररुचिकृत 'उभयसारिका' नामक एक भाण छपा है। उसके अन्त में लिखा है—

इति श्रीमद्वररुचिमुनिकृतिरुभयसारिकानाम भाणः समाप्तः।

इस वाक्य में यद्यपि वररुचि का विशेषण **'मुनि'** लिखा है,

---

१. द्र०—पूना ओरियण्टलिस्ट, भाग xiii में रामशंकर भट्टाचार्य का लेख। २. स्मृतेश्च कर्ता श्लोकाना भ्राजनाम्नां च कारकः। निदानसूत्र की भूमिका पृष्ठ २७ पर उद्धृत।

तथापि यह वार्तिककार वररुचिकृत प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य पस्पशाह्निक में वार्तिककार को 'तद्धितप्रिय' लिखा है, परन्तु उभयसारिका में तद्धितप्रियता उपलब्ध नहीं होती। उसमें तद्धितप्रयोग अत्यल्प हैं, कृत्प्रयोगों का बाहुल्य है। अतः **'कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः'**[1] इस नियम के अनुसार उपर्युक्त भाण का कर्ता कोई औदीच्य कवि है। सम्भव है यह भाण विक्रमसमकालिक वररुचि कवि कृत हो।

अनेक ग्रन्थ—आफ्रेक्ट कृत बृहत् हस्तलेख-सूचीपत्र में कात्यायन तथा वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उद्धृत हैं। उनमें से कितने ग्रन्थ वार्तिककार कात्यायन कृत हैं, यह अभी निश्चेतव्य है। हमें उनमें अधिक ग्रन्थ विक्रमकालिक वररुचिकृत प्रतीत होते हैं।

२. भारद्वाज

भगवान् पतञ्जलि ने भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थानों पर किया है।[2] ये वार्तिक पाणिनीयाष्ठक पर ही रचे गये थे, यह बात महाभाष्य में उद्धृत भारद्वाजीय वार्तिकों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से स्पष्ट होजाती है।[3]

भारद्वाजीय वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों से कुछ विस्तृत थे। यथा—

कात्या०—**घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्।**[4]

भार०—**घुसंज्ञाया प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।**[4]

कात्या०—**यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम्।**[5]

भार०—**यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रिग्रन्थिग्रन्थिब्रूञामात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।**[5]

---

१. काव्यमीमांसा पृष्ठ २२।

२. महाभाष्य १।१।२०, ५६॥ १।२।२२॥ १।३।६७॥ ३।१।३८, ४८, ८९॥ ४।१।७९॥ ६।४।४७, १५५॥

३. भारद्वाजीयाः पठन्ति—नित्यमकित्त्वमिडाद्योः, क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थं। महाभाष्य १।२।२२॥ न्यासकार लिखता है— पूङश्चेत्यत्र सूत्रे द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये ये विषयस्ते नित्या भवन्तीति मन्यमानैर्भारद्वाजीयैरिदमुक्तम्—नित्यमकित्त्वमिडाद्योरिति। भाग १, पृष्ठ १६२। भारद्वाजीयाः पठन्ति—भ्रस्जो रोपधयोर्लोपः, आगमो रम् विधीयते। महाभाष्य ६।४।४७॥

४. महाभाष्य १।१।२०॥ ५. महाभाष्य ३।१।८९॥

इन भारद्वाजीय वार्तिकों का रचयिता कौन भारद्वाज है, यह अज्ञात है। यदि ये वार्तिक पाणिनीय व्याकरण पर नहीं लिखे गये हों, तो अवश्य ही पूर्वनिर्दिष्ट भारद्वाज व्याकरण पर रहे होंगे। ऐसी अवस्था में भारद्वाज व्याकरण और पाणिनीय व्याकरण में बहुत समानता माननी होगी।

३. सुनाग

महाभाष्य में अनेक स्थानों पर सौनाग वार्तिक उद्धृत है।[1] हरदत्त के लेखानुसार इन वार्तिकों के रचयिता का नाम सुनाग था।[2] कैयट विरचित महाभाष्यप्रदोप २। २। १८ से विदित होता है कि सुनाग आचार्य कात्यायन से अर्वाचीन है।[3]

सौनाग वार्तिक अष्टाध्यायी पर थे

महाभाष्य ४। ३। ११५ से प्रतीत होता है कि सौनाग वार्तिक पाणिनीय अष्टक पर रचे गये थे। पतञ्जलि ने लिखा है–'**इह हि सौनागाः पठन्ति – वुञश्चाञ्कृतप्रसंगः**। इस पर कैयट लिखता है – **पाणिनीयलक्षणे दोषोद्भावनमेतत्**।

इसी प्रकार पतञ्जलि ने '**ओमाङोश्च**' सूत्रस्थ चकार का प्रत्याख्यान करके लिखा है—**एवं हि सौनागाः पठन्ति– चोऽनर्थकोऽधिकारादेङः**।[4]

श्री पं० गुरुपद हालदार नें सुनाग को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है।[5] उनका मत ठीक नहीं, यह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। हालदार महोदय ने सुनाग आचार्य को नागवंशीय लिखा है, वह सम्भवतः नामसादृश्य मूलक है।

सौनाग वार्तिकों का स्वरूप

सौनाग वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों की अपेक्षा बहुत विस्तृत

---

१. महाभाष्य २। २। १८ ॥ ३। २। ५६ ॥ ४। १। ७४, ८७ ॥ ४। ३। १५६ ॥ ६। १। ९५ ॥ ६। ३। ४३ ॥

२. सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७६१।

३. कात्यायनाभिप्रायमेध प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।

४. महाभाष्य ६। १। ९५ ॥ ५. व्याक० दर्श० इतिहास ४४५।

हैं। अत एव महाभाष्य २।२।१७ में कात्यायनीय वार्तिक की व्याख्या के अनन्तर पतञ्जलि ने लिखा है— **एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्।**

महाभाष्य ४। १। १५ में लिखा है—**अत्यल्पमिदमुच्यते—ख्युन इति। नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्।**

यद्यपि महाभाष्य में यहां **'नञ्स्नञ्'** आदि वार्तिक के कर्ता का नाम नहीं लिखा, तथापि महाभाष्य ३।२।५६ तथा ४।१।८७ में इसे सौनागों का वार्तिक कहा है।[1] अतः यह सौनाग वार्तिक है, यह स्पष्ट है। यह वार्तिक भी कात्यायनीय वार्तिक से बहुत विस्तृत है।

महाभाष्यस्थ सौनाग वार्तिक की पहचान

पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सौनाग वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों से अत्यधिक विस्तृत थे। महाभाष्य ४। १। १५ में **'अत्यल्पमिदमुच्यते'** लिख कर उद्धृत किया हुआ वार्तिक सौनागों का है, यह पूर्व लेख से स्पष्ट है। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर **'अत्यल्पमिदमुच्यते'** लिखकर कात्यायनीय वार्तिकों से विस्तृत वार्तिक उद्धृत किये हैं।[2] बहुत सम्भव है वे सब सौनाग वार्तिक हों।

शृङ्गारप्रकाश में **महावार्तिककार** के नाम से महाभाष्य २। १। ५१ में पठित एकवार्तिक उद्धृत है।[3] हमारा मत है कि यह महावार्तिककरा सौनाग है।

महाभाष्य ४। २। ६५ में महावार्तिक के अध्येताओं के लिए प्रयुज्यमान **माहावार्तिक** पद का निर्देश मिलता है।[4] ये महावार्तिक सम्भवतः सौनाग वार्तिक ही हैं।

सौनाग मत का अन्यत्र उल्लेख

महाभाष्य के अतिरिक्त भर्तृहरि की महाभाष्य टीका[5] काशिका,[6]

---

१. एवंहि सौनागाः पठन्ति—नञ्स्नञीकक्०।

२. महाभाष्य २।४।४६॥ ३।१।१४, २२, २५, ६७॥ ३।२।२६ इत्यादि।

३. ननु च 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनमिति महावार्तिककारः पठति। शृङ्गारप्रकाश, पृष्ठ २६। ४. इह मा भूत्—महावार्तिकः।

५. नैव सौनागदर्शनमाश्रीयते। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ३१।

६. सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, अम्यतेर्भावे। ७।२।१७॥

भाषावृत्ति[1] क्षीरतरङ्गिणी,[2] धातुवृत्ति[3] तथा मल्लवादिकृत द्वादशारनयचक्र की सिंहसूरि गणि की टीका[4] आदि ग्रन्थों में सौनागों के अनेक मत उद्धृत हैं।

४. क्रोष्टा

इस आचार्य के वार्तिक का उल्लेख महाभाष्य १।१।३ में केवल एक स्थान पर मिलता है। पतञ्जलि लिखता है—

परिभाषान्तरमिति च कृत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन।

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि क्रोष्ट्रीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर ही थे। क्रोष्टीय वार्तिकों का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

५. वाडवम (कुणरवाडव ?)

महाभाष्य ८।२।१०६ में लिखा है—**अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति**। इस पर नागेश भट्ट महाभाष्यप्रदीपोद्योत में लिखता है—**सिद्धं त्विदितोरिति[5] वार्तिकं वाडवस्य।**

इस वार्तिककार के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

क्या वाडव और कुणरवाडव एक है ?

महाभाष्य ३।२।१४ में लिखा है—

---

१. निष्ठायां कर्मणि शकेरिड् वेति सौनागाः। ७।२।१७॥

२. धातूनामर्थनिर्देशोऽयं प्रदर्शनार्थ इति सौनागाः। यदाहुः—क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः। प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥ देखो मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र, पृष्ठ १८४९। रोमनाक्षर मुद्रित जर्मन संस्करण में 'धातूना ..यदाहु': पाठ नहीं है। 'क्रियावाचित्वमाख्यातुम्' श्लोक चान्द्रधातुपाठ के अन्त में भी मिलता है। द्र०—क्षीरतङ्गिणी पृष्ठ ३, हमारा संस्क०।

३. शक धातु पृष्ठ ३०१, अस् धातु पृष्ठ ३०७, शक्लृ धातु पृष्ठ ३१९।

४. ष्ठिविसिव्योर्ल्युट्परयोर्दीर्घत्वं वष्टि भागुरिः। करोतेः कर्तृभावे च सौनागा हि प्रचक्षते। भाग १, पृष्ठ ४१ बड़ोदा सं०।

५. भाष्य, कैयटकृत प्रदीप आदि ग्रन्थों से पर्यालोचन के हमें 'तत्रायथेष्टप्रसंगः' वार्तिक वाडव आचार्य का प्रतीत होता है।

कुणरवाडवस्त्वाह—नैषा शंकरा, शंगरैषा। गृणातिः शब्दकर्मा तस्यैष प्रयोगः।

पुनः महाभाष्य ७।३।१ में लिखा है—

कुणरवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्। विहीनरस्यायं वैहिनरिः।

महाभाष्य के इन उद्धरणों में 'कुणरवाडव' आचार्य का उल्लेख मिलता है। क्या महाभाष्य ८।२।१०६ में स्मृत वाडव 'पदेषु पदैकदेशान्' नियम से कुणरवाडव हो सकता है? कुणरवाडव का उल्लेख आगे किया जायगा।

६. व्याघ्रभूति

महाभाष्य में व्याघ्रभूति आचार्य का साक्षात् उल्लेख नहीं है। महाभाष्य २।४।३६ में 'जग्धिविधिर्ल्यपि' इत्यादि एक श्लोक-वार्तिक उद्धृत है। कैयट के मतानुसार यह श्लोकवार्तिक व्याघ्रभूति-विरचित है।[1] काशिका ७।१।९४ में एक श्लोक उद्धृत है।[2] कातन्त्रवृत्ति-पञ्जिका का कर्त्ता त्रिलोचनदास उसे व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत करता है। वह लिखता है—

तथा च व्याघ्रभूतिः—संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तमिति।[3]

सुपद्ममकरन्दकार ने भी इसे व्याघ्रभूति का वचन माना है।[4] न्यासकार इसे आगम वचन लिखता है।[5]

काशिका ७।२।१० में उद्धृत अनिट् कारिकाएं भी व्याघ्रभूति-विरचित मानी जाती हैं।[6] पं० गुरुपद हालदार ने इसे पाणिनि का साक्षात् शिष्य लिखा है।[7] इसमें प्रमाण अन्वेषणीय है।

---

१. अयमेवार्थो व्याघ्रभूतिनाप्युक्त इत्याह—।

२. संबोधने तूशनसस्त्रिरूप सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्। माध्यदिनिर्वष्टि गुणन्त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।

३. कातन्त्र, चतुष्टय। ४. सुपद्म, सुबन्त २४।

५. न्यास ७।१।९४॥

६. यमिरंमन्तेष्वनिडेक इष्यते इति व्याघ्रभूतिना व्याहृतस्य...। शब्दकौस्तुभ अ० १, पाद १, आ० २, पृष्ठ ८२। तपिं तिपिमिति व्याघ्रभूतिवचनविरोधाच्च। धातुवृत्ति पृष्ठ ८२। ७. व्याक० दर्श० इतिहास पृष्ठ ४४४।

७. वैयाघ्रपद्य

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम उदाहरणरूप में महाभाष्य में बहुधा उद्धृत है। वैयाघ्रपद्य ने एक व्याकरणशास्त्र रचा था। उसका उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[1]

काशिका ८।२।१ पर **'शुष्किका शुष्कजङ्घा च'** एक श्लोक उद्धृत है। भट्टोजिदीक्षित ने इसे वैयाघ्रपद्य-विरचित वार्तिक लिखा है।[2] यदि भट्टोजिदीक्षित का लेख ठीक हो और उक्त श्लोक अष्टाध्यायी ८।२।१ का प्रयोजन-निदर्शक वार्तिक ही हो, तो निश्चय ही यह पाणिनि से अर्वाचीन होगा। हमारा विचार है, यह श्लोक वैयाघ्रपदीय व्याकरण का है, परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध अष्टाध्यायी ८। २।१ से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह श्लोक नहीं है। अथवा वैयाघ्रपद्य नाम के दो आचार्य मानने होंगे—एक व्याकरण-शास्त्र का प्रवक्ता और दूसरा वार्तिककार।

आचार्य वैयाघ्रपद्य के विषय में हम पूर्व पृष्ठ १२२-१२४ पर लिख चुके है।

महाभाष्य में स्मृत अन्य वैयाकरण

उपर्युक्त वार्तिककारों के अतिरिक्त निम्न वैयाकरणों के मत महाभाष्य में उद्धृत हैं—

१. गोनर्दीय **२. गोणिकापुत्र** **३. सौर्य भगवान्**
४. कुणरवाडव **५. भवन्तः ?**

ये आचार्य अष्टाध्यायी के वार्तिककार थे, वा वृत्तिकार, वा इनका संबन्ध किसी अन्य व्याकरण के साथ था, यह अज्ञात है।

१. गोनर्दीय

गोनर्दीय आचार्य के मत महाभाष्य में निम्न स्थानों में उद्धृत हैं—

---

१. पूर्व पृष्ठ १२३। २. अत एव शुष्किका···इति वैयाघ्रपदीय-वार्तिके जिशब्द एव पठ्यते। शब्दकौस्तुभ १।१।५६॥

गोनर्दीयस्त्वाह—सत्यमेतत् 'सति त्वन्यस्मिन्निति'।[१]

गोनर्दीयस्त्वाह—अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ। त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति।[२]

न तर्हि इदानीमिदं भवति—इच्छाम्यहं काशकटीकारमिति। इष्टमेवैतद् गोनर्दीयस्य।[३]

गोनर्दीयस्त्वाह—इष्टमेवैतत् संगृहीतं भवति—अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम्।[४]

परिचय

गोनर्दीय नाम देशनिमित्तक है। इससे प्रतीत होता है कि गोनर्दीय आचार्य गोनर्द का है। इसका वास्तविक नाम अज्ञात है।

गोनर्द देश—उत्तर प्रान्त का वर्तमान गोंडा जिला सम्भवत: प्राचीन गोनर्द है। काशिका १।१।७५ में गोनर्द को प्राच्य देश लिखा है। कई ऐतिहासिक गोनर्द को कश्मीर में मानते हैं। राजतरङ्गिणी नामक कश्मीर के ऐतिहासिक ग्रन्थ में गोनर्द नामक तीन राजाओं का उल्लेख है। सम्भव है उनके सम्बन्ध से कश्मीर का भी कोई प्रान्त गोनर्द नाम से प्रसिद्ध रहा हो। ऐसी अवस्था में गोनर्द नाम के दो देश मानने होंगे।

गोनर्दीय शब्द में विद्यमान तद्धित प्रत्यय से स्पष्ट है कि गोनर्दीय आचार्य प्राच्य गोनर्द देश का था।[५]

गोनर्दीय और पतञ्जलि

भर्तृहरि[६] कैयट[७] राजशेखर[८] आदि ग्रन्थकार गोनर्दीय शब्द को

१. महाभाष्य १।१।२१॥ २ महाभाष्य १।१।२९।

३. महाभाष्य ३।१।९२॥ ४. महाभाष्य ७।२।१०१॥

५. गोनर्द शब्द की 'एङ् प्राचां देशे (१।१।७५) से वृद्ध संज्ञा होने पर ही 'वृद्धाच्छ:' (४।२।११३) से 'छ' प्रत्यय संभव है

६. गोनर्दीयस्त्वाह तस्माद् भाष्यकारो व्याचक्षति (?, व्याचष्टे) सूत्रमिति। भाष्य टीका (१।१।२१) हमारा हस्तलेख पृष्ठ २७९।

७. भाष्यकारस्त्वाह—प्रदीप १।१ २१॥ गोनर्दीयपदं व्याचष्टे—भाष्यकार इति। उद्योत १।१।२१॥ ८. यस्तु प्रयुङ्क्ते…तत्प्रमाणमेवेति गोनर्दीय:। काव्यमीमांसा, पृष्ठ २६॥

पतञ्जलि का नामान्तर मानते हैं। वैजयन्ती-कोषकार भी इसे पतञ्जलि का पर्याय लिखता है।[1] वात्स्यायन कामसूत्र में गोनर्दीय आचार्य का उल्लेख बहुधा मिलता है।[2] कामन्दकनीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षिणी नाम्नी प्राचीन टीका का रचयिता कामसूत्र को आचार्य कौटिल्य की कृति मानता है[3]। डा० कीलहार्न का मत है कि गोनर्दीय आचार्य महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है।

हां, पतञ्जलि के कश्मीरदेशज होते हुए भी गोनर्दीय शब्द का व्यवहार सम्भव है। महाभारत शान्तिपर्वस्थ शिव-सहस्रनाम में शिव का एक नाम गोनर्द भी लिखा है। उससे **वा नामधेयस्य** (१। १। ७३) वार्तिक से वृद्ध संज्ञा होकर 'गोनर्दीय' शब्द भाष्यकार के लिये प्रयुक्त हो सकता है। यदि यह बात कथंचित् सुदृढ़ रूपेण सिद्ध हो जाये कि पतञ्जलि शैव सम्प्रदाय के आचार्य थे। महाभाष्य में इसका किञ्चिन्मात्र भी संकेत उपलब्ध नहीं होता।

हमारे मत में भी गोनर्दीय आचार्य महाभाष्यकार पतञ्जलि नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि कश्मीरदेशज है, यह हम अगले प्रकरण में लिखेंगे।

यदि कोषकारों की प्रसिद्धि को प्रामाणिक माना जाय, तो यह पतञ्जलि महाभाष्यकार न होकर निदानसूत्रकार पतञ्जलि हो

---

१. गोनर्दीयः पतञ्जलिः। पृष्ठ ९६, श्लोक १५७।

२. १।१।१५॥ १।५।२५॥ ४।२।२५॥ यह संख्या दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस अजमेर में मुद्रित कामसूत्र हिन्दी अनुवाद के अनुसार है। यह कामसूत्र का संक्षिप्त संस्करण है। ३. न्यास-कौटिल्य-वात्स्यायन-गौतमीयस्मृति-भाष्यचतुष्टयेन प्रकाशितः, प्रकाशितपुरुषार्थचतुष्टयोपाय इति भुवि महीतले प्रख्यातः। अलवर राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, परिशिष्ट पृष्ठ ११०। भाष्य शब्द का प्रत्येक के साथ संबन्ध है। न्यायभाष्य, कौटिल्यभाष्य (अर्थशास्त्र), वात्स्यायनभाष्य (कामशास्त्र), और गौतमस्मृतिभाष्य। अर्थ-शास्त्र और कामशास्त्र का प्रथमाध्याय सूत्रग्रन्थ है, शेष संपूर्ण ग्रन्थ उन सूत्रों का भाष्य है। कामन्दकनीतिसार १।५ में चाणक्य का विशेषण 'एकाकी' है। गोतम धर्मसूत्र के मस्करीभाष्य में असहायभाष्य बहुधा उद्धृत है। एकाकी और असहाय शब्दों के पर्यायवाची होने से क्या वह कौटिल्यविरचित हो सकता है?

सकता है। सम्भव है कैयट आदि को नाम-सादृश्य से भ्रम हुआ हो।

२. गोणिकापुत्र

इस आचार्य का मत पतञ्जलि ने महाभाष्य १। ४। ५१ में उद्धृत किया है—**उभयथा गोणिकापुत्र इति।** इस पर नागेश लिखता है—**गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः।** 'आहुः' पद से प्रतीत होता है कि नागेश को यह मत अभीष्ट नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र में गोणिकापुत्र का भी उल्लेख मिलता है।[1] कोशकार पतञ्जलि के पर्यायों में इस नाम को नहीं पढ़ते। अतः यह निश्चय ही महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है।

३. सौर्य भगवान्

पतञ्जलि महाभाष्य ८। २। १०६ में लिखता है—तत्र **सौर्यभगवता उक्तम्—अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति।**

कैयट के मतानुसार यह आचार्य 'सौर्य' नामक नगर का निवासी था।[2] सौर्य नगर का उल्लेख काशिका २। ४। ७ में मिलता है।[3] महाभाष्यकार ने इस आचार्य के नाम के साथ भगवान् शब्द का प्रयोग किया है। इससे इस आचार्य की महती प्रामाणिकता प्रतीत होती है। पतञ्जलि के लेख से यह भी विदित होता है कि सौर्य आचार्य वाडव आचार्य से अर्वाचीन है।

४. कुणरवाडव

कुणरवाडव आचार्य का मत महाभाष्य ३। २। १४ तथा ७। ३। १ में उद्धृत है।[4] क्या यह पूर्वोक्त वार्तिककार वाडव हो सकता है?

---

१. गोणिकापुत्रः पारदारिकम्। १। १। १६॥ संबन्धिसखिश्रोत्रियराजदारवर्जमिति गोणिकापुत्रः। १। ५। ३१। २. सौर्यं नाम नगरं तत्रत्येनाचार्येणेदमुक्तम्। भाष्यप्रदीप ८। २। १०६॥

३. सौर्यं च नगरं कैतवतं च ग्रामः।

४. कुणरवाडवस्त्वाह—नैषा शंकरा, शंगरैषा। कुत एतत्? गृणातिः शब्दकर्मा तस्यैष प्रयोगः॥ कुणरवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि?

५. भवन्तः ?

महाभाष्य ३ । १ । ८ में लिखा है— **इह भवन्तस्त्वाहुः—न भवितव्यमिति**। पतञ्जलि ने यहां 'भवन्तः' पद से किस आचार्य वा किन आचार्यों का स्मरण किया है, यह अज्ञात है।

भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यदीपिका में चार स्थानों में '**इह भवन्तस्त्वाहुः**'[1] निर्देश करके कुछ मत उद्धृत किये हैं। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६९ में '**इन्द्रभवस्त्वाहुः**' पाठ है। यह अशुद्ध प्रतीत है, यहां भी कदाचित् '**इह भवन्तस्त्वाहुः**' पाठ हो। पतञ्जलि और भर्तृहरि किसी एक ही आचार्य के मत उद्धृत करते हैं, वा भिन्न-भिन्न के, यह भी विचारणीय है।

न्यायवार्तिक ४ । १ । २१ में भी **इह भवन्तः** का निर्देश करके सांख्य मत का निर्देश किया है।[2]

इनके अतिरिक्त महाभाष्य में **अन्य अपर** आदि शब्दों से अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं, परन्तु उनके नाम अज्ञात हैं।

महाभाष्यस्थ वार्तिकों पर एक दृष्टि

यद्यपि महाभाष्य में प्रधानतया कात्यायनीय वार्तिकों का उल्लेख है, तथापि उसमें अन्य वार्तिककारों के वार्तिक भी उद्धृत हैं। कुछ वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य से विदित हो जाते हैं, अनेक वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य में नहीं लिखे, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इन सब वार्तिकों के अतिरिक्त महाभाष्य में बहुत से ऐसे वचनों का संग्रह है, जो वार्तिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वार्तिक नहीं हैं। महाभाष्यकार ने अन्य व्याकरणों से उनउन नियमों का संग्रह किया है, कहीं पूर्वाचार्यों के शब्दों में और कहीं स्वल्प शब्दान्तर से। यथा—

१.—महाभाष्य ६ । १ । १४४ में एक वचन है—**समो हिततयोर्वा लोपः**। यह वार्तिक प्रतीत होता है, परन्तु महाभाष्य १ ।

विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्यां विहीनरः। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः।

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ६१, १०७, १२५, २७२।

२. इह भवन्तः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिं वर्णयन्ति···। पृष्ठ ४५८।

१ । २७ में इसे अन्य वैयाकरणों का वचन लिखा है—**इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते, समो हिततयोर्वा इति ।**

महाभाष्य ६ । १ । १४४ में अन्य कई नियम उद्धृत हैं।[1] वे अन्य वैयाकरणों के ग्रन्थों से संगृहीत प्रतीत होते हैं। महाभाष्यकार ने इन नियमों का संग्रह जिस प्राचीन कारिका के आधार पर किया है, वह काशिका ६ । १ । १४४ में उद्धृत है।[2]

२—महाभाष्य ४ । २ । ६० में लिखा है—**सर्वसादेर्द्विगोश्च लः ।** यह वचन प्राचीन वैयाकरणों की किसी कारिका का अंश है। महाभाष्य के कई हस्तलेखों में इस सूत्र के अन्त में कारिका का पूरा पाठ मिलता है।[3] वह निम्न प्रकार है—

अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः ।
इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः ॥

३—महाभाष्य ४ । १ । २७ में पढ़ा है—**हायनो वयसि स्मृतः ।** यह पाठ भी किसी प्राचीन कारिका का एकदेश है। कारिका में ही 'स्मृतः' पद श्लोकपूर्त्यर्थ लगाया जा सकता है, अन्यथा वह व्यर्थ होगा।

४—महाभाष्य में कहीं-कहीं पूरी-पूरी कारिकाएं भी प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत हैं। यथा—

इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात् कृतं भुवः ।
नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः ॥[4]
डावतावर्थवैशिष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते ।
मात्राद्यप्रतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः ॥[5]

इन कारिकाओं में '**इष्णुच्**' और '**डावतु**' प्रत्यय पर विचार किया है। अष्टाध्यायी में ये प्रत्यय नहीं हैं। उस में इनके स्थान में

---

१. समो हिततयोर्वा लोपः । संतुमुनोः कामे मनसि च । अवश्यमः कृत्ये ।

२. लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि । समो हिततयोर्वा मांसस्य पचि युड्घञोः ॥

३. कैयट ने पूरी कारिका की व्याख्या की है, परन्तु महाभाष्य के कई हस्तलेखों में पूरी कारिका उपलब्ध नहीं होती । ४. महाभाष्य ३।२।५७॥

५. महाभाष्य ५।२।५६॥ देखो 'डावताविति—पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षो निर्देशः' इसी सूत्र पर कैयट ।

क्रमशः **खिष्णुच्** और **'वतुप्'** प्रत्यय हैं। परन्तु इन कारिकाओं में जो विचार किया है,वह अष्टाध्यायी के तत्तत् प्रकरणों में भी उपयोगी है। अतः महाभाष्यकार ने वहां-वहां विना किसी परिवर्तन के इन प्राचीन कारिकाओं को उद्धृत कर दिया है।

५—महाभाष्य ४। ३। ६० में किसी प्राचीन व्याकरणों की निम्न तीन कारिकाएं उद्धृत हैं—

समानस्य तदादेश्चाध्यात्मादिषु चेष्यते।
ऊर्ध्वं दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च॥
मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनपरस्य च।
ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ चापि प्रत्ययौ॥
मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् स्थाम्नो लुगजिनात्तथा।
बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्यः गम्भीराञ्ञ्यः इष्यते॥

कैयट नागेश आदि टीकाकारों ने इन कारिकाओं को अष्टाध्यायी ४। ३। ६० पर वार्तिक समझ कर इनकी पूर्वापर सङ्गति लगाने के लिये अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। क्लिष्ट कल्पनाएं करने पर भी इन्हें अष्टाध्यायी पर वार्तिक मानने से जो अनेक पुनरुक्ति दोष उपस्थित होते हैं, उनका वे पूर्ण परिहार नहीं कर सके। इन्हें वार्तिक मानने पर तृतीय कारिका का चतुर्थ चरण स्पष्टतया व्यर्थ है, क्योंकि अष्टाध्ययी ४। ३। ५८ में **'गम्भीराञ्ञ्य'** सूत्र विद्यमान है। इसी प्रकार गहादि गण (४।२।१३८) में "**मुखपार्श्वतसोर्लोपः, जनपरयोः कुक् च**" गणसूत्र पढ़े हैं। अतः द्वितीय कारिका का पूर्वार्ध भी पिष्टपेषणवत् व्यर्थ है। इसलिये ये निश्चय ही किसी प्राचीन व्याकरण की कारिकाएं हैं। इनमें अपूर्व विधायक अंश की अधिकता होने से महाभाष्यकार ने इनका पूरा पाठ उद्धृत कर दिया।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि महाभाष्य में उद्धृत अनेक वचन वार्तिककारों के वार्तिक नहीं हैं।

इस अध्याय में हमने पाणिनीयाष्टक पर वार्तिक रचने वाले सात वार्तिककारों और पांच अन्य वैयाकरणों (जिनके मत महाभाष्य में उद्धृत हैं) का संक्षेप से वर्णन किया है। अगले अध्याय में वार्तिकों के भाष्यकारों का वर्णन होगा।

—०—

नववां अध्याय

वार्तिकों के भाष्यकार

भाष्य का लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय खण्ड के चतुर्थाध्याय में भाष्य का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।।

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, सूत्रानुसारी वाक्यों=वार्तिकों[1] तथा अपने पदों का व्याख्यान किया जाता है, उसे भाष्य को जानने वाले **भाष्य** कहते हैं।

पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य में दो स्थानों पर लिखा है—
उक्तो भावभेदो भाष्ये ।[2]

इस पर कैयट आदि टीकाकार लिखते हैं कि यहां **'भाष्य'** पद से **'सार्वधातुके यक्'**[3] सूत्र के महाभाष्य की ओर संकेत है,[4] परन्तु हमारा विचार है कि पतञ्जलि का संकेत किसी प्राचीन भाष्यग्रन्थ की ओर है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१. महाभाष्य के **'उक्तो भावभेदो भाष्ये'** वाक्य की तुलना **'संग्रहे एतत् प्रधान्येन परीक्षितम्'**[5] **'संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे'**[6] इत्यादि महाभाष्यस्थ-वचनों से की जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में संग्रह के समान कोई प्राचीन **'भाष्य'** ग्रन्थ अभिप्रेत है। अन्यथा पतञ्जलि अपनी शैली के अनुसार **'उक्तो भावभेदो भाष्ये'** न लिखकर **'उक्तम्'** शब्द से संकेत करता।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ २६४।

२. ३।३।१६।। ३।४।६७।।   ३. अष्टा० ३।१।६७।।

४. सार्वधातुके भावभेदः ।३।३।१९।। सार्वधातुके यगित्यत्र बाह्याभ्यन्तरयोर्भावयोर्विशेषो दर्शितः ।३।४।६७।।

५. महाभाष्य अ० १, पा० १ आ० १, पृष्ठ ६।

६. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १, पृष्ठ ६।

२. भर्तृहरि वाक्यपदीय २।४२ की स्वोपज्ञव्याख्या में भाष्य के नाम से एक लम्बा पाठ उद्धृत करता है—

स चायं वाक्यपदयोराधिक्यभेदो भाष्य एवोपव्याख्यातः। अतश्च तत्र भवान् आह—'यथैकपदगतप्रातिपदिके ……… हेतुराख्यायते।'

यह पाठ पातञ्जल महाभाष्य में उपलब्ध नहीं होता।

३. क्षीरतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी लिखता है—**भाष्ये नत्वं नेष्यते।**[1] यह मत महाभाष्य में नहीं मिलता।

४. महाभाष्य शब्द में '**महत्**' विशेषण इस बात का द्योतक है कि उससे पूर्व कोई भाष्य ग्रन्थ विद्यमान था। अन्यथा '**महत्**' विशेषण व्यर्थ है। तुलना करो—भारत-महाभारत, ऐतरेय-महैतरेय,[2] कौषीतक-महाकौषीतक।[2]

५. भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका में दो स्थानों पर वार्त्तिकों के लिये '**भाष्यसूत्र**' पद का प्रयोग करता है।[3] पाणिनीयसूत्रों के लिये '**वृत्तिसूत्र**' पद का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] भाष्यसूत्र और वृत्तिसूत्र पदों की पारस्परिक तुलना से व्यक्त होता है कि पाणिनीय सूत्रों पर केवल वृत्तियां ही लिखी गई थीं, अत एव उनका '**वृत्तिसूत्र**' पद से व्यवहार होता है। वार्तिकों पर सीधे भाष्य ग्रन्थ लिखे गये, इसलिये वार्तिकों को '**भाष्यसूत्र**' कहते हैं। वार्तिकों के लिये 'भाष्यसूत्र' नाम का व्यवहार इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वार्तिकों पर जो व्याख्यानग्रन्थ रचे गये, वे 'भाष्य' कहाते थे।

अनेक भाष्यकार

महाभाष्य के अवलोकन से विदित होता है कि उससे पूर्व वार्तिकों पर अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये थे। वे इस समय अनुपलब्ध है। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर '**अपर आह**' लिखकर वार्तिकों

---

१. क्षीरत० १।६४६, पृष्ठ १३२, हमारा संस्क०।

२. कौषीतकि गृह्य ४।५।३। आश्व० गृह्य ३।४।४।

३. देखो पूर्व पृष्ठ २९४, टिप्पणी ७। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पूर्व पृष्ठ २९५, टि० १।

४. पृष्ठ २२२-२२३।

की कई विभिन्न व्याख्याएं उद्धृत की हैं। यथा—

अभ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रुकुंसः भ्रूकुंसः, भ्रुकुटिः भ्रूकुटिः।

अपर आह—अकारो भ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रकुंसः, भ्रकुटिः। ६।३।६१॥

यहां एक व्याख्या में वार्तिकस्थ '**अ**' वर्ण निषेधात्मक है, दूसरी व्याख्या में '**अ**' का विधान किया है।

इसी प्रकार महाभाष्य १।१।१० में **सिद्धमनच्त्वाद् वाक्यापरिसमाप्तेर्वा**' वार्तिक की दो व्याख्याएं उद्धृत की हैं।

महाभाष्य २।१।१ में '**समर्थतराणां वा**' वार्तिक की '**अपर आह**' लिखकर तोन व्याख्याएं उद्धृत की हैं।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि महाभाष्य से पूर्व वार्तिकों पर अनेक व्याख्याएं लिखी गई थीं। केवल कात्यायन के वार्तिक पाठ पर न्यूनातिन्यून तीन व्याख्याएं महाभाष्य से पूर्व अवश्य विद्यमान थीं। इसी प्रकार भारद्वाज, सौनाग आदि के वार्तिकों पर भी अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये होंगे। यह प्राचीन महती ग्रन्थराशि इस समय सर्वथा लुप्त हो चुकी है, इन ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों के नाम तक भी ज्ञात नहीं है।

भर्तृहरि की विशिष्ट सूचना—भर्तृहरि ने अनेक भाष्यों की सूचना—**सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः**[1] कारिका में दी है। इसका भाव यह है कि सूत्रों, अनुतन्त्रों (वार्तिकों) और भाष्यों के प्रणेताओं .... ।

अर्वाचीन वार्तिक-व्याख्याकार

महाभाष्य की रचना के अनन्तर भी कई विद्वानों ने वार्तिकों पर व्याख्याएं लिखीं, परन्तु हमें उन में से केवल तीन व्याख्याकारों का ज्ञान है—

१. हेलाराज

हेलाराजकृत वाक्यपदीय की टीका से विदित होता है कि उसने वार्तिकपाठ पर '**वार्तिकोन्मेष**' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। वह लिखता है—

१. वाक्य पदीय ब्रह्मकाण्ड २३।

वाक्यकारस्यापि तदेव दर्शनमिति वार्तिकोन्मेषे कथितमस्माभिः ।[1]

वार्तिकोन्मेषे विस्तरेण यथातत्त्वमस्माभिर्व्याख्यातमिति तत एवावधार्यम् ।[2]

वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातम्, तत एवावधार्यम् ।[3]

वार्तिकोन्मेष ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। हेलाराज का विशेष वर्णन आगे व्याकरण के '**दार्शनिक ग्रन्थकार**' नामक २९ I अध्याय के अन्तर्गत वाक्यपदीय के प्रकरण में किया जायगा।

२. राघवसूरि

राघवसूरि ने वार्तिकों की '**अर्थप्रकाशिका**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C. पृष्ठ ५८०४ ग्रन्थाङ्क ३९१२ B.।

३. राजरुद्र

राजरुद्र नामक किसी पण्डित ने काशिकावृत्ति में उद्धृत श्लोकवार्तिकों की व्याख्या लिखी है। राजरुद्र के पिता का नाम '**गन्नय**' था। इसका अन्त में निम्न पाठ है—

इति राजरुद्रिये (काशिका) वृत्तिश्लोकव्याख्यानेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

इसका एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के हस्तलेखसंग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C. पृष्ठ ५८०३, ग्रन्थाङ्क ३९१२ A. पर निर्दिष्ट है।

इन दोनों ग्रन्थकारों का काल अज्ञात है।

इस अध्याय में वार्तिकों के प्राचीन भाष्यकारों का संकेत और तीन अर्वाचीन व्याख्याकारों का संक्षेप से वर्णन किया है। अगले अध्याय में महाभाष्यकार पतञ्जलि का वर्णन किया जायगा।

—०—

१. तृतीय काण्ड पृष्ठ ४४३, काशी सं०।
२. तृतीय काण्ड पृष्ठ ४४४।
३. तृतीय काण्ड पृष्ठ ४४६।

दशवां अध्याय

महाभाष्यकार पतञ्जलि (२००० वि० पू०)

महामुनि पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण पर एक महती व्याख्या लिखी है। यह संस्कृत वाङ्मय में **महाभाष्य** के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण जैसे दुरूह और शुष्क समझे जाने वाले विषय को जिस सरल और सरस रूप से हृदयङ्गम कराया है, वह देखते ही बनता है। ग्रन्थ की भाषा इतनी सरल और प्राञ्जल है कि जो कोई विद्वान् इसे देखता है, इसके रचना-सौष्ठव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण सम्प्रदाय में, अपितु सकल संस्कृत वाङ्मय में अपने ढङ्ग का एक अद्भुत ग्रन्थ है। महाभाष्य पाणिनीय व्याकरण का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। समस्त वैयाकरण इसके सन्मुख नतमस्तक हैं। अर्वाचीन वैयाकरण जहां सूत्र, वार्तिक और महाभाष्य में परस्पर विरोध समझते हैं, वहां वे महाभाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं।[1]

परिचय

नामान्तर—विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में पतञ्जलि को **गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकार** और **पदकार** आदि नामों से स्मरण से किया है।

गोनर्दीय—यादवप्रकाश आदि कोषकारों ने इस नाम को पतञ्जलि का पर्याय लिखा है।[2] महाभाष्य १।१।२१, २९॥ ३।१।९२॥ ७२।१०१ में 'गोनर्दीय' आचार्य के मत निर्दिष्ट हैं।[3] भर्तृहरि और कैयट आदि टीकाकारों के मत में यहां गोनर्दीय का अर्थ पतञ्जलि है।[4] किसी गोनर्दीय आचार्य का मत वात्स्यायन काम-

---

१. यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्। कैयट, भाष्यप्रदीप १।१।२९॥ यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। नागेश, उद्योत ३।१।८७॥

२. पूर्व पृष्ठ ३२१ टि० १। ३. पूर्व पृष्ठ ३२०, टि० १-४।

४. पूर्व पष्ठ ३२० टि० ६,७।

सूत्र में भी मिलता है।[1] गोनर्दीय की भिन्नता और अभिन्नता को सम्भावना का निर्देश हम पूर्व (पृष्ठ ३२१) चुके हैं।

गोणिका-पुत्र—महाभाष्य १।४।५१ में गोणिकापुत्र का एक मत निर्दिष्ट है।[2] नागेश की व्याख्या से प्रतीत होता है कि कई प्राचीन टीकाकार गोणिकापुत्र का अर्थ यहां पतञ्जलि समझते थे।[3] वात्स्यायन कामसूत्र में भी गोणिका-पुत्र का निर्देश मिलता है।[4] हमारा विचार है कि गोणिकापुत्र भी पतञ्जलि से पृथक् व्यक्ति है।

नागनाथ—कैयट ने महाभाष्य ४।२।९३ की व्याख्या में पतञ्जलि के लिये नागनाथ नाम का प्रयोग किया है।[5]

अहिपति—चक्रपाणि ने चरकटीका के प्रारम्भ में अहिपति नाम से पतञ्जलि को नमस्कार किया है।[6]

फणिभृत्—भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भ में फणिभृत् पद से पतञ्जलि का निर्देश किया है।[7]

शेषराज—अमरचन्द्र सूरि ने हैम-बृहद्वृत्त्यवचूर्णि में महाभाष्य का एक पाठ शेषराज के नाम से उद्धृत किया है।[8]

शेषाहि—बल्लभदेव ने शिशुपालवध २।११२ की टीका में पतञ्जलि को शेषाहि नाम से स्मरण किया है।[9]

चूर्णिकार—भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका में तीन बार चूर्णिकार पद से पतञ्जलि का उल्लेख मिलता है।[10] सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में महाभाष्य १।४।२१ का वचन चूर्णिकार

---

१. पूर्व पृष्ठ ३२१ टि० २।

२. उभयथा गोणिकापुत्र इति। ३. गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः।

४. पूर्व पृष्ठ ३२२ टि० १। ५. तत्र जात इत्यत्र तु सूत्रेऽस्य लक्षणत्वमाश्रित्यैतेषां सिद्धिमभिधास्यति नागनाथः।

६. पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥ ७. वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृता भर्त्रेव येनोद्धृतः।

८. यदाह श्रीशेषराजः—नहि गोधाः सर्पन्तीति सर्पणादहिर्भवति। (महाभाष्य में अनेकत्र यह पाठ है)।

९. पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्।

१०. हमारा हस्तलेख पृष्ठ १७९, १९९, २१६।

के नाम से उद्धृत है।[1] स्कन्दस्वामी निरुक्त ३।१६ की व्याख्या में चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य १।१।५७ का पाठ उद्धृत करता है।[2] स्कन्दस्वामी की निरुक्त टीका ८।२ में चूर्णिकार के नाम से एक पाठ और उद्धृत है,[3] परन्तु वह पाठ महाभाष्य का नहीं है, वह मीमांसा १।३।३० के शाबर भाष्य का पाठ है। आधुनिक पाणिनीय-शिक्षा का शिक्षाप्रकाश-टीकाकार शाबर भाष्य के इस पाठ को महाभाष्य के नाम से उद्धृत करता है।[4] बौद्ध चीनी यात्री इत्सिंग ने महाभाष्य का चूर्णि नाम से उल्लेख किया है।[5]

चूर्णिपद का अर्थ—क्षीरस्वामी ने अमरटीका में चूर्णि और भाष्य को पर्याय माना है।[6] श्री गुरुपद हालदार ने वृद्धत्रयी पृष्ठ २६० पर चूर्णि का अर्थ दुर्गसिंह कृत उणादि वृत्ति ३।१८३ के अनुसार **सूत्रवार्तिकभाष्य**—लिखा है। परन्तु छपी हुई कातन्त्र उणादि वृत्ति (३।५१) में **चरतीति चूर्णिः ग्रन्थविशेषः** पाठ मिलता है।

पदकार—स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका १।३ में पदकार के नाम से महाभाष्य ५।२।२८ का पाठ उद्धृत किया है।[7] उव्वट ने भी ऋक्प्रातिशाख्य १३।१९ की टीका में पदकार शब्द से महाभाष्य १।१।९ का पाठ उद्धृत किया है।[8] आत्मानन्द ने अस्यवामीय-सूक्त के भाष्य में पदकार के नाम से महाभाष्य १।१।४७ की ओर संकेत किया है।[9] भामह ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ में सूत्रकार के

---

१. कदाचित् गुणो गुणिविशेषको भवति, कदाचित्तु गुणिना गुणो विशेष्यते इति चूर्णिकारस्य प्रयोगः। पृष्ठ ७।

२. तथा च चूर्णिकारः पठति—वतिनिर्देशोऽयं सन्ति न सन्तीति।

३. चूर्णिकारो ब्रूते—य एव लौकिकाः शब्दा इति।

४. य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्था इति महाभाष्योक्तेः। शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८६ काशी सं०।

५. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७२।

६. भाष्यं चूर्णिः। ३।५।३१॥ पृष्ठ ३५३।

७. पदकार आह—उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका········क्रियामाहुः।

८. पदकारेणाप्युक्तम्—प्रथमद्वितीयाः········महाप्राणा इति.

९. पदकारास्तु परभवतं नुममाहुः। पृष्ठ १३। महाभाष्यकार ने

साथ पदकार का स्मरण किया है।[1] क्षीरस्वामी ने अमरकोश ३।१।३५ की टीका में पदकार के नाम से एक पाठ उद्धृत किया है,[2] परन्तु वह महाभाष्य में नहीं मिलता। सांख्यकारिका की युक्ति-दीपिका टीका में पदकार के नाम से एक वार्त्तिक उद्धृत है।[3] न्यास ३।२।२१ में जिनेन्द्रबुद्धि ने एक पदकार का पाठ उद्धृत किया है,[4] वह वार्तिक और उसके भाष्य से अक्षरशः नहीं मिलता है।[5]

अनुपदकार—दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १२९ पर अनुपदकार के एक मत का उल्लेख मिलता है।[6] मैत्रेयरक्षित ने भी तन्त्रप्रदीप ७।४।१ में अनुपदकार का मत उद्धृत् किया है।[7] ये अनुपदकार के नाम से उद्धृत मत महाभाष्य में नहीं मिलते।

पदशेषकार—काशिका ७।२।५८ में **पदशेषकार** का एक मत उद्धृत है, वह भी महाभाष्य में नहीं मिलता।[8] पदशेषकार का एक उद्धरण पुरुषोत्तमदेवविरचित महाभाष्य लघुवृत्ति की 'भाष्यव्याख्या प्रपञ्च' नाम्नी टीका में भी उपलब्ध होता है।[9]

सिद्धान्त पक्ष में नुम् को पूर्वभक्त माना है। कैयट लिखता है—तदत्र निर्दोषत्वात् पूर्वान्तपक्षः स्थितः।

१. सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत् ।४।२२। यहां पदकार शब्द महाभाष्यकार के लिये प्रयुक्त हुआ है। मुद्रितग्रन्थ में 'पादकार' छपा है वह अशुद्ध है।

२. यजजप इत्यत्र वदेरनुपदेशः कार्य इति पदकारवाक्यादूकः।

३. पदकारस्त्वाह—जातिवाचकत्वात्। पृष्ठ ७। तुलना करो—दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम् वार्तिक। १।२।१०॥ हो सकता है यह वार्तिक न हो, भाष्य वचन ही हो। ४. तथाहि पदकारः पठति—उपपदविधौ भयाढ्यादि-ग्रहणं तदन्तविधि प्रयोजयतीति।

५. उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणम्। उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं प्रयोजनम्। महाभाष्य १।१।७२॥

६. प्रेन्वनमिति। अनुपदकारेणानुम उदाहरणमुपन्यस्तम्।

७. एवं च युवानमाख्यत् अचीकलदित्यादिप्रयोगोऽनुपदकारेण नेष्यत इति लक्ष्यते। देखो भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९४ की टिप्पणी में उद्धृत।

८. पदशेषकारस्य पुनरिदं दर्शनम्..............॥ पदशेषो ग्रन्थविशेष इति पदमञ्जरी। काशिका का उद्धृत पाठ धातुवृत्ति में भी उद्धृत हैं। देखो गम धातु पृष्ठ १९२। ९. पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति। इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०७ में उद्धृत।

अनुपदकार और पदशेषकार दोनों एक ही हैं, अथवा भिन्न व्यक्ति हैं, यह विचारणीय है।

महाभाष्यकार को 'पदकार' क्यों कहते हैं? इस विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों के प्रायः प्रत्येक पद पर विचार किया है। संभव है इसलिये महाभाष्यकार को 'पदकार' कहा जाता हो। शिशुपालवध के '**अनुत्सूत्रपदन्यासा**'[1] इत्यादि श्लोक की व्याख्या में बल्लभदेव लिखता है—**पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्**। बल्लभदेव ने 'पद' का अर्थ 'पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य' किस आधार पर किया, यह अज्ञात है। यदि यह अर्थ ठीक हो, तो काशिका और भाष्यव्याख्याप्रपञ्च में निर्दिष्ट 'पदशेषकार' का अर्थ 'महाभाष्य-शेष का रचयिता' होगा। इस ग्रन्थ का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

वंश और देश—पतञ्जलि ने महाभाष्य जैसे विशालकाय ग्रन्थ में अपना किञ्चिन्मात्र परिचय नहीं दिया। अतः पतञ्जलि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि महाभाष्य के कुछ व्याख्याकार '**गोणिकापुत्र**' शब्द का अर्थ पतञ्जलि मानते हैं। यदि वह ठीक हो, तो पतञ्जलि की माता का नाम '**गोणिका**' होगा, परन्तु हमें यह ठीक प्रतीत नहीं होता।

कुछ ग्रन्थकार '**गोनर्दीय**' को पतञ्जलि का पर्याय मानते हैं। यदि उनका मत प्रामाणिक हो, तो महाभाष्यकार की जन्मभूमि गोनर्द होगी। गोनर्द देश वर्तमान गोंडा जिले के आसपास का प्रदेश है। एक गोनर्द देश कश्मीर में भी है। परन्तु गोनर्दीय को पतञ्जलि का पर्याय मानने पर उसे प्राग्देशवासी मानना होगा। क्योंकि गोनर्दीय पद में गोनर्द की एङ् **प्राचां देशे**[2] से वृद्ध संज्ञा होकर छ=ईय प्रत्यय होता है।[3] 'गोनर्द' शिव का नाम है, उससे भी गोनर्दीय शब्द उपपन्न हो सकता है। परन्तु महाभाष्यकार शैवमतानुयायी थे, इसका कहीं से कुछ भी संकेत उपलब्ध नहीं होता, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] अतः हमारा विचार है कि गोनर्दीय पतञ्जलि से भिन्न

१. २। ११२॥ २. अष्टा० १। १। ७५॥
३. मत्स्य पुराण ११३। ४५ में गोनर्द प्राच्यजनपदों में गिना गया है।
४. पूर्व पृष्ठ ३२१।

व्यक्ति है, और महाभाष्यकार भी प्राग्देशान्तर्गत गोनर्द का नहीं है। वह कश्मीरज है, यह अनुपद लिखेंगे।

महाभाष्य ३। २। ११४ में **अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः, तत्र सक्तून् पास्यामः**' इत्यादि उदाहरणों में असकृत् **कश्मीरगमन** का उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही हो। इन उदाहरणों के आधार पर कुछ एक विद्वानों का मत है कि पतञ्जलि की जन्मभूमि कश्मीर थी। महाभाष्य ३। २। १२३ से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि अधिकतर पाटलिपुत्र में निवास करता था। महाभाष्य के विविध निर्देशों से व्यक्त होता है कि पतञ्जलि मथुरा, साकेत, कौशाम्बी और पाटलिपुत्र आदि से भली प्रकार विज्ञ था। अत: पतञ्जलि की जन्मभूमि कौनसी थी, यह सन्दिग्ध है। पुनरपि कश्मीर के राजा अभिमन्यु और जयापीड द्वारा महाभाष्य का पुनः-पुनः उद्धार कराना[1] व्यक्त करता है कि पतञ्जलि का कश्मीर से कोई विशिष्ट सम्बन्ध अवश्य था।

पतञ्जलि चरित—रामभद्रदीक्षित ने एक पतञ्जलि चरित लिखा है, पर वह ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा अप्रामाणिक है।

अनेक पतञ्जलि

पतञ्जलि-विरचित तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं—सामवेदीय **निदानसूत्र, योगसूत्र** और **महाभाष्य**। सामवेद की एक पातञ्जलशाखा भी थी, इसका निर्देश कई ग्रन्थों में मिलता है।[2]योगसूत्र के व्यासभाष्य में किसी पतञ्जलि का एक मत उद्धृत है।[3]वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका में योगदर्शन के व्यासभाष्य ४। १० के पाठ को स्वशब्दों में उद्धृत करते हुए पतञ्जलि के नाम

---

१. द्रष्टव्य—आगे 'महाभाष्य का अनेक बार लुप्त होना' अनुशीर्षक लेख।

२. देखो—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २०७ (प्र०सं०)।

३. अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः। ३। ४४॥ तुलना करो—सेश्वरसांख्यानामाचार्यस्य पतञ्जलेरित्यर्थः। 'गुणसमूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः' इति योगभाष्ये स्पष्टम्। नागेश उद्योत ४। १। ४॥

से स्मरण किया है।[1] सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाटीका में पतञ्जलि के सांख्यसिद्धान्त-विषयक अनेक मत उद्धृत हैं।[2] आयुर्वेद की चरकसंहिता भी पतञ्जलि द्वारा परिष्कृत मानी जाती है। समुद्रगुप्तविरचित कृष्णचरित के अनुसार पतञ्जलि ने चरक में कुछ धर्माविरुद्ध-योगों का सन्निवेश किया था।[3] चक्रपाणि[4] पुण्यराज[5] और भोजदेव[6] आदि अनेक ग्रन्थकार महाभाष्य योगसूत्र और चरकसंहिता इन तीनों का कर्त्ता एक मानते हैं। मैक्समूलर ने षडगुरुशिष्य का एक पाठ उद्धृत किया है, जिसके अनुसार योगदर्शन और निदानसूत्र का कर्त्ता एक व्यक्ति है।[7]

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावना में पतञ्जलि के लिये लिखा है—

---

१. यथाहुस्तत्र भवन्तः पतञ्जलिपादाः—'को हि योगप्राभावादृते अगत्स्यइव समुद्रं पिबति स इव च दण्डकारण्यं सृजति' इति। न्या० वा० ता० टीका १।१।१। पृष्ठ ६। तुलना करो व्यासभाष्य ४। १०—दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शरीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद् वा पिबेत्।

हमारे विचार में योगदर्शन का व्यासभाष्य पतञ्जलि प्रोक्त है। व्यास शब्द का अर्थ है विस्तृत। इससे यह भी ध्वनित होता है कि पतञ्जलि ने स्वदर्शन पर व्यास(=विस्तृत) तथा समास(=संक्षिप्त) दो भाष्य रचे थे।

२. पृष्ठ ३२, १००, १३६, १४५, १४६, १७५।

३. धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः। मुनिकविवर्णन। आयुर्वेदीय चरकसंहिता में पतञ्जलि ने योगों का सन्निवेश किस प्रकार किया, इसका निर्देश हम आगे करेंगे।

४. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३३१ टि० ७।

५. तदेवं ब्रह्मकाण्डे 'कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः' (कारिका १४७) इत्यादिश्लोकेन भाष्यकारप्रशंसोक्ता। वाक्यपदीयटीका काण्ड २, पृष्ठ २८४ काशी संस्करण। वस्तुतः इस कारिका में भाष्यकार की प्रशंसा का न कोई प्रसङ्ग ही है, और न भर्तृहरि ने अपनी स्वोपज्ञव्याख्या में इसकी भाष्यकार की प्रशंसापरक व्याख्या ही की है। अतः पुण्यराज की यह अप्रासंगिक क्लिष्ट कल्पना है।

६. पूर्व पृष्ठ ३३१ टि० ७। ७. योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः। A. S. L. पृष्ठ २३६ में उद्धृत।

विद्ययोद्रिक्तगुणतरा भूमावमरतां गतः ।
पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम् ।
धर्माविप्रयुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः ॥
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम् ॥

अर्थात् महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किये, और योग की विभूतियों का निदर्शक योगव्याख्यानभूत 'महानन्दकाव्य' रचा ।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि का चरकसंहिता और योगदर्शन के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य है । चक्रपाणि आदि ग्रन्थकारों का लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं है । हमारा विचार है कि पातञ्जलशाखा, निदानसूत्र और योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, यह अति प्राचीन ऋषि है । आङ्गिरस पतञ्जलि का उल्लेख मत्स्य पुराण १९५ । २५ में मिलता है ।[1] पाणिनि ने २ । ४ । ६९ के उपकादिगण में पतञ्जलि पद पढ़ा है । महाभाष्यकार इनसे भिन्न व्यक्ति है । और वह इनकी अपेक्षा अर्वाचीन है ।

काल

पतञ्जलि का इतिवृत्त अन्धकारावृत है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं । पतञ्जलि के काल-निर्णय में जो सहायक सामग्री महाभाष्य में उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार है—

१. अनुशोणं पाटलिपुत्रम् । २ । १ । १५ ॥
२. जेयो वृषलः । १ । १ । ५० ॥
३. काण्डीभूतं वृषलकुलम् । कुड्यीभूतं वृषलकुलम् ।६।३।६१॥
४. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः । ५ । ३ । ९९ ॥
५. अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् । ३ । २ । १११ ॥
६. पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा । १ । १ । ६८ ॥

---

१. कपितरः स्वस्तितरो दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः ।

७. महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः । एष प्रयोग उपपन्नो भवति । ७ । २ । २३ ॥

८. इह पुष्यमित्रं याजयामः । ३ । २ । १२३ ॥

६. पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति । ३ । १ । २६ ॥

१०. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । ३ । ३ । १४७ ॥

इन उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

१—प्रथम उद्धरण में पाटलिपुत्र का उल्लेख है । महाभाष्य में पाटलिपुत्र का नाम अनेक बार आया है । वायु पुराण ६६।३१८ के अनुसार महाराज उदयी (उदायी) ने गंगा के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर बसाया था ।[1] साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है कि कुसुमपुर पाटलिपुत्र का ही नामान्तर है । अतः उनके मत में महाभाष्यकार महाराज उदयी से अर्वाचीन है ।

२—संख्या २, ३ में वृषल और वृषलकुल का निर्देश है । संख्या २ में वृषल को 'जीतने योग्य' कहा है । संख्या ३ में किसी महान् वृषलकुल के कुडच के सदृश अतिसंकीर्ण होने का संकेत है । यह वृषलकुल मौर्यकुल है । मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' नाम से संबोधित करता है । महाभाष्य के इन दो उद्धरणों की ओर श्री पं० भगवद्दत्त जी ने सबसे प्रथम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है ।[2]

वृषल शब्द का अर्थ—सम्प्रति 'वृषल' शब्द का अर्थ शूद्र समझा जाता है । विश्वप्रकाश-कोश में वृषल का अर्थ शूद्र, चन्द्रगुप्त और अश्व लिखा है ।[3] वस्तुतः वृषल शब्द **देवानांप्रियः**[4] के समान द्व्यर्थक

---

१. उदायी भविता यस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः । स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् । गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥

२. भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ २६३, २७४ द्वितीय संस्करण ।

३. वृषलः कथितः शूद्रे चन्द्रगुप्ते च वाजिनि । पृष्ठ १५६, श्लोक ६० । 'वाजिनि' के स्थान पर 'राजनि' पाठ युक्त प्रतीत होता है ।

४. देवताओं का प्यारा और मूर्ख । इसको न समझकर भट्टोजि दीक्षित ने 'देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्' (महाभाष्य ६ । ३ । २१) वार्तिक में 'मूर्ख' पद का प्रक्षेप कर दिया । सि० कौ० सूत्रसंख्या ६७६ ।

है। उसका एक अर्थ है पापी, और दूसरा धर्मात्मा। निरुक्त ३।१६ में 'वृषल' शब्द का अर्थ लिखा है—

ब्राह्मणवद् वृषलवद्। ब्राह्मणा इव वृषला इव। वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा।

अर्थात्—वृषल का अर्थ वृष=धर्म[1]+शील और वृष=धर्म+अशील है। द्वितीय अर्थ में शकन्धु[2] के समान अकार का पररूप होगा।

इन्हीं दो अर्थों में वृषलशब्द की दो व्युत्पत्तियां भी उपलब्ध होती हैं। एक—**वृषं धर्मं लाति आदत्ते इति वृषलः** है। इसी में '**वृषादिभ्यश्चित्**।[3] इस उणादिसूत्र से वृष धातु से कर्ता में कल प्रत्यय होने पर '**वर्षतीति' वृषलः**' व्युत्पत्ति होती है। दूसरी व्युत्पत्ति मनुस्मृति में लिखी है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥[4]

इन्हीं विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों को दर्शाने के लिये निरुक्तकार ने दो निर्वचन दर्शाये हैं। अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने मौर्य चन्द्रगुप्त के लिये वृषल शब्द का प्रयोग देखकर 'मुरा' नाम्नी शूद्रा स्त्री से चन्द्रगुप्त के उत्पन्न होने की कल्पना की है। यह कल्पना ऐतिह्य-विरुद्ध होने से त्याज्य है। मौर्य क्षत्रिय वंश था।[5] व्याकरण के नियमानुसार मुरा की संतति मौरेय कहायेगी,[6] मौर्य नहीं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य के संख्या २, ३ के उद्धरणों में मौर्य बृहद्रथ समकालिक मौर्यकुल की हीनता का उल्लेख है। संख्या ४ के उद्धरण में स्पष्ट मौर्यशब्द का उल्लेख है।[7] अतः महाभाष्यकार मौर्य राज्य के अनन्तर हुआ होगा।

---

१. वृषो हि भगवान् धर्मः। मनु० ८। १६॥

२. शक+अन्धुः=शकन्धुः। शकन्ध्वादिषु च। वार्तिक ६।१।६४॥

३. पञ्च० उणा० १।१०१॥ दश० उणा० ८।१०६॥ ४. मनु०८।१६॥

५. चन्द्रगुप्ताय मौर्यकुलप्रसूताय। कामन्दक नीतिसार की उपाध्याय-निरपेक्षा टीका। अलवर राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, परिशिष्ट पृ० ११०।

६. अष्टा० ४।१।१२१॥ ७. नागेश इस उद्धरणान्तर्गत मौर्य पद का अर्थ 'विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः' करता है।

३—संख्या ५ में अयोध्या और माध्यमिका[1] नगरी पर किसी यवन के आक्रमण का उल्लेख है। गार्गीसंहिता के अनुसार इस यवन-राज का नाम धर्ममीत था। व्याकरण के नियमानुसार 'अरुणत्' शब्द का प्रयोगकर्त्ता भाष्यकार यवनराज धर्ममीत का समकालिक होना चाहिये।[2]

४—संख्या ६—९ चार उद्धरणों में स्पष्ट पुष्यमित्र का उल्लेख है। कई विद्वानों का मत हैं कि संख्या ८ में महाभाष्यकार के पुष्यमित्रीय अश्वमेध का ऋत्विक् होने का संकेत है। संख्या १० से इसकी पुष्टि होती है। इसमें क्षत्रिय को यज्ञ कराने की निन्दा की है। पतञ्जलि का यजमान पुष्यमित्र ब्राह्मण वंश का था।

५—**महाराज समुद्रगुप्त** के कृष्णचरित का अंश हमने पूर्व उद्धृत किया है। उससे ज्ञात होता है कि महामुनि पतञ्जलि ने कोई **'महानन्दमय'** काव्य बनाया था। यदि महानन्द शब्द श्लेष से महानन्द पद्म का वाचक हो, तो निश्चय ही पतञ्जलि महानन्द पद्म का उत्तरवर्ती होगा।

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्र का समकालीन है।[3] पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय ऐतिहासिक पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १५० वर्ष पूर्व मानते हैं। परन्तु अनेक प्रमाणों से यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता। इसमें संशोधन की पर्याप्त आवश्यकता है। भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व ठहरता है। चीनी विद्वान् महात्मा बुद्ध का निर्वाण विक्रम से ९०० से १५०० वर्ष पूर्व विभिन्नकालों में मानते हैं।[4] इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में महावीर स्वामी के निर्वाण की विभिन्न तिथियां दी हुई हैं।[4] अतः विना विशेष परीक्षा किये पाश्चात्य ऐतिहासिकों द्वारा निर्धारित कालक्रम माननीय नहीं हो सकता।

---

१. यह चित्तौड़गढ़ से ६ मील पूर्वोत्तर दिशा में है। सम्प्रति 'नगरी' नाम से प्रसिद्ध है।　२. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये। महाभाष्य ३।२।१११॥　३. यह लोकप्रसिद्ध मतानुसार लिखा है। अपना मत हम आगे लिखेंगे।

४. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १ पृष्ठ १२१, १२२ (द्वि० सं०)।

अब हम महाभाष्यकार के कालनिर्णय के लिये बाह्य साक्ष्य उपस्थित करते हैं—

चन्द्राचार्य द्वारा महाभाष्य का उद्धार

आचार्य भर्तृहरि और कल्हण के लेख से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने विलुप्तप्राय महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था।[1] अतः महाभाष्यकार के कालनिर्णय में चन्द्राचार्य का कालज्ञान महान् सहायक है। चन्द्राचार्य का काल भी विवादास्पद है, इसलिये हम प्रथम चन्द्राचार्य के काल के विषय में लिखते हैं—

चन्द्राचार्य का काल

कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य कश्मीराधिपति महाराज अभिमन्यु का समकालिक था।[2] उसके मतानुसार अभिमन्यु कनिष्क का उत्तरवर्ती है। कल्हण ने कनिष्क को बुद्धनिर्वाण के १५० वर्ष पश्चात् लिखा है।[3] बुद्धनिर्वाण के विषय में अनेक मत हैं। कल्हण ने बुद्धनिर्वाण की कौनसी तिथि मानकर कनिष्क को १५० वर्ष पश्चात् लिखा है, यह अज्ञात है। चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—'बुद्ध की मृत्यु से ठीक ४०० वर्ष पीछे कनिष्क संपूर्ण जम्बू द्वीप का सम्राट् बना।' चीनी ग्रन्थकार बुद्धनिर्वाण की विक्रम से ६००–१५०० वर्ष पूर्व अनेक विभिन्न तिथियां मानते हैं। कल्हणविरचित राजतरङ्गिणी के अनुसार अभिमन्यु से प्रतापादित्य तक २१ राजा हुए (कई प्रतापादित्य को विक्रमादित्य मानते हैं)। राजतरङ्गिणी के अनुसार इनका राज्यकाल १०१४ वर्ष ६ मास ६ दिन था। कल्हण के लेखानुसार विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को कश्मीर का राजा बनाया था। मातृगुप्त अभिमन्यु से ३१ पीढ़ी पश्चात् हुआ है। उस का काल अभिमन्यु से १३०० वर्ष ११ मास और ६ दिन उत्तरवर्ती है। कल्हण ने प्राचीन ऐतिहासिक आधार पर प्रत्येक राजा का वर्ष, मास और दिनों तक की पूरी-पूरी संख्या दी है। अतः उस के काल

---

१. पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥ वाक्यपदीय २।४८६॥ चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्। राजतरङ्गिणी, तरङ्ग १, श्लोक १७६॥

२. राजतरङ्गिणी १।१७४,१७६॥ ३. राजतरङ्गिणी १।१७२॥

को सहसा अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने अभिमन्यु का काल बहुत अर्वाचीन और भिन्न-भिन्न माना है। बिल्फर्ड ४२३ वर्ष ईसापूर्व, बोथलिंग १०० वर्ष ईसापूर्व, प्रिंसिप् ७३ वर्ष ईसापूर्व, लासेन ४० वर्ष ईसापश्चात्, और स्टाईन ४००-५०० वर्ष ईसा पश्चात् अभिमन्यु को रखते हैं।[1] पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित कालक्रम की अपेक्षा भारतीय पौराणिक और राजतरङ्गिणी की कालगणना अधिक विश्वसनीय है। राजतरङ्गिणी की कालगणना में थोड़ी सी भूल है, यदि उसे दूर कर दिया जाय, तो दोनों गणनाएं लगभग समान हो जाती हैं।

चन्द्राचार्य के कालनिर्णय में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। वह है चान्द्रव्याकरण १। २। ८१ का उदाहरण—**अजयत् जर्त्तो हूणान्** अर्थात् जर्त ने हूणों को जीता। जर्त एक सीमान्त की पुरानी जाति है। महाभारत सभापूर्व ४७। २६ में जर्त्तों के लिए **लोमशाः शृङ्गिणो नराः'** प्रयोग मिलता है। दुर्गसिंह ने उणादि २। ६८ की वृत्ति में **'जर्तः दीर्घरोमा'**[2] लिखा है। वर्धमान गणरत्न-महोदधि कारिका २०१ में 'शक' और 'खस' के साथ 'जर्त' शब्द पढ़ता है। हेमचन्द्र उणादिवृत्ति (सूत्र २००) में जर्त का अर्थ राजा करता है। सम्भव है, हेमचन्द्र का संकेत उसी जर्त राजा की ओर हो, जिसकी हूणों की विजय का उल्लेख चान्द्रव्याकरण की वृत्ति में मिलता है। रमेशचन्द्र मजुमदार ने चान्द्रव्याकरण के **'अजयत् जर्त्तो हूणान्'** पाठ को बदल कर **'अजयद् गुप्तो हूणान्'** बना दिया है।[3] यह भयङ्कर भूल है।[4] अनेक विद्वानों ने मजुमदार महोदय का अनुकरण

---

१. निरुक्तालोचन पृष्ठ ६५ द्रष्टव्य। २. 'जर्त' शब्द का निर्देश पञ्च० उ० ५। ४६ तथा दश० उ० ६।२५ में मिलता है।

३. ए न्यू हि० ग्राफ दि इ० पी० भाग ६, पृष्ठ १६७। यही भूल डा० वेल्वाल्कर ने सिस्टम ग्राफ संस्कृत ग्रामर' पृष्ठ ५८ पर, विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने 'भारत के प्राचीन राजवंश' पृष्ठ २८८ पर की है। 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक पृष्ठ ८० पर भी यही भूल है। आश्चर्य की बात तो यह है कि चान्द्रवृति में स्पष्ट जर्त पाठ है। उस मूल पाठ को किसी ने भी देखने का यत्न नहीं किया। इसी का नाम है अन्धपरम्परा अथवा 'गतानुगतिको लोकः'। ४. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३२५।

करके चन्द्रगोमी के आश्रयदाता अभिमन्यु का काल गुप्तकाल के अन्त में विक्रम की पांचवी शताब्दी में माना है।[1] और उसी के आधार पर वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को भी बहुत अर्वाचीन बना दिया है। पाश्चात्यमतानुयायी अपने काल-विषयक आग्रह को सिद्ध करने के लिये प्राचीन ग्रन्थों के पाठों को किस प्रकार बदलते हैं, यह इस बात का एक उदाहरण है। पाठ बदलते समय मूल पाठ का निर्देश भी न करना, उनकी दुरभिसन्धि को सूचित करना है।

इस प्रकार महाभाष्यकार को महाराज पुष्यमित्र का समकालिक मानने पर भी वह भारतीय गणनानुसार विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्ववर्ती अवश्य है।

महाभाष्यकार को पुष्यमित्र का समकालिक मानने में एक कठिनाई भी है। उसका यहां निर्देश करना आवश्यक है। इससे भावी इतिहासशोधकों को विचार करने में सुगमता होगी।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वायुपुराण ९९। ३१९ के अनुसार महाराज उदयी ने गङ्गा के **दक्षिणकूल** पर कुसुमपुर नगर बसाया था, वही कालान्तर में पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात हुआ, ऐसा साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है। गङ्गा के दक्षिणकूल पर स्थिति होने पर ही अनुशोण स्थिति उपपन्न हो सकती है। मुद्राराक्षस नाटक में मौर्य चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र की स्थिति **अनुगङ्ग** कही है, यह अनुगङ्ग स्थिति **उत्तरकूल** पर थी, और इस समय भी अनुगङ्ग स्थिति उतरकूल पर है। परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखता है। यदि महाभाष्यकार को शुङ्ग-काल में माना जाये, तो उसका पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखना उपपन्न नहीं हो सकता।

अनेक पाटलिपुत्र

नागेश महाभाष्य २। १। १ के '**कुतो भवान् पाटलिपुत्रात्**' वचन की व्याख्या में लिखता है—**कस्मात् पाटलिपुत्राद् भवानागत इत्यर्थः, अनेकत्वात् पाटलिपुत्रस्य, तदवयवानां वा प्रश्नः**। इससे सन्देह होता है कि पाटलिपुत्र नाम कदाचित् अनेक नगरों का रहा हो।

---

१. देखो—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृष्ठ १५६।

पाटलिपुत्र का अनेक बार बसना

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने महावंश नामक बौद्धग्रन्थ के आधार पर लिखा है—'शाक्यमुनि के जीवनकाल में अजातशत्रु ने सोन के किनारे पाटली ग्राम में दुर्गनिर्माण किया, उसे देखकर भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की—'यह भविष्य में प्रधान नगर होगा'।[1] महाराज अजातशत्रु उदयी का पूर्वज है। इससे स्पष्ट है कि उदयी के कुसुमपुर बसाने से पूर्व कोई पाटली ग्राम विद्यमान था।

हमारा विचार है कि पाटलिपुत्र अत्यन्त प्राचीन नगर है, और वह इन्द्रप्रस्थ के समान अनेक बार उजड़ा और बसा है।

पाणिनि से पूर्व पाटलिपुत्र का उजड़ना

पाटलिपुत्र पाणिनि से बहुत प्राचीन नगर है। वह पाणिनि से पूर्व एक बार उजड़ चुका था। गणरत्नमहोदधि में वर्धमान लिखता है—

पुरगा नाम काचिद् राक्षसी तया भक्षितं पाटलिपुत्रम्, तस्या निवासः।[2]

अर्थात् किसी पुरगा नाम की राक्षसी ने पाटलिपुत्र को उजाड़ दिया था।

यह इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इसको सुरक्षित रखने का श्रेय वर्धमान सूरि को है। पाटलिपुत्र के उजड़ने की यह घटना पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनि ने ८।४।४ में साक्षात् **पुरगावण** का उल्लेख किया है।[3] सम्भव है, इसलिये महाभारत आदि में पाटलिपुत्र का वर्णन नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र को उदयी ने ही नहीं बसाया था। वह प्राचीन नगर है, और कई बार उजड़ा और कई बार बसा। भगवान् तथागत के समय पाटली ग्राम की विद्यमानता भी इसी को पुष्ट करती है। अतः महाभाष्य में पाटलिपुत्र का उल्लेख होने मात्र से वह उदयी के अनन्तर नहीं हो सकता।

पूर्व उद्धरणों पर भिन्नरूप से विचार

१—महाभाष्य में कहीं पर भी पुष्यमित्र का शुङ्ग वा राजा

---

१. निरुक्तालोचन पृष्ठ ७१। २. पृष्ठ १७६।

३. वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः।

विशेषण उपलब्ध नहीं हो सकता, और न कहीं पुष्यमित्र के अश्वमेध करने का ही संकेत है। अतः यह नाम भी देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र आदि के तुल्य सामान्य पद नहीं है, इसमें कोई हेतु नहीं।

२—यदि '**इह पुष्यमित्रं याजयामः**' वाक्य में '**इह**' पद को पाटलिपुत्र का निर्देशक माना जाये, तो उससे उत्तरवर्ती '**इह अधीमहे**' वाक्य से मानना होगा कि पतञ्जलि पुष्यमित्र के अश्वमेध के समय पाटलिपुत्र में अध्ययन कर रहा था। यह अर्थ मानने पर अश्वमेध कराना, और गुरुमुख से अध्ययन करना, दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। अतः इन वाक्यों का किसी अर्थविशेष में संकेत मानना अनुपपन्न होगा।

३—'**चन्द्रगुप्तसभा** उदाहरण अनेक हस्तलेखों में उपलब्ध नहीं होता, और जिनमें मिलता है, उनमें भी '**पुष्यमित्रसभा**' के अनन्तर उपलब्ध होता है। यह पाठक्रम ऐतिहासिक दृष्टि से अयुक्त है।

४—महाभाष्य के पूर्व उद्धृत उद्धरण में '**वृषल**' शब्द का बहुप्रसिद्ध अधर्मात्मा अर्थ भी हो सकता है। वृषल का अर्थ केवल चन्द्रगुप्त ही नहीं है।

५—मौर्यवंश प्राचीन है, उसका आरम्भ चन्द्रगुप्त से ही नहीं हुआ। अतः केवल मौर्यपद का उल्लेख होने से विशेष परिणाम नहीं निकाला जा सकता। महाभाष्य के टीकाकारों के मत में मौर्य शब्द शिल्पिवाचक है।[1]

६—'**अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्**' में किसी यवन राजविशेष का साक्षात् उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, कालयवन नामक अति प्राचीन यवन सम्राट् ने भारत के एक बड़े भाग पर आक्रमण किया था, और इस देश पर भारी अत्याचार किये थे। इसे श्रीकृष्ण ने मारा[2] था। भारतीय आर्य बहुत प्राचीन काल से यवनों से परिचित थे। रामायण-महाभारत आदि में यवनों का बहुधा उल्लेख उपलब्ध होता है। अतः केवल इतने निर्देश से कालविशेष की सिद्धि नहीं पो सकती।

७—भर्तृहरि और कल्हण के प्रमाण से हम पूर्व लिख चुके हैं

१. मौर्याः—विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः। नागेश, भाष्यप्रदीपोद्योत। ५।३।९९॥ २. द्र०—पूर्व पृ० १९४, टि० ५।

कि चन्द्राचार्य ने नष्ट हुये महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था। महान् प्रयत्न करने पर उसे दक्षिण से एकमात्र प्रति उपलब्ध हुई थी। बहुत सम्भव है चन्द्राचार्य ने नष्ट हुये महाभाष्य का उसी प्रकार परिष्कार किया हो, जैसे नष्ट हुई अग्निवेश संहिता का चरक और दृढबल ने, तथा काश्यप संहिता का जीवक ने परिष्कार किया।

समुद्रगुप्तकृत कृष्णचरित का संकेत

समुद्रगुप्त-विरचित 'कृष्णचरित' का जो अंश उपलब्ध हुआ है, उसमें मुनिकवियों और राजकवियों का जो भी वर्णन किया गया है, वह कालक्रमानुसार है। यह बात दोनों प्रकार के कविवर्णनों से स्पष्ट है। समुद्रगुप्त ने पतञ्जलि का वणन देवल के पश्चात् और भास से पूर्व किया है।

यद्यपि भास का काल भी विवादास्पद ही है, तथापि भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक के एक श्लोक का निर्देश कौटल्य अर्थ-शास्त्र में होने[1] से इतना स्पष्ट है कि भास आचार्य चाणक्य से अर्थात् चद्रगुप्त मौर्य से पूर्वभावी है। अधिक सम्भावना यही है कि वह महाराज उदयन का समकालिक हो। अतः भारतीय इतिहास के अनुसार भास का काल विक्रम से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।

यतः समुद्रगुप्त ने पतञ्जलि का वर्णन भास से पूर्व किया है, इसलिये उसका काल १५०० वि० पूर्व से अवश्य ही पूर्व होना चाहिये।

उक्त मत का साधक प्रमाणान्तर

आयुर्वेदीय चरक संहिता में लिखा है कि इस काल में अर्थात् कलि के आरम्भ में मनुष्यों की औसत आयु १०० वर्ष है।[2] प्रत्येक १०० वर्ष के पश्चात् मनुष्य की औसत आयु में एक वर्ष का ह्रास होता है।[3]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रथमाह्निक में लिखा है—

---

१. नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं—……। प्र० यौ० ४।२। अर्थशास्त्र १०।३।। २. वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। शारीर ६।२६॥

३. संवत्सरे शते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्। देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते। विमान ३।३१॥

किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति ।

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय मनुष्य की प्रायिक आयु १०० वर्ष नहीं थी ।

चरक-वचन का उपोद्वलक बाह्य साक्ष्य—चरक-संहिता में मनुष्य की आयु का जो निर्देश किया है, और उत्तरोत्तर **आयु-ह्रास के जिस वैज्ञानिक तत्त्व** का संकेत किया है, उसका साक्ष्य अभारतीय ग्रन्थों में भी मिलता है । बाइबल में लिखा है—

हमारी आयु के बरस सत्तर तो होते हैं, और चाहे बल के कारण अस्सी बरस भी हों, तो भी उन पर का घमण्ड कष्ट और व्यर्थ बात ठहरता है ।[1]

इससे स्पष्ट है कि ईसामसीह के समय मनुष्य की प्रायिक आयु ७० वर्ष की मानी जाती थी । भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार ईसामसीह का काल कलि संवत् ३१०० में है । इस प्रकार कलि-आरम्भ से लेकर ईसामसीह तक ३००० वर्ष में चरक के प्रति सौ वर्ष में १ वर्ष के ह्रास के नियमानुसार ३० वर्ष का ह्रास होना स्वाभाविक है । इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि चरक संहिता ईसामसीह से ३००० वर्ष प्राचीन तो अवश्य है । अर्थात् भारतीय कालगणना ठीक है । और पाश्चात्य विद्वानों ने ईसा से १४०० वर्ष पूर्व जो भारत युद्ध की स्थापना की है, वह नितान्त अशुद्ध है ।

उक्त नियमानुसार भाष्यकार का काल—पतञ्जलि ने '**यः सर्वथा चिरं जीवति**' शब्दों से जिस भाव को व्यक्त किया है, उसी भाव को बाइबल में **चाहे बल के कारण** शब्दों से प्रकट किया गया है । इसलिये इन दोनों वर्णनों की तुलना से स्पष्ट है कि सामान्य आयु को प्रयत्नपूर्वक १० वर्ष और बढ़ाया जा सकता है । इसी नियम के अनुसार भाष्यकार के शब्दों से यही अभिप्राय निकलता है कि भाष्यकार के समय **सामान्य आयु ९० वर्ष** की थी, और चिरजीवी १०० वर्ष तक भी जीते थे । इस प्रकार चरक के आयुर्विज्ञान के

---

१. पुराना नियम, भजनसंहिता अ० ९०, पृष्ठ ५९७, मिशन प्रेस इलाहाबाद, सन् १९१९ ।

नियमानुसार पतञ्चलि का काल २००० विक्रम पूर्व होना चाहिये उससे उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता।

२००० वि० पू० मानने में आपत्ति—महाभाष्यकार को २००० वि० पूर्व मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यही आती है कि महाभाष्य में **पाटलिपुत्र वृषलकुल (=चन्द्रगुप्त मौर्यकुल), साकेत और माध्यमिका पर यवन आक्रमण, पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त** आदि का वर्णन मिलता है।[1] इनके कारण महाभाष्यकार को शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र से पूर्व का नहीं माना जा सकता।

समाधान—इन आपत्तियों का सामान्य समाधान हमने पूर्व पृष्ठ ३४३-३४६ तक किया है। विशेष यहां लिखते हैं—

महाभाष्य का परिष्कार—महाभाष्य का जो पाठ इस समय मिलता है, वह अक्षरशः पतञ्जलिविरचित ही है, ऐसा कहना भारतीय ऐतिहासिक परम्परा से मुंह मोड़ना है। भारतीय परम्परा में पचासों ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका उत्तरोत्तर आचार्यों द्वारा परिष्कार होने पर भी वे ग्रन्थ मूल ग्रन्थकार अथवा आद्य परिष्कारक के नाम से ही विख्यात हैं।

मानवधर्मशास्त्र का न्यूनातिन्यून तीन वार परिष्कार हुआ, पुनरपि वह मूलतः मनुस्मृति के नाम से ही प्रसिद्ध है। महाभारत का वर्तमान स्वरूप भी व्यासप्रणीत भारत के तीन परिष्कारों के अनन्तर सम्पन्न हुआ है, परन्तु इसे व्यास-विरचित ही कहा जाता है। वाल्मीकि-रामायण के तीन पाठ सम्प्रति प्रत्यक्ष हैं, ये परिष्कार भेद से सम्पन्न हुए हैं, परन्तु तीनों वाल्मीकि-विरचित कहे जाते हैं। चरक-संहिता के भी ३-४ वार परिष्कार हुये। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों को भी व्यवस्था समझनी चाहिये।

महाभाय के वर्तमान पाठ का परिष्कारक—महाभाष्य का वर्तमान में जो पाठ मिलता है, उसका प्रधान परिष्कारक है आचार्य चन्द्रगोमी। भर्तृहरि और कल्हण के प्रमाण हम पूर्व पृष्ठ ३४१, टि० १) उद्धृत कर चुके हैं, और अनुपद पुनः उद्धृत करेंगे। उनसे स्पष्ट है कि कश्मीराधिपति महाराज अभिमन्यु के पूर्व महाभाष्य का न केवल पठन-पाठन ही लुप्त हो गया था, अपितु उसके हस्तलेख भी

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३३७-३३८।

नष्टप्राय हो चुके थे। चन्द्राचार्य ने महान् प्रयत्न करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश उसका एकमात्र हस्तलेख प्राप्त किया।

ग्रन्थ के पठन-पाठन के लुप्त हो जाने से, तथा हस्तलेखों के दुर्लभ हो जाने पर ग्रन्थों की क्या दुर्दशा होती है,[1] यह किसी भी विज्ञ विद्वान् से छिपी नहीं है। इस प्रकार ग्रन्थ के अव्यवस्थित हो जाने पर उसका पुनः परिष्कार अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। उस परिष्कार में परिष्कर्त्ता द्वारा नवीन अंशों का समावेश साधारण बात है। इसलिये हमारा दृढ़ मत है कि महाभाष्य में जो पूर्व-निर्दिष्ट प्रसंग आये हैं, वे परिष्कर्त्ता चन्द्राचार्य द्वारा सन्निविष्ट हुये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र से बहुत प्राचीन है, अन्यथा भारतीय ऐतिह्य-परम्परा का महान् ज्ञाता महाराज समुद्रगुप्त अपने कृष्णचरित में पतञ्जलि का वर्णन महाकवि भास से पूर्व कदापि न करता।

इस विवेचना का सार यही है कि महाभाष्य के चन्द्रगोमी द्वारा परिष्कृत वर्तमान पाठ के आधार पर भाष्यकार पतञ्जलि के काल का निर्धारण करना अन्याय्य है। यदि हमारे द्वारा प्रदर्शित २००० वि० पूर्व काल न भी माना जाय, और उसे शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र का समकालिक ही माना जाय, तब भी वह विक्रम पूर्व १२०० वर्ष से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वानों का पुष्यमित्र को १५० वर्ष ईसा पूर्व में रखना सर्वथा भारतीय सत्य ऐतिहासिक काल-गणना के विपरीत है। निश्चय ही पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित भारत के प्राचीन इतिहास को रूपरेखा ईसाईयत के पक्षपात और राजनैतिक दुरभिसन्धि के कारण बड़े प्रयत्न से निर्मित है। अतः वह आंख मूंद कर किसी भी विज्ञ भारतीय द्वारा स्वीकृत नहीं की

---

१. दृढ़बल ने जब चरक का परिष्कार किया, उस समय चरक के चिकित्सास्थान के १३वें अध्याय से आगे के ४० अध्याय नष्ट हो चुके थे। उन्हें दृढ़बल ने अनेक तन्त्रों के साहाय्य से पूरा किया। परन्तु शैली वही रक्खी, जो ग्रन्थ में आरम्भ से विद्यमान थी। दृढ़बल स्वयं लिखता है—

अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना॥ संस्कृतं तत्त्वसंपूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते। तच्छंकरं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत्॥ अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे॥ सिद्धि० १२। ६६–६८॥

जा सकती। उसे अपरीक्षित-कारक के समान स्वीकार करना भारतीय ज्ञान विज्ञान और स्वीय सामर्थ्य का अपमान करना है।

महाभाष्य की रचनाशैली

यद्यपि महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ हैं, तथापि अन्य व्याकरणग्रन्थों के सदृश वह शुष्क और एकाङ्गी नहीं है। इस में व्याकरण जैसे क्लिष्ट और शुष्क विषय को अत्यन्त सरल और सरस ढंग से हृदयंगम कराया है। इसकी भाषा लम्बे-लम्बे समासों से रहित, छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल परन्तु बहुत प्राञ्जल और सरस है। कोई भी असंस्कृतज्ञ व्यक्ति दो तीन मास के परिश्रम से इसे समझने योग्य संस्कृत सीख सकता है। लेखनशैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ संस्कृत-वाङ्मय में सब से अद्भुत है। कोई भी ग्रन्थ इस की रचना-शैली की समता नहीं कर सकता। शबर स्वामी ने महाभाष्य के आदर्श पर अपना मीमांसा-भाष्य लिखने का प्रयास किया। परन्तु उसकी भाषा इतनी प्राञ्जल नहीं है, वाक्यरचना लड़खड़ाती है, और अनेक स्थानों में उसकी भाषा अपने भाव को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। स्वामी शंकराचार्यकृत वेदान्तभाष्य की भाषा यद्यपि प्राञ्जल और भाव व्यक्त करने में समर्थ है, तथापि महाभाष्य जैसी सरल और स्वाभाविक नहीं है। चरक-संहिता के गद्यभाग की भाषा यद्यपि महाभाष्य जैसी सरल प्राञ्जल और स्वभाविक है, तथापि उसकी विषय-प्रतिपादन शैली महाभाष्य जैसी उत्कृष्ट नहीं है। अतः भाषा की सरलता, प्राञ्जलता, स्वाभाविकता, और विषय-प्रतिपादन-शैली की उत्कृष्टता आदि की दृष्टि से यह ग्रन्थ समस्त संस्कृत-वाङ्मय में आदर्शभूत है।

महाभाष्य की महत्ता

महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। क्या प्राचीन क्या नवीन, समस्त पाणिनीय वैयाकरण महाभाष्य के सन्मुख नतमस्तक हैं। महामुनि पतञ्जलि के काल में पाणिनीय और अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की महती ग्रन्थराशि विद्यमान थी। पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यानमिष से महाभाष्य में उन समस्त ग्रन्थों का सारसंग्रह कर दिया। महाभाष्य में उल्लिखित प्राचीन आचार्यों का निर्देश हम वार्तिककार के प्रकरण में कर चुके हैं। इसी

प्रकार महाभाष्य में अन्य प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों से उद्धृत कतिपय वचनों का उल्लेख भी पूर्व हो चुका है। महाभाष्य का सूक्ष्म पर्यालोचन करने से विदित होता है कि यह ग्रन्थ केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु समस्त विद्याओं का आकर-ग्रन्थ है। अत एव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (२।४८६) में लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

महाभाष्य का अनेक वार लुप्त होना

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि पातञ्जल महाभाष्य बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। इतने सुदीर्घ काल में महाभाष्य के पठनपाठन का अनेक वार उच्छेद हुआ। इतिहास से विदित होता है कि महाभाष्य का लोप न्यूनातिन्यून तीन वार अवश्य हुआ। यथा—

प्रथम वार—भर्तृहरि के लेख से विदित होता है कि बैजि सौभव और हर्यक्ष आदि शुष्क तार्किकों ने महाभाष्य का प्रचार नष्ट कर दिया था। चन्द्राचार्य ने महान् परिश्रम करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश से एक हस्तलेख प्राप्त कर उसका पुनः प्रचार किया। भर्तृहरि का लेख इस प्रकार है—

बैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके ॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥[1]

कल्हण ने लिखा है कि चन्द्राचार्य ने महाराज अभिमन्यु के आदेश से महाभाष्य का उद्धार किया था।[2]

द्वितीय वार—कल्हण की राजतरङ्गिणी से ज्ञात होता है कि विक्रम की ८ वीं शताब्दी में महाभाष्य का प्रचार पुनः नष्ट हो गया

---

१. वाक्यपदीय २।४८७, ४८८, ४८९ ॥ २. चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥ राजतरङ्गिणी १। १७६॥

था। कश्मीर के महाराज जयापीड ने देशान्तर से 'क्षीर' संज्ञक शब्द-विद्योपाध्याय को बुलाकर विच्छिन्न महाभाष्य का प्रचार पुनः कराया। कल्हण का लेख इस प्रकार है—

देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले॥
क्षीराभिधानाच्छब्दविद्योपाध्यायात् संभृतश्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः॥[1]

महाराज जयापीड का शासन काल विक्रम सं० ८०८-८३९ तक है। एक वैयाकरण क्षीरस्वामी क्षीरतङ्गिणी, अमरकोशटीका आदि अनेक ग्रन्थों का रचयिता है। कल्हण द्वारा स्मृत 'क्षीर' इस क्षीरस्वामी से भिन्न व्यक्ति है। क्षीरस्वामी अपने ग्रन्थों में महाराज भोज और उसके सरस्वतीकण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत करता है। अतः इस क्षीरस्वामी का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।[2]

तृतीय बार—विक्रम की १८वीं और १९वीं शताब्दी में सिद्धान्तकौमुदी और लघुशब्देन्दुशेखर आदि अर्वाचीन ग्रन्थों के अत्यधिक प्रचार के कारण महाभाष्य का पठन-पाठन प्रायः लुप्त हो गया था। काशी के अनेक वैयाकरणों की अभी तक धारणा है—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥[3]

पहिले दो बार आचार्य चन्द्र और क्षीर ने महाभाष्य का उद्धार तात्कालिक सम्राटों की सहायता से किया, परन्तु इस बार महाभाष्य का उद्धार कौपीनमात्रधारी परमहंस दण्डी स्वामी विरजानन्द और उनने शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। श्री स्वामी विरजा-

---

१. राजतरङ्गिणी १। ४८८, ४८९॥

२. क्षीरतरङ्गिणी की रचना जयसिंह के राज्यकाल (वि. सं. ११८५-११९५) में हुई। द्र०—इसी ग्रन्थ का अ० २१।

३. इसका एक पाठान्तर इस प्रकार है—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

भाव दोनों का एक ही है।

नन्द ने तात्कालिक पण्डितों को पूर्वोक्त धारणा के विपरीत घोषणा की थी—

> अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
> ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम् ॥

आज भारतवर्ष में यत्र-तत्र जो कुछ थोड़ा-बहुत महाभाष्य का पठन-पाठन उपलब्ध होता है, उसका श्रेय इन्हीं दोनों गुरु-शिष्यों को है।

महाभाष्य के पाठ की अव्यवस्था

हमारे पूर्व लेख से स्पष्ट है कि महाभाष्य के पठन-पाठन का अनेक वार उच्छेद हुआ है। इस उच्छेद के कारण महाभाष्य के पाठों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। भर्तृहरि कैयट और नागेश आदि टीकाकार अनेक स्थानों पर पाठान्तरों को उद्धृत करते हैं। नागेश कई स्थानों में महाभाष्य के अपपाठों का निदर्शन कराता है। अनेक स्थानों में महाभाष्य का पाठ पूर्वापर व्यस्त हो गया है। टीकाकारों ने कहीं-कहीं उसका निर्देश किया है, कई स्थान विना निर्देश किये छोड़ दिये हैं। सम्भव है टीकाकारों के समय वे पाठ ठीक रहे हों, और पीछे से मूल तथा टीका का पाठ व्यस्त हो गया हो। इसी प्रकार अनेक स्थानों में महाभाष्य के पाठ नष्ट हो गये हैं। हम उनमें से कुछ स्थलों का निर्देश करते हैं—

१—अष्टाध्यायी के '**अव्ययीभावश्च**'[1] सूत्र के भाष्य में लिखा है—

अस्य च्वौ—अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते, दोषाभूतमहर्दिवाभूता रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति-उपकुम्भीभूतम, उपमणिकीभूतम्।

महाभाष्यकार ने '**अस्य च्वौ**' सूत्र के विषय में '**अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते**' लिखा है। सम्प्रति महाभाष्य में '**अस्य च्वौ**' सूत्र का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। सम्पूर्ण महाभाष्य में कहीं अन्यत्र भी '**अस्य च्वौ**' के विषय में '**अव्ययप्रतिषेध**': का विधान नहीं। अतः स्पष्ट है कि महाभाष्य में '**अस्य च्वौ**' सूत्र-सम्बन्धी भाष्य नष्ट हो गया है।

---

१. अष्टा० १।१।४१॥

२—महाभाष्य ४ । २ । ६० के अन्त में निम्न कारिका उद्-धृत है—

अनुसूलक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः ।
इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः ॥

महाभाष्य में इस कारिका के केवल द्वितीय चरण की व्याख्या उपलब्ध होती है। इससे प्रतीत होता है कि कभी महाभाष्य में शेष तीन चरणों की व्याख्या भी अवश्य रही होगी, जो इस समय अनुपब्ध है ।

३—पतञ्जलि ने 'कृन्मेजन्तः'[1] सूत्र के भाष्य में '**सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य**' परिभाषा के कुछ दोष गिनाये हैं। कैयट इस सूत्र के प्रदीप के अन्त में उन दोषों का समाधान दर्शाता हुआ सब से प्रथम '**कष्टाय**' पद में दीर्घत्व की अप्राप्ति का समाधान करता है। महाभाष्य में पूर्वोक्त परिभाषा के दोष-परिगणन प्रसंग में 'कष्टाय पदसम्बन्धो दीर्घत्व की अप्राप्ति' दोष का निर्देश उपलब्ध नहीं होता । अतः नागेश लिखता है—

कष्टायेति यादेशो दीर्घत्वस्येति ग्रन्थो भाष्यपुस्तकेषु भ्रष्टोऽतो न दोषः ।

अर्थात्—दोष-निदर्शन प्रसंग में '**कष्टायेति यादेशो दीर्घत्वस्य**' इत्यादि पाठ भाष्य में खण्डित हो गया है । अतः कैयट का दोष-परिहार करना अयुक्त नहीं है ।

४—कैयट ८ । ४ । ४७ के महाभाष्य-प्रदीप में लिखता है—

'नायं प्रसज्यप्रतिषेधः' इति पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्टः ।

अर्थात्—महाभाष्य में '**नायं प्रसज्यप्रतिषेधः**' पाठ लेखक-प्रमाद से नष्ट हो गया, अर्थात् अपभ्रष्ट हो गया ।

५—वाक्यपदीय २ । ४२ की स्वोपज्ञ व्याख्या में भर्तृहरि महाभाष्य के नाम से एक लम्बा पाठ उद्धृत करता है। यह पाठ महाभाष्य में सम्प्रति उपलब्ध नहीं होता ।[2]

इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभाष्य का जो पाठ

---

१. अष्टा० १ । १ । ३९

२. स चायं वाक्यपदयोराधिक्ययोर्भेदो भाष्य एवोपव्याख्यातः । अतश्च तत्र भवान् आह—यथैकपदगतप्रातिपदिके ...... हेतुराख्यायते ।

सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह कई स्थानों पर खण्डित है।

महाभाष्य का प्रकाशन यद्यपि कई स्थानों से हुआ है, तथापि इसका अभी तक जैसा उत्कृष्ट परिशुद्ध सस्करण होना चाहिये, वैसा प्रकाशित नहीं हुआ। डा० कीलहार्न का संस्करण ही इस समय सर्वोत्कृष्ट है। परन्तु उसमें अभी संशोधन की पर्याप्त अपेक्षा है। डा० कीलहार्न के अनन्तर महाभाष्य के अनेक प्राचीन हस्तलेख और टीकायें उपलब्ध हो गई हैं, उनका भी पूरा-पूरा उपयोग नये संस्करण में होना चाहिये।

अन्य ग्रन्थ

हम आरम्भ में लिख चुके हैं कि पतञ्जलि के नाम से सम्प्रति तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—निदानसूत्र, योगदर्शन और महाभाष्य। इनमें से निदानसूत्र और योगदर्शन दोनों किसी प्राचीन पतञ्जलि की रचनायें हैं।

१—**महानन्द काव्य**—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के तीन पद्य हमने पूर्व पृष्ठ ३३७ में उद्धृत किये हैं। उनसे विदित होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने '**महानन्द**' वा '**महानन्दमय**' नामक महाकाव्य रचा था। इस काव्य में पतञ्जलि ने काव्य के मिष से योग की व्याख्या की थी। इस 'महानन्द' काव्य का मगध-सम्राट् महानन्द से कोई सम्बन्ध नहीं था।

२—**चरक का परिष्कार**—हम पूर्व लिख चुके हैं कि चक्रपाणि, पुण्यराज और भोजदेव आदि अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को चरक-संहिता का प्रतिसंस्कारक मानते हैं। समुद्रगुप्तविरचित कृष्णचरित के पूर्व पृष्ठ ३३७ में उद्धृत श्लोकों से भी प्रतीत होता है कि महा-भाष्यकार पतञ्जलि ने चरक-संहिता में कुछ धर्मविरुद्ध योगों का सन्निवेश किया था। चरक संहिता के प्रत्येक स्थान के अन्त में लिखा है—'**अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते**।' क्या चरक पतञ्जलि का ही नामान्तर है?

हमने महाभाष्य में उद्धृत कुछ वैदिक पाठों की सम्प्रति उप-लभ्यमान शाखाओं के पाठों से तुलना की है। उससे हम इस परि-णाम पर पहुंचे हैं कि पतञ्जलि अधिकतर काठक-संहिता के पाठों

को उद्धृत करता है। काठक-संहिता 'चरक' चरणान्तर्गत है। हम महाभाष्य में निर्दिष्ट दो पाठ उद्धृत करते हैं—

(क)—महाभाष्य २।१।४—**पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुर्नानिष्कृतो रथः।** तुलना करो—

काठक सं०—**पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनरुत्सृष्टोऽनड्वान्, पुर्नानिष्कृतो रथः।** ८।१५।।

मैत्रायणी सं०—**पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनर्णवो रथः, पुनरुत्सृष्टोऽनड्वान्।** १।७।२।।

तैत्तिरीय सं०—**पुर्नानिष्कृतो रथो दक्षिणा, पुनरुत्स्यूतं वासः।** १।५।२।।

कैयट भी महाभाष्य में उद्धृत उद्धरण को काठक-संहिता का वचन मानता है। वह लिखता है—**'काठकेऽन्तोदात्तः पठ्यते, तदभिप्रायेण पुनःशब्दस्य गतित्वाभावादिदमुदाहरणम्'।**

(ख)—महाभाष्य ८।२।२५—**'आम्बानां चरुः, नाम्बानां चरुरिति प्राप्ते'।** तुलना करो—

काठक सं०—**आम्बानां चरुः।** १५।५।।
तैत्तिरीय सं०—**आम्बानां चरुम्।** १।८।१०।।
मैत्रायणी सं०—**नाम्बानां चरुम्।** २।६।६।।

यदि हमारा उपर्युक्त विचार ठीक हो, तो पतञ्जलि चरक-शाखाध्यायी होगा। अतः उसका 'चरक' चरण होने से उसे 'चरक' कह सकते हैं।[1] इस विचार को पुष्टि के लिये महाभाष्य में उद्धृत समस्त याजुष पाठों की तुलना करना आवश्यक है।

श्री पं० गुरुपद हालदार ने **'वृद्धत्रयी'** में लिखा है कि—पतञ्जलि ने आयुर्वेदीय चरक-संहिता पर कोई **वार्तिक** ग्रन्थ लिखा था।[2] इस वार्तिक का कर्ता महाभाष्यकार पतञ्जलि है। पण्डित गुरुपद हालदार ने **रस-रसायन-धातु-व्यापार-विषयक** पतञ्जलि के कई वचन भी उद्धृत किये हैं।[3]

---

१. द्र०—कठचरकाल्लुक् (अष्टा ४।३।१०७) चरकप्रोक्तां संहिताम् अधीयते विदन्ति वा ते चरकाः।

२. वृद्धत्रयी, पृष्ठ २९-३१।।

३. वृद्धत्रयी, पृ० २९, ३०।

३ – **सिद्धान्त-सारावली** — वातस्कन्धपैत्तस्कन्धोपेत-सिद्धान्त-सारावली नामक वैद्यक ग्रन्थ पतञ्जलि-विरचित है, ऐसा पं० गुरुपद हालदार ने भी लिखा है।[1]

४—**कोष**—कोष-ग्रन्थों की अनेक टीकाओं में **वासुकि, शेष, भोगीन्द्र, फणिपति** आदि नामों से किसी कोष-ग्रन्थ के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। हेमचन्द्र अपने 'अभिधानचिन्तामणि कोष की टीका' के प्रारम्भ में अन्य कोषकारों के साथ **वासुकि** का निर्देश करता है। परन्तु ग्रन्थ में उस के अनेक पाठ **शेष** के नाम से उद्धृत करता है। अतः शेष और वासुकि दोनों एक हैं। 'विश्वप्रकाश कोष' के आरम्भ (१।१६,१९) में **भोगीन्द्र** और **फणिपति** दोनों नाम मिलते हैं। राघव 'नानार्थमञ्जरी' के प्रारम्भ में **शेषकार** का नाम उद्धृत करता है। कैयट 'महाभाष्य' ४।२।९३ के प्रदीप में पतञ्जलि को **नागनाथ** के नाम से स्मरण करता है।[2] चक्रपाणि 'चरकटीका' के आदि में पतञ्जलि का **अहिपति** नाम से निर्देश करता है।[3] अतः शेष वासुकि भोगीन्द्र फणिपति अहिपति और नागनाथ आदि सब नाम पर्याय हैं। अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को पदकार के नाम से स्मरण करते हैं।[4] इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने कोई कोष-ग्रन्थ भी रचा था। हेमचन्द्र द्वारा 'अभिधानचिन्तामणि की टीका' (पृष्ठ १०१) में शेष के नाम से उद्धृत पाठ में बुद्ध के पर्यायों का निर्देश उपलब्ध होता है।[5] सम्भव है यह कोष आधुनिक हो।

५—**सांख्य-शास्त्र**—शेष ने सेश्वर सांख्य का एक कारिका-ग्रन्थ रचा था। उसका नाम था '**आर्यापञ्चाशीति**'। अभिनवगुप्त ने इसी में कुछ परिवर्तन करके इसका नाम '**परमार्थसार**' रक्खा है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका-टीका में पतञ्जलि के सांख्यविषयक अनेक मत उद्धृत हैं।[6] पतञ्जलि का एक मत योगसूत्र के व्यास-भाष्य में भी उद्धृत है।[7]

---

१. वृद्धत्रयी, पृष्ठ २९।

२. पूर्व पृष्ठ ३३१, टि० ५। ३. पूर्व पृष्ठ ३३१, टि० ६।

४. पूर्व पृष्ठ ३३२, टि० ७–९; पृष्ठ ३३३, टि० १–३

५. बुद्धे तु भगवान् योगी बुधो विज्ञानदेशनः। महासत्त्वो लोकनाथो बोधिरर्हन् सुनिश्चितः। गुणाब्धिर्विगतद्वन्द्वः……।

६. पूर्व पृष्ठ ३३६, टि० २। ७. पूर्व पृष्ठ ३३५, टि० ३।

६—**साहित्यशास्त्र**—गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित शारदातनय-विरचित 'भावप्रकाशन' के पृष्ठ ३७, ४७ में वासुकि-विचरित किसी साहित्यशास्त्र से भावों द्वारा रसोत्पत्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है।[१]

७—**लोहशास्त्र**—शिवदास ने चक्रदत्त की टीका में पतञ्जलि विरचित 'लोहशास्त्र' का उल्लेख किया है।[२]

संख्या ५, ६, ७ ग्रन्थों में से कौन-कौनसा ग्रन्थ महाभाष्यकार पतञ्जलि विरचित है, यह अज्ञात है।

अब हम अगले अध्याय में महाभाष्य के टीकाकारों का वर्णन करेंगे॥

---

१. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता। नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा॥ एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह। इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः॥ २. यदाह पतञ्जलिः—'दिव्यं दावं समादाय लौहकर्म समाचरेत्' इति। द्र०—वृद्धत्रयी, पृष्ठ २६।

ग्यारहवां अध्याय

महाभाष्य के टीकाकार

महाभाष्य पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं। उनमें से अनेक टीकाएं संप्रति अनुपलब्ध हैं। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य पर रची गईं जितनी टीकाओं का हमें ज्ञान हो सका, उनका संक्षिप्त वर्णन हम आगे करते हैं—

भर्तृहरि से प्राचीन टीकाएं

भर्तृहरि-विरचित महाभाष्य की टीका का जितना भाग इस समय उपलब्ध है, उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उससे पूर्व भी महाभाष्य पर अनेक टीकाएं लिखी गई थीं। भर्तृहरि ने अपनी टीका में 'अन्ये, अपरे, केचित्' आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन टीकाओं के पाठ उद्धृत किये हैं।[1] परन्तु टीकाकारों के नाम अज्ञात होने से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। भर्तृहरि-विरचित भाष्यटीका के अवलोकन से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि उससे पूर्व महाभाष्य पर न्यूनातिन्यून तीन टीकाएं अवश्य लिखी गई थीं। यदि महाभाष्य की ये प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होतीं, तो अनेक ऐतिहासिक भ्रम अनायास दूर हो जाते।

१. भर्तृहरि (वि०सं० ४०० से पूर्व)

महाभाष्य की उपलब्ध तथा ज्ञात टीकाओं में भर्तृहरि की टीका सब से प्राचीन और प्रामाणिक है। वैयाकरण-निकाय में पतञ्जलि के अनन्तर भर्तृहरि ही ऐसा व्यक्ति है, जिसे सब वैयाकरण प्रमाण मानते हैं।

परिचय

भर्तृहरि ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः भर्तृहरि के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है।

---

१. हमारे हस्तलेख की पृष्ठ-संख्या—अन्ये ४, ५७, ७०१५४ इत्यादि। अपरे ७०, ७६, १७६ इत्यादि। केचित् ४, ६१, १६७, १७६ इत्यादि।

गुरु—भर्तृहरि ने अपने गुरु का साक्षात् निर्देश नहीं किया। पुण्यराज ने भर्तृहरि के गुरु का नाम **वसुरात** लिखा है। वह लिखता है—

न तेनास्मद्गुरोस्तत्र भवतो वसुरातादन्यः। पृष्ठ २८४।

पुनः '**प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः**' श्लोक की अवतरणिका में लिखता है—**तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः। पृष्ठ २८६।**

पुनः पृष्ठ २९० पर लिखा है—

आचार्यवसुरातेन न्यायमार्गान् विचिन्त्य सः।
प्रणीतो विधिवच्चायं मम व्याकरणागमः॥

क्या भर्तृहरि बौद्ध था?

चीनी यात्री इत्सिंग लिखता है कि—'वाक्यपदीय और महाभाष्यव्याख्या का रचयिता आचार्य भर्तृहरि बौद्धमतानुयायी था। उसने सात वार प्रव्रज्या ग्रहण की थी।'[1]

इत्सिंग की भूल—वाक्यपदीय और महाभाष्य-टीका के पर्यनुशीलन से विदित होता है कि भर्तृहरि वैदिकधर्मी था। वह वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में लिखता है—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते ॥४६॥

पुनः वह लिखता है—

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्। १।१३६॥

वेद के विषय में ऐसे उद्गार वेदविरोधी बौद्ध विद्वान् कभी व्यक्त नहीं कर सकता। जैन विद्वान् वर्धमानसूरि भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका का एक उद्धरण देकर लिखता है—

'यस्त्वयं वेदविदामलङ्कारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञमन्य उपमीयते तेन कथमेतत् प्रयुक्तम्।'[2]

उत्पल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में '**तत्र भगवद्भर्तृहरिणाऽपि—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके……**' इत्यादि वाक्यपदीय की ३ कारिकाएं उद्धृत करके लिखता है—

---

१. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७४। २. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२३।

बौद्धैरपि अध्यवसायापेक्षं प्रकाशस्य प्रामाण्यं वदद्भिरुपगतप्राय एवायमर्थः।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं था। हमारे मित्र डा० श्री के० माधवशर्मा का भी यही मत है।[1] इत्सिग को यह भ्रान्ति क्यों हुई, इसका निरूपण हम आगे करेंगे।

काल

भर्तृहरि का काल अभी तक विवादास्पद है। कई विद्वान् इत्सिग के लेखानुसार भर्तृहरि का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं। अब अनेक विद्वान् इत्सिग के लेख को भ्रमपूर्ण मानने लगे हैं। भारतीय जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य का सहोदर भ्राता है। इसमें कोई विशिष्ट साधक बाधक प्रमाण नहीं हैं। अतः हम ग्रन्थान्तरों में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर ही भर्तृहरि के काल-निर्णय का प्रयत्न करते हैं—

१—प्रसिद्ध बौद्ध चीनी यात्री इत्सिग लिखता है—'उस (भर्तृहरि) की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए।'[2]

ऐतिहासिकों के मतानुसार इत्सिग ने अपना भारतयात्रा-वृत्तान्त विक्रम संवत् ७४९ के लगभग लिखा था। तदनुसार भर्तृहरि की मृत्यु संवत् ७०८, ७०९ के लगभग माननी होगी।

२—काशिका ४।३।८८ के उदाहरणों में भर्तृहरिकृत **'वाक्यपदीय'** ग्रन्थ का उल्लेख है। काशिका की रचना सं० ६८०, ७०१ के मध्य हुई थी, यह हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में सप्रमाण लिखेंगे। कन्नड पञ्चतन्त्र के अनुसार जयादित्य और वामन गुप्तवंशीय विक्रमाङ्क साहसाङ्क का समकालिक है। यह गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय है। पाश्चात्य मतानुसार इसका काल वि० सं० ४६७-४७० तक माना जाता है।[3] फिर भी उक्त निर्देश से इतना स्पष्ट है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ काशिका से पूर्व लिखा गया है।

---

१. 'भर्तृहरि नाट बुद्धिस्ट' दि पूना ओरियण्टलिस्ट, अप्रैल १९४०। हमारे इन मित्र महानुभाव का लगभग तीन वर्ष पूर्व सं० २०२६ में स्वर्गवास हो गया। २. इत्सिग की भारतयात्रा पृष्ठ, २७५।

२. विशेष देखें अष्टाध्यायी के वृत्तिकार नामक १४ अध्याय में काशिका के प्रकरण में।

३—कातन्त्र व्याकरण की दुर्गसिंहकृत वृत्ति काशिका से प्राचीन है। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार वामन ने काशिका ७।४।९३ में दुर्गवृत्ति का प्रत्याख्यान किया है।[1] दुर्गसिंह कातन्त्र १।१।९ की वृत्ति में लिखता है—

तथा चोक्तम्—यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥

यह कारिका वाक्यपदीय की है।[2] दुर्गसिंह पुनः ३।२।४१ की वृत्ति में वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत करता है।[3] अतः भर्तृहरि काशिका से पूर्वभावी दुर्गसिंह से भी पूर्ववर्ती है।

४—शतपथ ब्राह्मण का व्याख्याता हरिस्वामी प्रथम काण्ड की व्याख्या में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध के एकदेश को उद्धृत करता है—**अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेदं 'विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया'[4] इत्यत आहुः।**

हरिस्वामी अपनी शतपथ-व्याख्या के प्रथम काण्ड के अन्त में लिखता है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम्॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

द्वितीय श्लोक के अनुसार कलि संवत् ३७४० अर्थात् वि० सं० ६९५ में हरिस्वामी ने शतपथ प्रथम काण्ड की रचना की। अभी अभी ग्वालियर से प्रकाशित विक्रम-द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ में पं०

---

१. यत्तु कातन्त्रे मतान्तरेणोक्तम्—ह्रस्वदीर्घयोः अजीजागरत् इति भवतीति, तदप्येवं प्रत्युक्तम्। वृत्तिकारात्रेयवर्धमानादिभिरप्येतद् दूषितम् पृ० २६५।

२. काण्ड ३, क्रियासमुद्देश कारिका १। वाक्यपदीय में द्वितीय चरण का 'साध्यत्वेनाभिधीयते' और चतुर्थ चरण का 'सा क्रियेति प्रतीयते' पाठ है।

३. क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिद्ध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्तेति तद्विदुः॥

४. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। यह उत्तरार्ध का पूरा पाठ है।

सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे का एक लेख मुद्रित हुआ है, उसमें पूर्वोक्त दोनों श्लोकों का सामञ्जस्य करने के लिये द्वितीय श्लोक का अर्थ 'कलि संवत् ३०४७' किया है। उन्होंने 'सप्त' को पृथक पद माना है। 'वै' पद का प्रयोग होने से इस प्रकार कालनिर्देश हो सकता है। यदि यह व्याख्या ठीक हो तो द्वितीय श्लोक की पूर्व श्लोक के साथ संगति ठीक बैठ जाती है। विक्रम संवत् का आरम्भ कलि संवत् ३०४५ से होता है। ३७४० कल्यब्द अर्थ करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि उस काल अर्थात् विक्रम संवत् ६९५ में अवन्ति= उज्जैन में कोई विक्रम था, इसकी अभी तक इतिहास से सिद्धि नहीं हुई। यदि ३०४७ अर्थ को ठीक न मानें, तब भी इतना स्पष्ट है कि भर्तृहरि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व उज्जैन से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उससे भी हरिस्वामी का विक्रम समकालीनत्व प्रमाणित होता है। द्र० हिन्दुस्तान (साप्ताहिक) १८ अगस्त ६४ के विजयदशमी के अंक में डा० एकान्तबिहारी का लेख। अनेक विद्वान् इस शिलालेख को जाली सिद्ध करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

हरिस्वामी के द्वितीय श्लोक का अर्थ कलि संवत् ३०४७ करने में यह प्रधान आपत्ति दी जाती है कि जब हरिस्वामी के आश्रयदाता विक्रमार्क का संवत् प्रवृत्त हो चुका था, तब उसने विक्रम संवत् का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका उत्तर सीधा सा है कि विक्रम संवत् को आरम्भ हुए अभी दो ही वर्ष हुए थे, जबकि कलि संवत् तीन सहस्र वर्ष से लोक व्यवहार में प्रचलित था। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे अन्य ग्रन्थकार भी हैं, जिनके आश्रयदाताओं का संवत् विद्यमान होते हुए भी उन्होंने कलि, विक्रम वा मालव संवत् का प्रयोग किया है।

५—हरिस्वामी ने शतपथ की व्याख्या में प्रभाकर मतानुयायियों के मत को उद्धृत किया है।[1] प्रभाकर भट्ट कुमारिल का शिष्य माना जाता है। कुमारिल तन्त्रवार्तिक अ० १ पा० ३ अधि० ८ में वाक्यपदीय १।१३ के वचन को उद्धृत करके उसका खण्डन

---

१. अथवा सूत्राणि यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणयतीति यथा। हमारा हस्तलेख पृष्ठ ५।

करता है।[1] इससे स्पष्ट है कि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती प्रभाकर, उससे पूर्ववर्ती कुमारिल और उससे प्राचीन भर्तृहरि है।

६—हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका १।२ में वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड का '**पूर्वामवस्थामजहत्**' इत्यादि पूर्ण श्लोक उद्धृत किया है। इसी प्रकार निरुक्त टीका भाग १ पृष्ठ १० पर क्रिया के विषय में जितने पक्षान्तर दर्शाये हैं, वे सब वाक्यपदीय के क्रियासमुद्देश के आधार पर लिखे हैं। निरुक्त टीका ५।१६ में उद्धृत '**साहचर्यं विरोधिना**' पाठ भी वाक्यपदीय २।३१७ का है। यहां '**साहचर्यं विरोधिता**' पाठ होना चाहिये। अतः वाक्यपदीय की रचना स्कन्द के निरुक्तभाष्य से पूर्व हो चुकी थी, यह स्पष्ट है।

७—स्कन्द का सहयोगी महेश्वर निरुक्त टीका ८।२ में एक वचन उद्धृत करता है—

तथा चोक्तं भट्टारकेणापि—

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचःश्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥

यह श्लोक भट्ट कुमारिल कृत श्लोकवार्तिक का है।[2] निरुक्त टीका का मुद्रित पाठ अशुद्ध है। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत करके उसका खण्डन किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] इससे भी स्पष्ट है कि भर्तृहरि संवत् ६९५ से बहुत पूर्ववर्ती है। आधुनिक ऐतिहासिक भट्ट कुमारिल का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी मानते हैं, वह अशुद्ध है, यह भी प्रमाण संख्या ५, ७ स्पष्ट है।

८— इत्सिंग अपनी भारतयात्रा में लिखता है—"इसके अनन्तर 'पेइ-न' है, इसमें ३००० श्लोक हैं और इसका टीका भाग १४००० श्लोकों में है। श्लोक भाग भर्तृहरि की रचना है और टीका भाग शास्त्र के उपाध्याय धर्मपाल का माना जाता है।"[3]

कई ऐतिहासिक 'पेइ-न' को वाक्यपदीय का तृतीय 'प्रकीर्ण'

---

१. यदपि केनचिदुक्तम्—तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते। तद्रूपरसगन्धेष्वपि वक्तव्यमासीत् इत्यादि। पूना संस्क० भा० १ पृष्ठ २६६।

२. काशी संस्क० पृष्ठ ४६३।

४. यही पृष्ठ, टि० १।

३. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७६।

काण्ड मानते हैं। यदि यह ठीक हो, तो वाक्यपदीय की रचना धर्मपाल से पूर्व माननी होगी। धर्मपाल की मृत्यु संवत् ६२७ वि० (सन् ५७०) में हो गई थी।[1] अतः वाक्यपदीय की रचना निश्चय ही संवत् ६०० से पूर्व हुई होगी।

६—अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार वाग्भट्ट का साक्षात् शिष्य इन्दु उत्तरतन्त्र अ० ५० की टीका में लिखता है—

पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नानां प्रसिद्ध एवेत्यत आचार्येण नोक्ताः। तासु च तत्र भवतो हरेः श्लोकौ—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचितिर्देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ अनयोरर्थः···।

इनमें प्रथम कारिका भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय २।३१७ में उपलब्ध होती है। दूसरी कारिका यद्यपि काशीसंस्करण में उपलब्ध नहीं होती, तथापि प्रथम कारिका की पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६ पंक्ति १६ से द्वितीय कारिका की व्याख्या छपी हुई है। इस से प्रतीत होता है कि द्वितीय कारिका मुद्रित ग्रन्थ में टूट गई है। वाक्यपदीय के कई हस्तलेखों तथा इसके नये संस्करणों में द्वितीय कारिका भी विद्यमान है।

वाग्भट्ट का काल प्रायः निश्चित सा है। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अ० ४६ के पलाण्डु रसायन प्रकरण में लिखा है—

रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥

यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव॥

इस श्लोक के आधार पर अनेक ऐतिहासिक वाग्भट्ट को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में मानते हैं।[2] पाश्चात्य ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त

---

1. Introduction to Vaisheshiks philosophy according to the Dasha padarthi Shastra—By H. U. I. 1917 P. 10.

१. अष्टाङ्गहृदय की भूमिका पृष्ठ १४, १५ निर्णयसागर संस्क०।

द्वितीय का काल विक्रम संवत् ४३७-४७० तक स्थिर करते है। पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' में ७९ प्रमाणों से सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम संवत् प्रवर्तक प्रसिद्ध विक्रमादित्य था।[1] अष्टाङ्गहृदय की इन्दुटीका के सम्पादक ने भूमिका में लिखा है—जर्मन विद्वान् वाग्भट्ट को ईसा की द्वितीय शताब्दी में मानते हैं।[2] इन्दु के उपर्युक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि किसी प्रकार वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है।

१०—श्री पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १ खण्ड २ पृष्ठ २०६ पर लिखा है—

'अभी-अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि भर्तृहरि की मीमांसावृत्ति के कुछ भाग मिले हैं, वे शबर से पहले के हैं।

इसके अनन्तर 'आचार्य पुष्पाञ्जलि वाल्यूम' में पं० रामकृष्ण कवि का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें पृष्ठ ५१ पर लिखा—'वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कृत जैमिनीय मीमांसा की वृत्ति शबर से प्राचीन है'

भर्तृहरिकृत महाभाष्य-दीपिका तथा वाक्यपदीय के अवलोकन से स्पष्ट विदित होता है कि भर्तृहरि मीमांसा का महान् पण्डित था। भर्तृहरि शबर स्वामी से प्राचीन है, इसकी पुष्टि महाभाष्य-दीपिका से भी होती है। भर्तृहरि लिखता है—

धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः, स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते, तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते।[3]

इसकी तुलना न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के निम्न वचन के साथ करनी चाहिये—

---

१. भारतवर्ष का इतिहास द्वि० सं० पृष्ठ ३२६-३४८। हमें पं० भगवद्दत्त जी का उक्त मत मान्य नहीं हैं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य अवन्ति (=उज्जैन) पर नहीं था। यह सर्वमान्य तथ्य है।

२. अष्टाङ्गहृदय की भूमिका भाग १, पृष्ठ ५—केषांचिज्जर्मनदेशीयविपश्चितां मते खीस्ताब्दस्य द्वितीयशताब्द्यां वाग्भट्टो बभूव।

३. महाभाष्यदीपिका पृष्ठ ३८, हमारा हस्तलेख।

वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति । यागादिकर्मैव शाबरा ब्रुवते ।[2]

इन दोनों पाठों की तुलना से व्यक्त होता है कि धर्म के विषय में मीमांसकों में तीन मत हैं ।

(क) भर्तृहरि के मत में धर्म नित्य है, यागादि से उसकी अभिव्यक्ति होती है—

(ख) वृद्धमीमांसक यागादि से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को धर्म मानते हैं ।

(ग) शबर स्वामी यागादि कर्म को ही धर्म मानता है । वह मीमांसाभाष्य १।१।२ में लिखता है—

यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते । यश्च यस्य कर्त्ता स तेन व्यपदिश्यते ।

धर्म के उपर्युक्त स्वरूपों पर विचार करने से स्पष्ट कि भट्ट जयन्तोक्त वृद्धमीमांसक शबर से पूर्ववर्ती हैं, और भर्तृहरि उन वृद्धमीमांसकों से भी प्राचीन है । भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर जो मीमांसक मतों का उल्लेख मिलता है, वे प्रायः शाबर मतों से नहीं मिलते ।

११—हमारे मित्र पं० साधुराम एम० ए० ने अनेक प्रमाणों के आधार पर भर्तृहरि का काल ईसा की तृतीयशती दर्शाया है ।[3]

१२ —भारतीय जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि विक्रम का सहोदर भ्राता है । 'नामूला जनश्रुतिः' के नियमानुसार इसमें कुछ तथ्यांश अवश्य है ।

१३—काशी के समीपवर्ती चुनारगढ़ के किले में भर्तृहरि को एक गुफा विद्यमान है । यह किला विक्रमादित्य का बनाया हुआ है, ऐसी वहां प्रसिद्धि है । इसी प्रकार विक्रम को राजधानी उज्जैन में भी भर्तृहरि की गुफा प्रसिद्ध है । इससे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि और विक्रमादित्य का कुछ पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य था ।

---

१. न्यायमञ्जरी पृष्ठ २७६, लारजस प्रेस काशी की छपी ।

२. 'भर्तृहरिज़ डेट' जरनल गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १५ अङ्क २-४ (सम्मिलित) ।

१४—प्रबन्ध-चिन्तामणि में भर्तृहरि को महाराज शूद्रक का भाई लिखा है।[1] महाराजाधिराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के अनुसार शूद्रक किसी विक्रम संवत् का प्रवंतक था।[2] पण्डित भगवद्दत्त जी ने अनेक प्रमाणों से शूद्रक का काल विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। देखो भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ २९१-३०६ द्वितीय संस्करण।[3]

१५—श्री चन्द्रकान्त (देहली) ने ११-७-६३ ई० के पत्र में लिखा है कि विक्रमादित्य और शूद्रक दोनों भाई थे। दोनों ही संवत्-प्रवर्तक थे।[4] विक्रमादित्य का का समय ६६ ई० सन् और शूद्रक का ७८ ई० सन् काल है। अतः भर्तृहरि का काल ६०-७० ईस्वी है।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि निश्चय ही बहुत प्राचीन ग्रन्थकार है। जो लोग इत्सिंग के वचनानुसार इसे विक्रम की सातवीं शताब्दी के उतरार्ध में मानते हैं, वे भूल करते हैं। यदि किन्हीं प्रमाणान्तरों से योरोपियन विद्वानों द्वारा निर्धारित चीनी-यात्रियों की तिथियां पीछे हट जावें तो इस प्रकार के विरोध अनायास दूर हो सकते हैं। अन्यथा इत्सिंग का वचन अप्रामाणिक मानना होगा। भर्तृहरिविषयक इत्सिंग की एक भूल का निर्देश पूर्व कराया जा चुका है। इत्सिंग के वर्णन को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उसने भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ नहीं देखा था। भर्तृहरि-विरचित-ग्रन्थों के विषय में उसका दिया हुआ परिचय अत्यन्त भ्रमपूर्ण है।

अनेक भर्तृहरि

हमारा विचार है कि भर्तृहरि नाम के अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। उन का ठीक ठीक विभाग ज्ञात न होने से इतिहास में अनेक उलझने

१. पृष्ठ १२१। राजकविवर्णन ११। २. वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम्। ३. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ २९१-३०५।

४. विक्रमादित्यपर्यायः[1] महेन्द्रादित्यसम्भवः[2]।
असौ विषमशीलोऽपि साहसाङ्कः शकोत्तरः[3]॥

१. विक्रमादित्यः=विषमादित्यः। २. कथाग्रन्थेषु विक्रमस्य पितुर्नाम महेन्द्रादित्यः श्रूयते। ३. साहसाङ्कः शकोत्तरः—तस्य लघुभ्राता विक्रमाङ्कः। यह उक्त पत्र में ही टिप्पणी है।

पड़ी हैं। विक्रमादित्य, सातवाहन, कालिदास और भोज आदि के विषय में भी ऐसी ही अनेक उलझनें हैं पाश्चात्य विद्वान् उन उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न नहीं करते, किन्तु अपनी मनमानी कल्पना के अनुसार काल निर्धारण करके उन्हें और अधिक उलझा देते हैं। और उन के मत में जो बाधक प्रमाण उपस्थित होते हैं उन्हें अप्रामाणिक कह कर टाल देते हैं। भर्तृहरि नाम का एक व्यक्ति हुआ है वा अनेक, अब इस के विषय में विचार करते हैं। इस के लिये यह आवश्यक है कि भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों पर पहले विचार किया जाये।

भर्तृहरि-विरचित ग्रन्थ

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि-विरचित निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. महाभाष्य-दीपिका।

२. वाक्यपदीय काण्ड १, २, ३।

३. वाक्यपदीय काण्ड १, २ की स्वोपज्ञटीका।

४. भट्टिकाव्य।

५. भागवृत्ति।

६. शतक त्रय—नीति, शृंगार, वैराग्य (तथा 'विज्ञान'[1] भी)।

इनके अतिरिक्त भर्तृहरि-विरचित तीन ग्रन्थ और ज्ञात हुए हैं—

७. मीमांसाभाष्य **८. वेदान्तसूत्रवृत्ति**

९. शब्दधातुसमीक्षा **१०. षष्ठीश्रावी भर्तृहरिवृत्ति।**[2]

भर्तृहरि विषयक उलझन को सुलझाने के लिये हमें इन ग्रन्थों की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा करनी होगी।

महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय और उसकी टीका समानकर्तृक हैं

महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय और उसकी स्वोपज्ञटीका की परस्पर तुलना करने से विदित होता है कि इन तीनों ग्रन्थों का कर्त्ता एक व्यक्ति ही है। यथा—

---

१. यह ग्रन्थ कुछ समय पूर्व ही प्रकाशन में आया है। अभी इसका भर्तृहरिकृतत्व संदिग्ध है। २. कोशकल्पतरु, पृष्ठ ६५।

महाभाष्यदीपिका—यथैव गतं गोत्वमेवमिङ्गितादयोऽप्यर्थतः महिष्यादिषु दृष्टं व्युत्पत्त्यापि कर्मण्याश्रीयमाणो गमिवत्, विशेषणं दुरान्वाख्यानम्, उपाददानो गच्छति गर्जति गदति वा गौरिति ।[1]

वाक्यपदीय—कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः ।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्र दर्शितम् ॥[2]

वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका—यथैव हि गमिक्रिया जात्यन्तरैकसमवायिनीभ्यो गमिक्रियाभ्योऽत्यन्तभिन्ना तुल्यरूपत्वविधौ त्वन्तरेणैव गमिमभिधीयमाना गौरिति शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि निमित्तत्वेनाश्रीयते तथैव गिरति गर्जति गदति इत्येवमादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः ।[3]

इसी प्रकार अन्यत्र भी तीनों ग्रन्थों में परस्पर महती समानता है, जिनसे इन तीनों ग्रन्थों का एककर्तृत्व सिद्ध है । वाक्यपदीय की रचना वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है, यह हम पूर्व सप्रमाण निरूपण कर चुके । अतः महाभाष्य की टीका भी वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है ।

भट्टिकाव्य—भट्टिकाव्य के विषय में दो मत हैं । भट्टि का जयमंगलाटीका का रचयिता ग्रन्थकार का नाम भट्टिस्वामी लिखता है । मल्लीनाथ आदि अन्य सब टीकाकार भट्टिकाव्य को भर्तृहरिविरचित मानते हैं । पञ्चपादी उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी भट्टि को भर्तृहरि के नाम से उद्धृत करता है ।[4] हमारा विचार है, ये दोनों मत ठीक हैं । ग्रन्थकार का अपना नाम भट्टिस्वामी है, परन्तु उसके असाधारण वैयाकरण होने के कारण वह औपाधिक भर्तृहरि नाम से भी विख्यात हुआ ।[5] संस्कृत वाङ्मय में दो तीन कालिदास इसी प्रकार प्रसिद्ध हो चुके हैं । महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित से व्यक्त होता है कि शाकुन्तल नाटक का कर्त्ता आद्य कालिदास था,[6]

१. हस्तलेख पृष्ठ ३ । २. काण्ड २ कारिका १७५ ।
३. काण्ड २ कारिका १७५ की टीका, लाहौर संस्क० पृष्ठ ९२ ।
४. तथा च भर्तृकाव्य प्रयोगः । पृष्ठ ८३. १२६ ।
५. इस विषय में विशेष विचार इस ग्रन्थ के 'लक्ष्यप्रधान वैयाकरण कवि' नामक ३०वें अध्याय में देखें । ६. राजकविवर्णन श्लोक १५, १६ ।

परन्तु रघुवंश महाकाव्य का रचयिता हरिषेण कालिदास नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] भट्टिकाव्य की रचना वलभी के राजा श्रीधरसेन के काल में हुई है।[2] वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुये हैं, जिनका राज्यकाल संवत् ५५० से ७०५ तक माना जाता है। अतः भट्टिकाव्य का कर्त्ता भर्तृहरि वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि नहीं हो सकता। भट्टिकाव्य के विषय में विशेष विचार 'लक्ष्यप्रधान वैयाकरण कवि' नामक ३०वें अध्याय में किया है।

भागवृत्ति—भागवृत्ति अष्टाध्यायी की एक प्राचीन प्रामाणिक वृत्ति है। इसके उदाहरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।[3] भाषावृत्ति का टीकाकार सृष्टिधराचार्य लिखता है—भर्तृहरि ने श्रीधरसेन की आज्ञा मे भागवृत्ति की रचना की।[4] कातन्त्र-परिशिष्ट के कर्त्ता श्रीपतिदत्त न भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति लिखा।[5] क्या सम्भव हो सकता है कि भागवृत्ति के कर्त्ता का वास्तविक नाम विमलमति हो, और भर्तृहरि उसका औपाधिक नाम हो। भागवृत्ति की रचना काशिका के अनन्तर हुई है, यह निर्विवाद है। अतः भागवृत्तिकार भर्तृहरि वाक्यपदीयकार से भिन्न है। इस पर विशेष विवेचन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में करेंगे।

भट्टिकार और भागवृत्तिकार में भेद—यदि भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के रचयिता का नाम भर्तृहरि स्वीकार कर लें, तब भी ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकते। इन दोनों की विभिन्नता में निम्न हेतु हैं—

१—भाषावृत्ति २।४।७४ में पुरुषोत्तमदेव ने भागवृत्ति का खण्डन करते हुए स्वपक्ष की सिद्धि में भट्टिकाव्य का प्रमाण उपस्थित किया है।

---

१. राजकविवर्णन श्लोक २४, २६।

२. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।२२।३५॥

३. देखो, ओरियण्टल कालेज मेगजीन लाहौर, नवम्बर १९४० में 'भागवृत्तिसंकलन' नामक हमारा लेख, पृष्ठ ६७। तथा इसी ग्रन्थ के 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में 'भागवृत्तिकार' का वर्णन।

४. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता। ८।४।६८॥

५. तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिना निपातितः। सन्धि-सूत्र १४२।

२—भाषावृत्ति ५।२।११२ के अवलोकन करने से विदित होता है कि भागवृत्तिकार भट्टिकाव्य के छन्दोभङ्ग दोष का समाधान करता है।[1]

३—भागवृत्ति के जितने उद्धरण उपलब्ध हुये हैं, उनके देखने ज्ञात होता कि भागवृत्तिकार महाभाष्य के नियम से किञ्चिन्मात्र भी इतस्ततः होना नहीं चाहता, परन्तु भट्टिकाव्य में अनेक प्रयोग महाभाष्य के विपरीत हैं।[2]

इन हेतुओं से स्पष्ट है कि भट्टिकाव्य और भागवृत्ति का कर्त्ता एक नहीं है।

महाभाष्य व्याख्याता और भागवृत्तिकार में भेद—भागवृत्ति को भर्तृहरि की कृति मानने पर भी वह भर्तृहरि महाभाष्य-व्याख्याता आद्य भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—**गतताच्छील्ये इति** भागवृत्तिः। **गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति** भर्तृहरिः।[3]

२—**यथालक्षणमप्रयुक्ते इति उद्याम उपराम इत्येव भवतीति** भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता **चोक्तम्**।[4]

३—भर्तृहरिणा **च नित्यार्थतैवास्योक्ता, तथा च** भागवृत्तिका-**रेण प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्, तन्त्र उतम्—तन्त्रयुतम्**।[5]

---

१. भागवृत्ति के जिनने उद्धरण उपलब्ध हुए, उनका संग्रह 'भागवृत्ति-संकलनम्' के नाम से ओरियण्टल कालेज लाहौर के मेगजीन नवम्बर १९४० के अंक में हमने प्रकाशित किये थे। देखो पृष्ठ ६८-८२। उसका परिबृंहित संस्करण 'संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी' की 'सारस्वती सुषमा' पत्रिका के वर्ष ८ अङ्क १-४ अङ्कों में छपा है। इसका पुनः परिष्कृत परिवर्धित संस्करण भी हमने सं० २०२१ में स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित किया है।

२. उक्षां प्र चक्रुर्नगरस्य मार्गान्। ३।५॥ बिभयां प्रचकारासौ। ६।२॥ 'व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इस वार्तिक (महाभाष्य ३।१।४०) के अनुसार व्यवहित प्रयोग नहीं हो सकता। निर्णयसागर से प्रकाशित भट्टिकाव्य में क्रमशः "उक्षान् प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्" तथा "प्रबिभयां चकारासौ" परिवर्तित पाठ छपा है।   ३. दुर्घटवृत्ति, पृष्ठ १६।   ४. दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ११७।

५. तन्त्रप्रदीप ८।३।११॥

४—भर्तृहरिणा तूक्तम्—'यः प्रातिपदिकान्तो नकारो न भवति तदर्थं नुम्ग्रहणं प्राहिण्वन्निति । अत्र हि हिवेर्लुङि नुमो णत्वमिति ।' 'तत्र पूर्वपदाधिकारः, समासे च पूर्वोत्तरपदव्यवहारः, तत्कथं णत्वमिति न व्यवतीकृतम् इति भागवृत्तिकारेणोक्तम् ।'[1]

५—प्राहिण्वन् इति णत्वार्थं भर्तृहरिणा व्याख्यतम् इति भागवृत्तिः ।[2]

६—प्राहिण्वन् । भर्तृहरिसम्मतमिदमुदाहरणम्, भागवृत्तिकृताऽप्युदाहृतम् ।[3]

इन उद्धरणों में प्रथम और तृतीय उद्धरण में भर्तृहरि और भागवृत्तिकार का मतभेद दर्शाया है । चतुर्थ उद्धरण से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार ने किसी भर्तृहरि का कहीं-कहीं खण्डन भी किया था । अतः इन उद्धरणों से भर्तृहरि और भागवृत्तिकार का पार्थक्य स्पष्ट है ।

शतक-त्रय—नीति, शृङ्गार और वैराग्य ये तीन शतक भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध हैं ।[4] इनका रचयिता कौन-सा भर्तृहरि है, यह अज्ञात है । जैन ग्रन्थकार वर्धमानसूरि गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

वार्त्तैव वार्तम् । यथा—हरिराकुमारमखिलाभिधानवित्
स्वजनस्य वार्तमन्वयुङ्क्त सः ।[5]

क्या गणरत्नमहोदधि में उद्धृत पद्य का संकेत नीतिशतक के 'यां चिन्तयामि मयि सा विरक्ता'[6] श्लोक की ओर हो सकता है ? यदि यह कल्पना ठीक हो, तो नीतिशतक आद्य भर्तृहरिकृत होगा, क्योंकि इसमें हरि का विशेषण 'अखिलाभिधानवित्' लिखा है । वर्ध-

---

१. सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पृष्ठ १२ ।

२. पुरुषोत्तमदेवकृत ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ९९ ।

३. संक्षिप्तसार टीका, सन्धि ३२८ ।

४. विज्ञान शतक भी भर्तृहरि के नाम से छपा मिलता है, परन्तु उस का प्रामाण्य अभी साध्य है । ५. पृष्ठ १२० ।

६. श्लोक २ । पुरोहित गोपीनाथ एम०ए० संपादित, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सन् १८९५ । कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं है ।

मान अन्यत्र भी आद्य भर्तृहरि के लिये 'वेदविदामलंकारभूतः', 'प्रमाणितशब्दशास्त्रः' आदि विशेषणों का प्रयोग करता है।[1]

मीमांसा-सूत्रवृत्ति—यदि पण्डित रामकृष्ण कवि का पूर्वोक्त (पृष्ठ ३६६) लेख ठीक हो तो निश्चय ही यह वृत्ति आद्य भर्तृहरि विरचित होगी।

वेदान्त-सूत्रवृत्ति—यह वृत्ति अनुपलब्ध है। यामुनाचार्य ने एक 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ लिखा है। उस में वेदान्त सूत्र के व्याख्याता टङ्क, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमित्र, ब्रह्मदत्त, शंकर श्रीवत्सांक और भास्कर के साथ भर्तृहरि का भी उल्लेख किया है।[2] इस से भर्तृहरिकृत वेदान्तसूत्रवृत्ति की कछ सम्भावना प्रतीत होती है।

शब्दधातुसमीक्षा—यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। इस का उल्लेख हमारेमित्र श्री पं० माधव-कृष्ण शर्मा ने अपने 'भर्तृहरि नाट ए बौद्धिस्ट' नामक लेख में किया है। यह लेख 'दि पूना ओरियण्टलिस्ट' पत्रिका अप्रेल सन् १९४० में छपा है।

इत्सिंग की भूल का कारण

भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के रचयिताओं के वास्तविक नाम चाहे कुछ रहे हों, परन्तु इतना स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ भी भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में न्यून से न्यून तीन भर्तृहरि अवश्य हुए हैं। इन का काल पृथक् पृथक् है। इन की ऐतिहासिक शृङ्खला जोड़ने से इत्सिग के वचन में इतनी सत्यता अवश्य प्रतीत होती है कि वि० सं० ७०७ के लगभग कोई भर्तृहरि नामा विद्वान् अवश्य विद्यमान था। इत्सिंग स्वयं वलभी नहीं गया था। अतः सम्भव हो सकता है कि उसने वलभीनिवासी किसी भर्तृहरि की मृत्यु सुन कर उस का उल्लेख वाक्यपदीय आदि प्राचीन ग्रन्थों के रचयिता के प्रसंग में कर दिया हो। इत्सिग ने भर्तृहरि को बौद्ध

---

१. यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञंमन्य उपदीयते। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३।

२. तथापि आचार्यटङ्क-भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शंकर-श्रीवत्साङ्क-भास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धश्रद्धाविप्रलब्धबुधयो न यथान्यथा च प्रतिपद्यन्ते इति तत्प्रीतये युक्तः प्रकरणप्रक्रमः।

लिखा है, वह भागवृत्तिकार विमलमति उपनाम भर्तृहरि के लिये उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि विमलमति एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार है।

भर्तृहरि-त्रय के उद्धरणों का विभाग

अनेक व्यक्तियों का भर्तृहरि नाम होने पर एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि के नाम से उपलभ्यमान उद्धरण किस भर्तृहरि के समझे जावें। हमने वाक्यपदीय, उसकी स्वोपज्ञटीका, महाभाष्यदीपिका, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के उपलभ्यमान सभी उद्धरणों की महती सूक्ष्मता से विचार करके निम्न परिणाम निकाले हैं—

१—प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि वा हरि के नाम से जितने उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे सब आद्य भर्तृहरि के हैं।

२—भट्टिकाव्य के सभी उद्धरण भट्टि के नाम से दिये गये हैं। केवल श्वेतवनवासी विरचित उणादिवृत्ति के एक हस्तलेख में भट्टिकाव्य के उद्धरण भर्तृकाव्य के नाम से दिये हैं। दूसरे हस्तलेख में उसके स्थान में भट्टिकाव्य ही पाठ है।[1]

३—भागवृत्ति के उद्धरण भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत् अथवा भागवृत्तिकार नाम से दिये गये हैं। भागवृत्ति का कोई उद्धरण भर्तृहरि के नाम से नहीं दिया गया।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने तीनों के उद्धरण सर्वत्र पृथक्-पृथक् नामों से उद्धृत किये हैं, उन्होंने कहीं पर इन तीनों का सांकर्य नहीं किया। भाषावृत्ति के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने इस विभाग को न समझकर अनेक भूलें की हैं।[2]

---

१. देखो पृष्ठ ८३, पाठान्तर ४।

२. भाषावृत्ति के राजशाही (बंगलादेश) संस्करण के सम्पादक ने 'गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः' इस उद्धरण को 'भागवृत्ति के रचयिता' का लिखा है। देखो भाषावृत्ति पृष्ठ ३२, टि० ३०। परन्तु दुर्घटवृत्ति में यहां भागवृत्ति और भर्तृहरि के भिन्न-भिन्न पाठ उद्धृत किये हैं यथा—गतताच्छील्ये इति भागवृत्तिः, गतिविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः। दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १६। इसी प्रकार भाषावृत्ति के सम्पादक ने ३।१।१६ में उद्धृत भर्तृहरि के पाठ को भागवृत्तिकार का लिखा है।

भावी ग्रन्थसंपादकों को इस विभाग का परिज्ञान अवश्य होना चाहिये, अन्यथा भयङ्कर भूलें होने की सम्भावना है।

भर्तृहरि के विषय में इतना लिखने के अनन्तर प्रकृत विषय का निरूपण किया जाता है।

महाभाष्यदीपिका का परिचय

आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक विस्तृत और प्रौढ़ व्याख्या लिखी है। इसका नाम 'महाभाष्यदीपिका' है।[1] इस व्याख्या के उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। वर्तमान में महाभाष्यदीपिका का सर्वप्रथम परिचय देने का श्रेय डा० कीलहार्न को है।

महाभाष्यदीपिका का परिमाण—इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा-विवरण में दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है। परन्तु इस लेख से यह विदित नहीं होता कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी था, अथवा कुछ भाग पर। विक्रम की १२वीं शताब्दी का ग्रन्थकार वर्धमान लिखता है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

इसी प्रकार प्रकीर्णकाण्ड की व्याख्या की समाप्ति पर हेलाराज भी लिखता है—

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥

इस श्लोक में त्रिपदी पद त्रिकाण्डी वाक्यपदीय का विशेषण भी हो सकता है, अतः यह प्रमाण सन्दिग्ध है।

वर्तमान में उपलब्ध महाभाष्यदीपिका का जितना परिमाण है, उसे देखते हुए २५०००श्लोक परिमाण तीन पाद से अधिक ग्रन्थ का नहीं हो सकता। डा० कीलहार्न का भी यही मत है।

द्वितीय तृतीय पाद की दीपिका के उद्धरण—पुरुषोत्तमदेव ने

---

१. इति महामहोपाध्यायभर्तृहरिविरचितायां श्रीमहाभाष्यदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे द्वितीयमाह्निकम्। हमारा हस्तलेख पृष्ठ ११७।

अपनी परिभाषावृत्ति में महाभाष्य १ । २ । ४५ की दीपिका का पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

अर्थवत्सूत्रे (१ । २ । ४५) च 'अस्ति हि सुबन्तानामसुबन्तेन समासः गतिकारकोपपदानां कृद्भिः' इति भर्तृहरिणोक्तम् ।[1]

पुनः १ । ३ । २१ की भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव लिखता है—**'गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः'** ।

भाषावृत्ति के सम्पादक ने इस पाठ को भागवृत्तिकार का कहा है, वह चिन्त्य है ।[2]

महाभाष्यप्रदीप १।३।२१ की उद्योत टीका में नागेश लिखता है—**'अतएव हरिणैतदुदाहरणे शपिर्द्विकर्मक इति व्याख्यातम्'** ।

संपूर्ण महाभाष्य की टीका—व्याकरण के ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रारम्भिक तीन पादों पर ही व्याख्या नहीं लिखी, अपितु सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी । इसके लिये हम तीन पाद से आगे के प्रमाण उपस्थित करते हैं । यथा—

१—भर्तृहरि वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में लिखता है—

'संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्' ।[3]

संहिता-सूत्र अर्थात् 'परः **सन्निकर्षः** संहिता' प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का १०९वां सूत्र है ।

२—पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ३।१।१६ पर भर्तृहरि का एक उद्धरण दिया है ।[4] वह इसी सूत्र की टीका का हो सकता है । भाषावृत्ति के सम्पादक ने इस उद्धरण को भागवृत्तिकार का माना है, परन्तु यह ठीक नहीं ।[2]

३—व्याकरण के 'दैवम्' ग्रन्थ का व्याख्याता लीलाशुकमुनि अपनी 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या में लिखता है—**'आह चैतत् सर्वं सुधाकरः—अनेन वर्तमाने क्तेन भूते प्राप्तः क्तो बाध्यते इति भर्तृहरिः । भाष्यटीकाकृतस्तु भूतेऽपि क्तो भवतीत्यूचुः । तथा च पूजितो**

१. राजशाही संस्करण, पृष्ठ २४ । २. इसके विषय में पृष्ठ ३७५ की टि॰ २ देखिये । ३. भाग १, पृष्ठ ८२, लाहौर सस्करण ।

४. धूमाच्चेति भर्तृहरिः ।

गतः, पूजितो यातीति भूतकालवाच्यः, न तु पूज्यमानो वर्तमानः'।[1]

भर्तृहरि का यह लेख महाभाष्य ३।२।१८८ की व्याख्या में ही हो सकता है।

४—शरणदेव दुर्घटवृत्ति ७।३।३४ में लिखता है—'यथा-लक्षणमप्रयुक्ते इति उपराम उद्याम इत्येव भवतीति भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम्'।[2]

५—मैत्रेयरक्षित तन्त्रप्रदीप ८।३।२१ में लिखता है—'भर्तृहरिणा चास्य नित्यार्थतैवोक्ता। तथा च भागवृत्तिकृता प्रत्युदाहरण-मुपन्यस्तम्—तन्त्रे उतम् तन्त्रयुत्रम् इति'।[3]

६—सीरदेव अपनी परिभाषावृत्ति में लिखता है—'भर्तृहरिणा तूक्तम् यः प्रातिपदिकान्तो नकारो न भवति तदर्थं नुम्ग्रहणं प्राहिण्वदिति'।[4]

७—पुरुषोत्तमदेव ज्ञापक-समुच्चय में लिखता है—'प्राहिण्वन् इति णत्वार्थं भर्तृहरिणा व्याख्यातमिति भागवृत्तिः'।[5]

८—संक्षिप्तसार टीका का कर्ता भी लिखता है—'प्राहिण्वन् भर्तृहरिसम्मतमिदमुदाहरणम्, भागवृत्तिकृताप्युदाहृतम्'।[6]

भर्तृहरि के ये उद्धरण महाभाष्य ८।४।११ की टीका से ही लिये जा सकते हैं। अन्यत्र महाभाष्य में इसका कोई प्रसङ्ग नहीं है।

इन उद्धरणों से इतना निश्चित है कि भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर अवश्य था। भर्तृहरि ने अष्टाध्यायी पर वृत्ति लिखी हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यही मानना ठीक है कि उसने सम्पूर्ण महाभाष्य पर व्याख्या लिखी थी। प्रतीत होता है, इत्सिंग के काल में 'महाभाष्यदीपिका' का जितना अंश उपलब्ध था, उसने उतने ग्रन्थ का ही परिमाण लिख दिया। वर्धमान के काल में दीपिका के केवल तीन पाद ही शेष रह गये होंगे। सम्प्रति उसका एक पाद भी पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। लीलाशुकमुनि और सीरदेव ने तीसरे और आठवें अध्याय के जो उद्धरण दिये हैं, वे

१. पृष्ठ १०६। हमारा नया संस्करण, पृष्ठ ६७।
२. पृष्ठ ११७। ३. न्यास की भूमिका पृष्ठ १४ में उद्धृत।
४. पृष्ठ २। ५. पृष्ठ ६६। ६. सन्धि, सूत्र ३२८।

सुधाकर के ग्रन्थ तथा भागवृत्ति से उद्धृत किये हैं, यह उन उद्धरणों से स्पष्ट है। पुरुषोत्तमदेव और संक्षिप्तसार टीका के उद्धरण भी भागवृति से उद्धृत प्रतीत होते हैं। सम्भव है तन्त्रप्रदीपस्थ उद्धरण भी ग्रन्थान्तर से उद्धृत किया गया हो।

महाभाष्यदीपिका का वर्तमान हस्तलेख

भर्तृहरि-विरचित महाभाष्य-दीपिका का जो हस्तलेख इस समय उपलब्ध है, वह जर्मनी की राजधानी बर्लिन के पुस्तकालय में था। इसकी सर्वप्रथम सूचना देने का सौभाग्य डा० कीलहार्न को है। इस हस्तलेख के फोटो लाहौर और मद्रास के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। दीपिका का दूसरा हस्तलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

उपलब्ध हस्तलेख का परिमाण—इस हस्तलेख का प्रथम पत्र खण्डित है। हस्तलेख का अन्त **ङिच्च** १।१।५३ सूत्र पर होता है। इसमें २१७ पत्रे अर्थात् ४३४ पृष्ठ हैं। प्रतिपृष्ठ लगभग १२ पंक्तियां तथा प्रति पंक्ति लगभग ३५ अक्षर हैं। इस प्रकार संपूर्ण हस्तलेख का परिमाण लगभग ५७०० श्लोक हैं।

यह हस्तलेख अनेक व्यक्तियों के हाथ का लिखा हुआ है। कहीं-कहीं पर पृष्ठमात्राएं भी प्रयुक्त हुई हैं। अतः यह हस्तलेख न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष प्राचीन अवश्य है। इस हस्तलेख का पाठ अत्यन्त विकृत है। प्रतीत होता है, इसके लेखक सर्वथा अपठित थे।

डा० सत्यकाम वर्मा का मत—श्री वर्मा जी ने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' ग्रन्थ में पृष्ठ २१२, २१३ तथा २२७, २२८ पृष्ठों पर महाभाष्यदीपिका के परिमाण के विषय में कई अन्यथा बातें लिखी हैं—

१. वर्तमान उपलब्ध प्रति का लेखक एक पृष्ठ के हाशिये पर अपने ही लेख में लिखता है—'खण्डित प्रति, पृष्ठ संख्या २००० (दो सहस्र)। सम्पूर्ण पृष्ठ २१३, २२७।

२. दूसरे स्थान पर उसने ही टिप्पणी दी है—'इसमें दो प्रकरण त्रुटित हैं'। पृष्ठ २२७।

३. जो अंश उपलब्ध हैं, उसमें से भी एक स्थल पर एक साथ चार सूत्रों का प्रकरण ही गायब है। पृष्ठ २१२।

४. उसी प्रसङ्ग में सूत्र का एक अंश, बीच में अन्यसूत्र की व्याख्या हो जाने के बाद अचानक ही आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है। ·····पृष्ठ संख्या निर्बाध देता गया है। पृष्ठ २१२।

५. एक अन्य स्थान पर हमने लिखा पाया है—'महाभाष्य-टीका ग्रन्थ ६ हजार साठि।' २२७,२२८।

६. 'ग्रन्थ' शब्द का क्या अर्थ है, यह हम मीमांसक जी जैसे विचारक विद्वान् के विचार के लिये ही छोड़ते हैं। पृष्ठ २२८

७. जिस प्रतिलिपिकार 'राम' के हाथ को यह प्रतिलिपि है, उसी के हाथ की अन्य अनेक प्रतिलिपियां प्रातिशाख्य आदि की भी देखने में आई हैं। पृष्ठ २२८

८. अन्यत्र उल्लेख है—'खण्डितप्रति पृष्ठ संख्या २००० (दो हजार)।' परन्तु उसी गणना-पद्धति से उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २१७ है।·····इसके १८०० पृष्ठ कहीं भारत में ही बचे होंगे। पृष्ठ २१३।

समीक्षा—अब हम उपर्युक्त उद्धरणों की समीक्षा करते हैं। समीक्षा से पूर्व हम यह लिख देना आवश्यक समझते हैं कि हमारे पास दीपिका की जो हस्तलिखित प्रति है, वह पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर में मंगवाई गई फोटो कापी से की गई है। प्रतिलिपि करते समय सम्पूर्ण पाठ, चाहे वह हाशिये पर ऊपर नीचे कहीं भी हो, लिखा गया है। प्रतिलिपि के पश्चात् उसका मूल ग्रन्थ से पुनः पाठ मिलाया गया है। प्रतिलिपि करते समय एक पृष्ठ का पाठ एक पृष्ठ में ही लिखा है। अर्थात् हमारी प्रतिलिपि फोटो कापी की सर्वथा अनुरूप कापी है। अतः हम जो भी समीक्षा करेंगे, वह सर्वथा यथार्थ होगी। श्री वर्माजी ने फोटोकापी से की हुई प्रतिलिपि के आधार पर और कुछ स्मृति के अनुसार लिखा है। अतएव उन्होंने मूल ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या भी प्रति विषय नहीं दी।

१. प्रथम उद्धरण की बात मूल हस्तलेख में कहीं नहीं है। साथ ही ध्यान रहे कि मूल हस्तलेख ३०० वर्ष पुराना है। उस काल में 'पृष्ठ' शब्द का व्यवहार नहीं होता था, 'पत्रा' शब्द व्यवहार में आता था। दोनों ओर के लिखे पत्रे पर एक ही पत्रासंख्या डाली जाती थी। यतः वर्मा जी के उद्धरण में 'पृष्ठ संख्या २०००' लेख मूल प्रतिलिपि-कार का हो ही नहीं सकता। हमारी प्रतिलिपि में ऐसा कोई पाठ अङ्कित नहीं है। अतः यह लेख सर्वथा चिन्त्य है।

२. दूसरे उद्धरण की भी यही दशा है। मूल हस्तलेख में इस का कोई संकेत नहीं है। सम्भव है वर्मा जी को प्राप्त फोटो कापी की प्रतिलिपि में लिपिकार ने कहीं प्रकरण-संगत प्रतीत न होने पर अपनी ओर से लिख दी होगी।

३. उद्धरण ३-४ के विषय में इतना ही कहना है कि जिस फोटो कापी की उन्हें प्रतिलिपि प्राप्त हुई, उस फोटो कापी पर भूल से पृष्ठ संख्या अशुद्ध लिख दी गई। हमने जिस फोटो कापी से प्रतिलिपि की थी, उसमें भी कुछ पृष्ठों पर पृष्ठ संख्या अशुद्ध डाली हुई थी। भाष्यक्रमानुसार हमने उन अशुद्ध संख्यावाले पृष्ठों को यथास्थान जोड़ दिया, तो सारा पाठ यथावत् मिल गया। हमने अपनी प्रतिलिपि में फोटो प्रति की संख्या भी डाल रखी है। कोई भी व्यक्ति आकर देख सकता है। फोटो प्रति की पृष्ठ-संख्या में अशुद्ध होने का कारण अति साधारण है। हस्तलिखित ग्रन्थों में पत्रे के एक ओर ही संख्या रहती है, दूसरे भाग पर संख्या नहीं होती। अतः संख्या-रहित भागों की फोटो कापी करने वा क्रमशः रखने में ये पृष्ठ आगे-पीछे हो गये। यह साधारण सी भूल भी वर्मा जी नहीं समझ पाये, यह आश्चर्यजनक है।

४. उद्धरण संख्या ५ का हाशिये पर लिखा पाठ हमारे हस्तलेख में विद्यमान है। अतः स्पष्ट है कि हमारी प्रतिलिपि यथावत् है। हां, हमारी प्रतिलिपि में 'भाष्यटीका ग्रन्थ ६ हजार साठि' इतना ही है। 'महा' पद वर्मा जी का बढ़ाया हुआ प्रतीत होता है।

५. उद्धरण संख्या ५ में हाशिये पर लिखे 'भाष्यटीका ग्रन्थ ६ हजार साठि' का अभिप्राय वर्मा जी की समझ में नहीं आया। अतः वे उद्धरण सं० ६ में 'ग्रन्थ' शब्द का क्या अर्थ है......मीमांसक जी ......छोड़ते हैं, लिख कर बात को टालना चाहते हैं। प्रतीत होता है वर्मा जी को ग्रन्थ-परिणाम-बोधक प्राचीन परिपाटी का ज्ञान नहीं है। इस का सीधा-साधा अर्थ है— भाष्यटीका ग्रन्थ का परिमाण ६०६० श्लोक है। हमने अपनी गणना के अनुसार उपलब्ध भाष्यटीका का परिमाण ५७०० श्लोक बताया है। उससे यह संख्या अत्यधिक मेल खाती है। किसी भी गद्यग्रन्थ के अक्षरों की गणना करके उसमें अनुष्टुप् के ३२ अक्षर-संख्या का भाग देकर ग्रन्थ-परिमाण बताने की प्राचीन परिपाटी है।

६. सातवां उद्धरण बता रहा है कि वर्मा जी नें कभी हस्तलेखों पर कार्य नहीं किया,अन्यथा उन्हें पता होता कि हस्तलेखों के पत्रों के हाशिये पर तथा अन्त में (कहीं-कहीं मध्य में भी) 'राम' शब्द प्राचीन लिपिकर मंगलार्थ लिखते थे। अतः 'राम' शब्द को देखकर लिपिकर के 'राम' नाम की कल्पना करना चिन्त्य है। उससे भी बड़ी हास्यास्पद बात है—अन्य हस्तलेखों पर लिखे 'राम' नाम के आधार पर दीपिका के लेखक का लिखा स्वीकार करना। यदि वर्मा जी ने दीपिका की फोटो कापी का भी दर्शन कर लिया होता,तो वे यह भूल न करते। फोटो कापी से स्पष्ट विदित होता है कि इसकी मूल प्रति कई लेखकों के हाथ की लिखी हुई है।

७. उद्धरण सं० ८ में लिखी कल्पना 'खण्डित प्रति पृष्ठ २००० (दो हजार)शब्दों पर आधृत है। जब यह पाठ ही मूल कोश में नहीं है, तब वर्मा जी की कल्पना स्वयं ढह जाती है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि दीपिका के ग्रन्थ-परिमाण, और उसमें दो प्रकरण त्रुटित होने के विषय में वर्मा जी नें जो कुछ लिखा हैं, वह सब भ्रान्तिमूलक है। ग्रन्थ का साक्षात् दर्शन किये विना किसी विषय पर लिखना प्रायः अशुद्धएवं भ्रान्तिजनक होता है।

महाभाष्यदीपिका के उद्धरण—इसके उद्धरण कैयट, वर्धमान, शेषनारायण, शिवरामेन्द्र सरस्वती, नागेश और वैद्यनाथ पायगुडे आदि के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अन्तिम चार ग्रन्थकार विक्रम की १८वीं शताब्दी के हैं। अतः प्रयत्न करनें पर इस टीका के अन्य हस्तलेख मिलनें की पूरी सम्भावना है।

महाभाष्यदीपिका की प्रतिलिपि- पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में वर्तमान दीपिका का फोटो पाकिस्तान में रह गया है। बड़े सौभाग्य की बात है कि हमारे आचार्य महावैयाकरण श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने सं० १९८७ में पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय से महान् परिश्रम से दीपिका का हस्तलेख प्राप्त करके अपने उपयोग के लिये उसकी एक प्रतिलिपि करली थी। वह इस समय उनके संग्रह में सुरक्षित है।

महाभाष्यदीपिका का सम्पादन

सं० १९९१ में हमारे आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने महाभाष्यदीपिका का सम्पादन किया था। परन्तु उसके केवल चार

फार्म (३२ पृष्ठ) ही काशी की **'सुप्रभातम्'** पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। कार्यावरोध का कारण आचार्यवर का स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत यजुर्वेद-भाष्य के सम्पादन और उस पर विवरण लिखने में प्रवृत्त हो जाना था। इस कारण वे दीपिका का प्रकाशन पूरा न कर सके। यदि वह संस्करण पूर्ण प्रकाशित हो जाता, तो अगले संस्करणों की आवश्यकता ही न रहती। आचार्यवर द्वारा किया गया सम्पादन अगले सम्पादनों की अपेक्षा अधिक उत्तम है।

इसके पश्चात् महाभाष्य-दीपिका का दो स्थानों से प्रकाशन हुआ है। एक के सम्पादक हैं—श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर। यह भण्डारक ओरियण्टल रिसर्चइंस्टीटयूट पूना से प्रकाशित हुआ है। दूसरे के सम्पादक हैं—श्री वी० स्वामिनाथन्। यह हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से प्रकाशित हुआ है। प्रथम संस्करण में उपलब्धांश पूरा छपा है, जबकि दूसरे में ४ आह्निक तक ही छपा है।

पुनः सम्पादन की आवश्यकता—हमने ये दोनों संस्करण देखे हैं। उसके आधार पर हम निस्संशय कह सकते हैं कि इन संस्करणों क प्रकाशित हो जाने पर भी इसके एक संस्करण की और आवश्यकता है। यद्यपि इन संस्करणों के सम्पादकों नें पर्याप्त परिश्रम किया है, पुनरपि इन दोनों के वैयाकरण न होने से अनेक स्थल संशोधनार्ह रह गये हैं।

भर्तृहरि के अन्य ग्रन्थ

आद्य भर्तृहरि के 'महाभाष्यदीपिका' के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ और हैं—

१—वाक्यपदीय (प्रथम द्वितीय काण्ड)।
२—प्रकीर्णकाण्ड (तृतीय काण्ड)।
३—वाक्यपदीय (काण्ड १, २) की स्वपोज्ञटीका।
४—वेदान्तसूत्र-वृत्ति।
५—मीमांसासूत्र-वृत्ति।

इनमें से संख्या १, २, ३ पर विचार 'व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार' नामक २६वें अध्याय में किया जायगा। संख्या ४, ५ का संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं।

महाभाष्यदीपिका के विशेष उद्धरण

हमने भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' का अनेकधा पारायण किया है। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण वचन है। हम उनमें से कुछ एक अत्यन्त आवश्यक वचनों को नीचे उद्धृत करते हैं—

१. **यथा तैत्तिरीयाः कृतणत्वमग्निशब्दमुच्चारयन्ति।**[1] पृष्ठ १।[2]

२. **एवं ह्युक्तम्-स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते**[3] ।५।

३. **अस्ति हि स्मृतिः—एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः**·····[4] ।१६।

४. **इळो अग्निनाग्निनेति विवृतिर्दृष्टा** बहवृच्सूत्रभाष्ये ।१७।

५. आश्वलायनसूत्रे–**ये यजामहे** ···।१७।

६. आपस्तम्बसूत्रे–**अग्नाग्ने** ·· ।१७।

७. **शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य** ।२१।

८. संग्रह एतत् **प्राधान्येन परीक्षितम्**-नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। **चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन्** संग्रहग्रन्थे [परीक्षितानि] ।२६।

९. **सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी,** सिद्धमाकाशमिति। **आर्हतानां मीमांसकानां च नैवास्ति विनाश एषाम्** ।२६।

१०. **एवं** संग्रह **एतत् प्रस्तुतम्**–किं कार्यः शब्दोऽथ नित्य **इति** ।३०।

११. **इहापि तदेव, कुतः?** संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः, **तत्रैकत्वाद् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः** ।३०।

१२. **अन्ये वर्णयन्ति–यदुक्तं दर्शनस्य परार्थत्वाद् (जै० मी० १।१।१८) अपि प्रवृत्तित्वादिति। यदेव तेन भाष्येणोक्तमिति–कार्याणां वाग्विनियोगादप्यन्यद्दर्शनान्तरमस्ति। उत्पत्ति प्रति तु अस्य यद्दर्शनं योपलब्धिः या निष्पत्तिः सा परार्थरूपा इव, नहि परार्थताशून्यः कालः क्वचिदस्ति। तस्मादेतत्प्रतिपत्तव्यम्–अवस्थित एवासौ प्रयोक्तृकरणादिसन्निपातेन अभिव्यज्यत इति**[5] ।२६।

१३. **धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः,**

---

१. तुलना करो—यद्यपि च अग्निर्वृत्राणि जङ्घनदिति वेदे कृतणत्वमग्निशब्दं पठन्ति। न्यायमञ्जरी पृष्ठ २८८। २. यह तथा अगली पृष्ठ संख्या हमारे हस्तलेख की है। ३. यह वचन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका मे भी उद्धृत किया है। देखो—पृष्ठ ३५। ४. महाभाष्य ६।१।८४॥ ५ भर्तृहरि ने यहां मीमांसा १।१।१८ के किसी प्राचीन भाष्य को उद्धृत किया है।

स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते,[1] तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते। ३८।

१४. निरुक्ते त्वेवं पठ्यते—विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति।[2] तत्रायमर्थः कुर्वते—कृत्प्रत्ययान्तस्य (?, कृत्प्रत्ययान्तो) यो विकारः एकदेशस्तमेव भाषन्ते, न शर्वति सर्वप्रत्ययान्तां प्रकृतिमिति। ४२।

१५. तत्रैवोक्तम्—दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः।
ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम्[3] ॥४४।

१६. भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेप्याश्रयणात्[4] इहापि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां प्रवृत्तिः। ४८।

१७. एवं हि तत्रोक्तम्—स्फोटस्तावानेव, केवलं वृत्तिभेदः, ततश्च सर्वासु वृत्तिषु तत्कालत्वमिति[5]। ५८।

१८. केषांचित् वर्णोऽक्षरम्, केषाञ्चित् पदम्, वाक्यं च। ११५।

१९. एवं ह्यन्ये पठन्ति—वर्णो अक्षराणीति।[6] ११६।

२०. यदेवोक्तं वाक्यकारेण वृत्तिसमवायार्थ उपदेश इति। तदेव श्लोकवार्त्तिककारोऽप्याह ......। ११६।

२१. इति महामहोपाध्यायभर्तृहरिविरचितायां श्रीमहाभाष्यदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्। ११७।

---

१. तुलना करो—वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादिकर्मैव शाबरा ब्रुवते। न्यायमञ्जरी पृष्ठ २७९। यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इत्याचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते। शाबरभाष्य १।१।२॥ इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भर्तृहरि शबरस्वामी से बहुत प्राचीन है।

२. निरुक्त २।२॥ ३. चरक सूत्रस्थान २७।३४३॥

४. तुलना करो—ते वै विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। महाभाष्य। ६।३।१४।

५. यह महाभाष्य १।१।७० के 'स्फोटस्तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः' पाठ की कोई प्राचीन व्याख्या प्रतीत होती है।

६. तुलना करो—व्याकरणान्तरे वर्णा अक्षराणीति वचनात्। महाभाष्यप्रदीप, अ० १, पा० १, आ० २॥

२२. नान्तः[पादमिति] पाठमाश्रित्येदमुपन्यस्तम्, न प्रकृत्यान्तःपादमिति । १४२ ।

२३. अयमेवार्थो वृत्तिकारेण दर्शितः—धात्वैकदेशलोपो धातुलोप इति ।……एवं च केचिद् वृत्तिकारा धातुलोप इति किमर्थमिति पठन्ति । १४५, १४६ ।

२४. प्रजापतिर्वै यत्किचन मनसा दीधेत तदधीतयजुर्भिरेव प्राप्नोति तदधीतयजुषामधीतयजुष्ट्वं एतन्निरुक्ते (१) ध्यायेत वर्ण्यते । अयं हि तत्र व्याख्यानग्रन्थः—प्रजापतिर्वै यत्किचन मनसा ध्यायन् तदिति राप्तवानिति[1] । १६५ ।

२५. यदप्युच्यत इति अयं ग्रन्थोऽस्मादनन्तरं युक्तरूपो दृश्यते । १७५।

२६. तत्कथं शिवसमुदाये[2] कार्यभाजिनि अवयवा न लभन्ते (? लक्ष्यन्ते) । १७५ ।

२७. अस्मिंस्तु दर्शने पाणिनिना मुखग्रहणं पठितमिति दृश्यते । चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्टे । १७६ ।

२८. संवारविवाराविति । यथा चैते बाह्यास्तथा शिक्षायां विस्तरेण प्रतिपादितम् । १८४ ।

२९. अस्यां शिक्षायां भिन्नस्थानत्वात् (? भिन्नप्रयत्नत्वाद्) नास्ति अवर्णहकारयोः सवर्णसंज्ञेति । १८४ ।

३०. आचार्येणापि सर्वनामशब्दः शक्तिद्वयं परिगृह्य प्रयुक्तः । यथा—इदं विष्णुर्विचक्रमे[3] इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते । एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यत्रावग्रहभेदोऽपि भवति, चन्द्रमसि प्रयुक्तो मास[कृत्] शब्दोऽवगृह्यते वृको मासऽकृदिति[4] । २६८ ।

---

१. यह किसी संहिता ग्रन्थ का प्राचीन व्याख्यान है । इस सारे उद्धरण का पाठ बहुत अशुद्ध है ।

२. दोनों संस्करणों में 'तत्कथमिव समुदाये' इस प्रकार पाठ मिलता है । सम्भव है हमारे हस्तलेख में पाठभ्रंश हुआ हो ।

३. ऋग्वेद १ । २२ । १७ ॥

४. तुलना करो—अरुणो मासकृत् (ऋ० १ । १०५ । १८)……

३१. इहान्ये वैयाकरणाः पठन्ति—प्रत्ययोत्तरपदयोरद्विवचनटापोरुभस्योभयः। अन्येषाम्—उभस्य नित्यं द्विवचनं टाप् च लोपश्च तयपः[1]। टाबिति टाबादयो निर्दिश्यन्ते……। अन्येषामेवं पाठः—अद्विवचनयप्वति (?)। केचित् पुनरेवं पठन्ति—उभस्योभयोरद्विवचने[2]। उभस्योभयो भवति अद्विवचन इति। २७०।

३२. तत्रैतस्मिन्नग्रे भाष्यकारस्याभिप्रायमेवं व्याख्यातारः समर्थयन्ते[3]। २८१।

३३. न च तेषु भाष्यसूत्रेषु[4] गुरुलघुप्रयत्नः क्रियते। तथा चा—[ह]—नहीदानीमाचार्याः कृत्वा सूत्राणि निवर्तयन्ति इति[5]। भाष्यसूत्राणि हि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां निदर्शनसमर्थतराणि। २८१, २८२।

३४. इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि ततः पूर्वपराधरेति[6]………। २८७।

३५. विग्रहभेदं प्रतिपन्नाः वृत्तिकाराः। २९५।

३६. अस्मिन् विग्रहे क्रियमाणे सूत्रे यो दोषः स उक्तः। इदानीं वृत्तिकारान्तर[मत]मुपन्यस्यति। ३०६।

मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्त्ता भवति चन्द्रमाः। निरुक्त ५। २१॥

१. एवं च भर्तृहरिणा उभयोन्यत्रेति वार्तिकमूलभूतम् 'उभस्य द्विवचनं टाप् च लोपश्च यस्य' इति व्याकरणान्तरसूत्रमुदाहृतम्। नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।१।२७॥

२. तुलना करो—आपिशलिस्त्वेवमर्थं सूत्रयत्येव—उभस्योभयोरद्विवचनटापोः। तन्त्रप्रदीप २।३।८॥ देखो—भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९५।

३. बहुवचन निर्देश से स्पष्ट है कि भर्तृहरि से पूर्व महाभाष्य की अनेक व्याख्याएं रची गई थीं।

४. भाष्यसूत्र से यहां वार्तिकों का ग्रहण है। इससे प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी पर वृत्तियां ही लिखी गईं, अत एव उसका नाम 'वृत्तिसूत्र' है। देखो—पूर्व पृष्ठ २२२। वार्तिकों पर वृत्तियां नहीं बनीं, उन पर भाष्य ही लिखे गये।

५. महाभाष्य, अ० १, पाद १, आ० १, पृष्ठ १२।

६. तुलना करो—त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि। कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।१।३४॥

३७. अत एषां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम् ।... अतो गणपाठ एव ज्यायानस्यापि वृत्तिकारस्य, इत्येतदनेन प्रतिपादयति । ३०९ ।

३८. नैव सौनागदर्शनामाश्रीयते । ३१० ।

३९. तस्मादनर्थकमन्तग्रहणं दृश्यते । न्यासे[1] तु प्रयोजनमन्तग्रहणस्योक्तम्—स्वभावैजन्तप्रतिपत्त्यर्थम्, इह मा भूत् कुम्भका-[रेभ्यः] इति । ३१४ ।

४०. मा नः समस्य दूढ्य[2] इति । एतस्य निरुक्तकारो व्याख्यानं करोति–मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधिय इति[3] । ३२३ ।

४१. अन्येषां पुनर्लक्षणे 'समो युक्ते' समशब्दो युक्तेऽर्थे न्याय्येऽर्थे वर्तते सर्वनामसंज्ञो भवति । इह तु न समशब्दो युक्तार्थे प्रयुक्त इति दोषाभावः । ३२३ ।

४२. सर्वव्याख्यानकारै[4]रिदमवसितं मुखस्वरेणैव भवितव्यमुपाग्निमुख इति । अत्र वर्णयन्ति । ३२८ ।

४३. कथं तदुक्तं भारद्वाजा अस्मात् मतात् प्रच्याव्यते इत्युच्यते । यथानेन स्मृत्वोपनिबद्धं ततः प्रच्याव्यत इति । ३५९ ।

४४. उभयथा आचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः–केचिद् वाक्यस्य केचिद् वर्णस्येति[5] । ३७२ ।

---

१. यह न्यास जितेन्द्रबुद्धिविरचित 'न्यास' अपरनाम 'काशिकाविवरणपञ्जिका' से भिन्न ग्रन्थ है । क्योंकि उसमें यह पाठ नहीं है । भामह ने काव्यालंकार ६ । ३६ में किसी न्यासकार का उल्लेख किया है । भामह स्कन्दस्वामी (वि० सं० ६८७) का पूर्ववर्ती है । अनेक विद्वान् भामह और जिनेन्द्रबुद्धि का पौर्वापर्य संबन्ध निश्चित करते रहे, वह सब वृथा है । क्योंकि प्राचीन काल में न्यासग्रन्थ अनेक थे । अतः भामह किस न्यासकार का उल्लेख करता है, यह अज्ञात है ।

२. ऋग्वेद ८ । ७५ । ९ ॥ ३. निरुक्त ५ । २३ ॥

४. इससे भी महाभाष्य पर अनेक प्राचीन व्याख्याओं की सूचना मिलती है ।

५. इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की वृत्ति भी बनाई थी ।

४५. श्रुतेरर्थात् पाठाच्च प्रसृतेऽथ मनीषिणः ।
स्थानान्मुख्याच्च धर्माणामाहुः श्रुतिर्वेदक्रमात् ॥

श्रुतेः क्रममाहुः—हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः। अथशब्दोऽनन्तरार्थस्य द्योतकः श्रूयते। तत्र इदं कृत्वा इदं कर्तव्यमिति। क्रमप्रवृत्तिरर्थक्रमो यदार्थ एवमुच्यते—देवदत्तं भोजय स्नापयानुलेपयोद्वर्तयाभ्यञ्जयेति। अर्थात् क्रमो नियम्यते—अभ्यञ्जनमुद्वर्तनं स्नापनमनुलेपनं भोजनमिति। पाठक्रमो नियतानुपूर्विके श्रुतिर्वेदवाक्येष्वनेकार्थोपदाने उद्देशिनामनुदेशिनां च सकृदर्थित्वेन व्यवतिष्ठते। यथा स्मृतौ परिमार्जनप्रदाहनेक्षणनिर्णेजनानि तैजसमात्रिकद्वारवतामिति। ३७७।

४६. इहास्तेः केचिद् सकारमात्रमुपदिश्य पित्सु अडागमं विदधति,[1] केचिद् अकारलोपमपित्सु वचनेषु। ३८०।

४७. तत्रेदं दर्शनं—पदप्रकृतिः संहितेति[2]। ४११।

महाभाष्यदीपिका में प्राचीन भाष्यव्याख्याओं का उल्लेख

महाभाष्यदीपिका में **केचित् अपरे अन्ये** आदि शब्दों से महाभाष्य के अनेक प्राचीन व्याख्याकारों के पाठ उद्धृत हैं। हम यहां उनका संकेतमात्र करते हैं—

केचित्—४, ६१, १६७, १७६, १७६, १८६, २०४, २०५, २११, २८०, ३२१, ३३३, ३७४, ४००, ४०४, ४०७, ४२४।

केषाञ्चित्—३६, १७८, ४२४।

अन्ये—४, ५७, ७०, १५४, १६०, १६६, १७६, १७६, १८३, १८५, २७६, २८०, ३०८, ३३६, ३७४, ३८२, ३६१, ३६७, ३६६।

अन्येषाम्—१८, ३६, ४६।

अपरे—७०, ७६, १६४, १७६, १७८, १८६, १६७, २०५, ३२६, ३६५, ३६८, ४००, ४०४, ४२४।

---

१. यह आपिशलि का मत है। देखो—अष्टा० १।३।२३ की काशिकाविवरणपञ्जिका और पदमञ्जरी।

२. निरुक्त १।१७॥ तुलना करो—ऋक्प्राति० २।१॥

महाभाष्य की प्राचीन टीकाओं में भाष्य के पाठान्तर—१५, १६, १००, १०४, १६५, १६८, १८१, ४१५, ४१६, ४३०।

विशिष्ट पदों का व्यवहार

वाक्यकार (=वार्तिककार)—६२, ११६, १६२, २८०, ३७८, ४१४।

चूर्णिकार (=महाभाष्यकार)—१७६, १६६, २३६।

इह भवन्तस्त्वाहुः[1]—६१, १०७, १२५, २६६[2], २७२।

२. अज्ञातकर्तृक (सं० ६८० वि० से पूर्व)

स्कन्दस्वामी ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध भाष्यकार है। उसने निरुक्त पर भी टीका लिखी है। वह निरुक्त १। २ की टीका में लिखता है—

अन्ये वर्णयन्ति—भावशब्दः शब्दपर्यायः। तथा च प्रयोगः—'यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः' इति, 'सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेनार्थभूताः संबद्धा भवन्ति स तेषां स्वभावः' इति तत्र व्याख्यायते।

यहां स्कन्दस्वामी ने पहिले **'यद्वा...भावः'** पाठ उद्धृत किया है। यह पाठ महाभाष्य ५। १। ११६ का है। तदनन्तर **'सर्वे...स्वभावः'** पाठ लिख कर अन्त में **'तत्र व्याख्यायते'** लिखा है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी ने उत्तर पाठ महाभाष्य की किसी प्राचीन-टीका ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

स्कन्दस्वामी हरिस्वामी का गुरु है। हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण प्रथम काण्ड का भाष्य संवत् ६९५ वि. में लिखा है।[3] यदि हरिस्वामी की तिथि कलि सं० ३०४७ हो, जैसा कि पूर्व पृष्ठ ३६२-३६३ पर लिखा है, तो स्कन्द स्वामी की निरुक्त टीका में उद्धृत महाभाष्य-व्याख्या विक्रम संवत् प्रवर्तन से भी पूर्ववर्ती होगी।

---

१. महाभाष्य ३।१।८ में भी 'इह भवन्तस्त्वाहुः' का उद्धरण मिलता है।

२. यहां महाभाष्यदीपिका में 'इन्द्रभवरूवाहुः' अपपाठ है। द्र०—पूर्व पृष्ठ ३२३।

३. देखो—पूर्व पृष्ठ ३६२।

३. कैयट (सं० ११०० वि० से पूर्व)

कैयट ने महाभाष्य की **'प्रदीप'** नाम्नी एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी है। महाभाष्य पर उपलब्ध टीकाओं में भर्तृहरि की महाभाष्य-दीपिका के अनन्तर यही सब से प्राचीन टीका है।

परिचय

वंश—कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो वाक्य उपलब्ध होता है, उसके अनुसार कैयट के पिता का नाम **'जैयट उपाध्याय'** था।[1]

मम्मटकृत काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' नाम्नी टीका में भीमसेन ने कैयट और उव्वट को मम्मट का अनुज लिखा है। यजुर्वेदभाष्य के अन्त में उव्वट ने अपने पिता का नाम 'वज्रट' लिखा है।[2] अतः भीमसेन का लेख अशुद्ध होने से प्रमाण योग्य नहीं है। भीमसेन का काल सं० १७७६ है। प्रतीत होता है कि उसे कैयट उव्वट और मम्मट नामों के सादृश्य के कारण भ्रम हुआ।

आनन्दवर्धनाचार्यकृत 'देवीशतक' की एक कैयटकृत व्याख्या उपलब्ध होती है। व्याख्या का लेखन काल कलि संवत् ४०७८ अर्थात् विक्रम सं० १०३४ है। देवीशतक की व्याख्या में कैयट के पिता का नाम 'चन्द्रादित्य' मिलता है। अतः यह कैयट प्रदीपकार कैयट से भिन्न है।

गुरु—वेल्वाल्कर ने कैयट के गुरु का नाम **'महेश्वर'** लिखा है।[3] इसमें प्रमाण अन्वेषणीय है।

शिष्य—कैयट ने निस्सन्देह अनेक छात्रों के लिये महाभाष्य का प्रवचन किया होगा। परन्तु हमें उनमें से केवल एक शिष्य का नाम ज्ञात हुआ है, वह है—**'उद्योतकर'**। यह उद्योतकर न्यायवार्तिक के रचयिता नैयायिक उद्योतकर से भिन्न व्यक्ति है। कैयट-शिष्य उद्योतकर ने भी व्याकरण पर कोई ग्रन्थ रचा था। उसके कुछ उद्धरण

---

१. इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे...... ॥

२. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं...... ॥

३. द्र०—सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैराग्राफ २८।

पं० चन्द्रसागरसूरि ने हैमबृहद्वृत्ति की आनन्दबोधिनी टीका में उद्धृत किये हैं।[1] उनमें से एक इस प्रकार है—

……स्वगुरुमतमुपदर्शयन्नुद्योतकर आह—यथात्रभवानस्मदुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकर-पूर्णचन्द्रमाः कैयटाख्यः शिष्यसार्थमिदमवोचत्—भृत्यापेक्षयात्र षष्ठी कृता, न साध्यापेक्षया ।[2]

हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में भी पृष्ठ १४३ पर उद्योतकर का निम्न पाठ उद्धृत है—

उद्योतकरस्त्वत्राह—'सिनोतेरेव ग्रहणं न्याय्यं सयेत्यनेन साहचर्यात्। किं च स्यतिग्रहणे नियमार्थता जायते, सिनोतिग्रहणे तु विध्यर्थता। विधिनियमसंभवे च विधिरेव ज्यायान्। न च वाच्यमेकेनैव सितग्रहणेन स्यतिसिनोत्युभयस्योपादानाद्विध्यर्थता नियमार्थताऽपि स्यात्' इति।

इस बृहद् हैमवृत्त्यवचूर्णि ग्रन्थ का लेखनकाल सं० १२६४ वि० श्रा० शु० ३ रविवार है।

देश—कैयट ने अपने जन्म से किस देश को गौरवान्वित किया यह अज्ञात है, परन्तु कैयट मम्मट रुद्रट उद्भट आदि नामों के सादृश्य से प्रतीत होता है कि कैयट कश्मीर देश का निवासी था। काशी के पुरानी पीढ़ी के वैयाकरणों में प्रसिद्धि रही है कि एक वार कैयट काशी की पण्डित-सभा में उपस्थित हुआ था। पायजामा पहरे होने के कारण उसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, परन्तु शास्त्रीय-तत्त्व विशेष पर, जो सभा में प्रस्तूयमान था, कैयट ने समाधान प्रस्तुत किया, तो पण्डित-मण्डली चकित रह गई[3]। इस अनुश्रुति से भी कैयट का कश्मीरदेशज होना प्रकट होता है।

महाभाष्य १।२।६४ के **'वृक्षस्थोऽवतानो वृक्षे छिन्नेऽपि न नश्यति'** के व्याख्यान में कैयट लिखता है—**'यथा वृक्षोपरि द्राक्षादिलता** ····। इस दृष्टान्त से भी कैयट का कश्मीरदेशज होना पुष्ट होता है। पुराकाल में द्राक्षालता भारत में कश्मीर में ही प्रधानरूप से होती थी।

---

१. हैमबृहद्वृत्ति भाग १, पृष्ठ १८८, २१०।

२. हैमबृहद्वृत्ति भाग १, पृष्ठ २१०

३. यह किंवदन्ती हमने काशी के वैयाकरण-मूर्धन्य श्री पं० देव नारायण जी त्रिवेदी (तिवारी) से अध्ययनकाल (सन् १९२७) में सुनी थी।

काल

कैयट ने अपने विषय में कुछ भी संकेत नहीं किया । अतः उसका इतिवृत्त तथा काल अज्ञात है। हम उसके काल-निर्णायक बाह्यसाक्ष्यरूप कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—सर्वानन्द ने अमरकोष की टीकासर्वस्व नाम्नी व्याख्या संवत् १२१६ में लिखी है। उसमें वह मैत्रेयरक्षित-विरचित धातुप्रदीप[1] और उसकी किसी टीका[2] को उद्धृत करता है।

२—मैत्रेयरक्षित तन्त्रप्रदीप १। २। १ में नामनिर्देशपूर्वक कैयट को स्मरण करता है– **कज्जटस्तु कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यकारवचनादेवंविधविषये पञ्चमी भवतीति मन्यते ।**[3]

३—मैत्रेयरक्षित अपने तन्त्रप्रदीप[4] और धातुप्रदीप[5] में धर्मकीर्ति तथा तद्रचित रूपावतार को उद्धृत करता है।

४—धर्मकीर्ति रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करता है।[6]

५—हरदत्तविरचित पदमञ्जरी और कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की तुलना करने से विदित होता है कि अनेक स्थानों में दोनों ग्रन्थ अक्षरशः समान हैं। इससे सिद्ध है कि दोनों में से कोई एक दूसरे के ग्रन्थ की प्रतिलिपि करता है। यद्यपि किसी ने किसी के नाम का निर्देश नहीं किया, तथापि निम्न पाठों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है।

---

१. भाग १, पृष्ठ ५५, १५३, १५७ इत्यादि ।

२. भाग ४, पृष्ठ ३०। दुर्घटवृत्ति (सं० १२२९ वि.) में भी 'धातुप्रदीप' टीका पृष्ठ १०३ पर उद्धृत है।

३. भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९३ की टिप्पणी में उद्धृत ।

४. अविनीतकीर्तिना [धर्म]कीर्तिना त्वाहोपुरुषिकया लिखितम्—तनिपतिदरिद्रातिभ्यो वेड् वाच्य इत्यनार्षमिति । तन्त्रप्रदीप ७।२।४९। धातुप्रदीप की भूमिका पृष्ठ ३ में उद्धृत ।

५. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सत्येकाच्त्वात् यङ्-दाहृतः चोचूर्यत इति । धातुप्रदीप पृष्ठ १३१ ।

६. दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः । रूपावतार भाग २, पृष्ठ १५७ ।

कैयट—**यद्वा प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति टच् समासान्तः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते, तथापि परशब्दस्याक्षिशब्देनाव्ययीभावासंभवात् समासान्तरे विज्ञायते।**[1]

हरदत्त—**अन्ये तु प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति शरत्प्रभृतिषु पाठात् टच् समासान्त इत्याहुः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते, तथापि परशब्देनाव्ययीभावासंभवात् समासान्तरे विज्ञायते। एवं तु क्रियायां परोक्षायामितिभाष्यप्रयोगे टिल्लक्षणो ङीष् प्राप्नोति, तस्मादजन्त एवायम्।**[2]

कैयट—**ऊर्ध्वं दमाच्चेति—दमशब्दे उत्तरपदे ठञ्सन्नियोगेनोर्ध्वशब्दस्य मकारान्तत्वं निपात्यते।**[3]

हरदत्त – **ऊर्ध्वशब्देन समानार्थ ऊर्ध्वं शब्द इति, स चैतद्वृत्तिविषय एव। अपर आह—ठञ्सन्नियोगेन दमशब्द उत्तरपदे ऊर्ध्वशब्दस्यैव मान्तत्वं निपात्यत इति।**[4]

कैयट—**गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधश्च यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥**
इति संग्रहश्लोकः।[5]

हरदत्त—**आह च—**

**गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधश्च यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥**[6]

इनमें प्रथम उद्धरण में हरदत्त '**अन्ये ... आहुः**' शब्दों से कैयट के मत का अनुवाद करके उसका खण्डन करता है। द्वितीय में '**अपर आह**' और तृतीय में '**आह च**' लिखकर कैयट के पाठ को उद्धृत करता है। इन पाठों से स्पष्ट है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है, और हरदत्त कैयट के पाठों की प्रतिलिपि करता है।

अब हम हरदत्त का एक ऐसा वचन उद्धृत करते हैं, जिसमें हरदत्त स्पष्टरूप से कैयटकृत महाभाष्य-व्याख्या को उद्धृत करता है। यथा—

---

१. प्रदीप ३।२।११५॥ २. पदमञ्जरी ३।२।११५॥
३. प्रदीप ४।३।६०॥ ४. पदमञ्जरी ४।३।६०॥
५. प्रदीप ७।२।५॥ ६. पदमञ्जरी ७।२।५॥

अन्ये तु 'हे त्रप्विति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीति भाष्यं व्याचक्षाणा नित्यमेव गुणमिच्छन्ति। पदमञ्जरी ७।१।७२॥

तुलना करो महाभाष्यप्रदीप—**हे त्रपु हे त्रपो इति –हे त्रपु इति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीत्यर्थः।७।१।७२॥**

भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार भी हरदत्त को कैयटानुसारी लिखता है।[1]

पदमञ्जरी और महाभाष्यप्रदीप में एक स्थल ऐसा भी है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रदीपकार कैयट हरदत्त के पाठ को उद्धृत करता है। यथा

तच्छब्दान्तरमेव अव्युत्पन्नमेव प्रबन्धस्य वाचकम्। पारम्पर्यमित्यपि तस्मादेव स्वार्थे ष्यञि भवति। कथं पारोवर्यविद् इति? असाधुरेवायम्, खप्रत्ययसन्नियोगेन परोवरेति निपातनात्। पदमञ्जरी ५।२।१०॥

तुलना करो महाभाष्यप्रदीप **अन्ये तु परम्पराशब्दमव्युत्पन्नमाचक्षते। तस्मात् स्वार्थे ष्यञि 'पारम्पर्यम्' इति भवति। 'पारोवर्यविद्' इत्यस्यासाधुत्वमाहुः, प्रत्ययसन्नियोगेनैव निपातनस्य युक्तत्वं मन्यमानाः। ५।२।१०॥**

इस पाठ की उपस्थिति में पुनः यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि कैयट और हरदत्त दोनों में कौन प्राचीन है।[2] पुनरपि हमारा विचार है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है। हो सकता है कि कैयट ने उक्त उद्धरण किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया हो, और हरदत ने उसी मत को प्रमाण मान कर 'पदमञ्जरी' में स्वीकार किया हो।

यद्यपि पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थकारों में मैत्रेयरक्षित धर्मकीर्ति और हरदत्त का काल भी अनिश्चित है, तथापि परस्पर एक दूसरे को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का अन्तर मान कर इन का काल इस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है—

---

१. प्राचीनवृत्तिटीकायां कज्जटमतानुसारिणा हरिमिश्रेणापि ……। पत्रा ३६ क।

२. भविष्यत् पुराण के आधार पर डा० याकोबी ने हरदत्त का देहावसान ८७८ ई० के लगभग माना है। जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी बम्बई, भाग २३, पृष्ठ ३१।

ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थनाम	काल
सर्वानन्द	टीकासर्वस्व	१२१५ वि० सं०
... ...	धातुप्रदीपटीका	११९० ,,
मैत्रेयरक्षित	धातुप्रदीप	११६५ ,,
धर्मकीर्ति	रूपावतार[1]	११४० ,,
हरदत्त	पदमञ्जरी	१११५ ,,
कैयट	महाभाष्यप्रदीप	१०९० ,,

इस प्रकार कैयट का काल अधिक से अधिक विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। सम्भव है कैयट इस से भी अधिक प्राचीन ग्रन्थकार हो, परन्तु दृढ़तर प्रमाण के अभाव में अभी इतना ही कहा जा सकता है।

महाभाष्य-प्रदीप

कैयट ने अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि मैंने यह व्याख्या भर्तृहरिनिबद्ध साररूप ग्रन्थसेतु के आश्रय से रची है।[2] यहां कैयट का अभिप्राय भर्तृहरिविरचित 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्णकाण्ड' से है। यह 'सार' शब्द के निर्देश से स्पष्ट है।

कैयट ने सम्पूर्ण प्रदीप में केवल एक स्थन पर भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' की ओर संकेत किया है,[3] दीपिका का पाठ कहीं पर उद्धृत नहीं किया। इस के विपरीत 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्णकाण्ड' के शतशः उद्धरण भाष्यप्रदीप में उद्धृत हैं। प्रदीप से कैयट का व्याकरण-विषयक प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है। सम्प्रति महाभाष्य जैसे दुरूह ग्रन्थ को समझने में एकमात्र सहारा प्रदीप ग्रन्थ है। इस के विना महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता। अतः पाणिनीय संप्रदाय में कैयटकृत 'महाभाष्यप्रदीप' अत्यन्त महत्त्व रखता है।

महाभाष्य-प्रदीप के टीकाकार

महाभाष्यप्रदीप के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण अनेक

---

१. रूपावतार और धर्मकीर्ति को हेमचन्द्र ने लिङ्गानुशासन की स्वोपज्ञ-वृत्ति में (पृ० ७१) उद्धृत किया है—वाः वारि, रूपावतारे तु धर्मकीर्तिनास्य नपुंसकत्वमुक्तम्। २. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना······ ।
३. विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः। नवाह्निक निर्णयसागर संस्करण पृष्ठ २०।

वैयाकरणों ने इस पर टीकाएं लिखी हैं। उनमें से निम्न टीकाकारों की टीकाएं उपलब्ध या ज्ञात हैं—

१. चिन्तामणि
२. शेष नागनाथ
३. मल्लय यज्वा
४. रामचन्द्र सरस्वती
५. ईश्वरानन्द सरस्वती
६. अन्नंभट्ट
७. नारायण
८. रामसेवक
९. नारायण शास्त्री
१०.. नागेशभट्ट
११. प्रवर्तकोपाध्याय
१२. आदेन्न
१३. सर्वेश्वर सोमयाजी
१४. हरिराम
१५ अज्ञातकर्तृक

इन टीकाकारों का वर्णन हम 'महाभाष्य प्रदीप के व्याख्याकार' नामक बारहवें अध्याय में करेंगे।

४. ज्येष्ठकलश (सं० १०८५--११३५ वि०)

ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की एक टीका लिखी थी, ऐसी ऐतिहासिकों में प्रसिद्धि है।[1] परन्तु गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी से प्रकाशित 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के सम्पादक पं० मुरारीलाल शास्त्री नागर का मत है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य पर कोई टीका नहीं रची।[2] हमारा भी यही विचार है। बिल्हण का लेख इस प्रकार है—

महाभाष्यव्याख्यामखिलजनवन्द्यां विदधतः,
सदा यस्यच्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपि।[3]

यहां 'विदधतः' वर्तमान काल का निर्देश और छात्रों से शोभित प्राङ्गण (=बरामदा) का वर्णन होने से प्रतीत होता है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की टीका नहीं रची, अपितु उक्त श्लोक में केवल उसके महाभाष्य के प्रवचन में अत्यन्त पटु होने का उल्लेख किया है, फिर भी ऐतिहासिकों को इस विषय पर अनुसंधान करना चाहिए, ऐसा हमारा विचार है।

---

१. कृष्णमाचार्य कृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १६५।

२. विक्रमाङ्कदेवचरित की भूमिका पृष्ठ ११।

३. सर्ग १८, श्लोक ७६।

परिचय

वंश- ज्येष्ठकलश कौशिक गोत्र का ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम राजकलश और पितामह का नाम मुक्तिकलश था। ये सब श्रोत्रिय और अग्निहोत्री थे। ज्येष्ठकलश की पत्नी का नाम नागदेवी था। ज्येष्ठकलश के बिल्हण इष्टराम और आनन्द नामक तीन पुत्र थे। ये सब विद्वान् और कवि थे। बिल्हण ने **'विक्रमाङ्कदेवचरित'** नामक महाकाव्य की रचना की है।

देश—ज्येष्ठकलश कश्मीर में 'प्रवरपुर' के पास **'कोनमुख'** ग्राम का निवासी था। वह मूलतः मध्यदेशीय ब्राह्मण था।

काल

ज्येष्ठकलश का पुत्र बिल्हण कश्मीर छोड़ कर दक्षिण देश में चला गया। वह कल्याणी के चालुक्यवंशी षष्ठ विक्रमादित्य त्रिभुवन-मल्ल का सभा पण्डित था। उसने बिल्हण को **'विद्यापति'** की उपाधि से विभूषित किया था। इस विक्रमादित्य का काल वि० सं० ११३३–११८४ तक माना जाता है। अतः बिल्हण के पिता ज्येष्ठ-कलश का काल वि० सं० १०८५–११३५ तक रहा होगा।

बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के अठारहवें सर्ग में अपने वंश का विस्तार से परिचय दिया है।

५. मैत्रेय रक्षित (सं० ११४५--११७५ वि०)

मैत्रेय रक्षित बौद्ध वैयाकरणों में विशिष्ट स्थान रखता है। सीरदेव ने परिभाषा-वृत्ति में मैत्रेय रक्षित को बहुशः उद्धृत किया है। उनमें कुछ उद्धरण ऐसे हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि मैत्रेय रक्षित ने महाभाष्य की कोई टीका रची थी। सीरदेव के वे उद्धरण नीचे लिखे जाते हैं—

१—एनच्च 'आतो लोप इटि च' (अष्टा० ६।४।६४) इत्यत्र 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (अष्टा० ३।४।७९) इत्यत्र च भाष्यव्याख्यानं रक्षितेनोक्तम्। परि० पृष्ठ ७१।

२ एतच्च 'सर्वस्य द्वे' (अष्टा० ८।१।१) इत्यत्र भाष्य-व्याख्यानं रक्षितेनोक्तम्। परि० पृष्ठ ५१।

३—तत्रैतस्मिन् भाष्ये रक्षितेनोक्तम्। परि० पृष्ठ ७१।

४—अत एव 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' (अष्टा० ७।४।२) इत्यत्र रक्षितेनोक्तम्—हलचोरादेशो न स्थानिवदिति, यदि हि स्यात् केवलाग्लोपे प्रतिषेधस्यानर्थक्यादिति भाष्यटीकायां निरूपितम्। परि० पृष्ठ १५४।

इन उद्धरणों में **'भाष्यव्याख्यान'** और **भाष्यटीका** शब्दों का निर्देश महत्त्वपूर्ण है।

देश– मैत्रेय रक्षित सम्भवतः बंग देश का निवासी है। इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के 'धातु-पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक २१वें अध्याय में मैत्रयरक्षित विरचित 'धातुप्रदीप' के प्रकरण में प्रकाश डाला है।

काल—मैत्रेय रक्षित का निश्चित समय अज्ञात है। कैयट के काल-निर्देश में हमने मैत्रेय रक्षित के 'धातुप्रदीप' का आनुमानिक रचना-काल संवत् ११६५ वि० लिखा है (द्र०—पृष्ठ ३९६)। तदनुसार मैत्रेयरक्षित का काल सं० ११४५–११७५ वि० के आसपास माना जा सकता है।

अन्य ग्रन्थ

मैत्रेय रक्षित ने न्यास की **'तन्त्रप्रदीप'** नाम्नी महती टीका, **धातुप्रदीप** और **दुर्घटवृत्ति** लिखी थी। इनका वर्णन हम आगे तत्तत् प्रकरणों में करेंगे।[1]

६. पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि०)

पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य पर **'प्राणपणा'** नाम की एक लघुवृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति की व्याख्या का टीकाकार मणिकण्ठ[2] इसका नाम 'प्राणपणित' लिखता है।

पुरुषोत्तमदेव बङ्गप्रान्तीय वैयाकरणों में प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है। अनेक ग्रन्थकार पुरुषोत्तमदेव के मत प्रमाणकोटि में

---

१. तन्त्रप्रदीप—'काशिका के व्याख्याता' नामक १५वें अध्याय में न्यास के व्याख्याता प्रकरण में। धातुप्रदीप—'धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक २१ वें अध्याय में। दुर्घटवृत्ति—'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' नामक १४वें अध्याय में।

२. देखो—पृष्ठ आगे ४०२, टि० १।

उपस्थित करते हैं। कई स्थानों में इसे केवल **'देव'** नाम से स्मरण किया है।

परिचय

पुरुषोत्तमदेव ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः उसका वृत्तान्त अज्ञात है।

देश—पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की भाषावृत्ति में प्रत्याहार-परिगणन करते हुए लिखा है— **अश् हश् वश् झश् जश् पुनर्बश्।**[1] इस वाक्य में **'पुनः'** पद के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पुरुषोत्तमदेव बंगदेश निवासी था। क्योंकि बंगप्रान्त में 'ब' और 'व' का उच्चारण समान अर्थात् पवर्गीय 'ब' होता है। अत एव पुरुषोत्तमदेव ने उच्चारणजन्य पुनरुक्तदोष परिहारार्थ **'पुन'**: शब्द का प्रयोग किया है।

मत—देव ने महाभाष्य और अष्टाध्यायी की व्याख्याओं के मंगल श्लोक में 'बुद्ध' को नमस्कार किया है।[2] भाषावृत्ति में अन्यत्र भी जिन, बौद्धदर्शन और महाबोधि के प्रति आदरभाव सूचित किया है।[3] इन से स्पष्ट है कि पुरुषोत्तमदेव बौद्धमतानुयायी था।

काल

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि राजा लक्ष्मणसेन[4] की आज्ञा से पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति बनाई थी।[5] राजा लक्ष्मणसेन का राज्यकाल अभी तक सांशयिक है। अनेक व्यक्ति

---

१. भाषावृत्ति पृष्ठ १।

२. महाभाष्य०—नमो बुधाय बुद्धाय। भाषावृत्ति—नमो बुद्धाय……।

३. जिनः पातु वः। ३। ३। १७३॥ न दोषप्रति बौद्धदर्शने।२।२।६॥ महाबोधिं गन्तास्म।३।३।११७॥ प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।१।४।३२॥

४. श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती प्रभृति कुछ लोग लक्ष्मणसेन के युवराजत्व काल में भाषावृत्ति की रचना मानते हैं (द्र० – सं० व्या० का उद्भव और विकास, पृष्ठ २८८) यह चिन्त्य है। क्योंकि सृष्टिधराचार्य ने लक्ष्मणसेन को राजा लिखा है, न कि युवराज। इस का कारण यह है कि वे लक्ष्मणसेन का राज्य काल ११६६ ई०(=सं०१२२६वि०)से मानते हैं। यह मान्यता भी अशुद्ध है।

५. वैदिकप्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञ आज्ञया प्रकृते कर्मणि प्रसजन्। भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति के आरम्भ में।

लक्ष्मणसेन के राज्यकाल का आरम्भ विक्रम संवत् ११७४ के लगभग मानते हैं। पुरुषोत्तमदेव का लगभग यही काल प्रमाणान्तरों से भी ज्ञात होता है। यथा—

१—शरणदेव ने शकाब्द १०९५ तदनुसार विक्रम संवत् १२३० में दुर्घटवृत्ति की रचना की।[1] दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव और उसकी भाषावृत्ति अनेक स्थानों पर उद्धृत है। अतः पुरुषोत्तमदेव संवत् १२३० वि० से पूर्वभावी है, यह निश्चित है।

२—वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने 'अमरटीकासर्वस्व' शकाब्द १०८१ तदनुसार विक्रम संवत् १२१६ में रचा।[2] सर्वानन्द ने अनेक स्थानों पर पुरुषोत्तमदेव और उसके भाषावृत्ति, त्रिकाण्डशेष, हारावली और वर्णदेशना आदि अनेक ग्रन्थ उद्धृत किये हैं। अतः पुरुषोत्तमदेव ने अपने ग्रन्थ संवत् १२१६ से पूर्व अवश्य रच लिये थे, यह निर्विवाद है।

महाभाष्य-लघुवृत्ति

पुरुषोत्तमदेव विरचित भाष्यवृत्ति का प्रथम परिचय पं० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने दिया है।[3] इसका नाम प्राणपणा था। पुरुषोत्तमदेवकृत भाष्यवृत्ति का व्याख्याता शंकर पण्डित लिखता है -

'अथ भाष्यवृत्तिव्याचिख्यासुर्देवो विघ्नविनाशाय सदाचारपरिप्राप्तमिष्टदेवतानतिस्वरूपं मङ्गलमाचचार। तत्पद्यं यथा—

नमो बुधाय बुद्धाय यथात्रिमुनिलक्षणम्।
विधीयते प्राणपणा भाषायां लघुवृत्तिका॥ इति देव ।'

---

१. शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपञ्चविताने पृष्ठ १।

२. इदीनां चैकाशीतिवर्षाधिकसहस्रैकपर्यन्तेन शकाब्दकालेन (१०८१) —·····—। भाग १, पृष्ठ ६१।

३. देखो—इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०१। पुरुषोत्तमदेव की भाष्यवृत्ति और उसके व्याख्याताओं का वर्णन हमने इसी लेख के आधार पर किया है। तथा वारेन्द्र रिसर्च म्यूजियम राजशाही, बंगाल (वर्तमान में बंगलादेश) से मुद्रित पुरुषोत्तमदेव विरचित 'परिभाषावृत्ति' के अन्त में भी ये सब अंश अधिक विस्तार से छपे हैं।

शंकर-विरचित व्याख्या के टीकाकार मणिकण्ठ ने देवकृत व्याख्या का नाम **'प्राणपणित'** लिखा है।[1]

अन्य व्याकरण-ग्रन्थ

१ **कुण्डली-व्याख्यान**—श्रुतपाल ने 'कुण्डली' नामक कोई व्याकरण ग्रन्थ लिखा था। श्रुतपाल के व्याकरण-विषयक अनेक मत भाषावृत्ति,[2] ललितपरिभाषा,[3] कातन्त्रवृत्तिटीका[4] और जैन शाकटायन की अमोघा वृत्ति[5] में उपलब्ध होते हैं। शङ्कर 'कुण्डली' ग्रन्थ के विषय में लिखता है—

'फणिभाष्येऽत्र दुर्गत्वं कज्जटेन प्रकाशितम्।
श्रुतपालस्य राद्धान्तः कुण्डल्यां कुण्डलायते॥'

शङ्कर पण्डित देवविरचित कुण्डली-व्याख्यान के विषय में लिखता है—

'समाख्यातश्च पुरुषोत्तमदेवः परिसमाप्तसकलक्रियाकलापः कुण्डली-व्याख्याने बद्धपरिकरः प्रतिजानीते—

कुण्डलीसप्तके येऽर्था दुर्बोध्याः फणिभाषिताः।
ते सर्वे प्रतिपाद्यन्ते साधुशब्देन भाषया।
यदि दुष्प्रयोगशाली स्यां फणिभक्ष्यो भवाम्यहम्॥'

२—**कारक-कारिका**—इस ग्रन्थ में कारक का विवेचन है। यह इस के नाम से ही व्यक्त है।

इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेव ने व्याकरण पर अनेक ग्रन्थ रचे थे। उनमें से निम्न ग्रन्थ ज्ञात हैं—

३—भाषावृत्ति
४—दुर्घटवृत्ति
५—परिभाषावृत्ति
६—ज्ञापक-समुच्चय
७—उणादिवृत्ति
८—कारकचक्र

---

१. श्री देवव्याख्यातप्राणपणितभाष्यग्रन्थस्य ...। इ० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ ३०३॥

२. अत्र संस्करोतेः कैयटश्रुतपालयोर्मतभेदात्।८।३।५॥

३. कार्मस्ताच्छील्ये (अष्टा० ५।४।१७२) इत्यत्र श्रुतपालेन ज्ञापितो ह्ययमर्थः। 'वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी' हस्तलेख नं० ६३०, पत्रा ३२ क।

४. कृतप्रकरण, ६८॥

५. ३।१।१८२, १८३

इन ग्रन्थों का वर्णन यथाप्रकरण इस ग्रन्थ में आगे किया जायगा।

अन्य ग्रन्थ—उपर्युक्त व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त **त्रिकाण्ड-शेष=अमरकोष-परिशिष्ट, हारावली-कोष** और **वर्णदेशना** आदि ग्रन्थ पुरुषोत्तमदेव ने रचे थे। त्रिकाण्डशेष और हारावली मुद्रित हो चुके हैं।

महाभाष्य-लघुवृत्ति के व्याख्याता

१. शंकर

नवद्वीप निवासी किसी शंकर नामक पण्डित ने पुरुषोत्तमदेव की महाभाष्य लघुवृत्ति पर एक व्याख्या लिखी है। उसका कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।[1]

शंकरकृत व्याख्या का टीकाकार—मणिकण्ठ

शंकरकृत लघुवृत्ति-व्याख्या पर पण्डित मणिकण्ठ ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका का भी कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।[2] इस टीका में **'कारक-विवेक'** नामक ग्रन्थ की एक कारिका[3] और **भार्ग्याचार्य** का भाव का लक्षण उद्धृत है।[4] कारक-विवेक के नाम से उद्धृत वचन वाक्यपदीय[5] और पुरुषोत्तमदेव-विरचित कारक-कारिका[6] के पाठ से मिलता है। भार्ग्याचार्य का नाम अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

२. भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार

पुरुषोत्तमदेवविरचित भाष्यव्याख्या पर किसी अज्ञातनामा

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३।

२. वही इं० हि० क्वा०।

३. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते सोऽर्थो जातिशब्दे पृथक्-पृथक्। इत्यादि कारकविवेके लिखनात्...। इ० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ २०४।

४. तस्मात् 'भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययादिति भावः' इति भार्ग्याचार्यलक्षणं शरणम्। इं० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ २०४।

५. वाक्यपदीय काण्ड ३, क्रियासमुद्देश। ६. जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः। इं० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ २०४।

विद्वान् ने एक व्याख्या लिखी है। उसका नाम है—**'भाष्यव्याख्या-प्रपञ्च'**। इस का केवल प्रथमाध्याय का प्रथमपाद उपलब्ध हुआ है। उसके अन्त में निम्न लेख है—

'इति फणीन्द्रप्रणीतमहाभाष्यार्थदुरूहतात्पर्यव्याख्यानप्रवृत्तश्री-मद्देवप्रणीतव्याख्याप्रपञ्चे अष्टाध्यायीगतार्थबोधकः प्रथमः पादः समाप्तः। श्रीशिवरुद्रशर्मणः स्वाक्षरश्च शकाब्द १७२॥

शाके पक्षनभोद्रिचन्द्रगणिते वारे शनावाश्विने,
भाष्यग्रन्थनितान्तदुर्गविपिनप्रोद्दामदन्तावलः।
ग्रन्थोऽयं पुरुषोत्तमेन रचितो व्यालोकि यत्नान्मया,
नत्वा श्रीपरदेवताङ्घ्रिकमलं सर्वार्थसिद्धिप्रदम्॥'

श्लोक में ग्रन्थलेखन काल शकाब्द १७०२ लिखा है। अङ्कों में 'शकाब्द १७२' पाठ है। प्रतीत होता है कि लेखकप्रमाद से ७ संख्या से आगे शून्य का लिखना रह गया है। पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के अन्त में (पृष्ठ १५६, वारेन्द्र रि० म्यू० राजशाही) १७०२ शुद्ध पाठ ही छपा है। तदनुसार यह हस्तलेख वि० संवत् १८३७ का है। इस ग्रन्थ में निम्न उद्धरण[1] द्रष्टव्य हैं—

'कृतमङ्गलाः आशुच्याद् विमुच्यन्ते इत्यत्र कृतमङ्गलाः कृतगोभू-हिरण्यशान्त्युदकस्पर्शा इति हरिशर्मा।' पत्रा ३ क।

'पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति।' पत्रा ३ ख।

'ओंकारश्चाथशब्दश्च इति व्याडिलिखनात्।' पत्रा ५ ख।

'अत एव व्याडिः—ज्ञानं द्विविधं सम्यगसम्यक् च।' पत्रा ७ क।

तथा चाभिहितसूत्रे उक्तम् (इन्दुमित्रेण)—

एक एकक इत्याहुर्द्वावित्यन्ये त्रयोऽपरे।
चतुष्कः पञ्चकश्चैव चतुष्के सूत्रमुच्यते।' पत्रा ३१ ख।

'यत्पुनरिन्दुमित्रेणोक्तम्—न तिङन्तान्येकशेषं प्रयोजयन्ति ... **तत्पूर्वपक्षमात्रं** **अत एव प्राचीनवृत्तिटीकायां** कज्जटमतानुसा-रिणा हरिमिश्रेणापि **भाष्यवचनमनूद्य** ।' **पत्रा ३६ क।**

'समानमेव हि संकेतितवदिति मीमांसा। तेन समासस्य शक्तिः

---

१. 'भाष्यव्याख्याप्रपञ्च' के सब उद्धरण इ० हि० क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३ पृष्ठ, २०७ से उद्धृत किये हैं।

कल्प्यते, तन्मते तु लक्षणादिरिति हरिशर्मलिखनात् वैयाकरणस्तन्मत-मेवाद्रियते ।' पत्रा ७१ ख ।

इन उद्धरणों में उद्धृत **हरिशर्मा** सर्वथा अज्ञात है। हरिमिश्र निश्चय 'पदमञ्जरीकार' हरदत्त मिश्र है। क्योंकि वही कैयट का अनुगामी और प्राचीनवृत्ति (=काशिका) का टीकाकार है। **पदशेषकार** काशिका[1] और 'माधवीया धातुवृत्ति'[2] में उद्धृत है। इन्दुमित्र काशिका का व्याख्याता है। इसका वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में होगा। व्याडि के दोनों वचन उसके किस ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं, यह अज्ञात है। सम्भव है कि '**ओंकारश्च**' इत्यादि श्लोक उसके कोष ग्रन्थ से उद्धृत किया गया हो, और '**ज्ञानं द्विविधं**' इत्यादि उसके सांख्यग्रन्थ से लिया गया हो।

७. धनेश्वर (सं० १२५०-१३०० वि०)

पण्डित धनेश्वर ने महाभाष्य की **चिन्तामणि** नाम्नी टीका लिखी है। इसका 'धनेश' भी नामान्तर है। यह वैयाकरण वोपदेव का गुरु है। धनेश्वर विरचित **प्रक्रियारत्नमणि** नामक ग्रन्थ अडियार के पुस्तकालय में विद्यमान है। डा० बेल्वेल्कर ने इसका नाम 'प्रक्रिया-मणि' लिखा है।[3]

धनेश्वरविरचित महाभाष्यटीका का उल्लेख श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर' इतिहास पृष्ठ ४५७ पर किया है।

वोपदेव का काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः धनेश्वर का काल भी तेरहवीं शती का मध्य होगा।

८. शेष नारायण (सं० १५००-१५५० वि०)

शेषवंशावतंस नारायण ने महाभाष्य की '**सूक्तिरत्नाकर**' नाम्नी एक प्रौढ़ व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के हस्तलेख अनेक पुस्तका-लयों में विद्यमान हैं। बड़ोदा के 'राजकीय शोध हस्तलेख पुस्तकालय' में इस व्याख्या का एक हस्तलेख **फिरिंदाप भट्ट कृत महाभाष्य-टीका**

---

१. ७।२।५८॥ २. गम्लृ धातु पृष्ठ १६२। मुद्रित पाठ 'पुरुषकार-दर्शन', पाठान्तर-परिशेषकार है, वह अशुद्ध है। यहां 'पदशेषकारदर्शन' पाठ चाहिये।

३. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ १००, पं० ३।

के नाम से विद्यमान है। इस हस्तलेख को हमने वि० सं० २०१७ के भाद्रमास में देखा था।

परिचय

वंश- शेष नारायण ने श्रौतसर्वस्व के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

इति श्रीमद्बोधायनमार्गप्रवर्तकाचार्यश्रीशेषअनन्तदीक्षितसुतश्रीशेषवासुदेवदीक्षिततनूद्भवमहामीमांसकदीक्षितशेषनारायणनिर्णीते श्रौत सर्वस्वेऽव्यङ्गादिविचारो नाम द्वितीयः··· ।'

इससे विदित होता है कि शेष नारायण के पिता का नाम वासुदेव दीक्षित और पितामह का नाम अनन्त दीक्षित था।

आफ्रेक्ट की भूल— आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में शेष नारायण के पिता का नाम 'कृष्णसूरि' लिखा है, वह ठीक नहीं। कृष्णसूरि तो शेष नारायण का पुत्र है। सूक्तिरत्नाकर में अनेक स्थानों पर निम्न श्लोक मिलते हैं—

'श्रीमत्फिरिन्दापराजराजः श्रीशेषनारायणपण्डितेन ।
फणीन्द्रभाष्यस्य सुबोधटीकामकारयद् विश्वजनोपकृत्यै ।।
भाट्टे भट्ट इव प्रभाकर इव प्राभाकरे योऽभवत्,
कृष्णः सूरिरतोऽभवद् बुधवरो नारायणस्तत्कृतौ ।
नानाशास्त्रविचारसारचतुरे सत्तर्कपूर्णे महा—
भाष्यस्याखिलभावगूढविवृतौ श्रीसूक्तिरत्नाकरे ।।'

सम्भव है कि आफ्रेक्ट ने द्वितीय श्लोक के द्वितीय चरण का किसी हस्तलेख में **'कृष्णसूरितोऽभवद्'** अशुद्ध पाठ देखकर शेष नारायण को कृष्णसूरि का पुत्र लिखा होगा।

कृष्णमाचार्य की भूल—पं० कृष्णमाचार्य ने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६५४ में 'सूक्तिरत्नाकर' के कर्ता शेष नारायण को शेषकृष्ण का पुत्र और वीरेश्वर का भाई लिखा है, वह भी अशुद्ध है।

---

१. देखो इण्डिया आफिस लन्दन का सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ७०, ग्रन्थाङ्क ३६०।

आफ्रेक्ट ने शेषनारायण के एक शिष्य का नाम शेष रामचन्द्र लिखा है। यह शेषकुलोत्पन्न **नागोजि** पण्डित का पुत्र है। इसने 'सिद्धान्तकौमुदी' के स्वर-प्रकरण कीं व्याख्या लिखी थी।[1]

वंशवृक्ष--शेषवंश पाणिनीय व्याकरण-निकाय में एक विशेष स्थान रखता है। इस वंश के अनेक व्यक्तियों ने व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर होगा। अतः हम इस वंश का पूर्ण परिचायक वंशवृक्ष नीचे देते हैं, जिससे अनेक स्थानों पर कालनिर्देश करने में सुगमता होगी—
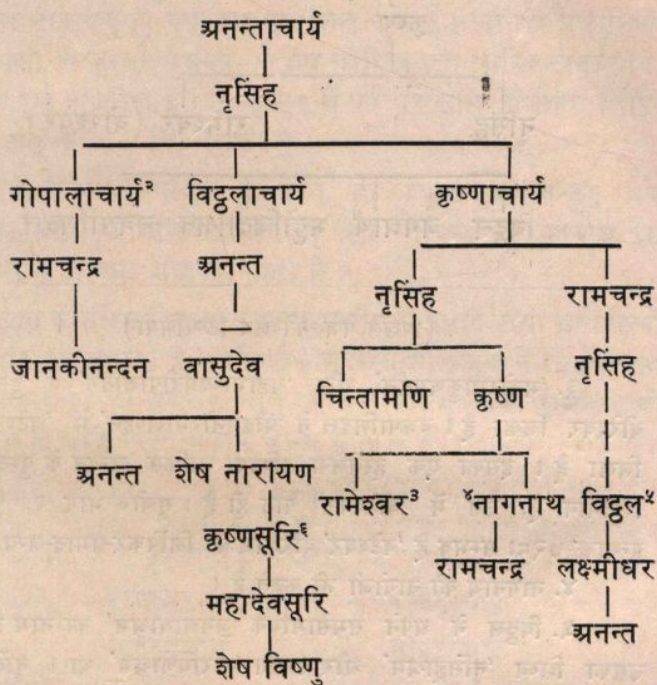
१. इति शेषकुलोत्पन्नेन नागोजीपण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्रपण्डितविरचिता स्वरप्रक्रिया समाप्ता। सं० १८४८ वि०। जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय का सूचीपत्र, पृष्ठ २६३ पर उद्धृत।

२. रामचन्द्राचार्यकृत 'कालनिर्णयदीपिका' के अन्त में—'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोपालगुरुपूज्यपादरामचन्द्राचार्यकृतकालदीपिका समाप्ता' पाठ उपलब्ध होता है। इस से ज्ञात होता है कि गोपालाचार्य संन्यासी हो गया था।

विशेष–इस पेज की शेष ३, ४, ५, ६ टिप्पणियां अगले पेज पर देखें।

इस वंश से सम्बन्ध रखनेवाली गुरुशिष्य-परम्परा का एक चित्र निम्न प्रकार है -
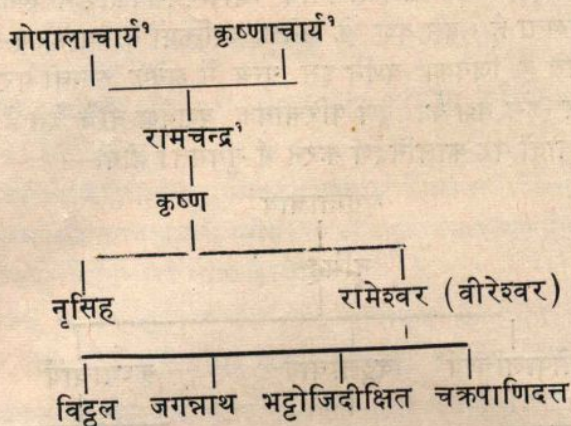
(पिछले पेज की शेष टिप्पणियां)

३. 'मनोरमाकुचमर्दन' और 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' में इसका नाम वीरेश्वर लिखा है। चक्रपाणिदत्त ने 'प्रौढमनोरमाखण्डन' में 'वटेश्वर' नाम लिखा है। इसका एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है, उस में 'वीरेश्वर' पाठ ही है। सूची० भाग २, पृष्ठ १६२ ग्रन्थाङ्क ७२८। सम्भव है 'वटेश्वर' वीरेश्वर का लिपिकर-प्रमाद-जन्य पाठ हो।

४. नागनाथ को नागोजी भी कहते हैं।

५. विट्ठल ने अपने समसामयिक 'जगन्नाथाश्रम' का नाम लिखा है। उसका शिष्य 'नृसिंहाश्रम' और उसका 'नारायणाश्रम' था। नृसिंहाश्रम ने 'तत्त्वविवेक' की पूर्ति सं० १६०४ वि० में की थी, और इस पर स्वयं 'तत्त्वार्थ-विवेकदीपन' टीका भी लिखी है। ये नर्मदा तीरवासी थे। अप्पय्य दीक्षित ने न्यायरक्षामणि, परिमल आदि ग्रन्थ नृसिंहाश्रम की प्रेरणा से लिखे थे। नारायणाश्रम ने नृसिंहाश्रम के ग्रन्थों पर व्याख्याएं लिखी हैं। हिन्दुत्व, पृष्ठ ६२४, ६२५, ६२७।

६. आफ्रेक्ट ने कृष्णसूरि को शेष नारायण का पिता लिखा है, वह अशुद्ध है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ४०६) लिख चुके हैं।

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ४०७ की टिप्पणी २।

'इण्डिया आफिस लन्दन' के पुस्तकालय में **शेष अनन्त** कृत 'पदार्थ-चन्द्रिका' का संवत् १६५८ का एक हस्तलेख है। देखो-ग्रन्थाङ्क २०८९। उसमें शेष अनन्त अपने गुरु का नाम शेष शार्ङ्गधर लिखता है। शेष नारायण का एक शिष्य नागोजी पुत्र शेष रामचन्द्र है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] हमारा विचार है कि 'पदार्थ-चन्द्रिका' का कर्त्ता अनन्त लक्ष्मीधर का पुत्र अनन्त है। शेष नागोजी सम्भवतः नागनाथ है। उसका पुत्र रामचन्द्र है। रामचन्द्र का गुरु प्रसिद्ध महाभाष्य टीका-कार शेष नारायण है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' के हस्तलेखसंग्रह में **शेष गोविन्द** कृत 'अग्निष्टोमप्रयोग' का एक पूर्ण हस्तलेख है। उसके ९९ वें पत्रे पर काल (संभवतः लिपि-काल) सं० १८१० वि० लिखा है।

इस प्रकार शेष-वंश के ज्ञात दो व्यक्ति अनन्त-गुरु 'शेष शार्ङ्गधर' और अग्निष्टोमप्रयोगकृत् 'शेष गोविन्द' का सम्बन्ध इस वंशावली में जोड़ना शेष रह जाता है।

उक्त वंशचित्र विट्ठलकृत 'प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद' तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर बनाया है। प्रक्रियाकौमुदी के सम्पादक ने विट्ठलाचार्य और अनन्त को रामेश्वर के नीचे, और गोपालगुरु तथा रामचन्द्र को नागनाथ के नीचे निम्न प्रकार जोड़ा है—
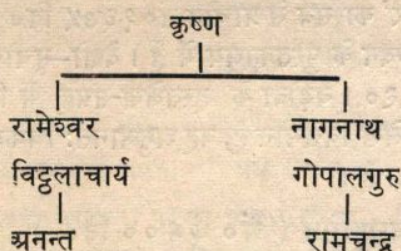
यह सम्बन्ध ठीक नहीं है। क्योंकि विट्ठल-लिखित गोपालगुरु पूर्वलिखित गोपालाचार्य है। संन्यास लेने पर वह गोपालगुरु नाम से प्रसिद्ध हुआ, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] 'प्रक्रियाप्रसाद' के अन्त के छठे श्लोक से ज्ञात होता है कि नृसिंह (प्रथम) के कई पुत्र थे, न्यून से न्यून तीन अवश्य थे। क्योंकि **'गोपालाचार्यमुख्याः प्रथितगुण-**

१. देखो—पृष्ठ ४०७, टि० १। २. देखो—पृष्ठ ४०७, टि० २।

गणास्तस्य पुत्रा अभूवन्' श्लोकांश में बहुवचन से निर्देश किया है। ज्येष्ठ का नाम गोपालाचार्य और कनिष्ठ का नाम कृष्णाचार्य था, यह स्पष्ट है। परन्तु मध्यम पुत्र के नाम का उल्लेख नहीं। विट्ठल ने विट्ठलाचार्य गुरु के पुत्र अनन्त को नमस्कार किया है[1]। इससे प्रतीत होता है कि गोपालाचार्य और कृष्णाचार्य का मध्यम सहोदर विट्ठल था।

काल

शेषवंश की वंशावली हमने ऊपर दी है। उसके अनुसार शेष नारायण शेष कृष्ण के पुत्र वीरेश्वर का समकालिक वा उससे कुछ पूर्ववर्ती है। वीरेश्वर-शिष्य विट्ठलकृत 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' का संवत् १५३६ वि० का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है।[2] अतः निश्चय ही विट्ठल ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की टीका सं० १५३६ वि० से पूर्व रची होगी। इसलिये वीरेश्वर का जन्म संवत् १५१० वि० के अनन्तर नहीं हो सकता। लगभग यही काल शेष नारायण का भी समझना चाहिये।

पूर्वोद्धृत श्लोकों में स्मृत **'फिरिन्दापराज'** कौन है, यह अज्ञात है। यदि फिरिन्दापराज का निश्चय हो जावे, तो शेषनारायण का निश्चित काल ज्ञात हो सकता है।

'सूक्तिरत्नाकर' का सब से प्राचीन सं० १६७५ वि० का हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में है। देखो—सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, ग्रन्थाङ्क ५९०। बड़ोदा के हस्तलेख-संग्रह में फिरदाप भट्ट के नाम से जो हस्तलेख विद्यमान है, वह अनुमानतः विक्रम की १६वीं शती का प्रतीत होता है।

९. विष्णुमित्र (सं० १६०० वि०)

'विष्णुमित्र' नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्य पर **'क्षीरोदर'** नामक टिप्पण लिखा था। इस ग्रन्थ का उल्लेख शिवरामेन्द्र सरस्वती

---

१. श्रीविट्ठलाचार्यगुरोस्तनूजं सौजन्यभाजजितवादिराजम्। अनन्तसंज्ञं पदवाक्यविज्ञं प्रमाणविज्ञं तमहं नमामि ॥ अन्त का ११ वां श्लोक।

२. देखो—सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ १६७, ग्रन्थाङ्क ६१९।

विरचित महाभाष्यटीका[1] और भट्टोजिदीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ[2] में मिलता है। इन दो ग्रन्थों से अन्यत्र विष्णुमित्र अथवा क्षीरोदर का उल्लेख हमें नहीं मिला। अतः क्षीरोदर का निश्चित काल अज्ञात है।

भट्टोजिदीक्षित का काल अधिक से अधिक सं० १५७०–१६५० वि० तक है, यह हम आगे सप्रमाण दर्शावेंगे। अतः विष्णुमित्र के काल के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह सं० १६०० वि० के समीप रहा होगा।

एक विष्णुमित्र 'ऋक्प्रातिशाख्य' का वृत्तिकार है। इसकी आद्य दो वर्गों की वृत्ति छप चुकी है। उस के पिता का नाम देवमित्र है। यह उव्वट से प्राचीन है। यदि यही विष्णुमित्र महाभाष्यटिप्पण का रचयिता हो, तो यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन होगा।

१०. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००–१६७५ वि०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने महाभाष्य की **'भाष्यतत्त्वविवेक'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख 'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ A. पृष्ठ १६१२, ग्रन्थाङ्क १२८८ पर निर्दिष्ट है। इस हस्तलेख के अन्त में टीकाकार का नाम 'नीलकण्ठ यज्वा' लिखा है। यह सूचना श्री सीताराम दांतरे (रीवां) ने १०–३–६३ ई० के पत्र में दी है।

परिचय

वंश—नीलकण्ठ वाजपेयी ने सिद्धान्तकौमुदी की **'सुखबोधिनी'** व्याख्या के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पदवाक्यप्रमाणानां पारगं विबुधोत्तमम्।
रामचन्द्रमहेन्द्राख्यं पितामहमहं भजे॥
आत्रेयाब्धिकलानिधिः कविबुधालंकारचूडामणिः।
तातः श्रीवरदेश्वरो मखिवरो योऽयष्ट देवान् मखैः॥

---

१. तदिदं सर्वं क्षीरोदराख्ये त्रैलिङ्गतार्किकविष्णुमित्रविरचिते महाभाष्य-टिप्पणे स्पष्टम्। काशी सरस्वती भवन का हस्तलेख, पत्रा ६।

२. हयवरट्सूत्रे क्षीरोद[र]कारोऽप्याह। शब्दकौस्तुभ १।१।८, पृष्ठ १४४।

अध्यैष्टाप्पयदीक्षितार्यतनयात् तन्त्राणि काश्यां पुनः ।
षड्वर्गाणि यो त्यजेष्टशिवतां प्राप नस्सोऽवतात् ॥
श्रीवाजपेयिना नीलकण्ठेन विदुषां मुदे ।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्या क्रियते सुखबोधिनी ॥
अस्मद्गुरुकृतां व्याख्यां बह्वर्थां तत्त्वबोधिनीम् ।
विभाव्य तत्रानुक्तं च व्याख्यास्येऽहं यथामति ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि नीलकण्ठ रामचन्द्र का पौत्र और वरदेश्वर का पुत्र था। वरदेश्वर ने अप्पयदीक्षित के पुत्र से विद्याध्ययन किया था। नीजकण्ठ ने तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती से विद्या पढ़ी थी।

काल

काशी में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि 'भट्टोजिदीक्षित ने स्वविरचित सिद्धान्तकौमुदी पर व्याख्या लिखने के लिये ज्ञानेन्द्र सरस्वती से अनेक बार प्रार्थना की। उनके अनुमत न होने पर ज्ञानेन्द्रसरस्वती को भिक्षामिष से अपने गृह पर बुलाकर ताड़ना की। अन्त में ज्ञानेन्द्र सरस्वनी ने टीका लिखना स्वीकार किया'।[1] इस किंवदन्ती से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित और ज्ञानेन्द्र सरस्वती लगभग समकालिक थे। पण्डित जगन्नाथ के पिता पेरंभट्ट ने इसी ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्तशास्त्र पढ़ा था। इससे भी पूर्वलिखित काल की पुष्टि होती है। अतः नीलकण्ठ का काल विक्रम संवत् १६००–१६७५ वि० के मध्य होना चाहिये।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

नीलकण्ठ ने व्याकरण-विषयक निम्न ग्रन्थ लिखे हैं—

१–पाणिनीयदीपिका २—परिभाषावृत्ति
३—सिद्धान्तकौमुदी की सुखबोधिनी टीका
४—तत्त्वबोधिनीव्याख्यान गूढार्थदीपिका।

इनका वर्णन अगले अध्यायों में यथाप्रकरण किया जाएगा।

११. शेष विष्णु (सं १६००-१६५० वि०)

शेष विष्णु विरचित **'महाभाष्यप्रकाशिका'** का एक हस्तलेख

---

१. यह किंवदन्ती हम ने काशी के कई प्रामाणिक पण्डित महानुभावों से सुनी है। यहां पर इसका उल्लेख केवल समकालिकत्व दर्शाने के लिये किया है।

हमने बीकानेर के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में देखा है। उसका ग्रन्थाङ्क ५७७४ है। यह हस्तलेख महाभाष्य के प्रारम्भिक दो आह्निकों का है। उसके प्रथमाह्निक के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीमन्महादेवसूरिसुतशेषविष्णुविरचितायां महाभाष्यप्रकाशिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

वंश—शेष विष्णु का सम्बन्ध वैयाकरणप्रसिद्ध शेष-कुल से है। इसके पिता का नाम महादेवसूरि, पितामह का नाम कृष्णसूरि, और प्रपितामह का नाम शेष नारायण था। देखो—शेष वंश-वृक्ष पृष्ठ ४०७।

इस वंशपरम्परा से ज्ञात होता है कि शेषविष्णु का काल लगभग सं० १६००–१६५० वि० के मध्य रहा होगा।

१२. तिरुमल यज्वा (सं० १५५० वि० के लगभग)

तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य की **'अनुपदा'** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय

वंश—तिरुमल के पिता का नाम मल्लय यज्वा था। तिरुमल यज्वा अपने 'दर्शपौर्णमास-भाष्य' के अन्त में लिखता है—

'इति श्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंसचतुर्दशविद्यावल्लभमल्लयसूनुना तिरुमलसर्वतोमुखयाजिना महाभाष्यस्यानुपदटीकाकृता रचितं दर्शपौर्णमासमन्त्रभाष्यं सम्पूर्णम्।'[1]

तिरुमल के पिता मल्लय यज्वा ने कैयटविरचित 'महाभाष्य-प्रदीप' पर टिप्पणी लिखी है। उनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा। तिरुमल का काल अज्ञात है। हमारा विचार है कि यह तिरुमल यज्वा अन्नम्भट्ट का पिता[2] है। दोनों के साथ 'राघवसोमयाजिवंशावतंस' विशेषण समानरूप से निर्दिष्ट है। अतः इसका काल सं० १५५० वि० के लगभग होगा।

---

१. देखो—'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' का सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ C, पृष्ठ २३६२, ग्रन्थाङ्क १६६४।

२. देखो—'महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार' नामक १२ वें अध्याय में अन्नम्भट्टकृत 'प्रदीपोद्योतन' का अन्त्य पाठ।

१३. शिवरामेन्द्र सरस्वती (सं० १६००--१६७५ वि०)

शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत **'महाभाष्यरत्नाकर'** नाम्नी टीका का एक हस्तलेख काशी के 'सरस्वती भवन पुस्तकालय' में विद्यमान है। हमने इस टीका को भले प्रकार देखा है। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और छात्रों के लिये विशेष उपयोगी है।

ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में शिवरामेन्द्रकृत सिद्धान्तकौमुदी की रत्नाकरटीका का उल्लेख किया है। अतः शिवरामेन्द्र सरस्वती का काल संवत् १६००से १६७५वि०मानना उचित होगा।जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में शिवरामेन्द्र यति विरचित **'णेरणाविति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यानम्'** नाम का एक ग्रन्थ है। देखो—सूचीपत्र पृष्ठ ४१। सूचीपत्र के सम्पादक स्टाईन ने इस पर नोट लिखा है - 'सम्पूर्णम्। विरचनकालः सं० १७०१ (?)'। यदि यह शिवरामेन्द्र वामनेन्द्रशिष्य-ज्ञानेन्द्र का शिष्य हो, तो इसका काल संवत् १६०० से १६७५ वि० तक होगा, और स्टाईन का नोट चिन्त्य होगा। अथवा यह विरचन-काल न होकर किसी प्रति का लेखनकाल होगा। स्टाईन ने उसे ग्रन्थ का विरचनकाल समझ लिया होगा।

१४. गोपालकृष्ण शास्त्री (सं० १६५०--१७०० वि०)

अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७४ पर गोपाल-कृष्ण शास्त्री विरचित **'शाब्दिकचिन्तामणि'** नामक महाभाष्यटीका का उल्लेख है। इसका एक हस्लेख 'मद्रास राजकीय पुस्तकालय' में भी है (देखो—सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ २३१, ग्रन्थाङ्क १४३)। सूचीपत्र में निर्दिष्ट हस्तलेख के आद्यन्त पाठ से प्रतीत होता है कि यह भट्टोजि दीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ के सदृश अष्टाध्यायी की स्वतन्त्र व्याख्या है। हमें इसके महाभाष्य की व्याख्या होने में सन्देह है।

गोपालशास्त्री के पिता का नाम वैद्यनाथ, और गुरु का नाम रामभद्र अध्वरी था।[1] रामभद्र का काल विक्रम की १७ वीं शताब्दी

---

१. इति श्री वत्सकुलतिलकवैद्यनाथसुमतिसूनोः वैयाकरणाचार्यसार्वभौम-श्रीरामभद्राध्वरिगुरुचरणश्लाघितकुशलस्य गोपालकृष्णशास्त्रिणः कृतौ शाब्दिक-चिन्तामणौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादेऽष्टममाह्निकम्।

का उत्तरार्ध है, यह हम आगे 'उणादिसूत्रों के वृत्तिकार' नामक २४ वें अध्याय में लिखेंगे।

१५. प्रयागवेङ्कटाद्रि

प्रयागवेङ्कटाद्रि नाम के पण्डित ने महाभाष्य पर **'विद्वन्मुखभूषण'** नाम्नी टिप्पणी लिखी है। इसका एक हस्तलेख 'मद्रास राजकीय पुस्तकालय' के सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ C, पृष्ठ २३४७, ग्रन्थाङ्क १६५१ पर निर्दिष्ट है। इसका दूसरा हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में है। उसके सूचीपत्र खण्ड २ पृष्ठ ७४ पर इस ग्रन्थ का नाम **'विद्वन्मुखमण्डन'** लिखा है। भूषण और मण्डन पर्यायवाची हैं।

ग्रन्थकार का देश-काल आदि अज्ञात है।

१६. कुमारतातय (१७वीं शती वि०)

कुमारतातय ने महाभाष्य की कोई टीका लिखी थी, ऐसा उसके **'पारिजात नाटक'**[1] से ध्वनित होता है। यह कुमारतातय वेङ्कटार्य का पुत्र, और कांची का रहनेवाला था। ग्रन्थकार 'पारिजात नाटक' के आरम्भ में अपना परिचय देते हुए लिखता है—

व्याख्याता फणिराट्कणादकपिलश्रीभाष्यकारादि-
ग्रन्थानां पुनरीदृशां च करणे ख्यातः कृतीनामसौ।

फणिराट् शब्द से पतञ्जलि का ही ग्रहण होता है। अतः प्रतीत होता है कि कुमारतातय ने महाभाष्य की व्याख्या अवश्य लिखी थी। इसका अन्यत्र उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया। कुमारतातय का काल कुछ विद्वान् विक्रम की १७वीं शती मानते हैं।

१७–सत्यप्रिय तीर्थ स्वामी (सं० १७९४--१८०१ वि०)

उत्तरमठाधीश सत्यप्रिय तीर्थ ने महाभाष्य पर एक विवरण लिखा है। इसका लेखनकाल सं० १७९४–१८०१ है। इसका हस्तलेख विद्यमान है। यह सूचना हमारे अभिन्न-हृदय सुहृद् बन्धु श्री पद्मनाभ राव (आत्मकूर-आंध्र) ने १०।११।६३ ई० के पत्र में दी है।

---

१. मद्रास रा० ह० पु० सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ C, ग्रन्थाङ्क १६७२, पृष्ठ २३७६।

१८. राजन्सिंह

आचार्य राजन्सिंह कृत **'शब्दबृहती'** नाम्नी महाभाष्य-व्याख्या का एक हस्तलेख 'मैसूर के राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र पृष्ठ ३२२।

इसके विषय में हम कुछ नहीं जानते।

१९. नारायण

नारायणविरचित **'महाभाष्यविवरण'** का एक हस्तलेख 'नयपाल दरबार के पुस्तकालय' में सुरक्षित है। देखो—सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ २११।

किसी नारायण ने महाभाष्यप्रदीप पर एक विवरण लिखा है। इसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। हमारा विचार है कि यह हस्तलेख 'महाभाष्य-**प्रदीप**-विवरण' का ही है।

२०. सर्वेश्वर दीक्षित

सर्वेश्वर दीक्षित विरचित **'महाभाष्यस्फूर्ति'** नाम्नी व्याख्या का एक हस्तलेख 'मैसूर राजकीय पुस्तकालय' के सूचीपत्र पृष्ठ ३१९ ग्रन्थाङ्क ४३४ पर निर्दिष्ट है। अडियार के पुस्तकालय के सूचीपत्र में इसका नाम **'महाभाष्य-प्रदीपस्फूर्ति'** लिखा है। अतः यह महाभाष्य की व्याख्या है अथवा प्रदीप की, यह सन्दिग्ध है।

'मैसूर राजकीय पुस्तकालय' का हस्तलेख सप्तम और अष्टम अध्याय का है। अतः यह ग्रन्थ पूर्ण रचा गया था, यह निर्विवाद है। इसका रचनाकाल अज्ञात है।

२१. सदाशिव (सं० १७२३ वि०)

सदाशिव नामक विद्वान् ने 'महाभाष्य-गूढार्थ-दीपिनी' नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख 'भण्डारकर प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान पूना' के संग्रह में विद्यमान है। देखो—व्याकरणविषयक सूचीपत्र नं० ५९, १०४A १८८३–८४।

परिचय—इसके पिता का नाम नीलकण्ठ और गुरु का नाम कमलाकर दीक्षित है। कमलाकर दीक्षित के गुरु का नाम *दत्तात्रेय है।*

काल—उक्त हस्तलेख के अन्त में निम्न श्लोक मिलता है—

अङ्काष्टौ तिथियुक् शाके प्रवङ्गे कार्तिके सिते।
चतुर्दशमिते दस्रे लिखितं भाष्यटिप्पणम्॥

तदनुसार इसका काल शक १५८६=वि० सं० १७२३ है।

२२. राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगढकर

यह आचार्य सातारा (महाराष्ट्र) नगर के रहनेवाले थे। इन्होंने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी। इनका '**त्रिपथगा**' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[1]

२३. छलारी नरसिंहाचार्य

इनका निवास-स्थान गोदावरी-तीरस्थ धर्मपुरी था। ये आन्ध्र प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने '**शाब्दिक-कण्ठमणि**'नामक महाभाष्य की टीका लिखी थी। इनका काल १९वीं शती वि० का उत्तरार्ध था।[1]

२४. अज्ञातकर्तृक

'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' के सूचीपत्र भाग ५ खण्ड १ C. पृष्ठ ६४९९, ग्रन्थाङ्क ४४३६ पर '**महाभाष्यव्याख्या**' का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। ग्रन्थकर्त्ता का नाम और काल अज्ञात है। उसमें एक स्थान पर निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

'स्पष्टं चेदं सर्वं भाष्य इति भाष्यप्रदीपोद्योतने निरूपितमित्याहुः।'

यह 'भाष्यप्रदीपोद्योतन' नागनाथ-रचित है, वा अन्नम्भट्ट-विरचित[2], यह अज्ञात है।

हम ने इस अध्याय में महाभाष्य के २४ टीकाकारों का निरूपण किया है। अगले अध्याय में कैयटकृत 'महाभाष्यप्रदीप' के व्याख्याकारों का वर्णन होगा।

---

१. इनका निर्देश श्री पं० पद्मनाभरावजी ने १०।११।१९६३ ई० के पत्र में किया है।

२. देखो—आगे पृष्ठ ४१९, ४२१।

बारहवां अध्याय

महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार

महाभाष्य की महामहोपाध्याय कैयट विरचित 'प्रदीप' नाम्नी व्याख्या का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यह 'महाभाष्य-प्रदीप' वैयाकरण वाङ्मय में विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये अनेक विद्वानों ने महाभाष्य की व्यांख्या न करके महाभाष्यप्रदीप की व्याख्याएं रची हैं। उन में से जो प्रदीपव्याख्याएं इस समय उपलब्ध वा ज्ञात हैं, उनका वर्णन हम इस अध्याय में करेंगे –

१. चिन्तामणि (सं० १५००--१५५० वि० ?)

चिन्तामणि नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्यप्रदीप की एक संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। इसका नाम है **'महाभाष्यकैयटप्रकाश'**। इसका एक हस्तलेख बीकानेर के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में विद्यमान है। उसका ग्रन्थाङ्क ५७७३ है। यह हस्तलेख आदि और अन्त में खण्डित है। इसका आरम्भ **'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'** (१। १। ८) से होता है, और **'अचः परस्मिन्०** (१। १। ५७) पर समाप्त होता है।

परिचय

'महाभाष्यकैयटप्रकाश' के प्रत्येक आह्निक के अन्त में निम्न प्रकार पाठ मिलता है—

इति श्रीमद्गणेशांघ्रिस्मरणादाप्तसन्मतिः।
गूढं प्रकाशयच्चिन्तामणिश्चतुर्थ आह्निके॥

चिन्तामणि नाम के अनेक विद्वान् हो चुके हैं। अतः यह ग्रन्थ किस चिन्तामणि का रचा है, यह अज्ञात है। एक चिन्तामणि शेष नृसिंह का पुत्र और प्रसिद्ध वैयाकरण शेष कृष्ण का सहोदर भ्राता है। शेष कृष्ण का वंश व्याकरणशास्त्र की प्रवीणता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। शेषवंश के अनेक व्यक्तियों ने महाभाष्य तथा महा-

भाष्यप्रदीप पर व्याख्याएं लिखी हैं। अतः सम्भव है कि इस टीका का रचयिता शेष कृष्ण का सहोदर शेष चिन्तामणि हो। यदि हमारा अनुमान ठीक हो, तो इसका काल संवत् १५००–१५५० के मध्य होना चाहिये। क्योंकि शेष कृष्ण विरचित 'प्रक्रियाकौमुदी टीका' का सं० १५१४ वि० का एक हस्तलेख 'भण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूना' के पुस्तकालय में विद्यमान है।'

२. शेष नागनाथ (सं० १५५० वि० के लगभग)

'मद्रास राजकीय संस्कृत हस्तलेख पुस्तकालय' के सूचीपत्र, भाग २, खण्ड १ A, पृष्ठ ४६४८, ग्रन्थाङ्क ३१४१ पर **'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन'** का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। सूचीपत्र में ग्रन्थकार का नाम नहीं लिखा।

ग्रन्थकर्त्ता का नाम

'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' के आरम्भ में निम्न श्लोक उपलब्ध होते हैं—

'श्रीशेषवीरेश्वरपण्डितेन्द्रं शेषायितं शेषवचोविशेषे।
सर्वेषु तन्त्रेषु च कर्तृतुल्यं वन्दे महाभाष्यगुरुं ममाग्रजम्॥
महाभाष्यप्रदीपस्य कृत्स्नस्योद्योतनं मया।
क्रियते पदवाक्यार्थतात्पर्यस्य विवेचनात्॥'

प्रथम श्लोक में ग्रन्थकार ने शेष वीरेश्वर को अपना गुरु और ज्येष्ठ भ्राता लिखा है। यह शेष वीरेश्वर शेष कृष्ण का पुत्र और पण्डितराज जगन्नाथ का गुरु है। विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में अपने वंशवर्णन में वीरेश्वर के लघुभ्राता का नाम नागनाथ लिखा है। इसलिये 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' के कर्त्ता का नाम नागनाथ है, यह निश्चित है। शेष वीरेश्वर और नागनाथ का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी का मध्य भाग है। देखो—पूर्व पृष्ठ ४०७ पर दिया वंशचित्र।

३. मल्लय यज्वा (सं० १५२५ वि० के लगभग)

मल्लय यज्वा ने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप पर एक टिप्पणी

१. देखो—सन् १६२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ १२, ग्रन्थाङ्क ३२८।

लिखी थी। इस की सूचना मल्लय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने अपनी 'दर्शपौर्णमासमन्त्रभाष्य' के आरम्भ में दी है। उस का लेख इस प्रकार है—

'चतुर्दशसु विद्यासु वल्लभं पितरं गुरुम्।
वन्दे कूष्माण्डदातारं मल्लययज्वानमन्वहम्॥
पितामहस्तु यस्येदं मन्त्रभाष्यं चकार च।
श्रीकृष्णाभ्युदयं काव्यमनुवादं गुरोर्मते॥
यत्पित्रा तु कृता टीका मण्यालोकस्य धीमता।
तथा तत्त्वविवेकस्य कैयटस्यापि टिप्पणी॥'

देखो—'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' का सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ C, पृष्ठ २३६२, ग्रन्थाङ्क १६६४।

मल्लय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी। इसका वर्णन हम पिछले अध्याय में पृष्ठ ४१३ पर कर चुके हैं। यदि हमारा अनुमान कि 'यह तिरुमल यज्वा' अन्नम्भट्ट का पिता है युक्त हो, तो मल्लय यज्वा का काल सं० १५२५ वि० के लगभग होगा।

४. रामचन्द्र सरस्वती (सं० १५२५--१६०० वि०)

रामचन्द्र सरस्वती ने महाभाष्यप्रदीप पर **'विवरण'** नाम्नी **लघु** व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख 'मद्रास रा० ह० पु० के सूचीपत्र' भाग ४, खण्ड १ C. पृष्ठ ५७३१ ग्रन्थाङ्क ३८६७ पर निर्दिष्ट है। दूसरा 'मैसूर राजकीय पुस्तकालय' के सूचीपत्र पृष्ठ ३१६ पर उल्लिखित है।

आफ्रेक्ट ने रामचन्द्र का दूसरा नाम सत्यानन्द लिखा है। यदि यह ठीक हो, तो रामचन्द्र सरस्वती ईश्वरानन्द सरस्वती का गुरु होगा। ईश्वरानन्दविरचित 'बृहत् महाभाष्यप्रदीपविवरण' का एक हस्तलेख 'जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय' में है। उसके सूचीपत्र ४२ में लेखनकाल १६०३ लिखा है।

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।१।५७ में **कैयट लघुविवरण** का उल्लेख किया है। इसके साथ ही **बृहद्विवरण** का भी

वर्णन है ।[1] इससे विदित होता है कि रामचन्द्र सरस्वती का काल वि० सं० १५२५–१६०० तक रहा होगा ।

५. ईश्वरानन्द सरस्वती (सं० १५५०--१६०० वि०)

ईश्वरानन्द ने कैयट के ग्रन्थ पर **'महाभाष्यप्रदीपविवरण'** नाम्नी बृहती टीका लिखी है । ग्रन्थकार अपने गुरु का नाम सत्यानन्द सरस्वती लिखता है । आफ्रेक्ट के मतानुसार सत्यानन्द रामचन्द्र का ही नामान्तर है । इसके दो हस्तलेख 'मद्रास राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान हैं । देखो—सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ C. पृष्ठ ५७२६, ५७८०, ग्रन्थाङ्क ३८६६, ३८६४ । एक हस्तलेख 'जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय' में है । 'भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान पूना' में भी इसके दो हस्तलेख हैं । देखो—व्याकरणविभागीय हस्तलेख सूचीपत्र नं० ५७, ३७।A १८७२-७३; नं० ५८, १८४।A १८८२-८३ ।

काल

जम्मू के हस्तलेख के अन्त में लेखनकाल १६०३ लिखा है । इससे इतना निश्चित है कि ईश्वरानन्द का काल सं० १६०३ वि० से पूर्व है । भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १ । १ । ५७ में 'कैयटबृहद्विवरण' को उद्धृत किया है ।[1] अतः इस का काल सं० १५५०–१६०० वि० तक मानना युक्त है ।

६. अन्नम्भट्ट (सं० १५५०--१६०० वि०)

अन्नम्भट्ट ने प्रदीप की **'प्रदीपोद्योतन'** नाम्नी व्याख्या लिखी है । 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' के हस्तलेख मद्रास और अडियार के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं । इस का प्रथमाध्याय का प्रथम पाद दो भागों में छप चुका है ।

परिचय

अन्नम्भट्ट के पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था । राघव सोमयाजी के वंश में इसका जन्म हुआ था । यह तैलङ्ग देश

---

१. कैयटलघुविवरणकारादयोऽप्येवम् । बृहद्विवरणकारास्तु ...... । अचः परस्मिन सूत्रे १ । १ । ५७, पृष्ठ २६० ।

का रहनेवाला था। अन्नम्भट्ट ने काशी में जाकर विद्याध्ययन किया था। इसकी सूचना **'काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विजः'** लोकोक्ति से मिलती है।

अन्नम्भट्ट के 'प्रदीपोद्योतन' के प्रत्येक आह्निक के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

'इति श्रीमहामहोपाध्यायाद्वैतविद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंसश्रीतिरुमलाचार्यस्य सूनोरन्नम्भट्टस्य कृतौ महाभाष्यप्रदीपोद्योतने...।'

काल

पं० कृष्णमाचार्य ने अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (पृष्ठ ६५४) में अन्नम्भट्ट को शेष वीरेश्वर का शिष्य लिखा है। यदि यह ठीक हो, तो अन्नम्भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध होगा। एक तिरुमल यज्वा कृत महाभाष्य की 'अनुपदा' का निर्देश हम पूर्व (पृष्ठ ४१३) कर चुके हैं। सम्भव है कि यही तिरुमल यज्वा अन्नम्भट्ट का पिता हो।

कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ

अन्नम्भट्टविरचित मीमांसान्यायसुधा की राणकोज्जीवनी टीका, ब्रह्मसूत्र व्याख्या, अष्टाध्यायी की मिताक्षरा वृत्ति, मण्यालोक की सिद्धाञ्जनटीका, और तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अष्टाध्यायी की मिताक्षरा वृत्ति का वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में किया जायगा।

७. नारायण (सं० १६५४ वि० से पूर्व)

किसी नारायण नामा विद्वान् ने महाभाष्य की प्रदीप टीका पर 'विवरण' नाम से एक व्याख्या लिखी है। इस विवरण के हस्तलेख कई पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। देखो—'मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र' भाग ४, खण्ड १ A, पृष्ठ ४३०२, ग्रन्थाङ्क २९६६; 'कलकत्ता संस्कृत कालेज पुस्तकालय सूचीपत्र' भाग ८, ग्रन्थाङ्क ७४; लाहौर डी. ए. वी. कालेज लालचन्द पुस्तकालय (सम्प्रति विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर) संख्या ३८१७, सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ६६।

इसका एक हस्तलेख 'भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' (ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट) पूना के संग्रह में भी है। देखो—व्याकरणविभागीय सूचीपत्र नं० ५५, ८४।A १८७९-८०। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

'इति नारायणीये श्रीमन्महाभाष्ये प्रदीपविवरणे अष्टमाध्यायस्य चतुर्थे पादे प्रथममाह्निकम्। पादश्चाध्यायश्च समाप्तः। शुभं भवतु। सं० १६५४ समये श्रावन बदि ४ चतुर्थो वार बुधवारे। लिखितं माधव ब्राह्मण विद्यार्थी काशीवासी श्री विश्वनाथ..................'

यह हस्तलेख अ० ३ से ८ तक है। बीच में कुछ खण्डित है। दूसरा हस्तलेख नं० ५६, ४८७।A १८८४-८७ निर्दिष्ट है।

इस 'प्रदीप-विवरण' का लेखक कौनसा नारायण है, यह अज्ञात है। इसी नाम के नारायण शास्त्री कृत एक 'प्रदीप-व्याख्या' का निर्देश हम अनुपद करेंगे। ये दोनों पृथक् व्यक्ति हैं। क्योंकि प्रकृत 'प्रदीप-विवरण' के हस्तलेख की प्रतिलिपि का काल सं० १६५४ वि० हस्तलेख में निर्दिष्ट है। नारायण शास्त्री का काल सं० १७१०—१७६० वि० के मध्य है, यह हम आगे लिखेंगे।

पूर्व पृष्ठ ४१६ पर हमने नारायण कृत 'महाभाष्य-विवरण' का उल्लेख किया है। हमारा विचार है कि ये दोनों ग्रन्थकार एक ही हैं।

८. रामसेवक (सं० १६५०—१७००वि०)

रामसेवक नाम के किसी विद्वान् ने **'महाभाष्यप्रदीपव्याख्या'** की रचना की थी। इस का एक हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में है। देखो—सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ७३।

रामसेवक के पिता का नाम देवीदत्त था। रामसेवक के पुत्र कृष्णमित्र ने भट्टोजिदीक्षितविरचित 'शब्दकौस्तुभ' की 'भावप्रदीप', और 'सिद्धान्तकौमुदी' की 'रत्नार्णव' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इनका वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा। रामसेवक का काल सम्भवतः वि० सं० १६५०—१७०० के मध्य होगा।

९. नारायण शास्त्री (सं० १७१०—१७६० वि०)

नारायण शास्त्री कृत 'महाभाष्य-प्रदीप-व्याख्या' का निर्देश आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ९५ पर मिलता है। इसका

एक हस्तलेख 'मद्रास के राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है। देखो–सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ ५७, ग्रन्थाङ्क ६।

वंश—नारायण शास्त्री के माता-पिता का नाम अज्ञात है। इसकी एक कन्या थी, उसका विवाह नल्ला दीक्षित के पुत्र नारायण दीक्षित के साथ हुआ था। इसका पुत्र रङ्गनाथ यज्वा था। इसने हरदत्त-विरचित 'पदमञ्जरी' की व्याख्या रची थी।

गुरु—नारायण शास्त्री कृत 'प्रदीपव्याख्या' का जो हस्तलेख 'मद्रास के राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है, उसके प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के अन्त में निम्न लेख है—

'इति श्रीमहामहोपाध्यायधर्मराजयज्वशिष्यशास्त्रिनारायणकृतौ कैयटव्याख्यायां प्रथमाध्याये प्रथमे पादे प्रथमाह्निकम्।'

यह धर्मराज यज्वा कौण्डिन्य गोत्रज नल्ला दीक्षित का भाई और नारायण दीक्षित का पुत्र है। यज्वा वा दीक्षित वंश के अनेक व्यक्तियों ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस वंश के कई व्यक्तियों का उल्लेख इस इतिहास में होगा। अतः हम अनेक ग्रन्थों के आधार पर इस वंश का चित्र नीचे देते हैं। वह उनके काल-ज्ञान में सहायक होगा—
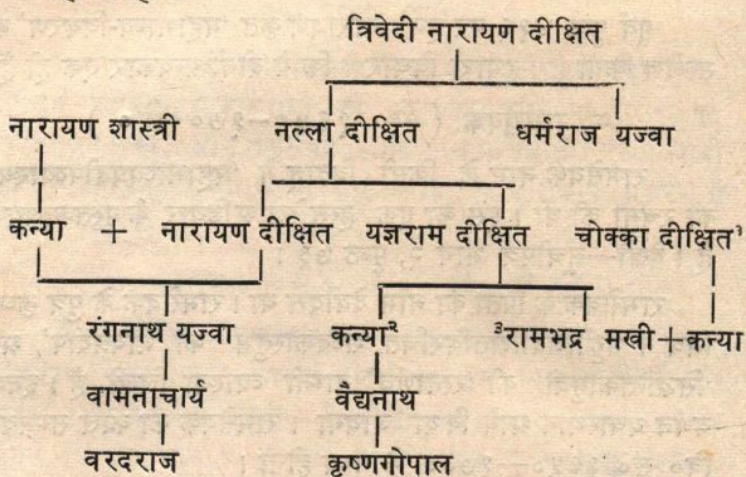
१. कुप्पुस्वामी ने रामभद्र के श्वसुर का नाम नीलकण्ठ मखीन्द्र लिखा है। द्र०—सं० का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २१२।

२. इस के पति का नाम रत्नगिरि था।

३ रामभद्र का शिष्य 'स्वरसिद्धान्तमञ्जरी' का कर्त्ता है।

काल

नल्ला दीक्षित के पौत्र रामभद्र यज्वा ने उणादिवृत्ति और परिभाषावृत्ति को व्याख्या में अपने को तञ्जौर के राजा शाहजी का समकालिक कहा है। शाहजी के राज्य का आरम्भ सं० १७४४ वि० से माना जाता है। अतः नारायण शास्त्री का काल लगभग सं० १७१०-१७६० वि० मानना उचित होगा।

१०. नागेश भट्ट (सं० १७३०-१८१० वि०)

नागेश भट्ट ने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की **'उद्योत'** अपर-नाम 'विवरण' नाम्नी प्रौढ़ व्याख्या लिखी है।

परिचय

वंश—नागेश भट्ट महाराष्ट्रीय ब्राह्मण था। इसका दूसरा नाम नागोजी भट्ट था। नागोजी भट्ट के पिता का नाम शिव भट्ट, और माता का नाम सतीदेवी था।[1] 'लघशब्देन्दुशेखर' के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि नागेश के कोई संतान न थी।[2]

गुरु और शिष्य—नागेश ने भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। वैद्यनाथ पायगुण्ड नागेशभट्ट का प्रधान शिष्य था। नागेशभट्ट की गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार है—
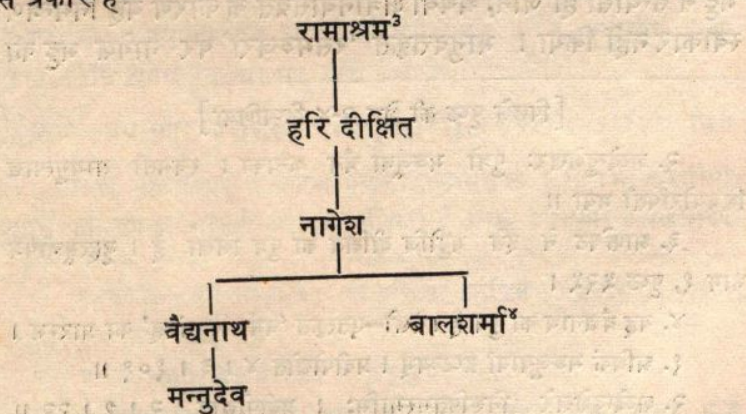
१. इति श्रीमदुपाध्यायोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भजनागेशभट्टविरचित-लघुशब्देन्दुशेखरे......। **नोट—(२, ३, ४ टिप्पणियां अगले पृष्ठ पर देखें)**

पाण्डित्य—नागेश भट्ट व्याकरण, साहित्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा, और ज्योतिष आदि अनेक विषयों का प्रकाण्ड पण्डित था। वैयाकरण निकाय में भर्तृहरि के पश्चात् यही एक प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है। काशी के वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि नागेश भट्ट ने महाभाष्य का १८ वार गुरुमुख से अध्ययन किया था। आधुनिक वैयाकरणों में नागेश भट्ट विरचित महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघुशब्देन्दुशेखर और परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माने जाते हैं।

नागेश भट्ट ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत में 'लघुमञ्जूषा'[1] और 'शब्देन्दुशेखर'[2] को उद्धृत किया है। **आम एकान्तर** सूत्र के शब्देन्दु-शेखर में उद्योत भी उद्धृत है।[3] अतः सम्भव है कि दोनों की रचना साथ-साथ हुई हो।

सहायक—प्रयाग के समीपस्थ शृङ्गवेरपुर का राजा रामसिंह नागेश भट्ट का वृत्तिदाता था।

काल

नागेश भट्ट कब से कब तक जीवित रहा, यह अज्ञात है। अनु-श्रुति है कि सं० १७७२वि० में जयपुराधीश ने जो अश्वमेध यज्ञ किया था, उसमें उसने नागेशभट्ट को भी निमन्त्रित किया था। परन्तु नागेश भट्ट ने संन्यासी हो जाने, अथवा क्षेत्रनिवासव्रत के कारण वह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। भानुदत्तकृत 'रसमञ्जरी' पर नागेश भट्ट की

[पिछले पृष्ठ की शेष २-४ टिप्पणियां]

२. शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका। स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥

३. आफ्रेक्ट ने इसे भट्टोजि दीक्षित का पुत्र लिखा है। बृहत्सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ५२५।

४. यह वैद्यनाथ का पुत्र है। देखो—एतत्कृत 'धर्मशास्त्रसंग्रह' का प्रारम्भ।

१. अधिकं मञ्जूषायां द्रष्टव्यम्। प्रदीपोद्योत ४।३।१०१॥

२. शब्देन्दुशेखरे निरूपितमस्माभिः। प्रदीपोद्योत २।१।२२॥ निर्णयसागर संस्करण पृष्ठ ३६८।

३. प्लुतो नैवेति भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम्। भाग २, पृष्ठ ११०८।

एक टीका है। इस टीका का एक हस्तलेख 'इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय' में विद्यमान है। उसका लेखनकाल संवत् १७६६ वि० है। देखो—ग्रन्थाङ्क १२२२। वैद्यनाथ पायगुण्ड का पुत्र बालशर्मा नागेश भट्ट का शिष्य था। उसने धर्मशास्त्री मन्नुदेव की सहायता और हेनरी टामस कोलब्रुक की आज्ञा से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' ग्रन्थ रचा था।[1] कोलब्रुक सन् १७८३–१८१५ अर्थात् वि० सम्वत् १८४०–१८७२ तक भारतवर्ष में रहा था।[2] अतः नागेश भट्ट सं० १७३० से १८१० वि० के मध्य रहा होगा।

इससे अधिक हम नागेश भट्ट के विषय में कुछ नहीं जानते। यह कितने दुःख की बात है कि हम लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती प्रकाण्ड पण्डित नागेश भट्ट के इतिवृत्त से भी सर्वथा अपरिचित हैं।

अन्य व्याकरण-ग्रन्थ

नागेश भट्ट ने 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' के अतिरिक्त व्याकरण के निम्न ग्रन्थ रचे हैं—

१. लघुशब्देन्दुशेखर
२. बृहच्छब्देन्दुशेखर
३. परिभाषेन्दुशेखर
४. लघुमञ्जूषा
५. परमलघुमञ्जूषा
६. स्फोटवाद
७. महाभाष्यप्रत्याख्यान-संग्रह[3]

इनका वर्णन इस इतिहास में यथाप्रकरण किया जायगा। नागेश भट्ट ने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, अलंकार आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे हैं।

उद्योतव्याख्याकार वैद्यनाथ पायगुण्ड (सं० १७५०-१८२५ वि०)

नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत की 'छाया' नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या केवल नवा-

---

१. देखो—'धर्मशास्त्रसंग्रह' का इण्डिया आफिस का हस्तलेख, ग्रन्थाङ्क १५०७ का प्रारम्भिक भाग।

२. 'सरस्वती' जुलाई १९१४, पृष्ठ ४००।

३. इसका एक हस्तलेख 'काशी के सरस्वती भवन के पुस्तकालय' में है, उसकी प्रतिलिपि हमारे पास भी है। अब यह काशी की 'सारस्वती सुषमा' में छप चुका है।

ह्निक पर उपलब्ध होती है। इसका कुछ अंश पं० शिवदत्त शर्मा ने निर्णयसागर यन्त्रालय बम्बई से प्रकाशित महाभाष्य के प्रथम भाग में छापा है।

वैद्यनाथ का पुत्र बालशर्मा और मन्नुदेव था। बालशर्मा ने कोलब्रुक साहब की आज्ञा, तथा धर्मशास्त्री मन्नुदेव और महादेव की सहायता से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' रचा था। बालशर्मा नागेशभट्ट का शिष्य और कोलब्रुक से लब्धजीविक था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

११. प्रवर्तकोपाध्याय

प्रवर्तकोपाध्याय-विरचित **'महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका'** के अनेक हस्तलेख मद्रास, अडियार, मैसूर, और ट्रिवेण्ड्रम् के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं इस ग्रन्थ का नाम **'महाभाष्यप्रदीपप्रकाश'** भी लिखा है।

प्रवर्तकोपाध्याय का उल्लेख हमारी दृष्टि में अन्यत्र नहीं आया। इस का काल तथा इतिवृत्त अज्ञात है।

१२. आदेन्न[1]

आदेन्न नाम के किसी वैयाकरण ने **'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्त्ति'** संज्ञक ग्रन्थ लिखा है। इस के पिता का नाम वेङ्कट अतिराताप्तोर्यामयाजी है। इस ग्रन्थ के तीन हस्तलेख 'मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र' भाग ३, पृष्ठ ६३२—६३४, ग्रन्थाङ्क १३०५—१३०७ पर निर्दिष्ट हैं।

१३. सर्वेश्वर सोमयाजी

सर्वेश्वर सोमयाजी विरचित **'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति'** का एक हस्तलेख 'अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र' भाग २, पृष्ठ ७३ पर निर्दिष्ट है।

---

१. मित्रवर श्री पं० पद्मनाभ राव जी ने १०।११।६३ ई० के पत्र में लिखा है 'आदेन्न = आदीति नामैकदेशग्रहणादयम् आदिनारायणो वा स्याद आदिशेषो वा। व्यवहारश्चायमान्ध्रेषु सर्वथा सुलभः। अन्न, अप्प, अय्य, अम्म एवमादिभ्रात्रादिवाचिनशब्दा नाम्नामन्ते निवेशनमेवात्र सम्प्रदायः।'

१४. हरिराम

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में हरिरामकृत **'महाभाष्य-प्रदीपव्याख्या'** का उल्लेख किया है। हमारी दृष्टि में इस का उल्लेख अन्यत्र नहीं आया।

१५. अज्ञातकर्तृक

'दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तका-लय' में एक **'प्रदीपव्याख्या'** ग्रन्थ विद्यमान है। इसका ग्रन्थाङ्क ६६०६ है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम अज्ञात है।

इस अध्याय में कैयट-विरचित 'महाभाष्यप्रदीप' के पन्द्रह टीका-कारों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस प्रकार हमने ११ वें और १२ वें अध्याय में महाभाष्य और उसकी टीका-प्रटीकाओं पर लिखने-वाले ४० वैयाकरणों का वर्णन किया है। अगले अध्याय में अनुपद-कार और पदशेषकार नामक वैयाकरणों का उल्लेख होगा।

तेरहवां अध्याय

अनुपदकार और पदशेषकार

व्याकरण के वाङ्मय में **अनुपदकार** और **पदशेषकार** नामक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है। अनेक ग्रन्थकार पदकार के नाम से पातञ्जल महाभाष्य के उद्धरण उद्धृत करते हैं।[1] तदनुसार पतञ्जलि का पदकार नामान्तर होने से स्पष्ट है कि महाभाष्य का एक नाम 'पद' भी था। शिशुपालवध के **'अनुत्सूत्रपदन्यासा'**[2] श्लोक की व्याख्या में बल्लभदेव भी **'पद'** शब्द का अर्थ **'पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्'**[3] करता है। इससे स्पष्ट है कि 'अनुपदकार' का अर्थ अनुपद=महाभाष्य के अनन्तर रचे गये ग्रन्थ[4] का रचयिता, और पदशेषकार का अर्थ पदशेष=महाभाष्य से बचे हुए विषय के प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ का रचयिता है। इसीलिये इनका वर्णन हम महाभाष्य और उस पर रची गई व्याख्याओं के अनन्तर करते हैं—

अनुपदकार

अनुपदकार का अर्थ अनुपदकार का अर्थ है—'अनुपद' का रचयिता।

अनुपद—'चरणव्यूह यजुर्वेद खण्ड' में एक अनुपद उपाङ्गों में गिना गया है। 'अनुपद' नाम का सामवेद का एक सूत्रग्रन्थ भी है। प्रकृत में 'अनुपद' का अर्थ पूर्वलिखित 'पद=महाभाष्य के अनु=अनुकूल लिखा गया ग्रन्थ' ही है। क्योंकि अनुपदकार नाम से आगे उद्ध्रियमाण वचन व्याकरण-विषयक है।

अनुपदकार का निर्देश—धूर्तस्वामी ने आपस्तम्ब श्रौत ११।

---

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ३३२। २. २। ११२॥

३. तुलना करो पदशेषो ग्रन्थविशेषः। पदमञ्जरी ७। २। ५८॥

४. तुलना करो—अनुन्यास पद। तथा देखो—अगले पृष्ठ का विवरण।

९ । २ के भाष्य में अनुपदकार का उल्लेख किया है ।[1] यह वैदिक ग्रन्थकार है । रामाण्डार ने आपस्तम्ब श्रौत ११ । ९ । २ की टीका में अनुपदकार को छान्दोग्य षड्विंश ब्राह्मण का व्याख्याता कहा है ।[2]

व्याकरण-वाङ्मय में अनुपदकार—व्याकरण-वाङ्मय में भी अनुपदकार का निर्देश अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है । यथा—

मैत्रेयरक्षित विरचित न्यासव्याख्या तन्त्रप्रदीप और शरणदेव रचित दुर्घटवृत्ति में 'अनुपदकार' के नाम से व्याकरण-विषयक दो उद्धरण उपलब्ध होते हैं । यथा

१—एवं च युवानमाख्यत् अचीकलदित्यादिप्रयोगोऽनुपदकारेण नेष्यत इति लक्ष्यते ।[3]

२-प्रेन्वनमिति अनुपदकारेणानुम उदाहरणमुपन्यस्तम् ।[4]

सम्भवतः ये उद्धरण यथाक्रम अष्टाध्यायी ७ । ४ । १ तथा ८ । ४ । २ के ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं ।

'संक्षिप्तसार व्याकरण' की वृत्ति और गोयीचन्द्रकृत व्याख्या में निर्दिष्ट अनुपदकार के चार मत निम्न प्रकार हैं[5]—

१—**'शषसे वर्गाद्यात्तद् द्वितीय इत्यनुपदकारः ।'** सन्धिपाद ।

२—**'पवमानोऽवर्तमानकाले, यजमानोऽवर्तमानकालेऽकत्रर्थे क्रियाफलेऽपीत्यनुपदकार** इति ।' 'लङ्लृङ्वत्'० सूत्रवृत्ति में ।

३—'जयादित्यादीनां तु व्यवस्थया यद्यप्येनच्छित इति लक्ष्यते अत्येनदिति च, तथापि न तदिहेष्टं भाष्यानुपदकारादीनां मतेन विरोधात् ।' द्वितीया टौसन्तस्य समासे सूत्रवृत्ति की गोयीचन्द्र की व्याख्या ।

४—'युवाखलितिसूत्रे युवजरन्निति भाष्ये नोदाहृतम् । अनुपदकारेण पुनरेतन्निश्चितमेव ।' 'जरतपलित०' सूत्रवृत्ति की गोयीचन्द्र की व्याख्या ।

---

१. अनुपदकारस्य तूर्ध्वबाहुना .... ।

२. अनुपदकारः छान्दोग्यषड्विंशव्याख्याता .... ।

३. भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९४ । ४. दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १२९ ।

५. मञ्जूषा पत्रिका वर्ष ५, अंक ८, पृष्ठ २५६ ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि **'अनुपद'** ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर था। यह सम्प्रति अप्राप्त है।

व्याकरण के वाङ्मय में जिनेन्द्रबुद्धिविरचित 'न्यास' अपरनाम काशिकाविवरणपञ्जिका के अनन्तर इन्दुमित्र नामक वैयाकरण ने काशिका की 'अनुन्यास' नामक एक व्याख्या लिखी थी। इसके उद्धरण अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[1] 'अनुन्यास' पद से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि अनुपद का हमारा पूर्व-लिखित अर्थ युक्त है। इस 'अनुपद' ग्रन्थ के रचयिता का नाम और काल अज्ञात है।

पदशेषकार

पदशेषकार के नाम से व्याकरणविषयक कुछ उद्धरण काशिका-वृत्ति, माधवीया धातुवृत्ति, और पुरुषोत्तमदेवविरचित महाभाष्य-लघुवृत्ति की 'भाष्यव्याख्याप्रपञ्च' नाम्नी टीका में उपलब्ध होते यथा—

१—**'पदशेषकारस्य पुनरिदं दर्शनम्—गम्युपलक्षणार्थं परस्मैपद-ग्रहणम्, परस्मैपदेषु यो गमिरुपलक्षितस्तस्मात् सकारादेरार्धधातुक-स्येड् भवति'**।[2]

२—**'अत एव भाष्यवार्तिकविरोधात् 'गमेरिट्' इत्यत्र परस्मै-पदग्रहणं गम्युपलणार्थम्, परमैपदेषु यो निर्दिष्ट इति पदशेषकार[3]-दर्शनमुपेक्ष्यम्'**।[4]

३—**'पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति'**।[5]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'पदशेष' नामक कोई ग्रन्थ अष्टा-ध्यायी पर लिखा गया था। 'पदशेष' नाम से यह भी विदित होता है कि यह ग्रन्थ पद=महाभाष्य के अनन्तर रचा गया था।

पदशेषकार का सब से पुराना उद्धरण अभी तक काशिकावृत्ति में मिला है। तदनुसार यह ग्रन्थ विक्रम की ७ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती

१. देखो—'काशिकावृत्ति के व्याख्याकार' नामक १५ वां अध्याय।

२. काशिका ७।२।५८॥ ३. पृष्ठ ४०५ की टि० १।

४. गम धातु, पृष्ठ १६२। ५. देखो—इ० हि० क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०७। तथा पूर्व पृष्ठ ४०४।

है, केवल इतना ही कहा जा सकता है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है।

हम पूर्व पृष्ठ ३३४ पर लिख आए हैं कि 'अनुपदकार' और पदशेषकार दोनों एक ही हैं अथवा भिन्न व्यक्ति हैं, यह विचारणीय है। जब तक दोनों का भेद-निदर्शक स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, तब तक इन्हें एक ग्रन्थकार मानना अधिक युक्त है, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है। अब हम अगले अध्याय में अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों का वर्णन करेंगे।

चौदहवां अध्याय

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

सूत्र-ग्रन्थों की रचना में अत्यन्त लाघव से कार्य लिया जाता है। 'सूत्र' शब्द 'सूत्र वेष्टने' चौरादिक ण्यन्तधातु से 'अच्' अथवा पक्षान्तर[1] में 'घञ्' प्रत्यय होकर बनता है। प्राचीन ग्रन्थकार सूत्र शब्द का अर्थ '**सूचनात् सूत्रम्**'[2] भी दर्शाते हैं। तदनुसार सूत्र=तन्तु के अवयवों के समान अनेक अर्थों को वेष्टित = अपने में गुम्फित करनेवाले अथवा विस्तृत अर्थों की सूचना देनेवाले संकेतमात्र सूत्रों का अभिप्राय हृदयंगम करने वा कराने के लिए व्याख्यान-ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस प्रकार के व्याख्यान-ग्रन्थों का स्वरूप निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

'न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत् ऐज् इति। किं तर्हि? 'उदाहरणम्, प्रत्युदाहरणम्, वाक्याध्याहारः' इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति'।[3]

अर्थात्– व्याख्यान में पदच्छेद, वाक्याध्याहार (पूर्वप्रकरणस्थ पदों की अनुवृत्ति वा सूत्रबाह्य पद का योग) उदाहरण और प्रत्युदाहरण होने चाहिएं।

पञ्चधा व्याख्यान—वैयाकरणों में एक श्लोक प्रसिद्ध है

'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्'॥[4]

---

१. एरजण्यन्तानाम् इति काशिका। ३। ३। ५६॥

२. इसी लक्षण को किसी ने विस्तार से इस प्रकार कहा है—'लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥ भामती (वेदान्त १।१।१) में उद्धृत।

३. महाभाष्य १।१। आ० १॥

४. भाषावृत्ति की सृष्टिधर-विरचित विवृति में (भाषावृत्ति के प्रारम्भ में पृष्ठ १६ पर)।

अर्थात्—पदच्छेद, पदों का अर्थ, समस्तपदों का विग्रह, वाक्य-योजना, पूर्वपक्ष और समाधान ये पांच व्याख्यान के अवयव हैं।

षड्विध व्याख्यान नागेशकृत 'उद्योत की छायाटीका' के आरम्भ में 'षड्विधा व्याख्या' का निर्देश मिलता है। इस षड्विधा व्याख्या के तीन प्रकार छायाकार ने 'विष्णुधर्मोत्तर' से उद्धृत किये हैं।[1]

इन वचनों से स्पष्ट है कि सूत्रग्रन्थों के प्रारम्भिक व्याख्यानों में पदच्छेद, पदार्थ, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, वाक्ययोजना=अर्थ, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पूर्वपक्ष और समाधान ये अंश प्रायः रहा करते थे। इसी प्रकार के लघु-व्याख्यानरूप ग्रन्थ 'वृत्ति' शब्द से व्यवहृत होते हैं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर प्राचीन अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे हैं। पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य के अवलोकन से विदित होता है कि उससे पूर्व अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियों की रचना हो चुकी थी। महाभाष्य १।१।५६ में लिखा है—

'यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरणं तदपि संगृहीतं भवति? किं पुनस्तत्? पट्व्या मृद्व्येति।'

इस पर कैयट लिखता है—**'मूर्धाभिषिक्तमिति - सर्ववृत्तिषूदाहृतत्वात्।'**

पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी १।२।१ के भाष्य में उक्त सूत्र के चार विभिन्न सूत्रार्थ दर्शाये हैं।[2] ये सूत्रार्थ पतञ्जलि के स्वकल्पना-प्रसूत नहीं हैं। निश्चय ही इन सूत्रार्थों का निर्देश पतञ्जलि ने प्राचीन वृत्तियों के आधार पर किया होगा।[3]

---

१. द्र०—नवाह्निक पृष्ठ २, ३ निर्णय सागर संस्करण।

२. गाङ्कुटादिभ्यः परोऽञ्णित् प्रत्ययः इत्संज्ञकङकार इत्यर्थः। द्र०—उद्योत। गाङ्कुटादिभ्यः परो योऽञ्णित् प्रत्ययः स ङिद् भवति ङकार इत्संज्ञकस्तस्य भवतीत्यर्थः। द्र०—प्रदीप। संज्ञाकरणं तर्हीदं, गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् प्रत्ययो ङित्संज्ञो भवति। महाभाष्य। तद्वदतिदेशस्तर्ह्ययम्—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङिद्वद् भवति। महाभाष्य।

३. देखो—ओरियण्टल कालेज मेगजीन लाहौर, नवम्बर सन् १९३९ के अंक में मेरा 'अष्टाध्यायी की महाभाष्य से प्राचीन वृत्तियों का स्वरूप' शीर्षक लेख।

महाभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि महाभाष्य की रचना से पूर्व अष्टाध्यायी की न्यून से न्यून ४-५ वृत्तियां अवश्य बन चुकी थीं। महाभाष्य के अनन्तर भी अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी की वृत्तियां लिखी हैं।

महाभाष्य से अर्वाचीन अष्टाध्यायी की जितनी वृत्तियां लिखी गईं, उनका मुख्य आधार पातञ्जल महाभाष्य है। पतञ्जलि ने पाणिनीयाष्टक की निर्दोषता सिद्ध करने के लिये जिस प्रकार अनेक सूत्रों वा सूत्रांशों का परिष्कार दर्शाया, उसी प्रकार उसने कतिपय सूत्रों की वृत्तियों का भी परिष्कार किया। अतः महाभाष्य से उत्तरकालीन वृत्तियों से पाणिनीय सूत्रों की उन प्राचीन सूत्रवृत्तियों का यथावत् परिज्ञान नहीं होता, जिनके आधार पर महाभाष्य की रचना हुई। इस कारण प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखे महाभाष्य के अनेक पाठ अर्वाचीन वृत्तियों के अनुसार असंबद्ध उन्मत्तप्रलापवत् प्रतीत होते हैं। यथा—

अष्टाध्यायी के **'कष्टाय क्रमणे'** (३।१।१४) सूत्र की वृत्ति काशिका में **'कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽर्थेऽनार्जवे क्यङ् प्रत्ययो भवति'** लिखी है। जिस छात्र ने यह वृत्ति पढ़ी है, उसे इस सूत्र के महाभाष्य की **'कष्टायेति किं निपात्यते? कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् निपात्यते'** पङ्क्ति देखकर आश्चर्य होगा कि इस सूत्र में निपातन का कोई प्रसङ्ग ही नहीं, फिर महाभाष्यकार ने निपातनविषयक आशङ्का क्यों उठाई? इसलिये महाभाष्य का अध्ययन करते समय इस बात का विशेष ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

अष्टाध्यायी पर रची गई महाभाष्य से प्राचीन और अर्वाचीन वृत्तियों में से जितनी वृत्तियों का ज्ञान हमें हो सका, उन का संक्षेप से वर्णन करते हैं -

१. पाणिनि (२६०० वि० पूर्व)

पाणिनि ने स्वोपज्ञ 'अकालक' व्याकरण का स्वयं अनेक वार प्रवचन किया था। महाभाष्य १।४।१ में लिखा है—

१—'कथं त्वेतत् सूत्रं पठितव्यम्। किमाकडारादेका संज्ञा, आहो-

स्वित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति । कुतः पुनरयं सन्देहः ? **उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः—केचिदाकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति ।**'

२–काशिका ४।१।११४ में लिखा है—

'**शुभ्राशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति, ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौभ्रेय इति । द्वयमपि चैतत् प्रमाणम्, उभयथा सूत्रप्रणयनात् ।**'

३–काशिका ६ । २ । १०४ में उदाहरण दिये हैं—'**पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः** । इन से पाणिनि के शिष्यों के दो विभाग दर्शाए हैं ।

इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि सूत्रकार ने अपने सूत्रों का स्वयं अनेकधा प्रवचन किया था । सूत्रप्रवचन-काल में सूत्रों की वृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण दर्शाना आवश्यक है । क्योंकि इनके विना सूत्रमात्र का प्रवचन नहीं हो सकता, अथवा वह निरर्थक होगा । अतः यह आपाततः स्वीकार करना होगा कि पाणिनि ने अपने सूत्रों की स्वयं किसी वृत्ति का भी अवश्य प्रवचन किया था । पाणिनि के शिष्यों ने सूत्रपाठ के समान उस का भी रक्षण किया । इसकी पुष्टि निम्नलिखित प्रमाणों से भी होती है—

१—भर्तृहरि '**इग्यणः संप्रसारणम्**'[1] सूत्र के विषय में 'महाभाष्यदीपिका' में लिखता है—

'**उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः—केचिद् वाक्यस्य, केचिद्वर्णस्य ।**'

अर्थात्—पाणिनि ने शिष्यों को '**इग्यणः संप्रसारणम्**' सूत्र के दो अर्थ पढ़ाये हैं । किन्हीं को '**यणः स्थाने इक्**' इस वाक्य की सम्प्रसारण संज्ञा बताई, और किन्हीं को यण् के स्थान पर होनेवाले इक् वर्ण की ।

२—अष्टाध्यायी ५ । १ । ५० की दो प्रकार से व्याख्या करके जयादित्य लिखता है

'**सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः । तदुभयमपि प्रमाणम्**'।

---

१. अष्टा० १ । १ । ४५ ॥

अर्थात्—आचार्य (पाणिनि) ने सूत्र के दोनों अर्थ शिष्यों को बताए, इसलिये दोनों अर्थ प्रमाण हैं।

ऐसी ही दो प्रकार की व्याख्या जयादित्य ने ५। १। ६४ की भी की है।[1]

३—महाभाष्य ६। १। ४५ में पतञ्जलि ने लिखा है—

'यर्त्तहि मीनातिमीनोतिदीङां ल्यपि चेत्यत्र एज्ग्रहणमनुवर्तयति ..।'

यहां **अनुवर्तयति** (=अनुवृत्ति लाता है) क्रिया का कर्त्ता पाणिनि के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।

४—महाभाष्य ३। १। ९४ में लिखा है—

'ननु च य एव तस्य समयस्य कर्त्ता स एवेदमप्याह। यद्यसौ तत्र प्रमाणमिहापि प्रमाणं भवितुमर्हति। प्रमाणं चासौ तत्र चेह च।'[2]

अर्थात्—**'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः'** इस नियम का जो कर्त्ता है, वही **'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्'**[3] सूत्र का भी रचयिता है। यदि वह नियम में प्रमाण है, तो सूत्र के विषय में भी प्रमाण होगा। वह उस में भी प्रमाण है, और इस में भी।

यह नियम न पाणिनि के सूत्रपाठ में उपलब्ध होता है, और न खिलपाठ में। भाष्यकार के वचन से स्पष्ट है कि इस नियम का कर्त्ता पाणिनि है। अतः प्रतीत होता है कि पाणिनि ने उपर्युक्त नियम का प्रतिपादन सूत्रपाठ की वृत्ति में किया होगा।

५—गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान सूरि क्रौड्याद्यन्तर्गत 'चैतयत'[4] पद पर लिखता है—**'पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह'**।[5]

---

१. ऐसी दो-दो प्रकार की व्याख्या श्वेतवनवासी ने पञ्चपादी उणादि में कतिपय सूत्रों की की है, द्रष्टव्य—४। ११५, ११७, १२०। श्वेतवनवासी ने इन सूत्रों की द्वितीय व्याख्या दशपादीवृत्ति के आधार पर की है। द्र०—दशपादीवृत्ति १०। १६, १७; ८। १४॥

२. शबरस्वामी ने मीमांसा ३। ४। १३ के भाष्य में 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः' वचन को आचार्योपदेश कहा है इसी प्रसंग में सूत्रकार का भी निर्देश है। अतः उसके मत में यह आचार्य पाणिनि से भिन्न है। ३. अष्टा० ३।१।९४।

४. काशिका में 'चैटयत' पाठ है। ५. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ३७

वर्धमान ने यह व्युत्पत्ति निश्चय ही '**क्रौड्यादिभ्यश्च**'[1] सूत्र की पाणिनीय वृत्ति से उद्धृत की होगी।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की वृत्ति का प्रवचन अवश्य किया था।

पाणिनि के परिचय और काल के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ १७८–२०५) विस्तार से लिख चुके हैं।

२. श्वोभूति (२९०० वि० पूर्व)

आचार्य श्वोभूति ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। उसका उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास ग्रन्थ में किया है। काशिका ७।२।११ के '**केचिदत्र द्विककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति**' पर वह लिखता है—

'**केचित् श्वभूतिव्याडिप्रभृतयः 'श्र्युकः किति' इत्यत्र द्विककार-निर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारः प्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते।**'

यहां श्वभूति का पाठान्तर 'सुभूति' है। सुभूति न्यासकार सेअर्वाचीन ग्रन्थकार है। हमारा विचार है कि न्यास में व्याडि के साहचर्य से 'श्वोभूति' पाठ शुद्ध है।

परिचय

श्वोभूति आचार्य का कुछ भी इतिवृत्त विदित नहीं है। महाभाष्य १।१।५६ में एक श्वोभूति का उल्लेख मिलता है। वचन इस प्रकार है—

'**स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च। नेतारावागच्छन्तं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च**'॥

उक्त वचन श्वभूति को सम्बोधनरूप से निर्देश होने से प्रतीत होता है कि श्वोभूति इस श्लोक के रचयिता का शिष्य था। प्रदीपकार कैयट का भी यही मत है।[2] इस श्लोक के रचयिता का नाम अज्ञात है।

लक्ष्यानुसारी काव्यवचन—हमारे विचार में उक्त श्लोक

---

१. अष्टा० ४।१।८०॥

२. श्वोभूतिर्नाम शिष्यः। कैयट महाभाष्यप्रदीप १।१।५६॥

पाणिनीय सूत्रों को लक्ष्य में रखकर रावणार्जुनीय भट्टि आदि काव्यों के सदृश लक्ष्य-प्रधान काव्य का है।

काल किन्हीं विद्वानों का मत है कि श्वोभूति पाणिनि का साक्षात् शिष्य है (हमारा भी यही विचार है)। यदि यह बात प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाय, तो श्वोभूति का काल निश्चय ही २६ सौ वर्ष विक्रमपूर्व होगा। महाभाष्य में श्वोभूति का उल्लेख होने से इतना विस्पष्ट है कि श्वोभूति महाभाष्यकार पतञ्जलि से प्राचीन है।

३. व्याडि (२८०० वि० पूर्व)

श्वोभूति के प्रसङ्ग में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि का जो वचन उद्धृत किया है, उससे विदित होता है कि व्याडि ने भी श्वोभूति के समान अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति लिखी थी।

यदि व्याडि ने अष्टाध्यायी ७। २। ११ सूत्र की उक्त व्याख्या संग्रह में न की हो, तो निश्चय ही व्याडि ने अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी होगी।

व्याडि के विषय में हम **संग्रहकार व्याडि** नामक प्रकरण में (पूर्व पृष्ठ २७५-२६१) विस्तार से लिख चुके हैं।

४. कुणि (२००० वि० पूर्व से प्राचीन)

भर्तृहरि कैयट और हरदत्त आदि ग्रन्थकार आचार्य कुणि विरचित 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख करते हैं। भर्तृहरि महाभाष्य १। १। ३८ की व्याख्या में लिखता है

'अत एषां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम्। ··· अतो गणपाठ एव ज्यायान् अस्यापि वृत्तिकारस्य इत्येतदनेन प्रतिपादयति।'[1]

कैयट महाभाष्य १। १। ७५ की टीका में लिखता है—

'कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं च व्याख्यातम्। ·· ··भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्।'

हरदत्त भी 'पदमञ्जरी' में लिखता है—**'कुणिना तु प्राचां ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्याख्यातम्, भाष्यकारोऽपि तथैवाशिश्रियत्।'**[2]

---

१. हमारा हस्तलेख पृष्ठ ३०६। २. भाग १, पृष्ठ १४५।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य कुणि ने अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति अवश्य रची थी।

परिचय

वृत्तिकार आचार्य कुणि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है। हम उस के विषय में कुछ नहीं जानते।

'ब्रह्माण्ड पुराण' तीसरा पाद ८। ९७ के अनुसार एक 'कुणि' वसिष्ठ का पुत्र था। इस का दूसरा नाम 'इन्द्रप्रमति' था। एक इन्द्रप्रमति ऋग्वेद के प्रवक्ता आचार्य पैल का शिष्य था।[1] निश्चय ही वृत्तिकार कुणि इन दोनों से भिन्न व्यक्ति है।

काल

आचार्य कुणि का इतिवृत्त अज्ञात होने से उसका काल भी अज्ञात है। भर्तृहरि आदि के उपर्युक्त उद्धरणों से केवल इतना प्रतीत होता है कि यह आचार्य महाभाष्यकार पतञ्जलि से पूर्ववर्ती है।

५. माथुर (२००० वि० पूर्व से प्राचीन)

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी १। २। ५७ की वृत्ति में आचार्य माथुर-प्रोक्त वृत्ति का उल्लेख किया है। महाभाष्य ४। ३। १०१ में भी माथुर नामक आचार्य-प्रोक्त किसी वृत्ति का उल्लेख मिलता है।

परिचय

माथुर नाम तद्धितप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस का अर्थ 'मथुरा में रहनेवाला' अथवा 'मथुरा अभिजनवाला' है। ग्रन्थकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। महाभाष्य में इसका उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि यह आचार्य पतञ्जलि से प्राचीन है।

माथुरी-वृत्ति

महाभाष्य में लिखा है—**यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम् माथुरी वृत्तिः**'।[2]

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ७८ प्र० सं०।

२. डा० कीलहार्न ने 'माधुरी वृत्तिः' पाठ माना है। उसके चार हस्त-

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि 'माथुरी-वृत्ति' का रचयिता माथुर[1] से भिन्न व्यक्ति था। माथुर तो केवल उसका प्रवक्ता है।

माथुरी वृत्ति का उद्धरण

संस्कृत वाङ्मय में अभी तक 'माथुरी-वृत्ति' का केवल एक उद्धरण उपलब्ध हुआ है। पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति १। २। ५७ में लिखता है—

'माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते।'

अर्थात् माथुरी वृत्ति में **'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'**[2] सूत्र के **'अशिष्य'** पद की अनुवृत्ति प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद की समाप्ति तक है।

माथुरी वृत्ति और चान्द्र व्याकरण

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'अशिष्य' पद की अनुवृत्ति १। २। ५७ तक मानी है। माथुरी वृत्ति में इस पद की अनुवृत्ति १।२।७३ तक जाती है। अतः माथुरी-वृत्ति के अनुसार अष्टाध्यायी १।२।५८ से १।२।७३ तक १६ सूत्र भी अशिष्य हैं। चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में जिस प्रकार अष्टाध्यायी १।२।५३–५७ सूत्रस्थ विषयों का अशिष्य होने से समावेश नहीं किया, उसी प्रकार उसने अष्टाध्यायी १। १। ५८–७३ सूत्रस्थ **वचनातिदेश और एकशेष** का निर्देश भी नहीं किया। इस से प्रतीत होता है कि आचार्य चन्द्रगोमी ने इन विषयों को भी अशिष्य माना है। इस समानता से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की रचना में 'माथुरी-वृत्ति' का साहाय्य अवश्य लिया था। महाभाष्कार ने भी जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानकर अष्टाध्यायी १। १। ५८–७३ सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। सम्भव है कि पतञ्जलि ने भी इन के प्रत्याख्यान में माथुरी वृत्ति का आश्रय लिया हो।

लेखों में 'माथुरी वृत्तिः' पाठ भी है। तुलना करो—'अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः।' काशिका ४। ३। १०१॥

१. माथुर+अण्। प्रदीप ४। ३। १०१॥

२. अष्टा० १। २। ५३॥

६. वररुचि (विक्रम-समकालिक)

आचार्य वररुचि ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन वररुचि से भिन्न अर्वाचीन व्यक्ति है। वररुचिविरचित अष्टाध्यायीवृत्ति का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में किया है। 'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' में इस नाम का एक हस्तलेख विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र सन् १८८० का छपा, पृष्ठ ३४२।

परिचय

यह वररुचि भी कात्यायन गोत्र का है। 'सदुक्तिकर्णामृत' के एक श्लोक से विदित होता है कि इसका एक नाम श्रुतिधर भी था।[1] वाररुच निरुक्तसमुच्चय से प्रतीत होता है कि यह किसी राजा का धर्माधिकारी था।[2] अनेक इसे विक्रमादित्य का पुरोहित मानते हैं।[3] इसका भागिनेय वासवदत्ता-लेखक सुबन्धु था।[4] इससे अधिक हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते।

काल

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार आचार्य वररुचि संवत्-प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य का सभ्य था।[5] कई ऐतिहासिक इस सम्बन्ध को काल्पनिक मानते हैं। अतः हम वररुचि के कालनिर्णायक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—काशिका से प्राचीन कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह के मतानुसार कातन्त्र व्याकरण का कृदन्त भाग वररुचि कात्यायन कृत है।[6]

---

१. ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-विद्याभर्तुः खलु वररुचेरास्सद प्रतिष्ठाम्। पृष्ठ २९७।

२. युष्मत्प्रसादादहं क्षपितसमस्तकल्मषः सर्वसंपत्संगतो धर्मानुष्ठानयोग्यश्च संजातः। पृष्ठ ५१ (द्वि० सं०)

३. द्र० अनुपाद 'काल' निर्देश प्रकरण में ७ वां प्रमाण।

४. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास, पृ० ६ (द्वि० सं०)।

५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ ६८ (द्वि० सं०)

६. द्र०—आगे पृष्ठ ४४५ पर काल-निर्देशक ८ वां प्रमाण।

६. वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृताः कृतः। कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये॥

२—संवत् ६९५ वि० में शतपथ का भाष्य लिखने वाले हरिस्वामी का गुरु स्कन्दस्वामी निरुक्तटीका में वाररुच निरुक्तसमुच्चय से पर्याप्त सहायता लेता है, और उसके पाठ उद्धृत करता है।[1]

३—स्कन्द महेश्वर की 'निरुक्तटीका' १०। १६ में भामह के अलंकार ग्रन्थ का २। १७ श्लोक उद्धृत है। भामह ने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' की 'प्राकृतमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। अतः वररुचि निश्चय ही संवत् ६०० वि० से पूर्ववर्ती है। पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे के मतानुसार हरिस्वामी संवत् प्रवर्तक विक्रम का समकालिक है।[2]

भारतीय इतिहास के प्रामाणिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ में वररुचि और विक्रम साहसाङ्क की समकालिकता में अनेक प्रमाण दिये हैं[3]। उनमें से कुछ एक नीचे लिखे हैं—

४—वररुचि अपने 'लिङ्गानुशासन' के अन्त में लिखता है—

'इति श्रीमदखिलवाग्विलासमण्डित-सरस्वती-कण्ठाभरण-अनेकविशरण-श्रीनरपति--विक्रमादित्य-किरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्द-आचार्यवररुचिविरचितो लिङ्गविशेषविधिः समाप्तः।'

५—वररुचि अपनी 'पत्रकौमुदी' के आरम्भ में लिखता है—

विक्रमादित्यभूपस्य कीर्तिसिद्धेर्निदेशतः।
श्रीमान् वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम्॥

६—वररुचि अपने 'विद्यासुन्दर काव्य' के अन्त में लिखता है—

'इति समस्तमहीमण्डलाधिपमहाराजविक्रमादित्यनिदेशलब्धश्रीमन्महापण्डितवररुचिविरचितं विद्यासुन्दरप्रसंगकाव्यं समाप्तम्।'

७ लक्ष्मणसेन (वि० सं० ११७६) के सभापण्डित धोयी का एक श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत है। उसमें लिखा है—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥[4]

---

१. देखो—हमारे द्वारा सम्पादित 'निरुक्तसमुच्चय' की भूमिका पृष्ठ १।

२. ग्वालियर से प्रकाशित 'विक्रमस्मारक ग्रन्थ' में पं० सदाशिव कात्रे का लेख।

३. देखो—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२७ तथा ३४१।

४. सदुक्तिकर्णामृत पृष्ठ २९७।

८—कालिदास अपने 'ज्योतिर्विदाभरण' २२।१० में लिखता है—

'धन्वन्तरिःक्षपणकोऽमरसिंहशङ्कूवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेःसभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।'

४–८ तक के पांच प्रमाणों से वररुचि और विक्रमादित्य का सम्बन्ध विस्पष्ट है। आठवें प्रमाण में 'वराहमिहिर' का उल्लेख है। वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' में ५५० शक का उल्लेख किया है। यह शालिवाहन शक नहीं है। 'शक' शब्द संवत्सर का पर्याय है। इस तथ्य को न जानकर इसे शालिवाहन शक मानकर आधुनिक ऐतिहासिकों ने महती भूल की है। विक्रम से पूर्व नन्दाब्द, चन्द्रगुप्ताब्द, शूद्रकाब्द आदि अनेक शक प्रचलित थे। वराहमिहिर ने किस शक का उल्लेख किया है, यह अज्ञात है।

वाररुच-वृत्ति का हस्तलेख

हमने 'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' में विद्यमान वाररुच-वृत्ति की प्रतिलिपि मंगवाई है। यह आरम्भ से अष्टाध्यायी २। ४। ३४ सूत्र पर्यन्त है। यदि यह प्रतिलिपि भूल से अन्य ग्रन्थ की न भेजी गई हो, तो निश्चय ही वह हस्तलेख वाररुच वृत्ति-का नहीं है। इस ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी की ही सूत्रवृत्ति सूत्रक्रमानुसार तत्तत् सूत्रों पर संगृहीत है।

वररुचि के कतिपय अन्य ग्रन्थ

वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ-एक निम्न लिखित हैं

१ –**तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-व्याख्या**— इस व्याख्या के अनेक उद्धरण तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के 'त्रिरत्नभाष्य' और वीरराघवकृत 'शब्दब्रह्मविलास' नामक टीका में मिलते हैं। इसका विशेष वर्णन 'प्रातिशाख्य और उसके टीकाकार' नामक २८ वें अध्याय में किया जायगा।

२ **निरुक्तसमुच्चय**—इस ग्रन्थ में आचार्य वररुचि ने १०० मन्त्रों की व्याख्या नैरुक्तसम्प्रदायानुसार की है। यह निरुक्त-सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है।[1] इसका सम्पादन हमने किया है।

१. इसका परिष्कृत द्वितीय संस्करण २०२२ वि० में पुनः छपवाया है।

३—**सारसमुच्चय**—इस ग्रन्थ में वररुचि ने महाभारत से आचार-व्यवहार सम्बन्धी अनेक विषयों के श्लोकों का संग्रह किया है। यह ग्रन्थ बालि द्वीप से प्राप्त हुआ है। इस पर बालि भाषा में व्याख्या भी है। इसका सुन्दर संस्करण अभी-अभी श्री डा० रघुवीर ने 'सरस्वती विहार' से प्रकाशित किया है।

४—**लिङ्गविशेषविधि**—इसका वर्णन 'लिङ्गानुशासन और उसके वृत्तिकार' नामक २५ वें अध्याय में किया जायगा।

५—**प्रयोगविधि**—यह व्याकरणविषयक लघु ग्रन्थ है। यह नारायणकृत टीका सहित ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हो चुका है।

६—**कातन्त्र उत्तरार्ध**—इसका वर्णन 'कातन्त्र' व्याकरण के प्रकरण में किया जायगा।

७—**प्राकृतप्रकाश**—यह प्राकृत भाषा का व्याकरण है। इस पर भामह की 'प्राकृतमनोरमा' टीका छप चुकी है।

८—**कोश**—अमरकोष आदि की विविध टीकाओं में कात्य, कात्यायन तथा वररुचि के नाम से किसी कोष-ग्रन्थ के अनेक वचन उद्धृत हैं। वररुचिकृत कोष का एक सटीक हस्तलेख 'मद्रास राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है, देखो—सूचीपत्र भाग २७, खण्ड १ ग्रन्थाङ्क १५६७२।

९—**उपसर्ग-सूत्र**—माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या में वररुचि का एक उपसर्ग-सूत्र उद्धृत है।[1]

१०—**पत्रकौमुदी**। ११—**विद्यासुन्दरप्रसंग काव्य**।

७. देवनन्दी (सं० ५०० वि० से पूर्व)

'जैनेन्द्र-शब्दानुशासन' के रचयिता देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने पाणिनीय व्याकरण पर '**शब्दावतारन्यास**' नाम्नी टीका लिखी थी। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—शिमोगा जिले की 'नगर' तहसील के ४३ वें शिलालेख में लिखा है—

---

१. वररुचेरुपसर्गसूत्रम्—'नि निश्चयनिषेधयोः।' निर्णयसागर सं० पृ० ५।

'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपादः,
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥'[1]

अर्थात्—पूज्यपाद ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र' न्यास, पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार-न्यास, वैद्यक का ग्रन्थ और तत्त्वार्थ-सूत्र की टीका लिखी ।

२—वि० सं० १२१७ के वृत्तविलास ने 'धर्मपरीक्षा' नामक कन्नड भाषा के काव्य की प्रशस्ति में लिखा है—

'भरदिं जैनेन्द्रभासुरं=एनल् ओरेदं पाणिनीयक्के टीकुम्'[2]

इसमें पाणिनीय व्याकरण पर किसी टीका-ग्रन्थ के लिखने का उल्लेख है ।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दी ने पाणिनीय व्याकरण पर कोई टीका ग्रन्थ अवश्य रचा था । आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित 'शब्दावतार-न्यास' इस समय अप्राप्य है ।

परिचय

चन्द्रय्य कवि ने कन्नड भाषा में पूज्यपाद का चरित लिखा है । उसमें लेखक लिखता है—

'देवनन्दी के पिता का नाम 'माधव भट्ट' और माता का नाम 'श्रीदेवी' था । ये दोनों वैदिक मतानुयायी थे । इनका जन्म कर्नाटक देश के 'काले' नामक ग्राम में हुआ था । माधव भट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैन मत स्वीकार किया था । पूज्यपाद को एक उद्यान में मेंढक को सांप के मुंह में फंसा हुआ देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे जैन साधु बन गये ।'

यह चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपादेय माना जाता है । अतः उपर्युक्त लेख कहां तक सत्य है, यह नहीं कह सकते । फिर भी यह सम्भावना ठीक प्रतीत होती है कि देवनन्दी के पिता वैदिक

---

१. 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ १०७, टि० १; द्वि० सं० पृष्ठ ३३ टि० २ । देवनन्दी का प्रकरण प्रायः इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है ।

२. 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ ६३, टि० २ (प्र० सं०) ।

मतानुयायी रहे हों। ऐतिह्य-प्रसिद्ध जैन ग्रन्थकारों में अनेक ग्रन्थकार पहले स्वयं वैदिकधर्मी थे, अथवा उनके पूर्वज वैदिकमतानुयायी थे।

देवनन्दी जैनमत के प्रामाणिक आचार्य हैं। जैन लेखक इन्हें **पूज्यपाद** और **जिनेन्द्रबुद्धि** के नाम से स्मरण करते हैं। गणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान ने इन्हें **'दिग्वस्त्र'** नाम से स्मरण किया है।[1]

काल

आचार्य देवनन्दी का काल अभी तक अनिश्चित है। उनके काल-निर्णायक जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१—जैन ग्रन्थकार वर्धमान ने वि० सं० ११९७ में अपना 'गणरत्नमहोदधि' ग्रन्थ रचा। उसमें आचार्य देवनन्दी को 'दिग्वस्त्र' नाम से बहुत्र स्मरण किया है।

२—राष्ट्रकूट के जगत्तुङ्ग राजा का समकालिक वामन अपने 'लिङ्गानुशासन' में आचार्य देवनन्दी-विरचित जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन को बहुधा उद्धृत करता है।[2] जगत्तुङ्ग का राज्यकाल वि० सं० ८५१—८७१ तक था।[3]

३—कनार्टककविचरित्र के कर्त्ता ने गङ्गवंशीय राजा दुर्विनीत को पूज्यपाद का शिष्य लिखा है। दुर्विनीत के पिता महाराज अविनीत का मर्करा (कुर्ग) से शकाब्द ३८८ का एक ताम्रपत्र मिला है। तदनुसार अविनीत वि० सं० ५२३ में राज्य कर रहा था। 'हिस्ट्री आफ कनाडी लिटरेचर' और 'कर्नाटककविचरित्र' के अनुसार महाराज दुर्विनीत का राज्यकाल वि० सं० ५३९-५६९ तक रहा है।[4]

४—वि० सं० ९९० में बने हुए 'दर्शनसार' नामक प्राकृत ग्रन्थ में लिखा है—

---

१. शालातुरीयशकटाङ्गजचन्द्रगोमिदिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्याः।··· दिग्वस्त्रो देवनन्दी। पृष्ठ १, २।

२. व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत्। श्लोक ३१।

३. 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ ११६ (प्र० सं०)।

४. वही, पृष्ठ ११६ (प्र० सं०)।

सिरिपुज्जपादसीसो द्राविडसघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥

पंचसए छब्बीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुरा-जादो दाविणसंघो महामोहो॥[1]

अर्थात् पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रम के मरण के पश्चात् ५२६ वें वर्ष में दक्षिण मथुरा वा मदुरा में द्रविड़संघ की स्थापना की थी।

प्रमाणाङ्क ३ और ४ से विस्पष्ट होता है कि आचार्य देवनन्दी का काल विक्रम की षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध है।

विवेचना—श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' के द्वितीय संस्करण में पृष्ठ ४४ पर पूज्यपाद और राजा दुर्विनीत के गुरुशिष्य भाव का खण्डन कर दिया है।

नया प्रमाण—'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' से प्रकाशित जैनेन्द्र व्याकरण के आरम्भ में 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' प्रकरण में आचार्य पूज्यपाद के काल के निश्चय के लिए हमने एक नया प्रमाण उपस्थित किया था। उसे ही संक्षेप से यहां उपस्थित करते हैं—

प्रायः सभी वैयाकरणों ने एक विशेष नियम का विधान किया है, जिसके अनुसार 'ऐसी कोई घटना जो लोकविश्रुत हो, प्रयोक्ता ने उसे साक्षात् न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ता के दर्शन का विषय सम्भव हो, अर्थात् प्रयोक्ता के जीवनकाल में घटी हो, तो उसको कहने के लिए भूतकाल में लङ् प्रत्यय होता है'—

'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये।'[2]

इस नियम के निम्न उदाहरण व्याकरण-ग्रन्थों में मिलते हैं—

अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।
महा० ३।२।११॥

अजयज्जर्तो हूणान्[3]। चान्द्र १।२।८१॥

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, टि०, प्र० सं० पृष्ठ ११७, द्वि० सं० पृष्ठ ४३। २. कात्यायन वार्तिक। महा० ३।२।११॥

३. पाश्चात्य मतानुयायियों ने 'जर्तः' के स्थान पर 'गुप्तः' पाठ घड़

अरुणन्महेन्द्रो मथराम् । जैनेन्द्र[1] २ । २ । ६२ ॥

अदहदमोघवर्षोऽरातीन् । शाक० ४ । ३ । २०८ ॥

अरुणत् सिद्धवर्षोऽवन्तीम् । हैम ५ । २ । ८ ॥

इन में अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं । आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] अमोघवर्ष, और आचार्य हेमचन्द्र सिद्धराज के काल में विद्यमान थे, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं । परन्तु **जर्त** और **महेन्द्र** नामक व्यक्ति को इतिहास में साक्षात् न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी भारतीय विद्वानों ने **जर्त** को **गुप्त**[2] और **महेन्द्र** को **मेनेन्द्र-मिनण्डर**[3] बनाकर अनर्गल कल्पनाएं की हैं । इस प्रकार की कल्पनाओं से इतिहास नष्ट हो जाता है । हमारे विचार में जैनेन्द्र का **अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्** पाठ सर्वथा ठीक है । उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्ति की सम्भावना नहीं । आचार्य पूज्यपाद के जीवनकाल को यह महत्त्वपूर्ण घटना इतिहास में सुरक्षित है ।

जैनेन्द्र उल्लिखित महेन्द्र—जैनेन्द्र व्याकरण में स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है । उसका पूरा नाम **महेन्द्रकुमार** है । जैनेन्द्र के **विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्** (४।१।१३६) वार्तिक, अथवा **पदेषु पदैकदेशान्** न्याय के अनुसार महेन्द्रकुमार के लिए **महेन्द्र** अथवा कुमार शब्दों का प्रयोग इतिहास में मिलता है । कुमारगुप्त की मुद्राओं पर **महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार** आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं[4] ।

महेन्द्र का मथुरा विजय—तिब्बतीय ग्रन्थ 'चन्द्रगर्भ परिपृच्छा'

लिया है । द्र०—पूर्व पृष्ठ ३४२, ३४३ तथा पृष्ठ ३४२ की टि० ३ ।

१. यद्यपि यह तथा इसके पूर्व उदाहरण क्रमशः धर्मदास और अभयनन्दी की वृत्तियों से दिए हैं, परन्तु इन वृत्तिकारों ने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपाद की स्वोपज्ञ वृत्ति से लिए हैं ।

२. देखो—पूर्व ४४६ पृष्ठ की टि० ३ ।

३. 'जैनेन्द्र महावृत्ति' भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण की श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित भूमिका पृष्ठ १०-११ ।

४. पं० भगवदद्त्त कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग २, पृष्ठ ३०७ ।

सूत्र में लिखा है—'यवनों बल्हिकों शकुनों (कुशनों) ने मिलकर तीन लाख सेना लेकर महेन्द्र के राज्य पर आक्रमण किया। गङ्गा के उत्तर प्रदेश जीत लिए। महेन्द्रसेन के युवा कुमार ने दो लाख सेना लेकर उन पर आक्रमण किया, और विजय प्राप्त की। लौटने पर पिता ने उसका अभिषेक कर दिया'।[1]

'चन्द्रगर्भसूत्र' में निर्दिष्ट महेन्द्र निश्चय ही महाराज महेन्द्र=कुमार गुप्त है, और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' श्लोक ६४६ में भी श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र (=स्कन्दगुप्त) को स्मरण किया है।[2]

'चन्द्रगर्भसूत्र' में लिखित घटना की जैनेन्द्र के उदाहरण में उल्लिखत घटना के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र के उदाहरण में उक्त महत्त्वपूर्ण घटना का ही संकेत है। अतः उक्त उदाहरण से यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओं ने गङ्गा के आस-पास का प्रदेश जीतकर मथुरा को अपना केन्द्र बनाया था। इसलिए महेन्द्र की सेना ने मथुरा का ही घेरा डाला।

जैनेन्द्र के उक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि उक्त ऐतिहासिक घटना आचार्य पूज्यपाद के जीवनकाल में घटी थी। अतः आचार्य पूज्यपाद और महाराज महेन्द्रकुमार=कुमारगुप्त समकालिक हैं।

महेन्द्रकुमार का काल—महाराज महेन्द्रकुमार अपरनाम कुमारगुप्त का काल पाश्चात्य विद्वानों ने वि० सं० ४७०–५१२ (=४१३-४५५ ई०) माना है। भारतीय कालगणनानुसार कुमारगुप्त का काल विक्रम सं० ९६–१३६ तक निश्चित है। क्योंकि उसके शिलालेख उक्त संवत्सरों के उपलब्ध हो चके हैं। यदि भारतीय कालगणना को अभी स्वीकार न भी किया जाए, तो भी पाश्चात्य मतानुसार इतना तो निश्चित है कि पूज्यपाद का काल विक्रम की पांचवीं शती के उत्तरार्ध से षष्ठ शती के प्रथम चरण के मध्य है।

---

१. इम्पीरियल हिस्ट्री आफ इण्डिया, जायसवाल, पृष्ठ ३६, तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २ पृष्ठ ३४८।

२. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

इस विवेचना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र के **'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्'** उदाहरण में महेन्द्र को विदेशी आक्रामक **मेनेन्द्र = मिनण्डर** समझना भी भारी भ्रम है।

डा० काशीनाथ बापूजी पाठक की भूल

स्वर्गीय डा० काशीनाथ बापूजी पाठक का शाकटायन व्याकरण के सम्बन्ध में एक लेख 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' (जिल्द ४३ पृष्ठ २०५-२१२) में छपा है। उसमें उन्होंने लिखा है—

"पाणिनीय व्याकरण में वार्षगण्य पद की सिद्धि नहीं है। जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण में इस का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के **शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु** सूत्र के स्थान में जैनेन्द्र का सूत्र है—**शरद्वच्छुनकदर्भाग्निशर्मकृष्णरणाद् भृगुवत्साग्रायणब्राह्मणवसिष्ठे**।[3] इसी का अनुकरण करते हुए शाकटायन ने सूत्र रचा है—**शरद्वच्छुनकरणाग्निशर्मकृष्णदर्भाद् भृगुवत्सवसिष्ठवृषगणब्राह्मणाग्रायणे**।[4] इसकी अमोघा वृत्ति में **'आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः, आग्निशर्मिरन्यः'** व्याख्या की है। वार्षगण्य सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है। चीनी विद्वान् डा० टक्कुसु के मतानुसार ईश्वरकृष्ण वि० सं० ५०७ के लगभग विद्यमान था। जैनेन्द्र व्याकरण में उसका उल्लेख होने से जैनेन्द्र व्याकरण वि० सं० ५०७ के बाद का है।

इस लेख में पाठक महोदय ने चार भयानक भूलें की हैं। यथा—

प्रथम सांख्यशास्त्र के साथ संबद्ध वार्षगण्य नाम सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण का है, यह लिखना सर्वथा अशुद्ध है। सांख्यकारिका की युक्ति-दीपिका नाम्नी व्याख्या में **'वार्षगण्य'** और **वार्षगणाः'** के नाम से अनेक उद्धरण उद्धृत हैं, वे ईश्वरकृष्ण-विरचित सांख्यकारिका में उपलब्ध नहीं होते। आचार्य भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में **'इदं फेनो न'** और **'अन्धो मणिमविन्दद्'** दो पद्य पढ़े हैं।[5] इन में से द्वितीय पद्य तैत्तिरीय आरण्यक १।११।५

१. यहां हमने संक्षेप से लिया है। विशेष देखो—'जैन साहित्य और इतिहास' प्र० सं० पृष्ठ ११७-११६।

२. अष्टा० ४।१।१०२॥ ३. शब्दार्णव ३।१।१३४।

४. २।४।३६॥ ५. कारिका ८, ६।

में तथा योगदर्शन ४।३१ के व्यासभाष्य में स्वल्प पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। वाक्यपदीय के प्राचीन व्याख्याकार वृषभदेव के मतानुसार ये पद्य सांख्यशास्त्र के षष्टितन्त्र ग्रन्थ के हैं।[1] अनेक लेखकों के मत में षष्टितन्त्र भगवान् वार्षगण्य की कृति है।[2] यदि यह ठीक हो, तो मानना होगा कि वार्षगण्य आचार्य तैत्तिरीय आरण्यक के प्रवचनकाल अर्थात् विक्रम से लगभग तीन सहस्र वर्ष से प्राचीन है।[3] महाभारत में भी सांख्यशास्त्रकार वार्षगण्य का बहुधा उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वार्षगण्य अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। उसका ईश्वरकृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड़ना महती भ्रान्ति है।

द्वितीय—जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण के जिन सूत्रों के उद्धरण देकर पाठक महोदय ने वार्षगण्य पद की सिद्धि दर्शाई है, वह भी चिन्त्य है। उक्त सूत्रों में 'वार्षगण्य' पद की सिद्धि नहीं है, अपितु उन में बताया है कि यदि अग्निशर्मा वृषगण-गोत्र का होगा, तो उसका अपत्य 'आग्निशर्मायिण' कहलावेगा। और यदि वह वृषगणगोत्र का न होगा, तो उसका अपत्य 'आग्निशर्मि' होगा। इस बात को पाठक महोदय द्वारा उद्धृत अमोघा वृत्ति का पाठ स्पष्ट दर्शा रहा है। व्याकरण का साधारणसा भी बोध न होने से कैसी भयङ्कर भूलें होती हैं, यह पाठक महोदय के लेख से स्पष्ट है।

तृतीय—जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से पाठक महोदय ने जो सूत्र उद्धृत किया है, वह जैनेन्द्र व्याकरण का नहीं है। वह है जैनेन्द्र व्याकरण के गुणनन्दी द्वारा परिष्कृत 'शब्दार्णव' संज्ञक संस्करण का।[4] गुणनन्दी का काल विक्रम की दशम शताब्दी है।[5] अतः उसके

---

१. इदं फेन इति। षष्टितन्त्रग्रन्थश्चायं यावदभ्यपूजयदिति। पृष्ठ १८।

२. देखो—हमारे मित्र विद्वद्वर श्री० पं उदयवीरजी शास्त्री कृत 'सांख्य दर्शन का इतिहास' पृष्ठ ८६।

३. 'सांख्य दर्शन का इतिहास' ग्रन्थ में माननीय शास्त्री जी ने वार्षगण्य को तैत्तिरीयारण्यक से उत्तर काल का माना है। परन्तु हमारा विचार है कि वह तैत्तिरीयारण्यक से पूर्ववर्त्ती है।

४. जैन साहित्य और इतिहास प्र० सं०, पृष्ठ १००-१०६। तथा इसी इतिहास का 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वां अध्याय।

५. जैन साहित्य और इतिहास प्र० सं०, पृष्ठ १११, तथा इसी इतिहास का १७ वां अध्याय।

आधार पर आचार्य पूज्यपाद का का काल निर्धारण करना सर्वथा अयुक्त है।

चतुर्थ—पाठक महोदय जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण के जिन सूत्रों में वार्षगण्य पद का निर्देश समझकर पाणिनीय व्याकरण में उसका अभाव बताते हैं, वह भी अनुचित है। क्योंकि पाणिनि ने वार्षगण्य गोत्र के आग्निशर्मायण की सिद्धि के लिये नडादिगण[1] में **'अग्निशर्मन् वृषगणे'** सूत्र पढ़ा है। अतः पाणिनि उसका पुनः सूत्रपाठ में निर्देश क्यों करता? आचार्य पूज्यपाद ने भी इस विषय में पाणिनि का ही अनुकरण किया है। उसने आग्निशर्मायण वार्षगण्य का साधक **'अग्निशर्मन् वृषगणे'** सूत्र नडादिगण[2] में पढ़ा है (पाठक महोदय ने जैनेन्द्रव्याकरण के नाम से जो सूत्र उद्धृत किया है, वह मूल जैनेन्द्र व्याकरण का नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं)। शास्त्र के पूर्वापर का भले प्रकार अनुशीलन किये विना उसके विषय में किसी प्रकार का मत निर्धारित कर लेने से कितनी भयङ्कर भूलें हो जाती हैं, यह भी इस विवेचन से स्पष्ट है।

डा० काशीनाथ बापूजी पाठक के लेख को डा० वेल्वाल्कर[3] तथा श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी[4] ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत करके उनके परिणाम को स्वीकार किया। अतः इनके लेखों में भी उपर्युक्त सब भूलें विद्यमान हैं।

प्रेमी जी की निरभिमानता—मैंने ८ अगस्त सन् १९४८ के पत्र में श्रीमान् प्रेमीजी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उसके उत्तर में आपने २१-८-१९४९ के पत्र में इस प्रकार लिखा—

'आपने मेरे जैनेन्द्र-सम्बन्धी लेख में दो न्यूनताएं बतलाईं, उन पर मैंने विचार किया। आपने जो प्रमाण दिये, वे बिल्कुल ठीक हैं। इनके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूं। यदि 'जैन साहित्य और इतिहास' को फिर से छपवाने का अवसर आया, तो उक्त न्यूनताएं दूर करदी जायेंगी।.........'

---

१. गणपाठ ४।१।१०५॥

२. जैनेन्द्र गणपाठ ४।१।८८॥

३. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा नं ४८।

४. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ११७-११९ (प्र० सं०)

इस निरभिमानता और सहृदयता के लिये मैं उन का आभारी हूं।

स्वर्गीय प्रेमीजी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' के द्वितीय संस्करण में मेरे सुझाव को स्वीकार करके वार्षगण्य सम्बन्धी प्रकरण हटा दिया।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

आचार्य देवनन्दी विरचित व्याकरण के निम्न ग्रन्थ और हैं—

१—**जैनेन्द्र व्याकरण**—इसका वर्णन 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक प्रकरण में किया जायगा।

२—**धातुपाठ** ३—**गणपाठ** ४—**लिङ्गानुशासन** ५—**परिभाषा-पाठ**, इनका वर्णन यथास्थान तत्तत् प्रकरणों में किया जायगा।

दुर्विनीत (सं० ५३९-५६९ वि०)

महाराज पृथिवीकोंकण के दानपत्र में लिखा है—

'श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्ग-टीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन……।'[1]

अर्थात् महाराज दुर्विनीत ने 'शब्दावतार', 'संस्कृत की बृहत्कथा' और किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें या पन्द्रह सर्गों की व्याख्या लिखी थी।

इससे प्रतीत होता है कि महाराज दुर्विनीत ने 'शब्दावतार' नामक ग्रन्थ लिखा था। अनेक विद्वानों का मत है कि यह शब्दावतार नामक ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण की टीका है।

हम ऊपर लिखे चुके हैं कि आचार्य पूज्यपाद ने भी पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतार' संज्ञक एक ग्रन्थ रचा था। महाराज दुर्विनीत-विरचित ग्रन्थ का नाम भी उपर्युक्त दानपत्र में 'शब्दावतार' लिखा है।

---

१. पं० कृष्णमाचार्यविरचित 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ १४० में उद्धृत।

महाराज दुर्विनीत आचार्य पूज्यपाद का शिष्य है, यह पूर्व लिखा जा चुका है। गुरु-शिष्य दोनों के पाणिनीय व्याकरण पर लिखे ग्रन्थ का एक ही नाम होने से यह सम्भावना होती है कि आचार्य पूज्यपाद ने ग्रन्थ लिखकर अपने शिष्य के नाम से प्रचरित कर दिया हो।

८. चुल्लि भट्टि (सं० ७०० वि० से पूर्व)

चुल्लि भट्टि विरचित 'अष्टाध्यायी-वृत्ति' का उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धि-कृत न्यास और उसकी तन्त्रप्रदीप नाम्नी टीका में उपलब्ध होता है। काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में न्यासकार लिखता है—

'वृत्तिः पाणिनीयसूत्राणां विवरणं चुल्लिभट्टिनिर्लूरादिविरचितम्।'[1]

इस वचन से व्यक्त होता है कि 'चुल्लि भट्टि' और 'निर्लूर' विरचित दोनों वृत्तियां काशिका से प्राचीन हैं।

तन्त्रप्रदीप ८। ३। ७ में मैत्रेय रक्षित लिखता है—

'सव्येष्ठा इति सारथिवचनोऽयम्। अत्र चुल्लिभट्टिवृत्तावपि तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुग् दृश्यते'।[2]

'हरिनामामृत' सूत्र १४७० की वृत्ति में लिखा है—

'हृदयङ्गमा वागिति चुल्लिभट्टिः।'

हरदत्त ने काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में 'कुणि' का उल्लेख किया है। न्यास के उपर्युक्त वचन का पाठान्तर 'चुन्नि' है। इसकी 'कुणि' और 'चूणि' दोनों से समानता है।

९. निर्लूर (सं० ७०० वि० से पूर्व)

निर्लूर-विरचित वृत्ति का उल्लेख न्यास के पूर्वोद्धृत पाठ में उपलब्ध होता है। काशिका के व्याख्याता विद्यासागर मुनि ने भी इस वृत्ति का उल्लेख किया है।[3] श्रीपतिदत्त ने 'कातन्त्रपरिशिष्ट' में निर्लूर-वृत्ति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

---

१. न्यास भाग १, पृष्ठ ६। २. न्यास की भूमिका पृष्ठ ८।

३. वृत्ताविति सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनल्पूरप्रभृतिभिर्विरचितः……। 'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' का सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १ A, पृष्ठ ३५०७, ग्रन्थाङ्क २४९३। हस्तलेख के पाठ में 'नल्पूर' निश्चय ही 'निर्लूर'

निर्लूरवृत्तौ चोक्तम्—भाषायामपि यङ्लुगस्तीति।[१]

पुरुषोत्तमदेव अपने 'ज्ञापक-समुच्चय' में लिखता है—

'तेन बोभवीति इति सिद्ध्यतीति नैर्लूरी वृत्तिः'।[२]

न्यासकार और विद्यासागर मुनि के वचनानुसार यह वृत्ति काशिका से प्राचीन है।

१०. चूर्णि

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने श्रीपतिदत्तविरचित 'कातन्त्रपरिशिष्ट' तथा जगदीश भट्टाचार्य कृत 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' से चूर्णि के दो उद्धरण उद्धृत किये हैं

'मतमेतच्चूर्णिरप्यनुगृह्णाति'।[३]

'संयोगावयवव्यञ्जनस्य सजातीयस्यैकस्य वानेकस्योच्चारणाभेद इति चूर्णिः'।[४]

जगदीश भट्टाचार्य ने भर्तृहरि के नाम से एक कारिका उद्धृत की है[५]—

हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम्।
चतुर्थीं बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः॥

इस कारिका में भी चूर्णि का मत उद्धृत है। यह कारिका भर्तृहरिकृत नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[६]

इन में **'संयोगावयवव्यञ्जनस्य'** उद्धरण का समानार्थक पाठ महाभाष्य में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

का भ्रष्ट पाठ है। 'भट्ट' शब्द निर्लूर का विशेषण हो सकता है, फिर भी हमारा विचार है कि 'भट्ट' सम्भवतः 'चुल्लिभट्टि' के एकदेश 'भट्टि' का भ्रष्ट पाठ है।

१. न्यास की भूमिका पृष्ठ ९। मुद्रित पाठ 'यङो लुगस्तीति'। सन्धि-प्रकरण सूत्र ३३। २. राजशाही बंगाल मुद्रित, पृष्ठ ८७।

३. कातन्त्रपरिशिष्ट णत्वप्रकरण। न्यासभूमिका पृष्ठ ८।

४. शब्दशक्तिप्रकाशिका न्यासभूमिका पृष्ठ ९।

५. शब्दशक्तिप्रकाशिका पृष्ठ ३८९। ६. पृष्ठ ९८, टिप्पणी ८।

'न व्यञ्जनपरस्यैकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति' ।[1]

सम्भव है कि जगदीश भट्टाचार्य ने महाभाष्य के अभिप्राय को अपने शब्दों में लिखा हो। प्राचीन ग्रन्थकार प्रायः चूर्णि और चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य और पतञ्जलि का उल्लेख करते हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] चूर्णि के पूर्वोद्धृत अन्य मतों का मूल अन्वेषणीय है। अतः हमें इस नाम की अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति थी, इसमें सन्देह है।

११-१२. जयादित्य और वामन (सं० ६५०-७०० वि०)

जयादित्य और वामन विरचित सम्मिलित वृत्ति 'काशिका' नाम से प्रसिद्ध है। सम्प्रति उपलभ्यमान पाणिनीय व्याकरण के ग्रन्थों में महाभाष्य और भर्तृहरिविरचित ग्रन्थों के अनन्तर यही वृत्ति सब से प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। इसमें बहुत से सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से संगृहीत हैं।[3] 'काशिका' में अनेक स्थानों पर महाभाष्य का अनुसरण नहीं किया गया, इससे काशिका का गौरव अल्प नहीं होता। क्योंकि ऐसे स्थानों पर ग्रन्थकारों ने प्रायः प्राचीन वृत्तियों का अनुसरण किया है।

चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा के वर्णन में 'जयादित्य' को काशिका का रचयिता लिखा है।[4] उसने 'वामन' का निर्देश नहीं किया। संस्कृत वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें दो-दो व्यक्तियों ने मिलकर लिखा है, परन्तु उन को उद्धृत करनेवाले ग्रन्थकार किसी एक व्यक्ति के नाम से ही सम्पूर्ण ग्रन्थ के पाठ उद्धृत करते हैं।[5] यथा स्कन्द और महेश्वर ने मिलकर निरुक्त की टीका लिखी,

---

१. महाभाष्य ६।४।२२॥ २. पृष्ठ ३३१, ३३२।

३. काशिका ४।२।१०० की वृत्ति महाभाष्य से विरुद्ध है। काशिका-वृत्ति की पुष्टि चान्द्रसूत्र ३।२।१६ से होती है। अतः दोनों का मूल अष्टाध्यायी की कोई प्राचीन वृत्ति रही होगी।

४. इत्सिंग की भारतयात्रा, पृष्ठ २६६।

५. निरुक्त ७।३१ की महेश्वरविरचित टीका को देवराज ने स्कन्द के नाम से उद्धृत किया है। देखो—निघण्टुटीका, पृष्ठ १६२। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

परन्तु देवराज ने समग्र ग्रन्थ के उद्धरण स्कन्द के नाम से ही उद्धृत किये, महेश्वर का कहीं स्मरण भी नहीं किया। सम्भव है कि इसी प्रकार इत्सिंग ने भी केवल जयादित्य का नाम लेना पर्याप्त समझा हो। 'भाषावृत्त्यर्थ विवृति' के रचयिता सृष्टिधराचार्य ने भी भाषा-वृत्ति के अन्तिम श्लोक की व्याख्या में काशिका को जयादित्य-विरचित ही लिखा है,[1] परन्तु ध्यान रहे कि आठवां अध्याय वामनविरचित है।

'काशिका' की सब से प्राचीन व्याख्या जिनेन्द्रबुद्धिविरचित 'काशिकाविवरणपञ्जिका' है। वैयाकरण-निकाय में यह 'न्यास नाम से प्रसिद्ध है। यह व्याख्या जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्ति पर है।

जयादित्य और वामन के ग्रन्थ का विभाग

पं० बालशास्त्री द्वारा सम्पादित काशिका में प्रथम चार अध्यायों के अन्त में जयादित्य का नाम छपा है, और शेष चार अध्यायों के अन्त में वामन का। हरि दीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' की शब्दरत्न व्याख्या में प्रथम द्वितीय पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय को जयादित्यविरचित, और शेष अध्यायों को वामनकृत लिखा है।[2] प्राचीन ग्रन्थकारों ने जयादित्य और वामन के नाम से काशिका के जो उद्धरण दिये हैं, उन से विदित होता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्यविरचित हैं, और अन्तिम तीन वामनकृत।

जयादित्य के नाम से काशिका के उद्धरण निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

अध्याय १—भाषावृत्ति पृष्ठ १८, २६। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ २५२। भाषावृत्त्यर्थविवृति के प्रारम्भ में।

अध्याय २—भाषावृत्ति पृष्ठ ६। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ६५२।

---

१. काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका, जयादित्यविरचिता वृत्तिः। ८।४।६८॥

२. प्रथमद्वितीयपञ्चमषष्ठा जयादित्यकृतवृत्तयः, इतरे वामनकृतवृत्तय इत्यभियुक्ताः। भाग १, पृष्ठ ५०४।

अध्याय ३—पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ६६२। अमरटीकासर्वस्व भाग ४, पृष्ठ १०। परिभाषावृत्ति सीरदेवकृत, पृष्ठ ८१।

अध्याय ४—अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ १३८। भाषावृत्ति पृष्ठ २४३, २५४।

अध्याय ५—भाषावृत्ति पृष्ठ २६६, ३१०, ३२४, ३२८, ३३५, ३४२, ३५२, ३६२, ३६६। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ३८६, ८६१। अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका, पृष्ठ ३।[1]

वामन के नाम से काशिका के उद्धरण अधोलिखित ग्रन्थों में मिलते हैं—

अध्याय ६—भाषावृत्ति पृष्ठ ४१८, ४२०, ४८२। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ४२, ६३२।

अध्याय ७—सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति पृष्ठ ८, २४। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ३८६।

अध्याय ८—भाषावृत्ति पृष्ठ ५४३, ५५६। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६२४।

काशिका की शैली का सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने से भी यही परिणाम निकलता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्य की रचना हैं, और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत हैं। जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ़ है।

जयादित्य का काल

इत्सिंग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु वि० सं० ७१८ के लगभग हुई थी।[2] यदि इत्सिंग का लेख और उसकी भारतयात्रा का माना हुआ काल ठीक हो, तो यह जयादित्य की चरम सीमा होगी। काशिका १।३।२३ में भारवि का एक पद्यांश उद्धृत है।[3] महाराज दुर्विनीत ने किरात के १५ वें सर्ग की टीका लिखी थी।[4] दुर्विनीत का राज्यकाल सं० ५३६—५६६ वि० तक है, यह हम पूर्व लिख

---

१. अध्यायानुवाकयोरित्यादौ सूत्रे विकल्पेन चायं लुगिष्यत इति जगाद जयादित्यः। २. इत्सिंग की भारतयात्रा, पृष्ठ २७०।

३. 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।' किरात ३। १४॥

४. देखो पूर्व पृष्ठ ४५५।

चुके हैं।[1] अतः भारवि सं० ५३६ वि० से पूर्ववर्ती है, यह निश्चित है। यह काशिका की पूर्व सीमा है।

वामन का काल

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। एक वामन **'विश्रान्तविद्याधर'** संज्ञक जैन व्याकरण का कर्त्ता है।[2] दूसरा 'अलङ्कारशास्त्र' का रचयिता है, और तीसरा 'लिङ्गानुशासन' का निर्माता है। ये सब पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। काशिका का रचयिता वामन इन सब से भिन्न व्यक्ति है। इसमें निम्न हेतु हैं—

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने काशिका और भागवृत्ति के अनेक पाठ साथ-साथ उद्धृत किये हैं। उनकी तुलना से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार स्थान-स्थान पर काशिका का खण्डन करता है। यथा—

१. 'साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादित्वादिति जयादित्यः, नेति भागवृत्तिः'।[3]

२. 'कथमद्यश्वीनो वियोगः? विजायत इत्यस्यानुवृत्तेरिति जयादित्यः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादुपमानस्याप्यसंभवान्नैतदिति भागवृत्तिः'।[4]

३. 'इह समानस्येति योगविभागः, तेन सपक्षसधर्मसजातीयाः सिद्ध्यन्तीति वामनवृत्तिः। अनार्षोऽयं योगविभागः, तथाह्यव्ययानामनेकार्थत्वात् सदृशार्थस्य सहशब्दस्यैते प्रयोगाः कथंनाम समानपक्ष इत्यादयोऽपि भवन्तीति भागवृत्तिः'।[5]

४. 'दृशिग्रहणादिह पूरुषो नारक इत्यादावप्ययं दीर्घ इति वामनवृत्तिः। अनेनोत्तरपदे विधानादप्राप्तिरिति पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दा इति भागवृत्तिः'।[6]

इन में प्रथम दो उद्धरणों में जयादित्य का, और तृतीय चतुर्थ

---

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ४४८।

२. वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्त्ता। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

३. भाषावृत्ति, पृष्ठ ३१०। ४. भाषावृत्ति, पृष्ठ ३१४।

५. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२०। ६. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२७।

में वामनवृत्ति का खण्डन है। भागवृत्ति का काल विक्रम संवत् ७०२–७०५ तक है, यह हम अनुपद लिखेंगे। तदनुसार वामन का काल वि० सं० ७०० से पूर्व मानना होगा। 'अलङ्कारशास्त्र' और 'लिङ्गानुशासन' के प्रणेता वामन का काल विक्रम की नवम शताब्दी है।[1] 'विश्रान्तविद्याधर' का कर्त्ता वामन विक्रम संवत् ३७५ अथवा ५७३ से पूर्वभावी है। यह हम आगे सप्रमाण लिखेंगे।[2] अतः काशिकाकार वामन इन सब से भिन्न व्यक्ति है। उसका काल विक्रम की सप्तम शताब्दी है।

कन्नड पञ्चतन्त्र और जयादित्य वामन

५—कन्नडभाषा में दुर्गसिंह कृत एक पञ्चतन्त्र है। उसका मूल वसुभाग भट्ट का पाठ है। उसमें निम्न पाठ है—

'गुप्तवंश वसुधाधीशावली राजधानीयन् उज्जैनि—यन्नैदि ······गुप्तान्वय जलधर मार्ग यभस्ति मालियुं, वामन-जयादित्य-प्रमुख मुखकमलविनिर्गत-सूक्तिमुक्तावली मणी-कुण्डल-मण्डितकर्णनुं ···—विक्रमाङ्कनं साहसाङ्कम्'।[3]

इस पाठ में वामन ने जयादित्य को गुप्तवंशीय विक्रम साहसाङ्क का समकालिक कहा है।

ए. वेङ्कट सुभिया के अनुसार यह दुर्गसिंह ईसा की ११ वीं शती का है। अखिलभारतीय प्राच्यविद्या परिषद् (आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रस) नागपुर, पृष्ठ १५१ पर के. टी. पाण्डुरंग का मल्लिनाथ कृत टीका पर एक लेख छपा है। इनका मत है कि कन्नड पञ्चतन्त्र का कर्त्ता दुर्गसिंह 'कातन्त्र वृत्तिकार' दुर्गसिंह ही है।[4]

हमारे विचार में यह दुर्गसिंह 'कातन्त्रवृत्तिकार' नहीं हो सकता। क्योंकि वह काशिकाकार से प्राचीन है, यह हम कातन्त्र के प्रकरण

---

१. कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास,' भाग १ पृष्ठ १५३। तथा वामनीय लिङ्गानुशासन की भूमिका।

२. 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' प्रकरण में। ३. आल इण्डिया ओरि० कान्फ्रेंस, मैसूर, दिसम्बर १९३५, पृष्ठ ५६८, मुद्रण सन् १९३७।

४. पं० भगवद्दत्त कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३२४ के आधार पर।

में सप्रमाण लिखेंगे। हां, यह 'कातन्त्र-दुर्गवृत्ति' का टीकाकार द्वितीय दुर्गसिंह हो सकता है। कातन्त्र पर लिखनेवाले दो दुर्गसिंह पृथक्-पृथक् हैं, इस का भी हम उसी प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे।

कन्नड पञ्चतन्त्र में जयादित्य और वामन को गुप्तवंशीय विक्रमाङ्क साहसांक का समकालिक कहा है। यह गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय है। पाश्चात्य मतानुसार इसका काल वि० सं० ४६७–४७० तक माना जाता है। यही विक्रम संवत् का प्रवर्तक है। यदि दुर्जनसन्तोष न्याय से चन्द्रगुप्त द्वितीय का पाश्चात्य मतानुसारी काल भी स्वीकार कर लिया जाय, तो भी 'काशिका' का काल विक्रमाब्द की चतुर्थ शती का मध्य मानना होगा। यदि कन्नड पञ्चतन्त्र का लेख प्रमाणान्तर से और परिपुष्ट हो जाए, तो इत्सिंग आदि चीनी यात्रियों के काल तथा वर्णन में भारी संशोधन करना होगा।

कन्नड पञ्चतन्त्र में जयादित्य और वामन के द्वारा कही गई सूक्तिमुक्तावलियों की ओर संकेत है। 'सुभाषितावलि' में जयादित्य और वामन दोनों के सुभाषित संगृहीत हैं। अतः इस अंश में कन्नड पञ्चतन्त्रकार का लेख निश्चय ही प्रामाणिक है। इस आधार पर उसके द्वितीय अंश की प्रामाणिकता में सन्देह करना स्वयं सन्देहास्पद हो जाता है।

काशिका और शिशुपालवध

माघ-विरचित 'शिशुपालवध' में एक श्लोक –

'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥'[1]

इस श्लोक में **'सद्वृत्ति'** पद से काशिका की ओर संकेत है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। शिशुपालवध के टीकाकार 'सद्वृत्ति' और 'न्यास' पद से काशिका और जिनेन्द्रबुद्धि विरचित न्यास का संकेत मानते हैं। उसी के आधार पर न्यास के संपादक श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने माघ का काल ८०० ई० (=८५७ वि०) माना है,[2] वह अयुक्त है। माघ कवि के पितामह के आश्रयदाता महाराज वर्मलात का सं०

---

१. २।११२॥ २. देखो—न्यास की भूमिका, पृष्ठ २६

६८२ (=सन् ६२५) का एक शिलालेख मिला है।[1] सीरदेव के लेखानुसार भागवृत्तिकार ने माघ के कुछ प्रयोगों को अपशब्द माना है।[2] 'भागवृत्ति' की रचना सं० ७०२–७०५ के मध्य हुई है, यह प्रायः निश्चित है। अतः शिशुपालवध का समय सं० ६८२–७०० वि० के मध्य मानना होगा। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार काशिका की रचना शिशुपाल-वध से उत्तरकालीन है।[3] अतः उसके सद्वृत्ति शब्द का संकेत काशिका की ओर नहीं है।

प्राचीनकाल में 'न्यास' नाम के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' में भी एक न्यास उद्धृत है।[4] अतः माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है।

जयादित्य और वामन की सम्पूर्ण वृत्तियां

जिनेन्द्रबुद्धिविरचित 'काशिकाविवरणपञ्चिका' जयादित्य और वामन विरचित सम्मिलित वृत्तियों पर है। परन्तु न्यास में जयादित्य और वामन के कई ऐसे पाठ उद्धृत हैं, जिनसे विदित होता है कि जयादित्य और वामन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर पृथक्-पृथक् वृत्तियां रची थीं। न्यास के जिन पाठों से ऐसी प्रतीति होती है, वे अधोलिखित हैं—

१. 'ग्लाजिस्थश्च (अष्टा० ३ । २ । १३९) इत्यत्र जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थ···। श्र्युकः किति (अष्टा० ७ । २ । ११) इत्यत्रापि जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः—गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते भूष्णुरित्यत्र यथा स्यादिति। वामनस्य त्वेतत् सर्वमनभिमतम्।[5] तथाहि तस्यैव

---

१. देखो—वसन्तगढ़ का शिलालेख—'द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे। जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठपुंगवैः॥ ११॥

२. अत एव तत्रैव सूत्रे (१ । १ । २७) भागवृत्तिः—पुरातनमुनेर्मुनिताम् (किरात ६ । १६) इति, पुरातनीर्नदीः (माघ १२ । ६०) इति च प्रमादपाठावेतौ गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते, न तेषां लक्षणं चक्षुः। परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १३७।

३. 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इति माघे सकर्मकत्वं वृत्तिकारादीनामनभिमतमेव। धातुवृत्ति पृष्ठ २९७ काशी संस्करण।

४. महाभाष्यदीपिका उद्धरणाङ्क ३९, देखो—पूर्व पृष्ठ ३८८।

५. तुलना करो—न्यास ३।२।१३९॥

सूत्रस्य (अष्टा० ७ । २ । ११) तद्विरचितायां वृत्तौ ग्रन्थः—केचिदत्र ।[1]

इस उद्धरण में न्यासकार ने अष्टाध्यायी ७ । २ । ११ सूत्र की जयादित्य और वामन विरचित दोनों वृत्तियों का पाठ उद्धृत किया है। ध्यान रहे कि जिनेन्द्रबुद्धि ने सप्तमाध्याय का न्यास वामनवृत्ति पर रचा है।

न्यासकार ३ । १ । ३३ में पुनः लिखता है –

२. **नास्ति विरोधः, भिन्नकर्तृत्वात् । इदं हि जयादित्यवचनम्, तत्पुनर्वामनस्य। वामनवृत्तौ (३ । १ । ३३) तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः पठ्यते।**[2]

न्यासकार ने इस उद्धरण में अष्टाध्यायी ३ । १ । ३३ की वामनवृत्ति का पाठ उद्धृत किया है। ध्यान रहे कि तृतीयाध्याय का न्यास जयादित्यवृत्ति पर है।

आगे पुनः लिखता है—

३. **अनित्यत्वं तु प्रतिपादयिष्यते (अ० ६ । ४ । २२) जयादित्येन।**[3]

४. न्यासकार ३ । १ । ७८ पर भी जयादित्य विरचित ६ । ४ । २३ की वृत्ति उद्धृत करता है।

इनसे व्यक्त है कि जयादित्य की वृत्ति षष्ठाध्याय पर भी थी।

५. हरदत्तविरचित पदमञ्जरी ६ । १ । १३ (पृष्ठ ४२८) से विदित होता है कि वामन ने चतुर्थ अध्याय पर वृत्ति लिखी थी।

न्यासकार और हरदत्त के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जयादित्य और वामन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर पृथक्-पृथक् वृत्तियां रची थीं, और न्यासकार तथा हरदत्त के काल तक वे सुप्राप्य थीं।

जयादित्य और वामन की वृत्तियों का सम्मिश्रण

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वर्तमान में काशिका का जो संस्करण

---

१. न्यास १।१।५॥ पृष्ठ ४७, ४८। २. न्यास ३।१।३३॥ पृष्ठ ५२४।
३. न्यास ३।१।३३॥ पृष्ठ ५२४।

मिलता है, उसमें प्रथम पांच अध्याय जयादित्य विरचित हैं, और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत । जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी न्यास-व्याख्या दोनों की सम्मिलित वृत्ति पर रची है। दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण क्यों और कब हुआ, यह अज्ञात है। 'भाषावृत्ति' आदि में 'भागवृत्ति' के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उन में जयादित्य और वामन की संमिश्रित वृत्तियों का खण्डन उपलब्ध होता।[1] अतः यह संमिश्रण भागवृत्ति बनने (वि० सं० ७००) से पूर्व हो चुका था, यह निश्चित है।

काशिका का रचना-स्थान

काशिका के व्याख्याता हरदत्त मिश्र और रामदेव मिश्र ने लिखा है—

'काशिका देशतोऽभिधानम्, काशीषु भवा'।[2]

अर्थात् 'काशिका वृत्ति' की रचना काशी में हुई थी। उज्ज्वलदत्त[3] और भाषावृत्त्यर्थविवृत्तिकार सृष्टिधर[4] का भी यही मत है।

काशिका के नामान्तर

काशिका के लिये **एकवृत्ति**[5] और **प्राचीन वृत्ति** शब्दों का व्यवहार मिलता है।

एकवृत्ति नाम का कारण काशिका की प्रतिद्वन्द्विनी 'भागवृत्ति' नाम की एक वृत्ति थी (इस का अनुपद ही वर्णन किया जायगा)। उस में पाणिनीय सूत्रों को लौकिक और वैदिक दो विभागों में बांट कर भागशः व्याख्या की गई थी[6]। काशिका में पाणिनीय क्रमानुसार लौकिक वैदिक सूत्रों की यथास्थान व्याख्या की गई है। इसलिए

---

१. देखो—हमारा 'भागवृत्ति संकलन' पृष्ठ २१, २३, २४ इत्यादि, लाहोर संस्करण।

२. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४। तथा वृत्तिप्रदीप के प्रारम्भ में।

३. उणादिवृत्ति पृष्ठ १७३॥ ४. भाषावृत्तिटीका ८।४।६७॥

५. अनार्ष इत्येकवृत्तावुपयुक्तम्। भाषावृत्ति १।१।१६॥

६. गोयीचन्द्र लिखता है—अत एव भाषाभागे भागवृत्तिकृत्.........शेइति सूत्रं छन्दो भागः। विशेष द्र०—ओरियण्टल कान्फेंस वाराणसी सन् १९४३-४४ के लेख-संग्रह में एस० पी० भट्टाचार्य का लेख।

भागवृत्ति की प्रतिद्वन्द्वता में 'काशिका' के लिए एकवृत्ति शब्द का व्यवहार होता है।[1]

काशिका-वृत्ति का महत्त्व

काशिका-वृत्ति व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस में निम्न विशेषताएं हैं—

१—काशिका से प्राचीन कुणि आदि वृत्तियों में गणपाठ नहीं था।[2] इसमें पणपाठ का यथास्थान सन्निवेश है।

२—अष्टाध्यायी की प्राचीन **विलुप्त वृत्तियों** और ग्रन्थकारों के अनेक मत इस ग्रन्थ में उद्धृत हैं, जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

३—इसमें अनेक सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखी है। अतः उनसे प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ जानने में पर्याप्त सहायता मिलती है।[3]

काशिका में जहां-जहां महाभाष्य से विरोध है, वहां-वहां काशिकाकार का लेख प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार है। आधुनिक वैयाकरण महाभाष्यविरुद्ध होने से उन्हें हेय समझते हैं, यह उनकी महती भूल है।

४—काशिकान्तर्गत उदाहरण-प्रत्युदाहरण प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार हैं।[4] जिनसे अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान होता है।

---

१. एकवृत्तौ साधारणवृत्तौ वैदिके लौकिके च विवरणे इत्यर्थः। एकवृत्ताविति काशिकायां वृत्तावित्यर्थः। सृष्टिधर। भाषावृत्ति पृष्ठ ५, टि० ८।

२. वृत्त्यन्तरेषु सूत्राण्येव व्याख्यायन्ते.........वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४।

३. देखो—ओरियण्टल कालेज मेगजीन लाहौर नवम्बर १९३९ में हमारा 'महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की सूत्रवृत्तियों का स्वरूप' लेख।

४. अपचितपरिमाणः शृगालः किखी। अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात्। पदमञ्जरी २।१।५॥ मुद्रित काशिका में 'सदृशं सख्या ससखि' पाठ है। वहां 'सदृशं किख्या सकिखि' पाठ होना चाहिये। पुनः लिखा है—अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतदिति चिरन्तनप्रयोगः, तस्यार्थमाह। पदमञ्जरी २।१।४७॥

५—यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक प्रभाव से भी मुक्त है। सारे ग्रन्थ में केवल २-३ उदाहरण ही ऐसे हैं, जिन्हें कथंचित् साम्प्रदायिक कहा जा सकता है।

भट्टोजि दीक्षित आदि ने जहां अपने ग्रन्थों में नये-नये उदाहरण देकर प्राचीन ऐतिहासिक निर्देशों को लोप कर दिया, वहां साथ ही साम्प्रदायिक उदाहरणों का बाहुल्येन निर्देश करके पाणिनीय शास्त्र को भी साम्प्रदायिक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की।

काशिका का पाठ

काशिका के जो संस्करण इस समय उपलब्ध हैं,[1] वे सब महा अशुद्ध हैं। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रामाणिक परिशुद्ध संस्करण का प्रकाशित न होना अत्यन्त दुःख की बात है।[1] काशिका में पाठों की अव्यवस्था प्राचीन काल से ही रही है। न्यासकार काशिका १।१।५ की व्याख्या में लिखता है—

'अन्ये तूत्तरसूत्रे कणिताश्वो रणिताश्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्, इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति'।[2]

न्यास और पदमञ्जरी में काशिका के अनेक पाठान्तर उद्धृत किये हैं। काशिका का इस समय जो पाठ उपलब्ध होता है, वह अत्यन्त भ्रष्ट है। ६।१।१७४ के प्रत्युदाहरण का पाठ इस प्रकार छपा है—

'हल्पूर्वादिति किम् बहुनावा ब्राह्मण्या'।

इसका शुद्ध पाठ **'बाहुतितवा ब्राह्मण्या'** है। काशिका में ऐसे पाठ भरे पड़े हैं। इस वृत्ति के महत्त्व को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

नवीन संस्करण

'उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद की संस्कृत परिषद' द्वारा

---

१. अभी कुछ वर्ष पूर्व 'उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद' से इसका एक नया संस्करण प्रकाशित हुआ है। उसके सम्बन्ध में आगे देखें।

२. न्यास भाग १, पृष्ठ ४६।

अनेक हस्तलेखों के आधार पर काशिका का एक नया संस्करण छपा है। यह अपेक्षाकृत पूर्व संस्करणों से उत्तम है। तथापि सम्पादकों का पाणिनीय तन्त्र पर अधिकार न होने से इसमें भी बहुत स्थानों पर अपपाठ विद्यमान हैं। डा० तथा एम० ए० उपाधिधारी विद्वानों ने पाश्चात्य ढंग पर ही सम्पादन कार्य किया है। जिस विषय के ग्रन्थ का सम्पादन करना हो, उसमें यदि यथावत् गति न हो, तो ग्रन्थ कभी शुद्ध सम्पादित नहीं हो सकता। इसी प्रकार पाश्चात्य सम्पादन-कला से अनभिज्ञ तद्विषयज्ञ विद्वान् भी यथावत् सम्पादन नहीं कर सकता। सम्पादन-कार्य के लिये दोनों बातों का सामञ्जस्य होना चाहिये।

काशिका के व्याख्याकार

जयादित्य और वामन विरचित काशिकावृत्ति पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी हैं। उनका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

१३. भागवृत्तिकार (सं० ७०२-७०६ वि०)

अष्टाध्यायी की वृत्तियों में काशिका के अनन्तर 'भागवृत्ति' का स्थान है। यह वृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। इसके लगभग दो सौ उद्धरण पदमञ्जरी भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति और अमरटीकासर्वस्व आदि विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव की भाषा-वृत्ति के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि यह वृत्ति काशिका के समान प्रामाणिक मानी जाती थी।[1]

बड़ौदा से प्रकाशित कवीन्द्राचार्य[2] के सूचीपत्र में 'भागवृत्ति' का नाम मिलता है।[3] भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ और सिद्धान्त-

१. काशिकाभागवृत्त्योश्चत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः। तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम॥

२. कवीन्द्राचार्य काशी का रहनेवाला था। इसकी जन्मभूमि गोदावरी तट का कोई ग्राम था। यह परम्परागत ऋग्वेदी ब्राह्मण था। इसने वेदवेदाङ्गों का सम्यग् अभ्यास करके संन्यास ग्रहण किया था। इसने काशी और प्रयाग को मुसलमानों के जजिया कर से मुक्त कराया था। देखो—कवीन्द्राचार्य विरचित 'कवीन्द्रकल्पद्रुम,' इण्डिया आफिस लन्दन का सूचीपत्र, पृष्ठ ३६४७। इसका समय लगभग वि० सं० १६५०-१७५० तक है। ३. देखो—पृष्ठ ३।

कौमुदी में भागवृत्ति के अनेक उद्धरण दिये हैं।[1] इससे प्रतीत होता है कि विक्रम की १६ वीं १७ वीं शताब्दी तक भागवृत्ति के हस्तलेख सुप्राप्य थे।

भागवृत्ति का रचयिता

'भाषावृत्ति' के व्याख्याता 'सृष्टिधर चक्रवर्ती' ने लिखा है—

'भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता'।[2]

इस उद्धरण से विदित होता है कि वलभी के राजा श्रीधरसेन की आज्ञा से भर्तृहरि ने भागवृत्ति की रचना की थी।

'कातन्त्रपरिशिष्ट' का रचयिता श्रीपतिदत्त सन्धिसूत्र १४२ पर लिखता है—

'तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्येवं निपातितः।'

इससे प्रतीत होता कि भागवृत्ति के रचयिता का नाम 'विमलमति' था।

पं० गुरुपद हालदार ने सृष्टिधर के वचन को अप्रामाणिक माना है। परन्तु हमारा विचार है कि सृष्टिधराचार्य और श्रीपतिदत्त दोनों के लेख ठीक हैं, इनमें परस्पर विरोध नहीं है। यथा कविसमाज में अनेक कवियों का कालिदास औपाधिक नाम है, उसी प्रकार वैयाकरणनिकाय में अनेक उत्कृष्ट वैयाकरणों का भर्तृहरि औपाधिक नाम रहा है। विमलमति ग्रन्थकार का मुख्य नाम है, और भर्तृहरि उसकी औपाधिक संज्ञा है। भट्टि के कर्त्ता का भर्तृहरि औपाधिक नाम था। यह हम पूर्व पृष्ठ ३७० पर लिख चुके हैं। विमलमति बौद्ध सम्प्रदाय का प्रसिद्ध व्यक्ति है।

एस० पी० भट्टाचार्य का विचार है कि भागवृत्ति का रचयिता सम्भवतः इन्दु था।[3] हमारे मत में यह विचार चिन्त्य है।

---

१. सिद्धान्त-कौमुदी पृष्ठ ३६६, काशी चौखम्बा, मूल संस्करण।

२. भाषावृत्त्यर्थविवृति ८।१।६७॥

३. आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस १९४३-१९४४ (बनारस) में भागवृत्ति-विषयक लेख।

भागवृत्तिकार का काल

सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि 'भागवृत्ति' की रचना महाराज श्रीधरसेन की आज्ञा से हुई थी। वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं, जिनका राज्यकाल सं० ५५७-७०५ वि० तक माना जाता है। इस 'भागवृत्ति' में स्थान-स्थान पर काशिका का खण्डन उपलब्ध होता है[1]। इससे स्पष्ट है कि 'भागवृत्ति' की रचना काशिका के अनन्तर हुई है। काशिका का निर्माणकाल लगभग सं० ६५०-७०० वि० तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। चतुर्थ श्रीधरसेन का राज्यकाल सं० ७०२-७०५ तक है। अतः भागवृत्ति का निर्माण चतुर्थ श्रीधरसेन की आज्ञा से हुआ होगा।

न्यास के सम्पादक ने भागवृत्ति का काल सन् ६२५ ई० (सं० ६८२ वि०), और काशिका का सन् ६५० ई० (=सं० ७०७ वि०) माना है,[2] अर्थात् भागवृत्ति का निर्माण काशिका से पूर्व स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार श्री पं० गुरुपद हालदार ने भागवृत्ति की रचना नवम शताब्दी में मानी है, वह भी अशुद्ध है। वस्तुतः भागवृत्ति की रचना वि० सं० ७०२-७०५ के मध्य हुई है, यह पूर्व विवेचना से स्पष्ट है।

काशिका और भागवृत्ति

हम पूर्व लिख चुके हैं कि 'भागवृत्ति' में काशिका का स्थान-स्थान पर खण्डन उपलब्ध होता है। दोनों वृत्तियों में परस्पर महान् अन्तर है। इस का प्रधान कारण यह है कि काशिकाकार महाभाष्य को एकान्त प्रमाण न मानकर अनेक स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के मतानुसार व्याख्या करता है। अतः उसकी वृत्ति में अनेक स्थानों में महाभाष्य से विरोध उपलब्ध होता है। भागवृत्तिकार महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानता है। इस कारण वह वैयाकरण-सम्प्रदाय में अप्रसिद्ध शब्दों की कल्पना करने से भी नहीं चूकता।[3]

---

१. भागवृत्ति-संकलन ५।१।३२; ५।२।१३; ६।३।८४॥

२. न्यास-भूमिका, पृष्ठ २६।

३. 'लीलूय+सन्' इस अवस्था में भागवृत्तिकार 'लुलोलूयिषति' रूप मानता है। वह लिखता है—'अनभ्यासग्रहणस्य न किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्।

भागवृत्ति के उद्धरण

भागवृत्तिके १६८ उद्धरण अभी तक हमें ३७ ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं। इनमें २४ ग्रन्थ मुद्रित, ६ ग्रन्थ अमुद्रित, तथा ४ लेखसंग्रह, हस्तलेख, सूचीपत्रादि हैं। वे इस प्रकार हैं—

मुद्रित ग्रन्थ

१. महाभाष्यप्रदीप-कैयट
२. महभाष्यप्रदीपोद्योत-नागेश
३. पदमञ्जरी- हरदत्त
४. भाषावृत्ति-पुरुषोत्तमदेव
५. दुर्घटवृत्ति-शरणदेव
६. दैव-पुरुषकारोपेत
७. परिभाषावृत्ति-सीरदेव
८. परिभाषावृत्ति-पुरुषोत्तमदेव
९. उणादिवृत्ति-श्वेतवनवासी
१०. उणादिवृत्ति-उज्ज्वलदत्त
११. धातुवृत्ति-सायण
१२. ज्ञापकसमुच्चय-पुरुषोत्तमदेव
१३. सिद्धान्तकौमुदी-भट्टोजिदीक्षित
१४. प्रक्रियाकौमुदी-सटीक
१५. व्याकरणसिद्धान्तसुधा निधि—विश्वेश्वर सूरि
१६. संक्षिप्तसार-जुमरनन्दीवृत्ति
१७. संक्षिप्तसार टीका
१८. कातन्त्र परिशिष्ट-श्रीपतिदत्त
१९. हरिनामामृतव्याकरण
२०. नानार्थार्णवसंक्षेप-केशव
२१. अमरटीकासर्वस्व-सर्वानन्द
२२. हेतुविन्दुटीकालोक-दुर्वेकमिश्र
२३. शब्दशक्तिप्रकाशिका
२४. व्याकरणदर्शनेरितिहास-गुरुपदहालदार

हस्तलिखितग्रन्थ

२५. तन्त्रप्रदीप-मैत्रेय रक्षित
२६. अमरटीका-अज्ञातकर्तृक
२७. अमरटीका-रायमुकुट
२८. शब्दसाम्राज्य
२९. चर्करीतरहस्य
३०. संक्षिप्तसार परिशिष्ट
३१. कातन्त्रप्रदीपव्याख्या-पुण्डरीक विद्यासागर
३२. तत्त्वचन्द्रिका-गदसिंह
३३. भाषावृत्त्यर्थविवृति-सृष्टिधराचार्य

सहायक-ग्रन्थ

३४. ओरियण्टल कान्फ्रेंस बनारस-लेख संग्रह
३५. इण्डिया आफिस लन्दन हस्तलेख-सूचीपत्र

ततश्चोत्तरार्थमपि तन्न भवतीति भाष्यकारस्याभिप्रायो लक्ष्यते । तेनात्र भवितव्यं द्विर्वचनेन । पदमञ्जरी ६।१।६, पृष्ठ ४२६ पर उद्धृत ।

३६. मद्रास राजकीय हस्तलेख सूचीपत्र
३७. मद्रास ओरियण्टल रिसर्च जर्नल ।

भागवृत्ति को उद्धृत करनेवाले ग्रन्थों में सब से प्राचीन कयट-विरचित महाभाष्यप्रदीप है ।

भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन

लगभग दश वर्ष[1] हुए हमने १२ मुद्रित ग्रन्थों से भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन करके **'भागवृत्ति-संकलनम्'** नाम से उनका संग्रह 'लाहौर ओरियण्टल पत्रिका' में प्रकाशित किया था । इसका परिबृंहित संस्करण संवत् २०१० वि० में सरस्वती भवन काशी की 'सारस्वती सुषमा' में प्रकाशित किया था । इसका पुनः परिबृंहित संस्करण हमने वि० सं० २०२१ में पुन: प्रकाशित किया है ।

भगावृत्ति-व्याख्याता—श्रीधर

कृष्णलीलाशुक मुनि ने 'दैवम्' ग्रन्थ की 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है । उसमें भागवृत्ति का उद्धरण देकर कृष्णलीलाशुक मुनि लिखता है—

'भागवृत्तौ तु सीकृसेकृ इत्यधिकमपि पठ्यते । तच्च सीकृ सेचने इति श्रीधरो व्याकरोत्, एतानष्टौ वर्जयित्वा इति चाधिक्यमेव मुक्तकण्ठमुक्तवान्' ।[2]

इस उद्धरण से व्यक्त है कि श्रीधर ने भागवृत्ति की व्याख्या लिखी थी । कृष्णलीलाशुक मुनि ने श्रीधर के दो वचन और उद्धृत किये हैं। देखो—'दैवं-पुरुषकार' पृष्ठ १४, ६० ।[3] माधवीया धातुवृत्ति में श्रीकर अथवा श्रीकार नाम से इसका निर्देश मिलता है ।[4] धातु-

१. संवत् २००७ में प्रथम संस्करण के समय ।

२. दैवम्-पुरुषकार, पृष्ठ १५, हमारा संस्करण ।

३. देखो—हमारा संस्करण ।

४. नृतिनन्दीति वाक्ये नाधृवर्जं नृत्यादीन् पठित्वैतान् सप्त वर्जित्वेति वदन् श्रीकरोऽप्यत्रैवानुकूलः । धातुवृत्ति पृष्ठ १८ । तुलना करो—'तथा च श्रीवरो नृत्यागेन नृत्यादीन् पठित्वा एतान् सप्त वर्जयित्वा इत्याह । दैवम् ६० । यहां धातुवृत्ति में उद्धृत श्रीकर निश्चय ही भागवृत्ति-टीकाकार श्रीधर है ।

वृत्ति के जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे सब अत्यन्त भ्रष्ट हैं। हमें श्रीकार वा श्रीकर श्रीधर नाम के ही अपभ्रंश प्रतीत होते हैं।

श्रीधर नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। भागवृत्ति की व्याख्या किस श्रीधर नें रची, यह अज्ञात है।

काल—कृष्णलीलाशुक मुनि लगभग १३ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है। अतः उसके द्वारा उद्धृत ग्रन्थकार निश्चय ही उससे प्राचीन है। हमारा विचार है कि श्रीधर मैत्रेयरक्षित से प्राचीन है। इसका आधार 'पुरुषकार' पृष्ठ ६० में निर्दिष्ट श्रीधर और मैत्रेय दोनों के उद्धरणों की तुलना में निहित है।

भागवृत्ति जैसा प्रामाणिक ग्रन्थ और उसकी टीका दोनों ही इस समय अप्राप्य हैं।

१४. भर्त्रीश्वर (सं० ७८० वि० से पूर्ववर्ती)

वर्धमान सूरि अपने 'गणरत्नमहोदधि' में लिखता है—

'भर्त्रीश्वरेणापि वारणार्थानामित्यत्र पुल्लिङ्ग एव प्रयुक्तः'।[1]

अर्थात्—भर्त्रीश्वर ने अष्टाध्यायी के **वारणार्थानामीप्सितः**[2] सूत्र की व्याख्या में 'प्रेमन्' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है।

इस उद्धरण से विदित होता है कि भर्त्रीश्वर ने अष्टाध्यायी की कोई व्याख्या लिखी थी।

भर्त्रीश्वर का काल

भट्ट कुमारिल प्रणीत 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' पर भट्ट उम्बेक की व्याख्या प्रकाशित हुई है। उस में उम्बेक लिखता है—

'तथा चाहुर्भर्त्रीश्वरादयः किं हि नित्यं प्रमाणं दृष्टं, प्रत्यक्षादि वा यदनित्यं तस्य प्रामाण्ये कस्य विप्रतिपत्तिः, इति।'[3]

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि भर्त्रीश्वर भट्ट उम्बेक से पूर्ववर्ती है, और वह बौद्धमतानुयायी है।

उम्बेक और भवभूति का ऐक्य

भवभूतिप्रणीत 'मालतीमाधव के' एक हस्तलेख के अन्त में ग्रन्थ-

१. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २१९। २. १।४।२७॥ ३. देखो—पृष्ठ ३८।

कर्त्ता का नाम उम्बेक लिखा है, और उसे भट्ट कुमारिल का शिष्य कहा है।[1] भवभूति 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' की प्रस्तावना में अपने लिये **'पदवाक्यप्रमाणज्ञ'** पद का व्यवहार करता है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ पद का अर्थ पद=व्याकरण, वाक्य=मीमांसा, और प्रमाण=न्यायशास्त्र का ज्ञाता है। इस विशेषण से भवभूति का मीमांसकत्व व्यक्त है। दोनों के ऐक्य का उपोद्बलक एक प्रमाण और है—उम्बेकप्रणीत'श्लोकवार्तिकटीका' और'मालतीमाधव' दोनों के प्रारम्भ में **'ये नाम केचित् प्रथयन्त्यवज्ञाम्'** श्लोक समानरूप से उपलब्ध होता है। अतः उम्बेक और भवभूति दोनों एक व्यक्ति हैं। मीमांसक-सम्प्रदाय में उसकी 'उम्बेक' नाम से प्रसिद्धि है, और कविसम्प्रदाय में 'भवभूति' नाम से। मालतीमाधव में भवभूति ने अपने गुरु का नाम **'ज्ञाननिधि'** लिखा है। क्या ज्ञाननिधि भट्ट कुमारिल का नामान्तर था? उम्बेक भट्ट कुमारिल का शिष्य हो वा न हो, परन्तु श्लोकवार्तिकटीका, मालतीमाधव और उत्तररामचरित के अन्तरङ्ग साक्ष्यों से सिद्ध है कि उम्बेक और भवभूति दोनों नाम एक व्यक्ति के हैं। पं० सीताराम जयराम जोशी ने अपते संस्कृत साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में उम्बेक को भवभूति का नामान्तर लिखा है। परन्तु मीमांसक उम्बेक को उससे भिन्न लिखा है,[2] यह ठीक नहीं। भवभूति का मीमांसक होना 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' विशेषण से विस्पष्ट है।

महाकवि भवभूति महाराज यशोवर्मा का सभ्य था। इस कारण भवभूति का काल सं० ७८०-८०० वि० के लगभग माना जाता है[3]। अतः भवभूति के द्वारा स्मृत भर्त्रीश्वर सं०७८० से पूर्ववर्ती है। कितना पूर्ववर्ती है, यह अज्ञात है।

भवभूति का व्याकरण-ग्रन्थ—दुर्घटवृत्ति ७।२।११७ में **'ज्योतिषं शास्त्रम्'** में वृद्धयभाव के लिए भवभूति का एक वचन उद्धृत है।[4] उससे विदित होता है कि भवभूति ने कोई व्याकरण

---

१. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ, ३८६।

२. वही, पृष्ठ ३८६।

३. संस्कृत कविचर्चा, पृष्ठ ३१३; संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ३८६। ४. उच्यते–संज्ञापूर्वकानित्यत्वादिति भवभूतिः। पृष्ठ ११५।

ग्रन्थ भी लिखा था। अथवा दुर्घटवृत्तिकार ने भवभूति के किसी अज्ञातग्रन्थ से यह उद्धरण दिया हो।

१५. भट्ट जयन्त (सं० ८२५ वि० के लगभग)

न्यायमञ्जरीकार जरन्नैयायिक भट्ट[1] जयन्त ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर एक वृत्ति लिखी थी। इसका उल्लेख जयन्त ने स्वयं अपने 'अभिनवागमाडम्बर' नामक रूपक के प्रारम्भ में किया है। उसका लेख इस प्रकार है—

'अत्रभवतः शैशव एव व्याकरणविवरणकरणाद् वृत्तिकार इति प्रथितापरनाम्नो भट्टजयन्तस्य कृतिरभिनवागमाडम्बरनाम किमपि रूपकम्'।[2]

परिचय

भट्ट जयन्त ने न्यायमञ्जरी के अन्त में अपना जो परिचय दिया है, उससे विदित होता है कि जयन्त के पिता का नाम 'चन्द्र' था। शास्त्रार्थों में जीतने के कारण वह 'जयन्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ, और इसका '**नववृत्तिकार**' नाम भी था।[3] जयन्त के पुत्र 'अभिनन्द' ने 'कादम्बरीकथासार' के प्रारम्भ में अपने कुल का कुछ परिचय दिया है। वह इस प्रकार है—

'गोड़वंशीय भारद्वाज कुल में 'शक्ति' नाम का विद्वान् उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र 'मित्र', और उसका 'शक्तिस्वामी' हुआ। शक्तिस्वामी कर्कोट वंश के महाराज 'मुक्तापीड' का मन्त्री था। शक्तिस्वामी का पुत्र 'कल्याणस्वामी', और उसका 'चन्द्र' हुआ। चन्द्र का पुत्र 'जयन्त' हुआ। उसका दूसरा नाम 'वृत्तिकार' था। वह 'वेदवेदाङ्गों का ज्ञाता, और सर्व शास्त्रार्थों का जीतनेवाला था। उसका पुत्र साहित्यतत्त्वज्ञ 'अभिनन्द' हुआ।[4]'

---

१. आचार्य पुष्पाञ्जलि वाल्यूम में पं. रामकृष्ण कवि का लेख, पृ० ४७।

२. 'भट्टः चतुःशाखाभिज्ञः।' जगद्धर मालतीमाधव की टीका के प्रारम्भ में।

३. वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यः ख्यातः सतामग्रणी-रन्वर्थो नववृत्तिकार इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधाः। सूनुर्व्याप्तदिगन्तरस्य यशसा चन्द्रस्य चन्द्रत्विषा, चक्रे चन्द्रकलावचूलचरणाध्यायी सधन्यां कृतिम् ॥ पृष्ठ ६५६।

४. शक्तिर्नामाभवद् गौडो भारद्वाजकुले द्विजः। दीर्घाभिसारमासाद्य

भट्ट जयन्त नैयायिकों में **जरन्नैयायिक** के नाम से प्रसिद्ध है[1]। यह व्याकरण, साहित्य, न्याय, और मीमांसाशास्त्र[2] का महापण्डित था। इसके पितामह कल्याणस्वामी ने ग्राम की कामना से सांग्रहणीष्टि की थी। उसके अनन्तर उन्हें 'गौरमूलक' ग्राम की प्राप्ति हुई थी।[3]

काल

जयन्त का प्रपितामह शक्तिस्वामी कश्मीर के महाराज मुक्तापीड़ का मन्त्री था। मुक्तापीड़ का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः भट्ट जयन्त का काल विक्रम की नवम शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये।

अन्य ग्रन्थ

न्यायमञ्जरी—यह न्यायदर्शन के विशेष सूत्रों की विस्तृत टीका है। इसका लेख अत्यन्त प्रौढ़ और रचनाशैली अत्यन्त परिष्कृत तथा प्राञ्जल है। न्याय के ग्रन्थों में इसका प्रमुख स्थान है।

न्यायकलिका—गुणरत्न ने 'षड्दर्शन-समुच्चय' की वृत्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र-विषयक है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित हो चुका है।

कृतदारपरिग्रहः ॥ तस्य मित्राभिधानोऽभूदात्मजस्तेजसां निधिः। जनेन दोषोपरमप्रबुद्धेनाचितोदयः ॥ स शक्तिस्वामिनं पुत्रमवाप श्रुतिशालिनम्। राज्ञः कर्कोटवंशस्य मुक्तापीडस्य मन्त्रिणम् ॥ कल्याणस्वामिनामास्य याज्ञवल्क्य इवाभवत्। तनयः शुद्धयोगर्द्धि-निर्धूतभवकल्मषः ॥ अगाधहृदयात् तस्मात् परमेश्वरमण्डनम्। अजायत सुतः कान्तश्चन्द्रो दुग्धोदधेरिव ॥ पुत्रं कृतजनानन्दं स जयन्तमजीजनत्। व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यत्र सरस्वती ॥ वृत्तिकार इति व्यक्तं द्वितीयं नाम बिभ्रतः। वेदवेदाङ्गविदुषः सर्वशास्त्रार्थवादिनः ॥ जयन्तनाम्नः सुधियः साधुसाहित्यतत्त्ववित्। सूनुः समभवत्तस्मादभिनन्द इति श्रुतः ॥

१. न्यायचिन्तामणि, उपमान खण्ड, पृष्ठ ६१, कलकत्ता सोसाइटी सं०।

२. वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमित्थमेताः कथाः कृताः। न तु मीमांकख्यातिं प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानतः ॥ न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २६०।

३. तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप। न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २७४।

पल्लव—डा० वी० राघवन् एम० ए० ने लिखा है कि श्रीदेव ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' की स्याद्वादरत्नाकर की टीका में जयन्तविरचित **'पल्लव'** ग्रन्थ के कई उद्धरण दिये हैं।[१] पल्लव और मञ्जरी समानार्थक हैं। पल्लव के उद्धृत उद्धरण न्यायमञ्जरी में उपलब्ध हो जाते हैं। अतः 'पल्लव' न्यायमञ्जरी ग्रन्थ ही है।

१६. श्रुतपाल (सं० ८७० वि० से पूर्व)

श्रुतपाल के व्याकरण-विषयक अनेक मत भाषावृत्ति, ललित-परिभाषा, कातन्त्रवृत्तिटीका, और जैन शाकटायन की अमोघावृत्ति में उपलब्ध होते हैं। यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[२] उनके अवलोकन से विदित होता है कि श्रुतपाल ने पाणिनीय शास्त्र पर कोई वृत्ति लिखी थी।

काल

श्रुतपाल के उद्धरण जिन ग्रन्थों में उद्धृत हुए हैं, उनमें अमोघा-वृत्ति सबसे प्राचीन है। अमोघाकार पाल्यकीर्ति का काल सं० ८७१–९२४ वि० के आसपास है। यह हम आगे 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण प्रकरण' में लिखेंगे।

१७. केशव (सं० ११६५ वि० से पूर्व)

केशव नाम के किसी वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। केशववृत्ति के अनेक उद्धरण व्याकरण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति में लिखता है—

'पृषोदरादित्वादिकारलोपे एकदेशविकारद्वारेण पर्षच्छब्दादपि वलजिति केशवः'।[३]

'केशववृत्तौ तु विकल्प उक्तः—हे प्रान्, हे प्राण् वा'।[४]

भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य केशववृत्ति का एक श्लोक उद्धृत करता है—

---

१. स्याद्वादरत्नाकर भाग १, पृष्ठ ६४, ३०२। पृष्ठ ४३२, ४३३। तथा भाग ४, पृष्ठ ७८०। देखो—प्रेमी अभिनन्दनग्रन्थ में डा० राघवन् का लेख।

२. देखो—पूर्व पृष्ठ ४०२, टि० २, ३, ४, ५।

३. ५।२।११२॥ ४. ८।४।२०॥

अपास्पाः पदमध्येऽपि न चैकस्मिन् पुना रविः।
तस्माद्रोरीति सूत्रेऽस्मिन् पदस्येति न बध्यते ॥[1]

पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास में लिखा है—

'अष्टाध्यायीर केशववृत्तिकार केशव पण्डित इहार प्रवक्ता। भाषावृत्तिते (५।२।११२) पुरुषोत्तमदेव, तन्त्रप्रदीपे (१।२।६; १।४।५५) मैत्रेयरक्षित, एवं हरिनामामृतव्याकरणे (५०० पृष्ठ) श्रीजीवगोस्वामी केशवपण्डितेर नामस्मरण करियाछेन'।[2]

इन उद्धरणों से केशव का अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखना सुव्यक्त है।

देश—केशव की वृत्ति के जितने उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे सभी वंगदेशीय ग्रन्थकार हैं। अतः सम्भावना यही है कि केशव भी वंगदेशीय हो।

केशव का काल

केशव नाम के अनेक ग्रन्थकार हैं। उनमें से किस केशव ने अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी, यह अज्ञात है। पं० गुरुपद हालदार के लेख से विदित होता है कि यह वैयाकरण केशव मैत्रेयरक्षित से प्राचीन है। मैत्रेयरक्षित का काल सं० ११६५ वि० के लगभग है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] अतः केशव वि० सं० ११६५ से पूर्ववर्ती है, इतना पं० गुरुपदहालदार के उद्धृत वचनानुसार निश्चित है।

१८. इन्दुमित्र (सं० ११५० वि० से पूर्व)

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादनाम्नी टीका में 'इन्दुमित्र' और 'इन्दुमती वृत्ति'[4] का बहुधा उल्लेख किया है। इन्दुमित्र ने काशिका की 'अनुन्यास' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। इसका वर्णन हम अगले 'काशिका वृत्ति के व्याख्याकार' नामक अध्याय में

---

१. भाषावृत्ति, पृष्ठ ५४४ की टिप्पणी। २. देखो—पृष्ठ ४५३।
३. देखो—पूर्व पृष्ठ ३९६। ४. भाग १, पृष्ठ ६१०, ६८६। भाग २, पृष्ठ १४५।

करेंगे। यद्यपि इन्दुमित्रविरचित अष्टाध्यायीवृत्ति के कोई साक्षात् उद्धरण उपलब्ध नहीं हुए, तथापि विट्ठल द्वारा उद्धृत उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि 'इन्दुमती वृत्ति' अष्टाध्यायी की वृत्ति थी, और इसका रचयिता इन्दुमित्र था। यथा—

"एतच्च इन्दुमित्रमतेनोक्तम्। प्रत्यय इति सूत्रे प्रत्याय्यते ज्ञायतेऽर्थोऽस्मादिति प्रत्ययः। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घान्तस्य प्रत्ययशब्दस्यान्वर्थस्य निषेधो ज्ञापक इति भावः। तथा च इन्दुमत्यां वृत्तावुक्तम्—'प्रतेस्तु व्यञ्जनव्यवहितो य इति न भवति निमित्तम्' इति केषाञ्चिन्मते प्रतेरपि भवति"।[1]

अनेक ग्रन्थकार इन्दुमित्र को इन्दु नाम से भी स्मरण करते हैं। एक इन्दु अमरकोष की क्षीरस्वामी की व्याख्या में भी उद्धृत है। परन्तु वह वाग्भट्ट का साक्षात् शिष्य आयुर्वेदिक ग्रन्थकार पृथक् व्यक्ति है।

काल

सीरदेव ने अपनी परिभाषावृत्ति में अनुन्यासकार और मैत्रेय के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं—

'अनुन्यासकार 'प्रत्ययसूत्रे अनुन्यासकार उक्तवान् प्रतियन्त्यनेनार्थानिति प्रत्ययः, एरच् (३। ३। ५६) इत्यच्, पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३।३।११८) इति वा घ इति'।[2]

मैत्रेय—'मैत्रेयः पुनराह पुंसि संज्ञायां (३। ३। ११८) इति घ एव। एरच् (३। ३। ५६) इत्यच् प्रत्ययस्तु करणे ल्युटा बाधितत्वान्न शक्यते कर्त्तुम्। न च वा सरूपविधिरस्ति, कृतल्युडित्यादिवचनात्'।[2]

यद्यपि विट्ठल द्वारा ऊपर उद्धृत अंश अनुन्यासकार के नाम से उद्धृत वचन से पर्याप्त मिलता है, तथापि **इन्दुमत्यां वृत्तौ,** और **अनुन्यासकार** रूप नामभेद से अष्टाध्यायी की वृत्ति और अनुन्यास दोनों ग्रन्थों की रचना इन्दुमित्र ने की थी, यह मानना ही उचित है।

---

१. प्रक्रिया कौमुदी, प्रसाद टीका भाग २, पृष्ठ १४५।

२. पृष्ठ ७६। शरणदेव ने इन उपर्युक्त दोनों पाठों को अपने शब्दों में उद्धृत किया है। देखो—दुर्घटवृत्ति, पृष्ठ ६७।

पूर्वोद्धृत अनुन्यासकार और मैत्रेय दोनों के पाठों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि मैत्रेयरक्षित अनुन्यासकार का खण्डन कर रहा है। अतः इन्दुमित्र मैत्रेयरक्षित से पूर्वभावी है। इन्दुमित्र के ग्रन्थ की 'अनुन्यास' संज्ञा से विदित होता है कि यह ग्रन्थ न्यास के अनन्तर रचा गया है। अतः इन्दुमित्र का काल वि०सं० ८०० से ११५० के मध्य है, इतना ही स्थूल रूप से कहा जा सकता है।

१६. मैत्रेयरक्षित (सं० ११६५ वि० के लगभग)

मैत्रेयरक्षित ने अष्टाध्यायी की एक **'दुर्घटवृत्ति'** लिखी थी। वह इस समय अनुपलब्ध है। उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में मैत्रेयरक्षित विरचित 'दुर्घटवृत्ति' के निम्न पाठ उद्धत किये हैं—

'श्रीयमित्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः।'[1]

'कृदिकारादिति ङीषि लक्ष्मीत्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः'।[2]

मैत्रेयरक्षितविरचित 'दुर्घटवृत्ति' के इनके अतिरिक्त अन्य उद्धरण हमें उपलब्ध नहीं हुए।

शरणदेव ने भी एक 'दुर्घटवृत्ति' लिखी है। सर्वरक्षित ने उसका संक्षेप और परिष्कार किया है। रक्षित शब्द से सर्वरक्षित का ग्रहण हो सकता है, परन्तु सर्वरक्षित द्वारा परिष्कृत दुर्घटवृत्ति में उपर्युक्त पाठ उपलब्ध नहीं होते। उज्ज्वलदत्त ने अन्य जितने उद्धरण रक्षित के नाम से उद्धृत किये हैं, वे सब मैत्रेयरक्षितविरचित ग्रन्थों के हैं। अतः उज्ज्वलदत्तोद्धृत दुर्घटवृत्ति के उपर्युक्त उद्धरण भी निश्चय ही मैत्रेयरक्षितविरचित दुर्घटवृत्ति से ही लिये गये हैं, यह स्पष्ट है। मैत्रेयरक्षितविरचित 'दुर्घटवृत्ति' के विषय में हमें इससे अधिक ज्ञान नहीं है। मैत्रेयरक्षित का आनुमानिक काल लगभग वि० संवत् ११६५ है, यह हम पूर्व पृष्ठ ३९६ पर लिख चुके हैं।

२०. पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि० से पूर्व)

पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की एक **लघवृत्ति** रची है। इसमें अष्टाध्यायी के केवल लौकिक सूत्रों की व्याख्या है। अत एव इसका दूसरा अन्वर्थ नाम **'भाषावृत्ति'** है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जो सम्प्रति अप्राप्य हैं।

---

१. द्र०—पृष्ठ ८०। २. द्र०—पृष्ठ १४२।

पुरुषोत्तमदेव के काल आदि के विषय में हम पूर्व 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में लिख चुके हैं।[1]

दुर्घट-वृत्ति

सर्वानन्द 'अमरकोषटीकासर्वस्व' में लिखता है—

'पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटेऽसाधुत्वमुक्तम्'।[2]

इस पाठ से प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव ने कोई **'दुर्घटवृत्ति'** भी रची थी। शरणदेव ने अपनी दुर्घटवृत्ति में **'गुर्विणी'** पद का साधुत्व दर्शाया है। सर्वानन्द ने टीकासर्वस्व वि० सं० १२१६ में लिखा था। शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति का रचना-काल वि०सं०१२३०है।[3] अतः सर्वानन्द के उद्धरण में **'पुरुषोत्तमदेवेन'** पाठ अनवधानता-मूलक नहीं हो सकता। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव के नाम से अनेक ऐसे पाठ उद्धृत किये हैं, जो भाषावृत्ति में उपलब्ध नहीं होते।[4] शरणदेव ने उन पाठों को पुरुषोत्तमदेव की दुर्घटवृत्ति अथवा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किया होगा।

भाषावृत्ति-व्याख्याता सृष्टिधर

सृष्टिधर चक्रवर्ती ने भाषावृत्ति की **'भाषावृत्त्यर्थविवृति'** नाम्नी एक टीका लिखी है। यह व्याख्या बालकों के लिये उपयोगी है। लेखक ने कई स्थानों पर उपहासास्पद अशुद्धियां की हैं। चक्रवर्ती उपाधि से व्यक्त होता है कि सृष्टिधर बङ्ग प्रान्त का रहनेवाला था।

काल—सृष्टिधर ने ग्रन्थ के आद्यन्त में अपना कोई परिचय नहीं दिया, और न ग्रन्थ के निर्माणकाल का उल्लेख किया है। अतः सृष्टिधर का निश्चित काल अज्ञात है। सृष्टिधर ने भाषावृत्त्यर्थ-विवृति में निम्न ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है—

मेदिनी कोष, सरस्वतीकण्ठाभरण (८। २। १३), मैत्रेय-रक्षित, केशव, केशववृत्ति, उदात्तराघव, कातन्त्र परिशिष्ट (८। २। १६), धर्मकीर्ति रूपावतारकृत्, उपाध्यायसर्वस्व, हट्टचन्द्र (८। २। २६), कैयट भाष्यटीका (प्रदीप), कविरहस्य (७।२।४३), मुरारि,

---

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ३९९-४०१। २. भाग २, पृष्ठ २७७।
३. देखो—आगे पृष्ठ ४८३, ४८४। ४. दुर्घट वृत्ति पृष्ठ १६, २७, ७१।

अनर्घराघव (३।२।२६), कालिदास, भारवि, भट्टि, माघ, श्रीहर्ष नैषधचरितकार, वल्लभाचार्य माघकाव्यटीकाकार (३।२।११२), क्रमदीश्वर (५।१।७८), पद्मनाभ, मंजूषा (५ । ४ । १४३) ।[1]

इनमें मञ्जूषा के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार विक्रम की १४ वीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है[2]। यह मञ्जूषा नागोजी भट्ट विरचित लघुमञ्जूषा नहीं है। नागोजी भट्ट का काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।[3] भाषावृत्ति के सम्पादक ने शकाब्द १६३१और १६३६ अर्थात् वि०सं० १७६६ और १७७१ के भाषावृत्त्यर्थविवृति के दो हस्तलेखों का उल्लेख किया है।[4] इससे स्पष्ट है कि भाषावृत्त्यर्थविवृति की रचना नागोजी भट्ट से पहले हुई है। हमारा विचार है कि सृष्टिधर विक्रम की १५ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है।

२१. शरणदेव (सं० १२३० वि०)

शरणदेव ने अष्टाध्यायी पर **'दुर्घट'** नाम्नी वृत्ति लिखी है। यह व्याख्या अष्टाध्यायी के विशेष सूत्रों पर है। संस्कृतभाषा के जो पद व्याकरण से साधारणतया सिद्ध नहीं होते, उन पदों के साधुत्व-ज्ञापन के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। अतः एव ग्रन्थकार ने इसका अन्वर्थनाम 'दुर्घटवृत्ति' रक्खा है।

ग्रन्थकार ने मङ्गलश्लोक में सर्वज्ञ अपरनाम बुद्ध को नमस्कार किया है,[5] तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनेक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है। इससे प्रतीत होता है कि शरणदेव बौद्धमतावलम्बी था।

---

१. भाषावृत्ति की भूमिका, पृष्ठ १०।

२. भाषावृत्त्यर्थविवृति में उद्धृत मेदिनीकोष का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी माना जाता है, यह ठीक नहीं है। उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त वि० सं० १२५० से पूर्ववर्ती है, यह हम 'उणादि के वृत्तिकार' प्रकरण में लिखेंगे। उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति १।१०१, पृष्ठ ३६ पर मेदिनीकार को उद्धृत किया है।

३. देखो—पूर्व पृष्ठ ४२६-४२७।

४. भाषावृत्ति की भूमिका, पृष्ठ १० की टि०।

५. नत्वा शरणदेवेन सर्वज्ञं ज्ञानहेतवे। बृहद्भट्टजनाम्भोजकोशवीकास-भास्वते ॥

काल—शरणदेव ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'दुर्घटवृत्ति' की रचना का समय शकाब्द १०९५ लिखा है।[1] अर्थात् वि० सं० १२३० में यह ग्रन्थ लिखा गया।

प्रतिसंस्कर्ता–'दुर्घटवृत्ति' के प्रारम्भ में लिखा है कि शरणदेव के कहने से श्री सर्वरक्षित ने इस ग्रन्थ का संक्षेप करके इसे प्रतिसंस्कृत किया।[2]

ग्रन्थ का वैशिष्टच—संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त शतशः दुःसाध्य प्रयोगों के साधुत्वनिदर्शन के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। प्राचीन काल में इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ थे। मैत्रेय रक्षित और पुरुषोत्तमदेव विरचित दो दुर्घटवृत्तियों का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। सम्प्रति केवल शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति उपलब्ध होती है। यद्यपि शब्दकौस्तुभ आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में कहीं-कहीं दुर्घटवृत्ति का खण्डन उपलब्ध होता है, तथापि कृच्छ्रसाध्य प्रयोगों के साधुत्व दर्शाने के लिए इस ग्रन्थ में जिस शैली का आश्रय लिया है, उसका प्रायः अनुसरण अर्वाचीन ग्रन्थकार भी करते हैं। अतः **'गच्छतः स्खलनं क्वापि'** न्याय से इसके वैशिष्टच में किञ्चिन्मात्र न्यूनता नहीं आती।

इस ग्रन्थ में एक महान् वैशिष्टच और भी है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकार ऐसे हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ-निर्माण का काल लिखकर महान् उपकार किया है। इसके द्वारा अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के काल-निर्णय में महती सहायता मिलती है।

२२. अप्पन नैनार्य (सं० १५२०-१५७० वि०)

अप्पन नैनार्य ने पाणिनीयाष्टक पर **'प्रक्रिया-दीपिका'** नाम्नी वृत्ति लिखी है। ग्रन्थकार का दूसरा नाम वैष्णवदास था। प्रक्रियादीपिका

---

१. शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपञ्चविमाने। दुर्घटवृत्तिरकारि मुदेव कण्ठविभूषणहारलतेव॥

२. वाक्याच्छरणदेवस्य च्छायावग्रहपीडया। श्रीसर्वरक्षितेनैषा संक्षिप्य प्रतिसंस्कृता॥

का एक हस्तलेख 'मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' में विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र भाग ३, खण्ड १ A, पृष्ठ ३६०१, ग्रन्थाङ्क २५४१। इसके आद्यन्त में निम्न पाठ है—

आदि में—**अप्पननैनार्येण वेङ्कटाचार्यसूनुना।**
प्रक्रियादीपिका सेयं कृता वात्स्येन धीमता॥

अन्त में—**श्रीमद्वात्स्यान्वयपयःपारावारसुधाकरेण वादिमत्तेभ-कण्ठरिपुकण्ठलुण्टाकेन श्रीमद्वेङ्कटार्यपादकमलचञ्चरीकेण श्रीमत्पर-वादिमतभयङ्करमुक्ताफलेन अप्पननैनार्याभिधश्रीवैष्णवदासेन कृता प्रक्रियादीपिका समाप्ता।**

इस लेख से स्पष्ट है कि अप्पन नैनार्य के पिता का नाम वेङ्कटार्य था, और वात्स्य गोत्र था।

काल—हमारे मित्र श्री पं० पद्मनाभराव ने १०-११-१९६३ के पत्र में लिखा है—

'आध्र प्रदेश में वैयाकरणरूप से विख्यात नैनार्य पदाभिमधेय एक ही है। यह नैनार्य = नयनार्य अप्पन = अप्पण = अप्पल = अप्पळ नाम से प्रसिद्ध है। यह विजयनगर के महाराजा कृष्णदेवराय सार्वभौम (सं० १५६६-१५८६ राज्यकाल) के अष्ट दिग्गज पण्डितों में अन्यतम तेनालिरामलिङ्ग महाकवि का व्याकरणगुरु है। यह रामलिङ्ग ने 'पाण्डुरङ्ग विजयमु' नामक महाकाव्य के आदि में लिखा है। अप्पलाचार्य का वैयाकरणत्व **'अपशब्दभयं नास्ति अप्पलाचार्यसन्निधौ'** से सुस्पष्ट है।

इस निर्देश से सुव्यक्त है कि अप्पन नैनार्य का काल सं० १५२०–१५७० वि० के मध्य होना चाहिये।

ग्रन्थ का 'प्रक्रिया-दीपिका' नाम होने से सन्देह होता है कि यह प्रक्रिया-ग्रन्थ हो अथवा 'प्रक्रिया-कौमुदी' की टीका हो।

२३. अन्नम्भट्ट (सं० १५५०–१६०० वि०)

महामहोपाध्याय अन्नंभट्ट ने अष्टाध्यायी पर **'पाणिनीयमिताक्षरा'** नाम्नी वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। यह वृत्ति साधारण है।

अन्नंभट्ट के विषय में 'महाभाष्यप्रदीप के टीकाकार' प्रकरण में हम पूर्व (पृष्ठ ४२१-४२२) लिख चुके हैं।

२४. भट्टोजि दीक्षित (सं० १५७०-१६५० वि० के मध्य)

भट्टोजि दीक्षित ने अष्टाध्यायी की **'शब्दकौस्तुभ'** नाम्नी महती वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति इस समय समग्र उपलब्ध नहीं होती, केवल प्रारम्भ के ढाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय उपलब्ध होते हैं।

'शब्दकौस्तुभ' के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद में प्रायः पतञ्जलि कैयट और हरदत्त के ग्रन्थों का दीक्षित ने अपने शब्दों में संग्रह किया है। यह भाग अधिक विस्तार से लिखा गया है, अगले भाग में संक्षेप से काम लिया है।

परिचय

वंश—भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रिय ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम लक्ष्मीधर और लघु भ्राता का नाम रङ्गोजि भट्ट था। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है—
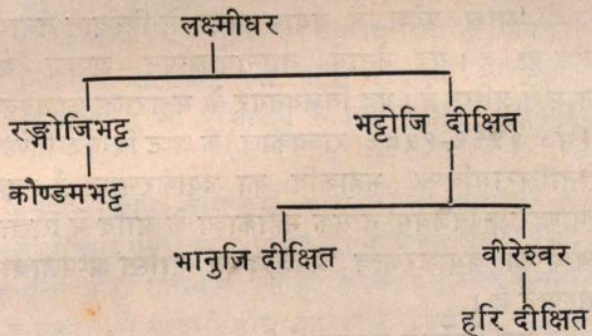
गुरु—पण्डितराज जगन्नाथ-कृत प्रौढमनोरमाखण्डन से प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने नृसिंहपुत्र शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] भट्टोजि दीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ में प्रक्रियाप्रकाशकार शेषकृष्ण के लिये गुरु शब्द का व्यवहार किया

१. 'इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः)···शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु च पारमेश्वरपदं प्रयातेषु तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशं·····दूषणैः स्वनिर्मितायां मनोरमायामाकुल्यमकार्षुः।' चौखम्बा संस्कृत सीरिज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ १।

है ।[1] तत्त्वकौस्तुभ में भट्टोजि दीक्षित ने अप्पय्य दीक्षित को नमस्कार किया है ।

काल

डाक्टर वेल्वालकर ने भट्टोजि दीक्षित का काल सन् १६००-१६५० अर्थात् वि० सं० १६५७-१७०७ तक माना है । अन्य ऐतिहासिक वि० सं० १६३७ मानते हैं । शेषकृष्ण-विरचित 'प्रक्रिया-कौमुदी' की व्याख्या का वि०सं० १५१४का एक हस्तलेख 'भण्डारकर ओरियण्यल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना' के संग्रह में विद्यमान है । देखो—सन् १९२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ १२ ग्रन्थाङ्क ३२८ । इस काल की पुष्टि एक अन्य हस्तलेख से भी होती है । 'लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय' में विठ्ठलविरचित 'प्रक्रियाप्रसादटीका' का एक हस्तलेख संगृहीत है ।[2] उसके अन्त में लेखनकाल सं० १५३६ लिखा है ।[3] विठ्ठल ने व्याकरण का अध्ययन शेषकृष्ण-सूनु वीरेश्वर अपर-नाम रमेश्वर से किया था ।[4] विठ्ठल के अध्ययन-काल में शेष कृष्ण का स्वर्गवास होगया था, इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है । यह अधिक सम्भव है कि विठ्ठल ने शेष कृष्ण के जीवित रहते हुए भी किन्हीं कारणों से वीरेश्वर से अध्ययन किया हो । हमारा विचार है कि शेष कृष्ण वृद्धावस्था में काशीवास के लिये काशी चले गये हों, और वहीं भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया हो । इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि शेष कृष्ण चिरजीवी रहे हों, और उनके अन्तिम काल में भट्टोजि दीक्षित ने शिष्यत्व ग्रहण किया हो । यह बात प्रमाणान्तर से परिपुष्ट हो जाये, तो भट्टोजि दीक्षित का काल वि० सं० १५७० से १६५० के मध्य उपपन्न हो सकता है, और कालविषयक कई विसंगतियां दूर हो सकती हैं ।

---

१. तदेतत् सकलमभिधाय प्रक्रियाप्रकाशे गुरुचरणैरुक्तम् । पृष्ठ १४५ ।

२. सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ६७ ग्रन्थाङ्क ६१६ ।

३. संवत् १५३६ वर्षे माघ वदी एकादशी रवौ श्रीमदानन्दपुरस्थानोत्तमे आभ्यन्तरनागरजातीयपण्डितअनन्तसुतपण्डितनारायणादीनां पठनार्थं कुठारीव्यवगाहितसुतेन विश्वरूपेण लिखितम् ।

४. 'तमर्भकं कृष्णगुरोर्नमामि रामेश्वराचार्यगुरुं गुणाब्धिम् ।' प्रक्रिया-कौमुदीप्रसादान्ते ।

अन्य व्याकरण-ग्रन्थ

दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ के अतिरिक्त 'सिद्धान्तकौमुदी' और उसकी व्याख्या 'प्रौढमनोरमा' लिखी है। इनका वर्णन आगे 'पाणिनीयव्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार' नामक १६ वें अध्याय में किया जायगा।

भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ को सिद्धान्तकौमुदी से पूर्व रचा था। वह उत्तर कृदन्त के अन्त में लिखता है—

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

इससे यह भी व्यक्त होता है कि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर रचा था। **'अतो लोपः'**[1] सूत्र की प्रौढमनोरमा और उस की शब्दरत्न व्याख्या से इतना स्पष्ट है कि शब्दकौस्तुभ षष्ठाध्याय तक अवश्य लिखा गया था।[2]

अन्य ग्रन्थ—भट्टोजि दीक्षित ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।[3]दीक्षित का एक **'वेदभाष्यसार'** नामक ग्रन्थ 'भारतीय विद्या-भवन बम्बई' से प्रकाशित हुआ है। यह ऋग्वेद के प्रथम अध्याय पर है, और यह सायणीय ऋग्भाष्य का संक्षेप है। दीक्षित लिखित अमर-टीका का एक हस्तलेख 'मद्रास राजकीय-हस्तलेख संग्रह में है। द्र०—सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ B. पृष्ठ ५०७५, संख्या ३४११।

शब्दकौस्तुभ के टीकाकार

आफ्रेक्ट के बृहत्सूचीपत्र में शब्दकौस्तुभ के प्रथम पाद के छः टीकाकारों का उल्लेख मिलता है। उनके नाम निम्नलिखित हैं—

१. नागेश	—	विषमपदी
२. वैद्यनाथ पायगुण्ड	—	प्रभा
३. विद्यानाथ शुक्ल	—	उद्योत
४. राघवेन्द्राचार्य	—	प्रभा

१. अष्टा० ६।४।४८॥ २. विस्तरः शब्दकौस्तुभे बोध्यः।
३. वेदभाष्यसार की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १, टि० ३ में दीक्षित कृत ३४ ग्रन्थों का उल्लेख है। उन में एक 'धातुपाठ-निर्णय' ग्रन्थ भी है।

५. कृष्णमित्र — भावप्रदीप
६. भास्करदीक्षित — शब्दकौस्तुभदूषण

नागेश और वैद्यनाथ पायगुण्ड के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।[1]

कृष्णमित्र का दूसरा नाम कृष्णाचार्य था। इसके पिता का नाम रामसेवक, और पितामह का नाम देवीदत्त था। रामसेवक कृत 'महाभाष्य-प्रदीपव्याख्या' का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[2] कृष्णमित्र ने सिद्धान्तकौमुदी की 'रत्नार्णव' नाम्नी टीका लिखी है। इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। कृष्णाचार्यकृत युक्ति-रत्नाकर, वादचूडामणि और वादसुधाकर नाम के तीन ग्रन्थ जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो—सूचीपत्र पृष्ठ ४५, ४६।

शेष टीकाकारों के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

कौस्तुभखण्डनकर्ता—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढमनोरमा-खण्डन 'मनोरमाकुचमर्दन' में लिखा है—

'इत्थं च ओत् सूत्रगतकौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्। अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्'।[3]

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथ ने शब्दकौस्तुभ के खण्डन में कोई ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

भट्टोजि से विग्रह का कारण—पण्डितराज जगन्नाथ का भट्टोजि दीक्षित के साथ अहिनकुलवैर के समान जो सहज वैर उत्पन्न होगया था, उसके विषय में एक कवि ने लिखा है—'गर्वीले द्राविड़ (अप्पय दीक्षित) के दुराग्रहरूपी भूतावेश से गुरुद्रोही भट्टोजि ने भरी सभा में विना विचारे पण्डितराज को 'म्लेच्छ' कह दिया था। उसको धैर्य-निधि पण्डितराज ने उनकी मनोरमा का कुचमर्दन करके सत्य कर

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४२५-४२८। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४२३।

३. चौखम्बा संस्कृतसीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढ-मनोरमा भाग ३ के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ २१।

दिखाया। अप्पय दीक्षितादि (भट्टोजि के समर्थक) देखते रह गये।[1]

परिचय तथा काल

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनका दूसरा नाम 'वेल्लनाडू' था, और इनको 'त्रिशूली' भी कहते थे। इनके पिता का नाम पेरंभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरंभट्ट ने ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त, महेन्द्र से न्याय वैशेषिक, भट्टदीपिकाकार खण्डदेव से मीमांसा, और शेष से महाभाष्य का अध्ययन किया था। पण्डितराज जगन्नाथ दिल्ली के सम्राट् शाहजहां और दाराशिकोह के प्रेमपात्र थे। शाहजहां ने इन्हें पण्डितराज की पदवी प्रदान की थी। शाहजहां वि०सं० १६८४में गद्दी पर बैठा था। ये चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षित के समकालिक कहे जाते हैं। परन्तु इसमें कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।[2] पण्डितराज ने शेष-कृष्ण के पुत्र वीरेश्वर अपरनाम रामेश्वर से विद्याध्ययन किया था।[3] विट्ठल ने वि० सं० १५३६ से कई वर्ष पूर्व वीरेश्वर से व्याकरण पढ़ा था, यह हम पूर्व पृष्ठ ४१० पर लिख चुके हैं। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ का काल न्यूनातिन्यून वि० सं० १५७५-१६६० तक स्थिर होता है। परन्तु इतना लम्बा काल सम्भव प्रतीत नहीं होता। हम इस कठिनाई को सुलझाने में असमर्थ हैं।

भट्टोजि दीक्षित ने शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजि दीक्षित ने अपने 'शब्दकौस्तुभ' और 'प्रौढमनोरमा' ग्रन्थों में बहुत स्थानों पर शेषकृष्णविरचित प्रक्रियाप्रकाश का खण्डन किया है। अतः पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढमनोरमाखण्डन में भट्टोजि

---

१. दृप्यद् द्राविडदुर्ग्रहवशाम्लिष्टं गुरुद्रोहिणा, यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना। तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात् कुचम्, निर्बध्यास्य मनोरमामवशयन्नप्पयाद्यान् स्थितान्॥ रसगंगाधर हिन्दी टीका (काशी) में उद्धृत।

२. एक श्लोक है—'यष्ठुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता, भट्टोजिप्रमुखाः स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः। पूर्वेर्धे चरमे द्विसप्ततितम-स्याब्दस्य सद् विश्वजिद्, याजी यश्च चिदम्बरे स्वयमभजन् ज्योतिः सतां पश्यताम्॥ रसगङ्गाधर हिन्दी टीका (काशी) में उद्धृत।

३. अस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां······। प्रौढमनोरमा खण्डन, पृष्ठ १।

दीक्षित को **'गुरुद्रोही'** शब्द से स्मरण किया है ।[1] प्रौढमनोरमाखण्डन के विषय में सोलहवें अध्याय में लिखेंगे ।

२५. अप्पय्य दीक्षित (१५७५-१६५० वि० के मध्य)

अप्पय्य दीक्षित ने पाणिनीय सूत्रों की **'सूत्रप्रकाश'** नाम्नी व्याख्या लिखी है । इसका एक हस्तलेख 'अडियार के राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है । देखो—सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ७५ ।

परिचय

अप्पय्य दीक्षित के पिता का नाम 'रङ्गराज अध्वरी' और पितामह का नाम 'आचार्य दीक्षित' था ।[2] कई इनका पूरा नाम 'नारायणाचार्य' था ऐसा कहते हैं । इनका गोत्र भरद्वाज था । यह अपने समय में शैवमत के महान् स्तम्भ माने जाते थे । अप्पय्य दीक्षित के लघु भ्राता का नाम 'अच्चान दीक्षित' था । अच्चान दीक्षित के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के 'शिवलीलार्णव' काव्य से ज्ञात होता है कि अप्पय्य दीक्षित ७२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे, और उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे ।[3]

काल

अप्पय्य दीक्षित का काल भी बड़ा सन्दिग्ध सा है । उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर वह वि० सं० १५५०–१७२० के मध्य विदित होता है । अतः हम इनके काल-निर्णय पर उपलब्ध सभी सामग्री संगृहीत कर देते हैं, जिससे भावी लेखकों को विचार करने में सुविधा हो—

१—हमने महाभाष्य के टीकाकार शेषनारायण के प्रकरण में पृष्ठ ४१० पर लिखा है कि विट्ठलकृत 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' का वि० सं०

---

१. स्यति सर्वं गुरुद्रुहाम् । प्रौढमनोरमा खण्डन, पृष्ठ १ ।

२. अप्पय्य दीक्षित ने 'न्यायरक्षामार्ग' में यही नाम लिखा है—'आचार्य दीक्षित इति प्रथिताभिधानम् ।……अस्मत्पितामहमशेषगुरुं प्रपद्ये ॥

३. कालेन शम्भुः किल तावतापि, कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये । द्वासप्ततिं प्राप्य समाः प्रबन्धाञ्छतं व्यदधादप्पयदीक्षितेन्द्रः ॥ सर्ग १ ॥ ७२ वर्ष की आयु के विषय में पूर्वपृष्ठ ४६० की टि० २ में उद्धृत श्लोक भी देखें ।

१५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है। भट्टोजि के गुरु शेषकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रक्रियाप्रकाश' नाम की एक व्याख्या लिखी थी। इसका दूसरा नाम 'प्रक्रियाकौमुदी-वृत्ति' भी है। इसका वि. सं. १५१४ का एक हस्तलेख 'पूना के भण्डारकर प्राच्यविद्या पुस्तकालय' में सुरक्षित है। शेष कृष्ण को चिरजीवी मानकर भट्टोजि दीक्षित का काल वि० सं० १५७०-१६५० के मध्य स्वीकार किया है(द्र०—पूर्व पृष्ठ ४८६-४८७)। भट्टोजि दीक्षित ने 'तत्त्वकौस्तुभ' में अप्पय्य दीक्षित को नमस्कार किया है। इसलिए अप्पय्य दीक्षित का काल वि० सं० १५७५—१६५० के मध्य होना चाहिए।

२—अप्पय्य दीक्षित के पितामह आचार्य दीक्षित विजयनगराधिप कृष्णदेवराय के सभा-पण्डित थे। कृष्णदेवराय का राज्यकाल वि० सं० १५६६—१५८६ तक माना जाता है। अतः अप्पय्य दीक्षित का काल वि. सं. १५५०-१६२५ तक सामान्यतया माना जा सकता है।

३—अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ के उल्लेख से विदित होता है कि अप्पय्य दीक्षित ने व्यङ्कटदेशिक के यादवाभ्युदय की टीका वेल्लूर के राजा चिन्नतिम्म नायक की प्रेरणा से लिखी थी। चिन्नतिम्म नायक का राज्यकाल विक्रम सं० १५६६-१६०७ पर्यन्त है।

४—अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने 'नीलकण्ठ चम्पू' की रचना कलि सं० ४७३८ अर्थात् वि० सं० १६६४ में की थी।[1]

५ आत्मकूर (कर्नूल—आन्ध्र) निवासी हमारे मित्र श्री पं० पद्मनाभराव जी ने १०—११—१९६३ के पत्र में लिखा है—

'अप्पय्य दीक्षित ने श्री विजयेन्द्र तीर्थ और ताताचार्य के साथ तज्जाव्वरुनायक शेवप्पनायक को सभा को अलङ्कृत किया था। शेवप्पनायक ने सं० १६३७ (=सन् १५८०) में श्री विजयेन्द्र तीर्थ को ग्रामदान किया था। मैसूर पुरातत्त्व विभाग के १९१७ के संग्रह (रिपोर्ट) में निम्न श्लोक उद्धृत हैं

१. अष्टात्रिंशदुपस्कृत-सप्तशताधिक-चतुस्सहस्रेषु कलिवर्षेषु गतेषु (४७३८) ग्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥

त्रेताग्नय इव स्पष्टं विजयीन्द्रयतीश्वरः ।
ताताचार्यो वैष्णवाग्र्यः सर्वशास्त्रविशारदः ॥
शैवाद्वैतैकसाम्राज्यः श्रीमान् अप्पयदीक्षितः ।
तत्सभायां मतं स्वं स्वं स्थापयन्तस्स्थितास्त्रयः ॥

इससे से स्पष्ट है कि अप्पय दीक्षित का काल वि० सं० १५७५-१६५० के मध्य है ।

६—'हिन्दुत्व' के लेखक रामदास गौड़ ने लिखा है कि अप्पय्य दीक्षित तिरुमल्लई (सं १६२४-१६३१) ; चिन्नतिम्म (सं० १६३१-१६४२); और वेङ्कट (१६४२—) इन तीनों के सभा-पण्डित थे । अप्पय्य दीक्षित ने विभिन्न ग्रन्थों में इन राजाओं का नाम निर्देश किया है ।[1] उनका जन्म सं० १६०८ में हुआ था, और मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में सं० १६८० में हुई थी ।[2]

७—हिन्दुत्व के लेखक ने लिखा है नृसिंहाश्रम की प्रेरणा से अप्पय्य दीक्षित ने 'परिमलन्यायरक्षामणि' और 'सिद्धान्तलेश' आदि ग्रन्थों की रचना की थी ।[3] नृसिंहाश्रम विरचित 'तत्त्वविवेक' ग्रन्थ की परिसमाप्ति वि० सं० १६०४ में हुई थी, ऐसा स्वयं निर्देश किया है ।[4] नृसिंहाश्रम 'प्रक्रियाप्रसादकौमुदी' के लेखक विट्ठल द्वारा स्मृत जगन्नाश्रम का शिष्य है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ४०८, टि० ५) लिख चुके हैं । विट्ठल की प्रक्रियाकौमुदीप्रकाश का एक हस्तलेख वि० सं० १५३४ का उपलब्ध है, यह भी हम पूर्व लिख चुके हैं ।

८—'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के लेखक कन्हैयालाल पोद्दार ने अप्पय्य दीक्षित का काल सन् १६५७ अर्थात् वि० सं० १७१४ पर्यन्त माना है ।[5] वे लिखते हैं—'सन् १६५७ (सं० १७१४) में काशी के मुक्तिमण्डप में एक सभा हुई थी, जिसमें निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रीय देवर्षि (देवसखे) ब्राह्मण पङ्क्तिपावन हैं । इस निर्णयपत्र पर अप्पय्य दीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं । यह निर्णयपत्र श्री पिपुटकर ने 'चितले भट्ट प्रकरण' पुस्तक में मुद्रित कराया है ।'

---

१. हिन्दुत्व, पृष्ठ ६२७ । २. हिन्दुत्व, पृष्ठ ६२७ ।
३. हिन्दुत्व, पृष्ठ ६२६ । ४. हिन्दुत्व, पृष्ठ ६२४ ।
५. सं० सा० इति० भाग १, पृष्ठ २८५ ।

निष्कर्ष—इन उपर्युक्त सभी प्रमाणों पर विचार करने से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि—

१—पिपुटकर द्वारा प्रकाशित निर्णयपत्र निश्चय ही बनावटी है, अथवा यह अप्पय्य दीक्षित अन्य व्यक्ति है। क्योंकि नीलकण्ठ दीक्षित के शिवलीलार्णव काव्य से विदित होता है कि उसकी रचना (वि० सं० १६६४) तक अप्पय्य दीक्षित स्वर्गत हो चुके थे।[1]

२—यदि 'हिन्दुत्व' के लेखक रामदास गौड़ का संख्या ६ में उद्धृत मत (सं० १६०८–१६८०) स्वीकार किया जाए, तो संख्या ७ में निर्दिष्ट उन्हीं के लेख से (नृसिंहाश्रम ने सं० १६०४ में 'तत्त्व-विवेक' लिखा) विपरीत पड़ता है। उधर नृसिंहाश्रम के गुरु जगन्नाथाश्रम प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद के लेखक विट्ठल के समकालिक हैं।[2]

३—हमारा विचार है कि अप्पय्य दीक्षित का काल सामान्य-तया वि०सं० १५७५–१६५० के मध्य होना चाहिए। तभी विट्ठल, भट्टोजि दीक्षित और नीलकण्ठ दीक्षित के लेखों का समन्वय हो सकता है। संख्या ५ पर उद्धृत प्रमाण भी इसी काल की पुष्टि करता है।

४—हमारा यह भी विचार है कि अप्पय्य दीक्षित नाम के सम्भवतः दो व्यक्ति हुए हों। दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार अप्पय्य दीक्षित के पौत्र का भी यही नाम हो सकता है। यदि यह प्रमाणान्तर से परिज्ञात हो जाए, तो सभी कठिनाइयों का समाधान अनायास हो सकता है।

२६. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००-१६५०वि०)

नींलकण्ठ वाजपेयी ने अष्टाध्यायी पर **'पाणिनीयदीपिका'** नाम्नी वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख नीलकण्ठ ने स्वयं परिभाषावृत्ति में किया है।[3] यह 'पाणिनीयदीपिका' वृत्ति सम्प्रति अनुपलब्ध है। ग्रन्थकार के काल आदि के विषय में 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में लिखा जा चुका है।[4]

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४६१ टि० ३। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४०८, टि० २।

३. अस्मत्कृतपाणिनीयदीपिकायां स्पष्टम्। पृष्ठ २६।

४. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४११, ४१२।

२७. विश्वेश्वर सूरि (सं० १६००-१६५० वि०)

विश्वेश्वर सूरि ने अष्टाध्यायी पर भट्टोजि दीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ के आदर्श पर एक अति विस्तृत व्याख्या लिखी है। इसका नाम **'व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि'** है। यह आदि के तीन अध्यायों पर ही उपलब्ध है। शेष अध्यायों पर ग्रन्थ लिखा भी गया वा नहीं, यह भी अज्ञात है।

परिचय

विश्वेश्वर ने अपना नाममात्र परिचय दिया है। उसके अनुसार इस के पिता का नाम लक्ष्मीधर है। पर्वतीय विशेषण से स्पष्ट है कि यह पार्वत्य देश का है। ग्रन्थकार की मृत्यु ३२-३४ वर्ष के वय में ही हो गई थी।

काल—ग्रन्थकार ने भट्टोजिदीक्षित का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है, परन्तु उसके पौत्र हरिदीक्षित अथवा तत्कृत प्रौढमनोरमा-व्याख्या 'शब्दरत्न' का कहीं भी उल्लेख न होने से प्रतीत होता है कि विश्वेश्वर सूरि ने 'शब्दरत्न' की रचना से पूर्व अपना ग्रन्थ लिखा था।[1] अतः इसका काल वि० सं० १६००-१६५० के मध्य होना चाहिए। 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' के लेखक कृष्णमाचारिया ने इसका काल ईसा की १८ वीं शती लिखा है।[2]

अन्य ग्रन्थ—इसके कतिपय अन्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. तर्क-कौतूहल
२. अलंकारकौस्तुभ
३. रुक्मणीपरिणय
४. आर्यासप्तशती
५. अलङ्कारकुलप्रदीप
६. रसमञ्जरी टीका

२८. गोपालकृष्ण शास्त्री (सं० १६५०-१७०० वि०)

हमने 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में गोपालकृष्ण शास्त्री विरचित **'शाब्दिकचिन्तामणि'** ग्रन्थ का उल्लेख किया है। वहां हम ने लिखा है कि हमें इस ग्रन्थ के 'महाभाष्यव्याख्या' होने में सन्देह है। यदि यह ग्रन्थ महाभाष्य की व्याख्या न हो, तो निश्चय ही यह अष्टाध्यायी की विस्तृत वृत्तिरूप होगा।

---

१. द्र०—ग्रन्थ की भूमिका। २. द्र०—पैराग्राफ ९०६, पृष्ठ ७६६।

२९. गोकुलचन्द्र (सं० १८९७ वि०)

गोकुलचन्द्र नाम के वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख उपलब्ध है।[1]

परिचय

गोकुलचन्द्र ने वृत्ति के अन्त में अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार इसके पिता का नाम 'बुधसिंह', माता का नाम 'सुशीला', और गुरु का नाम जगन्नाथ था। इसके एक सोदर्य भ्राता का नाम गोपाल था। यह लेखक वैश्य कुल का था।[2]

काल—इसकी रचना का समाप्ति-काल संवत् १८९७ माघ शुक्ला अष्टमी है।

यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रोदाहरण मात्र है।

३०. ओरम्भट्ट (सं० १९०० वि०)

वैद्यनाथभट्ट विश्वरूप अपरनाम ओरम्भट्ट ने '**व्याकरणदीपिका**' नाम्नी अष्टाध्यायी की वृत्ति बनाई है। इस वृत्ति में वृत्ति उदाहरण तथा अन्यपंक्तियां आदि यथासम्भव सिद्धान्तकौमुदी से उद्धृत की हैं। अतः जो व्यक्ति सिद्धान्तकौमुदी की फक्किकाओं को अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ना-पढ़ाना चाहें, उनके लिये यह ग्रन्थ कुछ उपयोगी हो सकता है।

ओरम्भट्ट काशी-निवासी महाराष्ट्रीय पण्डित है। यह काशी के प्रसिद्ध विद्वान् बालशास्त्री के गुरु काशीनाथ शास्त्री का समकालिक है। पं० काशीनाथ शास्त्री ने वि० सं० १९१६ में काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया था। अतः ओरम्भट्ट का काल वि० सं० १९०० के लगभग है।

---

१. हमने इस ग्रन्थ का निर्देश किस पुस्तकालय के संग्रह से लिया, यह संकेत करना भूल गए।

२. बुधसिंहात् सुशीलायां लब्धजन्मा विशांवरः। लब्धविद्यो जगन्नाथाच्छ्रोत्रियाद् ब्रह्मनिष्ठतः॥ लब्ध्वा सहायं सोदर्यं श्रीगोपालं व्यदधादिमाम्। वृत्तिं पाणिनिसूत्राणामर्थ्यां गोकुलचन्द्रमाः॥ सं० १८९७ माघ शुक्ला अष्टमी।

३१. स्वामी दयानन्द सरस्वती (सं० १८८१-१९४० वि०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की **'अष्टाध्यायी-भाष्य'** नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इसके दो खण्ड 'वैदिक पुस्तकालय अजमेर' से प्रकाशित हो चुके हैं।

परिचय

वंश—स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत टंकारा नगर के औदोच्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनके पिता सामवेदी ब्राह्मण थे। बहुत अनुसन्धान के अनन्तर इनके पिता का नामकर्शनजी तिवाड़ी, और पितामह का नाम विश्रामजी तिवाड़ी उपनाम लालजी तिवाड़ी ज्ञात हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का बाल्यकाल का नाम मूलजी था। सम्भवतः इन्हें मूलशंकर भी कहते थे। मूलजी के पिता शैवमतावलम्बी थे। ये अत्यन्त धर्मनिष्ठ, दृढ़ चरित्र और धनधान्य से पूर्ण वैभवशाली व्यक्ति थे।

भाई-बहन—मूलजी के दो कनिष्ठ सोदर्य भाई थे। उन में से एक का नाम बल्लभजी था। उनकी दो बहनें थीं, जिनमें बड़ी प्रेमाबाई का विवाह मङ्गलजी लीलारावजी के साथ हुआ था। छोटी बहिन की मृत्यु बचपन में मूलजी के सामने होगई थी। इनके वैमातृक चार भाई थे। उनके वंशज आज भी विद्यमान हैं।[1]

प्रारम्भिक अध्ययन और गृहत्याग—मूलजी का पांच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ, और आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार हुआ था। सामवेदी होने पर भी इनके पिता ने शैवमतावलम्बी होने के कारण मूलजी को प्रथम रुद्राध्याय और पश्चात् समग्र यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया था। घर में रहते हुए मूलजी ने व्याकरण आदि का भी कुछ अध्ययन किया था। बाल्यकाल में अपने चाचा और छोटी भगिनी की मृत्यु से इनके मन में वैराग्य की भावना उठी, और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। इनके पिता नें मूलजी के मन की भावना को समझ कर इनको विवाह-बन्धन में बांधने का प्रयत्न

---

१. द्र०—हमारी 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का भ्रातृवंश और स्वसृवंश' पुस्तिका।

किया, परन्तु मूलजी अपने संकल्प में दृढ़ थे। अत विवाह की सम्पूर्ण तैयारी हो जाने पर उन्होंने एक दिन सायंकाल अपने भौतिक संपत्ति से परिपूर्ण गृह का सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया। इस समय इनकी आयु लगभग २२ वर्ष की थी। यह घटना वि० संवत् १६०३ की है।

गृह-परित्याग के अनन्तर योगियों के अन्वेषण और सच्चे शिव के दर्शन की लालसा से लगभग पन्द्रह वर्ष तक हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण भयानक वन कन्दरा और हिमालय की ऊंची-ऊंची सदा बर्फ से ढकी चोटियों पर भ्रमण करते रहे। इस काल में इन्होंने योग की विविध क्रियाओं और अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया।

गुरु—नर्वदा-स्रोत की यात्रा में मूलजी ने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती नामक संन्यासी से संन्यास ग्रहण किया, और दयानन्द सरस्वती नाम पाया। नर्वदा-स्रोत की यात्रा में ही इन्होंने मथुरा-निवासी प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द स्वामी के पाण्डित्य की प्रशंसा सुनी। अतः उस यात्रा की परिसमाप्ति पर उन्होंने मथुरा आकर वि० सं० १६१७–१६२० तक ३ वर्ष स्वामो विरजानन्द से व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। स्वामी विरजानन्द व्याकरण-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। इनकी व्याकरण के नव्य और प्राचीन सभी ग्रन्थों में अव्याहत गति थी। तात्कालिक समस्त पण्डितसमाज पर इनके व्याकरणज्ञान की धाक थी। स्वामी दयानन्द भी इन्हें **'व्याकरण का सूर्य'** कहा करते थे। इन्हीं के प्रयत्न से कौमुदी आदि के पठन-पाठन से नष्टप्राय महाभाष्य के पठन-पाठन का पुनः प्रवर्तन हुआ था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1]

काल

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म वि. सं. १८८१ में हुआ था। इनके जन्म की तिथि आश्विन बदि ७ कही जाती है। कई पौष मास में मानते हैं। इनका स्वर्गवास सं० १६४० कार्तिक कृष्णा अमावास्य दीपावली के दिन सायं ६ बजे हुआ था।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३५२, ३५३।

अष्टाध्यायी-भाष्य

स्वामी दयानन्द के १५ अगस्त सन् १८७८ ई० (आषाढ़ बदि २ सं० १९३५वि०)के पत्र से ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायीभाष्य की रचना उक्त तिथि से पूर्व प्रारम्भ होगई थी ।[1] एक अन्य पत्र से विदित होता है कि २४ अप्रैल सन् १८७९ तक अष्टाध्यायी-भाष्य के चार अध्याय बन चुके थे ।[2] चौथे अध्याय से आगे बनने का उल्लेख उनके किसी उपलब्ध पत्र में नहीं मिलता। स्वामी दयानन्द के अनेक पत्रों से विदित होता है कि पर्याप्त ग्राहक न मिलने से वे इसे अपने जीवन-काल में प्रकाशित नहीं कर सके। स्वामीजी की मृत्यु के कितने ही वर्ष पश्चात् उनकी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा ने इसके दो भाग प्रकाशित किये, जिनमें तीसरे अध्याय तक का भाष्य है। चौथा अध्याय अभी (सन् १९७३) तक प्रकाशित नहीं हुआ। इसके प्रथम भाग (अ० १।१–२ तथा अ० २) का सम्पादन डा० रघुवीरजी एम. ए. ने किया है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय का सम्पादन हमारे पूज्य आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने किया है। इसमें मैंने भी सहायक रूप से कुछ कार्य किया है। इस अष्टाध्यायी-भाष्य के विषय में हमने **'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास'** ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है, अतः विशेष वहीं देखें।

यहां यह ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जो अष्टाध्यायी-भाष्य छपा है, वह उसकी पाण्डुलिपि (रफ कापी) मात्र के आधार पर प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थकार उसका पुनः अवलोकन भी नहीं कर पाए थे। अतःउसमें यत्र-तत्र क्वचित् भूलें भी विद्यमान हैं।

अन्य ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द ने अपने दश वर्ष के कार्यकाल (सं० १९३१-१९४० वि०तक) में लगभग ५० ग्रन्थ रचे हैं। उनमें सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य, यजुर्वेदभाष्य आदि मुख्य हैं। स्वामी दयानन्द के समस्त ग्रन्थों का वर्णन हमने **'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास'** नामक ग्रन्थ में

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १०५, द्वि० सं०।

२. वही, पृष्ठ १४१ द्वि० सं०।

विस्तार से किया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।[1] उणादिकोष की वृत्ति का वर्णन हमने 'उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक २४ वें अध्याय में किया है।

—०—

अब हम उन वृत्तिकारों का वर्णन करते हैं, जिनका काल अज्ञात है—

अज्ञातकालिक वृत्ति-ग्रन्थ

३२. नारायण सुधी

नारायण सुधी विरचित **'अष्टाध्यायी-प्रदीप'** अपरनाम **'शब्द-भूषण'** के हस्तलेख मद्रास अडियार और तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड A. पृष्ठ ४२७५ पर निर्दिष्ट हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

'इति श्रीगोविन्दपुरवास्तव्यनारायणसुधीविरचिते सवार्त्तिकाष्टाध्यायीप्रदीपे शब्दभूषणे अष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः'।

यह व्याख्या बहुत विस्तृत है। इसमें उपयोगी वार्तिकों का भी समावेश है। तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद के अनन्तर उणादिसूत्र और षष्ठाध्याय के द्वितीयपाद के पश्चात् फिट्सूत्र भी व्याख्यात हैं।

नारायण सुधी का देश काल अज्ञात है।

३३. रुद्रधर

रुद्रधरकृत अष्टाध्यायीवृत्ति का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में विद्यमान है। देखो—संग्रह नं० १९ (पुराना) वेष्टन संख्या १३।

रुद्रधर मैथिल पण्डित है। इसका काल अज्ञात है।

३४. उदयन

उदयनकृत **'मितवृत्त्यर्थसंग्रह'** नाम्नी वृत्ति का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय में है। देखो—सूचीपत्र पृष्ठ ४५।

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) से प्राप्य।

इस वृत्ति के उक्त हस्तलेख के आरम्भ में निम्न श्लोक मिलता है—

मुनित्रयमतं ज्ञात्वा वृत्तीरालोच्य यत्नतः ।
करोत्युदयनः साधुमितवृत्त्यर्थसंग्रहम् ॥

उदयन ने इस ग्रन्थ में काशिकावृत्ति का संक्षेप किया है । ग्रन्थकार का देश काल अज्ञात है । यह नैयायिक उदयन से भिन्न व्यक्ति है ।

३५. उदयङ्कर भट्ट

उदयङ्कर भट्ट नाम के किसी वैयाकरण ने '**परिभाषाप्रदीपार्चि**' नामक एक ग्रन्थ लिखा है । उसके आदि में पाठ है—

कृत्वा पाणिनिसूत्राणां मितवृत्त्यर्थसंग्रहम् ।
परिभाषाप्रदीपार्चिस्तत्रोपायो निरूप्यते ॥

इससे ज्ञात होता है कि उदयङ्कर भट्ट ने भी पाणिनीय सूत्र पर '**मितवृत्त्यर्थसंग्रह**' नाम्नी कोई व्याख्या लिखी थी ।

'परिभाषाप्रदीपार्चि' के विषय में 'परिभाषा पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक २६ वें अध्याय में लिखेंगे ।

३६. रामचन्द्र

रामचन्द्र ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी है । उसमें उसने भी काशिकावृत्ति का संक्षेप किया है । इसके प्रारम्भ के श्लोक से विदित होता है कि रामचन्द्र ने यह नागोजो की प्रेरणा से लिखी थी ।[1] यह नागोजी सम्भवतः प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट हो । एक रामचन्द्र शेषवंशीय नागोजी भट्ट का पुत्र है[2] । वह महाभाष्य व्याख्याकार शेष नारायण का शिष्य है । रामचन्द्र और नागोजी नाम की उभयत्र समानता होने पर भी पुत्र और प्रेरक सम्बन्ध के भिन्न होने से ये पृथक् व्यक्ति हैं, यह निर्विवाद है ।

---

१. नागोजीविदुषा प्रोक्तो रामचन्द्रो यथामति ।
शब्दशास्त्रं समालोक्य कुर्वेऽहं वृत्तिसंग्रहम् ॥

२. इसने सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या लिखी थी । इस का वर्णन आगे होगा ।

३७. सदानन्द नाथ

सदानन्द नाथ ने अष्टाध्यायी की **'तत्त्वदीपिका'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस वृत्ति का निर्देश 'योगप्रचारिणी गोरक्षा टीला काशी' से प्रकाशित श्रीनाथग्रन्थसूची के पृष्ठ १६ पर मिलता है। सूचीपत्र के अनुसार यह जोधपुर दुर्ग पुस्तकालय में संख्या २७५७।१३ पर निर्दिष्ट है, अर्थात् यह वृत्ति जोधपुर में सुरक्षित है।

३८. पाणिनीय-लघुवृत्ति

यह वृत्ति श्लोकबद्ध है। देखो—ट्रिवेण्ड्रम् पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग ५, ग्रन्थांक १०५।

श्लोकबद्ध पाणिनीयसूत्रवृत्ति का एक हस्तलेख 'मैसूर के राजकीय पुस्तकालय' में भी है। देखो—सन् १९२२ का सूचीपत्र पृष्ठ ३१५, ग्रन्थाङ्क ४७५०।

ये दोनों ग्रन्थ एक ही हैं, अथवा पृथक्-पृथक् यह अज्ञात है।

पाणिनीयसूत्र-लघु[वृत्ति]विवृति

यह पूर्वोक्त लघुवृत्ति की श्लोकबद्ध टीका है। यह टीका रामशाली क्षेत्र निवासी किसी द्विजन्मा की रचना है। देखो—ट्रिवेण्ड्रम् के राजकीय पुस्तकालय का सूचीपत्र, भाग ६, ग्रन्थाङ्क ३४।

मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र, पृष्ठ ३१५ पर **'पाणिनीयसूत्रवृत्ति टिप्पणी'** नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। उसका कर्त्ता 'देवसहाय' है।

अष्टाध्यायी की अज्ञातकर्तृक वृत्तियां

मद्रास राजकीय पुस्तकालय के नये छपे हुए बृहत् सूचीपत्र में अष्टाध्यायी की ५ वृत्तियों का उल्लेख मिलता है। वे निम्न हैं—

ग्रन्थनाम	ग्रन्थाङ्क
३९. पाणिनीय-सूत्रवृत्ति	११५७७
४०. पाणिनीय-सूत्रविवरण	११५७८
४१. पाणिनीय-सूत्रविवृति	११५७९
४२. पाणिनीय-सूत्रविवृति लघुवृत्तिकारिका	११५८०

४३. पाणिनीय-सूत्रव्याख्यान उदाहरण
श्लोकसहित ११५८१

४४, ४५—डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में पाणिनीय सूत्र की दो वृत्तियां विद्यमान हैं। देखो—ग्रन्थाङ्क ३७५०, ६२८१। ये दोनों वृत्तियां केरल लिपि में लिखी हुई हैं।

४६—सरस्वतीभवन काशी के संग्रह में पाणिनीयाष्टक की एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति वर्तमान है। देखो—महीधर संग्रह वेष्टन नं० २८।

इस प्रकार अन्य पुस्तकालयों में भी अनेक अष्टाध्यायी-वृत्तियों के हस्तलेख विद्यमान हैं। इस सब का अन्वेषण होना परमावश्यक है।

हमने इस अध्याय में अष्टाध्यायी के ३८ वृत्तिकारों, ८ अज्ञातकर्तृक वृत्तियों, और प्रसंगवश अनेक व्याख्याताओं का वर्णन किया है। इस प्रकार हमने इस अध्याय में लगभग ६० पाणिनीय वैयाकरणों का वर्णन किया है।

अब अगले अध्याय में काशिका के व्याख्याकारों का वर्णन किया जायगा।

पन्द्रहवां अध्याय

काशिका के व्याख्याता

काशिका जैसे महत्त्वपूर्ण वृत्ति-ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखीं, उनमें से कई एक इस समय अप्राप्य हैं। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। हमें जितने टीकाकारों का ज्ञान हो सका, उनका वर्णन इस अध्याय में करते हैं—

१. जिनेन्द्रबुद्धि

काशिका पर जितनी व्याख्याएं उपलब्ध अथवा परिज्ञात हैं, उनमें बोधिसत्त्वदेशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि विरचित '**काशिकाविवरणपञ्जिका**' अपरनाम '**न्यास**' सब से प्राचीन है। न्यासकार का 'बोधिसत्त्वदेशीय' वीरुत् होने से स्पष्ट है कि न्यासकार बौद्धमत का प्रामाणिक आचार्य है।

न्यासकार का काल

न्यासकार ने अपना किञ्चिन्मात्र परिचय नहीं दिया, अतः इसका इतिवृत्त सर्वथा अन्धकार में है। हम यहां न्यासकार के काल-निर्णय करने का कुछ प्रयत्न करते हैं—

१—हरदत्त ने पदमञ्जरी ४। १। ४२ में न्यासकार का नाम-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। हरदत्त का काल विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रथम चरण अथवा उससे कुछ पूर्व है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ३६६) लिख चुके हैं। अतः न्यासकार विक्रम की १२ वीं शताब्दी के आरम्भ से प्राचीन है।

२—महाभाष्यव्याख्याता कैयट हरदत्त से पौर्वकालिक है, यह हम कैयट के प्रकरण में लिख चुके हैं। कैयट और जिनेन्द्रबुद्धि के अनेक वचन परस्पर अत्यन्त मिलते हैं। जिनसे यह स्पष्ट है कि कोई एक दूसरे से सहायता अवश्य ले रहा है, परन्तु किसी ने किसी का नाम निर्देश नहीं किया। इसलिये उनके पौर्वापर्य के ज्ञान के लिये हम दोनों के दो तुलनात्मक पाठ उद्धृत करते हैं—

न्यास—द्वयोरिकारयोः प्रश्लेषनिर्देशः। तत्र यो द्वितीय इवर्णः स ये [विभाषा] इत्यात्त्वबाधा यथा स्यादित्येवमर्थः। ३। १। ११॥

प्रदीप—दीर्घोच्चारणे भाष्यकारेण प्रत्याख्याते केचित् प्रश्लेष-निर्देशेन द्वितीय ईकारो ये विभाषा (६। ४। ४३) इत्यात्त्वस्य पक्षे परत्वात् प्राप्तस्य बाधनार्थ इत्याहुः। तदयुक्तम्। क्यप्सन्नियोगेन विधीयमानस्येत्त्वस्यान्तरङ्गत्वात्। ३। १। १११॥

न्यास–अनित्यता पुनरागमशासनस्य घोर्लोपो लेटि वा(७।३।७०) इत्यत्र वाग्रहणलिङ्गाद् विज्ञायते। तद्धि ददत् ददाद् इत्यत्र नित्यं घोर्लोपो माभूदित्येवमर्थं क्रियते। यदि च नित्यमागमशासनं स्याद् वाग्रहणमनर्थकं स्यात्। भवतु नित्यो लोपः। सत्यपि तस्मिन् लेटोऽडाटौ (३। ४। ६४) इत्यटि कृते ददत् ददादिति सिध्यत्येव। अनित्यत्वे त्वागमशासनस्याडागमाभावान्न सिध्यति, ततो वा वाचन-मर्थवद् भवति। ७। १। १॥

प्रदीप—केचित्त्वनित्यमागमशासनमित्यस्य ज्ञापकं वाग्रहणं वर्ण-यन्ति। अनित्यत्वात्तस्याटचसति ददादिति न स्यादिति। तत्सिद्धये वाग्रहणं क्रियमाणमेनां परिभाषां ज्ञापयति। ७। ३। ७०॥

इन उद्धरणों की परस्पर तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों स्थानों में कैयट **'केचित्'** पद से न्यासकार का निर्देश करता है, और उसके ग्रन्थ को अपने शब्दों में उद्धृत करता है। अतः न्यासकार निश्चय ही वि० सं० १०६० से पूर्ववर्ती है। यह उसकी उत्तर सीमा है।

३—डा० याकोबी ने भविष्यत् पुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान ८७८ ई० (=९३५ वि०) माना है।[1] यदि हरदत्त की यह तिथि प्रमाणान्तर से परिपुष्ट हो जाए, तो न्यासकार का काल सं० ९०० वि० से पूर्व मानना होगा।

५—हेतुबिन्दु की टीका में 'अर्चट' लिखता है—

'यदा ह्याचार्यस्याप्येतदभिमतमिति कैश्चिद् व्याख्यायते···। पृष्ठ २१८ (बड़ोदा संस्करण)

---

१. जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई, भाग २३, पृष्ठ ३१।

इस पर पण्डित दुर्वेक मिश्र अपने आलोक में लिखता है—

कैश्चिदिति ईश्वरसेनजिनेन्द्रप्रभृतिभिः । पृष्ठ ४०५, वही संस्करण ।

यदि अर्चट का **कैश्चिद्** पद से ईश्वरसेन और जिनेन्द्रबुद्धि की ओर ही संकेत हो, जैसा कि दुर्वेक मिश्र ने व्याख्यान किया है, तब न्यासकार का काल वि० सं० ७०० के लगभग होगा। क्योंकि 'अर्चट' का काल ईसा की ७ वीं शती का अन्त है।

६ न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने न्यासकार का काल सन् ७२५–७५० ई०, अर्थात् वि० सं० ७८२–८०७ माना है।

महाकवि माघ और न्यास

महाकवि माघ ने शिशुपालवध के '**अनुत्सूत्रपदन्यासा**' इत्यादि श्लोक में श्लेषालंकार से न्यास का उल्लेख किया है। न्यास के सम्पादक ने इसी के आधार पर माघ को न्यासकार से उत्तरवर्ती लिखा है, वह अयुक्त है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] प्राचीन काल में न्यास नाम के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। कोई न्यास ग्रन्थ भर्तृहरि-विरचित महाभाष्यदीपिका में भी उद्धृत है।[2] एक न्यास मल्लवादि-सूरि ने वामनविरचित 'विश्रान्तविद्याधर' व्याकरण पर लिखा था।[3] पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी ने भी पाणिनीयाष्टक पर 'शब्दावतार' नामक एक न्यास लिखा था।[4] अतः महाकवि माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है। हां, इतना निश्चित है कि माघ के उपर्युक्त श्लोकांश में जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास का उल्लेख नहीं है। क्योंकि शिशुपालवध का रचनाकाल सं० ६८२-७०० के मध्य है।[5]

भामह और न्यासकार

भामह ने अपने 'अलंकारशास्त्र' में लिखा है—

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४६३ ।

२. देखो—पूर्व पृष्ठ ३८८ पर महाभाष्यदीपिका का ३६ वां उद्धरण ।

३. इसका वर्णन 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में करेंगे ।

४. देखो—पूर्व पृष्ठ ४४७ ।

५. देखो—पूर्व पृष्ठ ४६४ ।

'शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत् ॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिस्तदगमको यथा ॥'

इन श्लोकों में स्मृत न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि नहीं है। क्योंकि उसके सम्पूर्ण न्यास में कहीं पर भी **'जनिकर्तुः प्रकृतिः'** (अष्टा० १।४।३०) के ज्ञापक से **'वृत्रहन्ता'** पद में समास का विधान नहीं किया। न्यास के सम्पादक ने उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर भामह का काल सन् ७७५ ई० अर्थात् सं० ८३२ वि० माना है।[1] यह ठीक नहीं। क्योंकि सं० ६८७ वि० के समीपवर्ती स्कन्द-महेश्वर ने अपनी निरुक्तटीका में भामह के अलंकार ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] अतः भामह निश्चय ही वि० सं० ६८७ से पूर्ववर्ती है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि व्याकरण पर अनेक न्यास ग्रन्थ रचे गये थे। अतः भामह ने किस न्यासकार का उल्लेख किया है, यह अज्ञात है। इसलिये केवल न्यास नाम के उल्लेख से भामह जिनेन्द्रबुद्धि से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता।

न्यास के व्याख्याता

१—मैत्रेयरक्षित

मैत्रेयरक्षित ने न्यास की **'तन्त्रप्रदीप'** नाम्नी महती व्याख्या रची है। सौभाग्य से इसका एक हस्तलेख कलकत्ता के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। हस्तलेख में प्रथमाध्याय के प्रथम पाद का ग्रन्थ नहीं है, शेष संपूर्ण है। देखो—बंगाल गवर्नमेण्ट की आज्ञानुसार पं० राजेन्द्रलाल सम्पादित सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १४०, ग्रन्थाङ्क २०७६।

विद्वत्ता—मैत्रेयरक्षित व्याकरणशास्त्र का असाधारण पण्डित

---

१. न्यास की भूमिका, पृष्ठ २६।

२. देखो—निरुक्तटीका १०।१६। आह—तुल्यश्रुतीनां...तन्निरुच्यते। यह भामह के अलंकारशास्त्र २।१७ का वचन है। निरुक्तटीका का पाठ त्रुटित तथा अशुद्ध है।

था। वह पाणिनीय तथा इतर व्याकरण का भी अच्छा ज्ञाता था। वह अपने 'धातुप्रदीप' के अन्त में स्वयमेव लिखता है—

**'वृत्तिन्यासं समुद्दिश्य कृतवान् ग्रन्थविस्तरम्।
नाम्ना तन्त्रप्रदीपं यो विवृतास्तेन धातवः॥
आकृष्य भाष्यजलधेरथ धातुनाम-
पारायणक्षपणपाणिनिशास्त्रवेदी।
कालापचान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो,
धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय'॥**

सीरदेव ने भी अपनी परिभाषावृत्ति में लिखा है—

'तस्माद् बोद्धव्योऽयं रक्षितः, बोद्धव्याश्च विस्तरा एव रक्षित-ग्रन्था विद्यन्ते'। पृष्ठ ९५।

देश—यह सम्भवतः बंगप्रान्तीय था।[1]

काल—मैत्रेयरक्षित का काल वि०संवत् ११४०-११६५ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक ने भी मैत्रेयरक्षित का काल सन् १०७५-११२५ ई० (अर्थात् वि० सं० ११३२–११७२) माना है।[3]

तन्त्रप्रदीप के व्याख्याता

१. **नन्दनमिश्र**—नन्दनमिश्र न्यायवागीश ने तन्त्रप्रदीप की **'तन्त्रप्रदीपोद्योतन'** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। नन्दनमिश्र के पिता का नाम वाणेश्वरमिश्र है। इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय का एक हस्तलेख कलकत्ता के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो—पं० राजेन्द्रलाल संपादित पूर्वोक्त सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १५०, ग्रन्थाङ्क २०८३।

पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने जिस हस्तलेख का वर्णन किया है, उसके अन्त में पाठ है—

---

१. विशेष द्रष्टव्य इसी इतिहास का भाग २, पृष्ठ ८५ द्वि० सं०।

२. देखो—पूर्व पृष्ठ ३९६।

३. द्र०—राजशाही संस्करण, भूमिका, पृष्ठ १०।

'इति धनेश्वरमिश्रतनयश्रीनन्दनमिश्रविरचिते न्यासोद्दीपने ।'

इस पाठ के अनुसार नन्दनमिश्र के पिता का नाम धनेश्वरमिश्र है, और ग्रन्थ का नाम न्यासोद्दीपन। हां, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने यह तो स्वीकार किया है कि यह तन्त्रप्रदीप की व्याख्या है।[1]

२. **सनातन तर्काचार्य**—इसने तन्त्रप्रदीप पर **'प्रभा'** नाम्नी टीका लिखी है। प्रो० कालीचरण शास्त्री हुबली का मैत्रेयरक्षित पर लेख भारतकौमुदी भाग २ में छपा है। उसमें उन्होंने इस टीका का उल्लेख किया है।

३. **तन्त्रप्रदीपालोककार**—इसने तन्त्रप्रदीप पर **'प्रभा'** नाम्नी टीका लिखी है। प्रो० कालीचरण शास्त्री हुबली का मैत्रेयरक्षित पर लेख 'भारतकौमुदी' भाग २ में छपा है। उसमें उन्होंने इस टीका का उल्लेख किया है।

३. **तन्त्रप्रदीपालोककार**—किसी अज्ञातनामा पण्डित ने तन्त्रप्रदीप पर **'आलोक'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख भी प्रो० कालीचरण शास्त्री के उक्त लेख में है।

हम इन ग्रन्थकारों के विषय में अधिक नहीं जानते।

२—मल्लिनाथ

मल्लिनाथ ने न्यास की **'न्यासोद्योत'** नाम्नी टीका लिखी थी। आफ्रेख्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में इसका उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने स्वयं किरातार्जुनीय की टीका में 'न्यासोद्योत' के पाठ उद्धृत किये हैं।[2]

मल्लिनाथ साहित्य और व्याकरण का अच्छा पण्डित था, यह उसकी काव्यटीकाओं से भली प्रकार विदित होता है।

मल्लिनाथ का काल—मल्लिनाथ का निश्चित काल अज्ञात है। सायण ने धातुवृत्ति में 'न्यासोद्योत' के पाठ उद्धृत किये हैं।[3] सायण

---

१. भूमिका, पृष्ठ १८।

२. उक्तं च न्यासोद्योते—न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य, अपि तु गम्यमानापि २।१७, पृष्ठ २४, निर्णयसागर संस्करण।

३. पृष्ठ ३१, २१९ काशी संस्करण।

का काल संवत् १३७१-१४४४ तक माना जाता है। धातुवृत्ति का रचनाकाल सं० १४१५-१४२० के मध्य है, यह हम 'धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (२)' नामक २१ वें अध्याय में लिखेंगे। अतः मल्लिनाथ का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, इतना सामान्यतया कहा जाता सकता है।

हमें इस बात में सन्देह होगया है कि 'न्यासोद्योत' काव्यव्याख्याकार मल्लिनाथकृत ग्रन्थ है।

३—नरपति महामिश्र

नरपति महामिश्र नाम के विद्वान् ने न्यास पर एक व्याख्या लिखी है, इसका नाम **न्यासप्रकाश** है। इसके प्रारम्भिक भाग का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के संग्रह में विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र, पृष्ठ ४१।

ग्रन्थकार ने स्वग्रन्थ के प्रारम्भ में इस प्रकार लिखा है—

नरपतिकृतिरेषा कामिनीनन्दिनीव,
गुरुतमकृततोषा नाशिताशेषदोषा ।
सुललितगतिबन्धा निर्जिताशेषतेजा,
जयति जगदुपेता मालिनी जाह्नवीव ॥
शिवं प्रणम्य देवेशं तथा शिवपतिं शिवाम् ।
प्रकाशः क्रियते न्यासे महामिश्रेण धीमता ॥
विद्यापतेः प्रेरणकारणेन, कृतो मया व्याकरणप्रकाशः ।
यद्यत्र किञ्चित्स्खलनं भवेन्मे, क्षन्तव्यमीषद्गुणिनां वरैस्तत् ॥

इस उल्लेख से विदित होता है कि महामिश्र ने किसी विद्यापति नाम के विशिष्ट व्यक्ति की प्रेरणा से 'न्यासप्रकाश' लिखा था। पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य्य ने महामिश्र का काल १४००-१४५० ई० माना है।[1]

४—पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर नाम के किसी विद्वान् ने न्यास की टीका लिखी है। इसका उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं 'कातन्त्रप्रदीप' नाम्नी कातन्त्रटीका में किया है। वह लिखता है।

---

१. भूमिका, पृष्ठ १६।

'तच्चिन्त्यमिति न्यासटीकायां प्रपञ्चितमस्माभिः'।[1]

पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर का काल ईसा की १५ वीं शती माना है।[1]

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर ने भट्टि काव्य पर कातन्त्रप्रक्रियानुसारी एक व्याख्या लिखी है। उस के अन्त के लेख से विदित होता है कि इसके पिता का नाम श्रीकान्त था।[2] इस टीका का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के 'काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' नामक अध्याय में किया है।[3]

५—रत्नमति

सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व ३। १। ५ पर रत्नमति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

'न तु संशयवति पुरुष इति न्यासः। अतः सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिः। संशयकर्तरि पुरुष एवेति तद्रत्नमतिः'।[4]

इस उद्धरण में यदि तच्छब्द से न्यास ही अभिप्रेत हो, तो मानना होगा कि रत्नमति ने न्यास पर कोई ग्रन्थ लिखा था। रत्नमति के व्याकरणविषयक अनेक उद्धरण अमरटीकासर्वस्व और धातुवृत्ति आदि में उद्धृत हैं।

२. इन्दुमित्र (सं० ११५० वि० से पूर्ववर्ती)

इन्दुमित्र नाम के वैयाकरण ने काशिका की एक 'अनुन्यास' नाम्नी व्याख्या लिखी थी। इन्दुमित्र को अनेक ग्रन्थकार 'इन्दु' नाम से स्मरण करते हैं। इन्दु और उसके अनुन्यास के उद्धरण माधवीय धातुवृत्ति[5], उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति,[6] सीरदेवीय परिभाषावृत्ति[7], दुर्घटवृत्ति,[8] प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका,[9] और अमरटीका-

---

१. भूमिका पृष्ठ १८।

२. इति महामहोपाध्यायश्रीमच्छ्रीकान्तपण्डितात्मजश्रीपुण्डरीकाक्षविद्यासागरभट्टाचार्यकृतायां भट्टिटीकायां कलापदीपिकायाम्..................।

३. द्र०—भाग २, पृष्ठ ३६४ द्वि० सं०। ४. भाग ४, पृष्ठ ३।

५. पृष्ठ २०१। ६. पृष्ठ १, ५५, ८८। ७. पृष्ठ २८, ७९।

८. पृष्ठ १२०, १२३, १२६।

९. भाग १, पृष्ठ ६१०; भाग २, पृष्ठ १४५।

सर्वस्व'[1] आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन्दुमित्र ने अष्टाध्यायी पर 'इन्दुमती' नाम्नी एक वृत्ति लिखी थी, उसका उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ४७९) कर चुके हैं।

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में अनुन्यास के नाम से तन्त्रप्रदीप का उल्लेख किया है,[2] वह चिन्त्य है। सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में अनुन्यासकार और तन्त्रप्रदीपकार के शाश्वतिक विरोध का उल्लेख किया है। यथा—

'एतस्मिन् वाक्ये इन्दुमैत्रेययोः शाश्वतिको विरोधः'। पृष्ठ ७९।
'उपदेशग्रहणानुवर्तनं प्रति रक्षितानुन्यासयोर्विवाद एव'। पृष्ठ २७।

अनुन्यासकार इन्दुमित्र का काल हम पूर्व लिख चुके हैं। तदनुसार इन्दुमित्र का काल सं० ८०० से ११५० के मध्य है। देखो—पृष्ठ ४८०-४८१।

अनुन्यास-सारकार—श्रीमान शर्मा

श्रीमान शर्मा नाम के विद्वान् ने सीरदेवीय परिभाषावृत्ति की 'विजया' नाम्नी टिप्पणी में लिखा है—

अनुन्यासादिसारस्य कर्त्रा श्रीमानशर्मणा।
लक्ष्मीपतिपुत्रेण विजयेयं विनिर्मिता॥

इस से ज्ञात होता है कि श्रीमान शर्मा नें अनुन्याससार नाम का कोई ग्रन्थ रचा था। यह वारेन्द्र चम्पाहट्टि कुल का था। श्रीमान शर्मा ने अपने 'वर्षकृत्य' ग्रन्थ के अन्त में अपने को व्याकरण तर्क सुकृत (=कर्मकाण्ड) आगम और काव्यशास्त्र का इन्दु कहा है।[3]

शिष्य—श्रीमान शर्मा का एक शिष्य पद्मनाभ मिश्र है।[4]

काल—श्रीमान शर्मा का काल सं० १५००—१५५० के मध्य है।[5]

---

१. भाग १, पृष्ठ ६१०; भाग २, पृष्ठ ३३६। २. सूचीपत्र भाग ५।
३. व्याकारतर्कसुकृतागमकाव्यवारि(राशी)न्दुना परिसमाप्यत वर्षकृत्यम्।
४. अस्मत्प्रथमपरमगुरवः श्रीश्रीमानभट्टाचार्यास्तु शब्दपरो निर्देशः……।
५. श्रीमान शर्मा का उक्त वर्णन पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के निर्देशानुसार है। द्र०—भूमिका पृष्ठ १६,१७।

श्रीमान शर्मा विरचित 'विजया' नाम्नी परिभाषावृत्ति टिप्पणी का वर्णन हम 'परिभाषा-पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' प्रकरण में करेंगे ।[1]

३. महान्यासकार (सं० १२१५ वि० से पूर्ववर्ती)

किसी वैयाकरण ने काशिका पर 'महान्यास' नाम्नी टीका लिखी थी । इस के जो उद्धरण उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति, और सर्वानन्द-विरचित अमरटीकासर्वस्व में उपलब्ध होते हैं, वे निम्न हैं—

१. टित्त्वमभ्युपगम्य गौरादित्वात् सूचीति महान्यासे ।[2]

२. वह्लतेः घञ्, ततष्ठन् इति महान्यासः ।[3]

३. चुल्लीति महान्यास इति उपाध्यायसर्वस्वम् ।[4]

इन में प्रथम उद्धरण काशिका १ । २ । ५० के **'पञ्चसूचिः'** उदाहरण की व्याख्या से उद्धृत किया है । द्वितीय उद्धरण का मूल स्थान अज्ञात है । ये दोनों उद्धरण जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास में उपलब्ध नहीं होते । अतः महान्यास उस से पृथक् है । महान्यास के कर्त्ता का नाम अज्ञात है । एक महान्यास क्षपणक व्याकरण पर भी था । मैत्रेय ने तन्त्रप्रदीप ४ । १ । १५५ पर उसे उद्धृत किया है ।[5]

महान्यास का काल सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व की रचना शकाब्द १०८१ अर्थात् वि० सं० १२१६ में की थी । यह हम पूर्व लिख चुके हैं । अतः महान्यासकार का काल सं० १२१६ से प्राचीन है । महान्यास संज्ञा से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ न्यास और अनुन्यास दोनों ग्रन्थों से पीछे बना है ।

४. विद्यासागर मुनि (११९५ वि० से पूर्व)

विद्यासागर मुनि ने काशिका की **'प्रक्रियामञ्जरी'** नाम्नी टीका लिखी है । यह ग्रन्थ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के संग्रह में विद्यमान है । देखो—सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ A पृष्ठ ३५०७ ग्रन्थाङ्क २४६३ । इस का एक हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम् में भी है । देखो—सूचीपत्र भाग ३ ग्रन्थाङ्क ३३ ।

---

१. भाग २, पृष्ठ २५२, २५३ द्वि० सं०॥ २. उज्ज्वल उणादिवृत्ति, पृष्ठ १६५ । ३. अमरटीका० भाग २, पृष्ठ ३७६ । ४. अमरटीका० भाग ३, पृष्ठ २७७ । ५. देखो—धातुप्रदीप की भूमिका, पृष्ठ १ ।

इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक लेख इस प्रकार है—

'वन्दे मुनीन्द्रान् मुनिवृन्दवन्द्यान्,
श्रीमद्गुरून् श्वेतगिरीन् वरिष्ठान्।
न्यासकारवचः पद्मनिकरोद्गीर्णमम्बरे
गृह्णामि मधुप्रीतो विद्यासागरषट्पदः॥
वृत्ताविति—सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनल्लूरप्रभृतिभिर्विरचितो वृत्ति...............।'

उपरि निर्दिष्ट श्लोक से विदित होता है कि विद्यासागर के गुरु का नाम श्वेतगिरि था।

काल

पूर्व-निर्दिष्ट उद्धरण में विद्यासागर मुनि ने केवल न्यासकार का उल्लेख किया है। पदमञ्जरी अथवा उसके कर्त्ता हरदत्त का उल्लेख नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि विद्यासागर हरदत्त से पूर्ववर्ती है।

ग्रन्थ के अन्त में **'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यासागरमुनीन्द्रविरचितायां......'** पाठ उपलब्ध होता है।

५. हरदत्त मिश्र (सं० ११९५ वि०)

हरदत्त मिश्र ने काशिका की **'पदमञ्जरी'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के अवलोकन से उसके पाण्डित्य और ग्रन्थ की प्रौढ़ता स्पष्ट प्रतीत होती है। हरदत्त केवल व्याकरण का पण्डित नहीं है। इसने श्रौत गृह्य और धर्म आदि अनेक सूत्रों की व्याख्याएं लिखी हैं। हरदत्त पण्डितराज जगन्नाथ के सदृश अपनी अत्यधिक प्रशंसा करता है।[1]

परिचय—हरदत्त ने पदमञ्जरी ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

**'तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यमाचार्यमपराजितम्॥'**

---

१. प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः। हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते॥ पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६।

अर्थात्—हरदत्त के पिता का नाम 'पद्मकुमार' (पाठान्तर—रुद्रकुमार), माता का नाम 'श्री', ज्येष्ठभ्राता का नाम 'अग्निकुमार' और गुरु का नाम 'अपराजित' था।

हरदत्त ने प्रथम श्लोक में शिव को नमस्कार किया है।[1] अतः वह शैव मतानुयायी था।

देश—ग्रन्थ के आरम्भ में हरदत्त ने अपने को 'दक्षिण' देशवासी लिखा है।[2] पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ५१९ से विदित होता है कि हरदत्त द्रविड़ देशवासी था।[3] हरदत्तकृत अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वह चोलदेशान्तर्गत कावेरी नदी के किसी तटवर्ती ग्राम का निवासी ,और द्रविडभाषाभाषी था।[4]

हमारे मित्र यन्. सी. यस्. वेङ्कटाचार्य शतावधानी सिकन्दराबाद (आन्ध्र) ने १-३-६३ के पत्र में हरदत्त के देश के सम्बन्ध में जो निर्देश किये हैं, उनका संक्षेप इस प्रकार है—

क—हरदत्त मिश्र का अभिजन आन्ध्र था। उसने पदमञ्जरी में देशभाषा का अप्रामाण्य दर्शाते हुए **'कूचिमञ्चीत्यादयः'** का निर्देश किया है। 'कूचिमञ्चि' यह आन्ध्र प्रदेश के एक ग्राम का नाम है, और वह ग्राम आज भी विद्यमान है। द्रविड़देशवासी के लिए आन्ध्र प्रदेश के ग्राम का निर्देश करना असंभव है।

ख—**'तातं पद्मकुमाराख्यम्'** श्लोक में **'पद्मकुमार'** नाम **'ब्रह्मय्य'**नाम का संस्कृत रूपान्तर है।इसी प्रकार **'श्रीः'**'**लक्ष्मम्म**'[5] नाम का, **'अग्निकुमार' 'कोमरय्य'**=कोमारय्य का। नामों के संस्कृतीकरण की ऐसी रीति आन्ध्र प्रदेश में प्रचुरता से विद्यमान है।

---

१. तस्मै शिवाय परमाय दशाव्याय साम्बाय सादरमयं विहितः प्रणामः।

२. यश्चिराय हरदत्तसंज्ञया विश्रुतो दशसु दिक्षु दक्षिणः। पृष्ठ १।

३. लेट्शब्दस्तु वृत्तिकारदेशे जुगुप्सितः, यथात्र द्रविडदेशे निविशब्दः।

४. अनुष्ठानमपि चोलदेशे प्रायेणैवम्। गौतम धर्म० टीका १४।४४॥ यस्यां वसन्ति यामुपजीवन्ति। यथा तीरेण कावेरि तव। आपस्तम्बगृह्यटीका १४६॥ किलासः त्वग्दोषः तेमल् इति द्रविडभाषायां प्रसिध्दः। गौतम धर्म० टीका १।१८॥ ५. 'श्री' का पुल्लिङ्ग में 'लक्ष्मय्य' और स्त्रीलिङ्ग में 'लक्ष्मम्म' प्रयोग होता है।

ग—पदमञ्जरी में निर्दिष्ट **यथाऽत्र द्रविडदेशे निविशब्दः** उक्ति आन्ध्र प्रदेश से द्रविड़ देश में चले जाने पर ही उपपन्न हो सकती है। अन्यथा वह '**यथास्मद्देशे निविशब्दः**' इस प्रकार निर्देश करता।

घ—हरदत्त ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।११।१६) की व्याख्या में भी '**तत्र द्रविडाः कन्यामेषस्थे सवितरि**······' आदि निर्देश किया है।

तात्पर्य यह है कि हरदत्त आन्ध्र प्रदेश के **कूचिमञ्चि-अग्रहार** का रहनेवाला था। पदमञ्जरी के उत्तरार्ध की रचना के समय वह द्रविड़ देश में चला गया, और शेष जीवन उसने चोल देश में कावेरी नदी के तीर पर बिताया।

श्री विद्वद्वर पद्मनाभरावजी (आत्मकूर-आन्ध्र) ने भी ४। ११। ६३ ई० के पत्र में श्री वेङ्कटाचार्य शतावधानी जी के कथन का अनुमोदन किया है।

काल—हरदत्त ने अपने ग्रन्थ में ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं किया, जिससे उसके काल का निश्चित ज्ञान हो। कैयट के काल-निर्णय के लिये हमने कुछ ग्रन्थकारों का पौवापर्य-द्योतक चित्र दिया है।[५] उसके अनुसार हरदत्त का काल वि० सं० ११११५ के लगभग प्रतीत होता है। न्यास के संपादक ने हरदत्त और मैत्रेय दोनों का काल सन् ११०० ई० अर्थात् ११५७ वि० माना है,[६] वह ठीक नहीं। क्योंकि मैत्रेयरक्षित विरचित 'धातुप्रदीप' पृष्ठ १३१ पर धर्मकीर्त्ति-कृत 'रूपावतार' का उल्लेख है।[७] रूपावतार भाग २ पृष्ठ १५७ पर हरदत्त का मत उद्धृत है।[८] अतः हरदत्त और मैत्रेयरक्षित दोनों समकालिक नहीं हो सकते।

---

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ३९६। २. न्यास की भूमिका, पृष्ठ २६।

३. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सत्येकाच्त्वात् यङुदाहृतः—चोचूर्यत इति। देखो—रूपावतार भाग २, पृष्ठ २०६।

४. कुङ् शब्दे—अकूत इति, वेदलोकप्रयोगदर्शनाद् दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः।

डा० याकोबी ने भविष्यत्-पुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान ८७८ ई० के लगभग माना है।[1]

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१. महापदमञ्जरी—पदमञ्जरी १।१।२० पृष्ठ ७२ से विदित होता है कि हरदत्त ने एक 'महापदमञ्जरी' संज्ञक व्याख्या रची थी।[2] यह किस ग्रन्थ की टीका थी, यह अज्ञात है। सम्भव है, यह भी काशिका की व्याख्या हो। इसकी पुष्टि दैववार्तिक पुरुषकार से होती है। उसमें **णिचश्च** (१।३।७४) सूत्रस्थ एक हदरत्तीय कारिका उद्धृत की है।[3] वह पदमञ्जरी में नहीं मिलती। अतः वह महापदमञ्जरी से उद्धृत की गई होगी। महापदमञ्जरी ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है।

२. परिभाषा-प्रकरण—पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ४३७ से जाना जाता है कि हरदत्त ने 'परिभाषाप्रकरण' नाम्नी परिभाषावृत्ति लिखी थी।[4] यह ग्रन्थ भी इस समय अप्राप्य है।

इसके अतिरक्त हरदत्त मिश्र के निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. आश्वलायन गृह्य व्याख्या—अनाविला।
२. गौतम धर्मसूत्र व्याख्या—मिताक्षरा।
३. आपस्तम्व गृह्य व्याख्या—अनाकुला
४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र व्याख्या—उज्ज्वला।
५. आपस्तम्ब गृह्य मन्त्र व्याख्या।
६. आस्तम्ब परिभाषा व्याख्या।
७. एकाग्निकाण्ड व्याख्या।
८. श्रुतिसूक्तिमाला।

कई विद्वान् इन ग्रन्थों के रचयिता हरदत्त को पदमञ्जरीकार हरदत्त से भिन्न व्यक्ति मानते हैं। परन्तु इनकी पदमञ्जरी के साथ तुलना करने से इन सब का कर्त्ता एक व्यक्ति प्रतीत होता है।

---

१. जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई, भाग २३, पृष्ठ ३१।

२. भाष्यवार्तिकविरोधस्तु महापदमञ्जर्यामस्माभिः प्रपञ्चितः।

३. हरदत्तस्तु णिचश्च (१।३।७४) इत्यत्राह—'एष विधिर्न......... स्वरितेत्त्वमनार्षम्। इति। पृष्ठ १०६, १०७, हमारा संस्करण।

४. एतच्चास्माभिः परिभाषाप्रकरणाख्ये ग्रन्थे उपपादितम्।

पदमञ्जरी के व्याख्याता

१—रङ्गनाथ यज्वा (सं० १७४५ वि० के लगभग)

चोलदेश निवासी रंगनाथ यज्वा ने पदमञ्जरी की '**मञ्जरी-मकरन्द**' नाम्नी टीका लिखी है। इस टीका के कई हस्तलेख मद्रास,[1] अडियार[2] और तञ्जौर[3] के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। अडियार के सूचीपत्र में इसका नाम 'परिमल' लिखा है।

परिचय—रंगनाथ यज्वा ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'यो नारायणदीक्षितस्य नप्ता नल्लादीक्षितसूरिणस्तु पौत्रः।
श्रीनारायणदीक्षितेन्द्रपुत्रो व्याख्याम्येष रङ्गनाथयज्वा'॥

प्रथमाध्याय के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

'इति श्रीसर्ववेदवेदाङ्गज्ञसर्वक्रत्वग्निचितः [नल्लादीक्षितस्य] पौत्रेण नारायणदीक्षिताग्निचिद्द्वादशाहयाजितनयेन रङ्गनाथदीक्षितेन विरचिते मञ्जरीमकरन्दे प्रथमाध्यायस्थ प्रथमः पादः समाप्तः'।

इन आद्यन्त लेखों के अनुसार रङ्गनाथ यज्वा नल्ला दीक्षित का पौत्र, नारायण दीक्षित का पुत्र, और नारायण दीक्षित का दौहित्र है। यह कौण्डिन्य गोत्रज था।

रंगनाथ का नाना नारायण दीक्षित नल्ला दीक्षित के भ्राता धर्मराज यज्वा का शिष्य था। इसने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की टीका लिखी थी। देखो—पूर्व पृष्ठ ४२४।

रामचन्द्र अध्वरी रंगनाथ यज्वा का चचेरा भाई था। रामचन्द्र का दूसरा नाम रामभद्र भी था। रामचन्द्र के पिता का नाम यज्ञराम दीक्षित और पितामह का नाम नल्ला दीक्षित था। यह कुल श्रौत-यज्ञों के अनुष्ठान के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इनका पूर्ण वंश हम पृष्ठ ४२४ पर दे चुके हैं।

वामनाचार्य सूनु वरदराज कृत 'ऋतुवैगुण्यप्रायश्चित्त' के प्रारम्भ

---

१. सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C पृष्ठ ५७०३, ग्रन्थाङ्क ३८५१।

२. सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ७२।

३. सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ४१४६, ग्रन्थाङ्क ५४६६।

में रंगनाथ यज्वा को चोलदेशान्तर्गत 'करण्डमाणिक्य' ग्राम का रहनेवाला और पदमञ्जरी की 'मकरन्द' टीका तथा सिद्धान्तकौमुदी की 'पूर्णिमा' व्याख्या का रचयिता लिखा है।[1]

काल—तञ्जौर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में रङ्गनाथ का काल १७ वीं शताब्दी लिखा है। रङ्गनाथ यज्वा के चचेरे भाई रामचन्द्र (=रामभद्र) यज्वा विरचित उणादिवृत्ति तथा परिभाषावृत्ति की व्याख्या से विदित होता है कि यह तञ्जौर के 'शाहजी नामक राजा का समकालिक था।[2] शाहजी के राज्यकाल का प्रारम्भ सं० १७४४ से माना जाना है। अतः रंगनाथ यज्वा का काल भी विक्रम की १८ वीं शताब्दी का मध्य होगा।

२—शिवभट्ट

शिवभट्टविरचित पदमञ्जरी की '**कुङ्कुमविकास**' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में उपलब्ध होता है। हमें इसका अन्यत्र उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। इसका काल अज्ञात है।

६. रामदेव मिश्र (सं० ११९५–१३७० वि० के मध्य)

रामदेव मिश्र ने काशिका की '**वृत्तिप्रदीप**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख डी० ए० वी० कालेजान्तर्गत लालचन्द पुस्तकालय लाहौर तथा मद्रास और तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

काल—रामदेवविरचित 'वृत्तिप्रदीप' के अनेक उद्धरण माधवीया धातुवृत्ति में उपलब्ध होते हैं।[3] अतः रामदेव सायण (संवत् १३७२–१४४४) से पूर्ववर्ती है। यह इसकी उत्तर सीमा है।

---

१. येन करण्डमाणिक्यग्रामरत्ननिवासिना। रङ्गनाथाध्वरीन्द्रेण मकरन्दाभिधा कृता। व्याख्या हि पदमञ्जर्याः कौमुद्याः पूर्णिमा तथा॥ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय सूचीपत्र भाग १ खण्ड C पृष्ठ ८०८, ग्रन्थाङ्क ६३४ C।

२. भोजो राजति भोसलान्वयमणिः श्रीशाहपृथिवीपतिः। ······रामभद्रमखी तेन प्रेरितः करुणाब्धिना। तञ्जौर पुस्तकालय का सूचीपत्र, भाग १०, पृष्ठ४२३६, ग्रन्थाङ्क ५६७५।

३. देखो—पृष्ठ ३४,५० इत्यादि।

सायण 'धातुवृत्ति' पृष्ठ ५० में लिखता है—**हरदत्तानुवादी राममिश्रो ऽपि**। इससे प्रतीत होता है कि रामदेव हरदत्त का उत्तरवर्ती है।

रामदेव के विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

७. वृत्तिरत्नकार

ट्रिवेण्ड्रम के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ४ ग्रन्थाङ्क ५६ पर काशिका की '**वृत्तिरत्न**' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

८. चिकित्साकार

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में काशिका की '**चिकित्सा**' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख किया है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

इस अध्याय में हमने काशिकावृत्ति के व्याख्याता १७ वैयाकरणों का वर्णन किया है। अगले अध्याय में पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थकारों का वर्णन किया जायगा।

सोलहवां अध्याय

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार

पाणिनीय व्याकरण के अनन्तर कातन्त्र आदि अनेक लघु व्याकरण प्रक्रियाक्रमानुसार लिखे गये। इन व्याकरणों की प्रक्रियानुसार रचना होने से इनमें यह विशेषता है कि छात्र इन ग्रन्थों का जितना भाग अध्ययन करके छोड़ देता है, उसे उतने विषय का ज्ञान हो जाता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी आदि शब्दानुशासनों के सम्पूर्ण ग्रन्थ का जब तक अध्ययन न हो, तब तक किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इनमें प्रक्रियानुसार प्रकरण-रचना नहीं है। यथा अष्टाध्यायी में समास-प्रकरण द्वितीय अध्याय में है, परन्तु समासान्त-प्रत्यय पञ्चमाध्याय में लिखे हैं। समास में पूर्वोत्तर पद को निमित्त मान कर होनेवाले कार्य का विधान षष्ठाध्याय के तृतीयपाद में किया है। कुछ कार्य प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद और कुछ द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में पढ़ा है। इस प्रकार समास से सम्वन्ध रखनेवाले कार्य अनेक स्थानों में बंटे हुए हैं। अतः छात्र जब तक अष्टाध्यायी के न्यून से न्यून छः अध्याय न पढ़ले, तब तक उसे समास विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जब अल्पमेधस और लाघवप्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण को छोड़कर कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे, तब पाणिनीय वैयाकरणों ने भी उसकी रक्षा के लिए अष्टाध्यायी को प्रक्रिया-क्रम से पठन-पाठन की नई प्रणाली का आविष्कार किया। विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अनन्तर पाणिनीय व्याकरण का समस्त पठनपाठन प्रक्रियाग्रन्थानुसार होने लगा। इस कारण सूत्रपाठक्रमानुसारी पठनपाठन शनैः शनैः उच्छिन्न हो गया।

दोनों प्रणालियों से अध्ययन में गौरव-लाघव

यह सर्वसम्मत नियम है कि किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन यदि ग्रन्थकर्त्ता-विरचित क्रम से किया जावे, तो उसमें अत्यन्त सरलता

होती है। इसी नियम के अनुसार सिद्धान्तकौमुदी आदि व्युत्क्रम ग्रन्थों की अपेक्षा अष्टाध्यायी-क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करने से अल्प परिश्रम और अल्पकाल में अधिक बोध होता है। और अष्टाध्यायी के क्रम से प्राप्त हुआ बोध चिरस्थायी होता है। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं। यथा—

१—सिद्धान्तकौमुदी में **'आद् गुणः'**[1] सूत्र अच्सन्धि में व्याख्यात है। वहां इसकी वृत्ति इस प्रकार लिखी है—

'अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम्'।[2]

इस वृत्ति में **'अचि, पूर्वपरयोः, एकः, संहितायाम्'** ये पद कहां से संगृहीत हुए, इसका ज्ञान सिद्धान्तकौमुदी पढ़नेवाले छात्र को नहीं होता। अतः उसे सूत्र के साथ-साथ सूत्र से ५-६ गुनी वृत्ति भी कण्ठाग्र करनी पड़ती है। अष्टाध्यायी के क्रमानुसार अध्ययन करनेवाले छात्र को इन पदों को अनुवृत्तियों का सम्यक् बोध होता है, अतः उसे वृत्ति घोखने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसे केवल पूर्वानुवृत्त पदों के सम्बन्धमात्र का ज्ञान करना होता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के क्रमानुसार पढ़नेवाले छात्र को सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा छठा भाग अर्थात् सूत्रमात्र कण्ठाग्र करना होता है। वह इतने महान् परिश्रम और समय की व्यर्थ हानि से बच जाता है।

२—अष्टाध्यायी में **'इट्' 'द्विर्वचन' 'नुम्'** आदि सब प्रकरण सुसम्बद्ध पढ़े हैं। यदि किसी व्यक्ति को इट् वा नुम् की प्राप्ति के विषय में कहीं सन्देह उत्पन्न हो जाय, तो अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ा हुआ व्यक्ति ४, ५ मिनट में सम्पूर्ण प्रकरण का पाठ करके सन्देहमुक्त हो सकता है। परन्तु कौमुदी के क्रम से अध्ययन करनेवाला शीघ्र सन्देहमुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें ये एक प्रकरण के सूत्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं।

३—पाणिनीय व्याकरण में **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्,**[3] **असिद्धवदत्राभात्,**[4] **पूर्वत्रासिद्धम्'**[5] आदि सूत्रों के अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनमें सूत्रपाठक्रम के ज्ञान की महती आवश्यकता होती है। सूत्रपाठक्रम

---

१. अष्टा० ६।१।८७॥ २. सूत्रसंख्या ६९। ३. अष्टा० १।४।२॥
४. अष्टा० ६।४।२२॥ ५. अष्टा० ८।२।१॥

के विना जाने पूर्व, पर, आभात्, त्रिपादी, सपादसप्ताध्यायी आदि का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। और इसके विना शास्त्र का पूर्ण बोध नहीं होता। सिद्धान्तकौमुदी पढ़े हुए छात्र को सूत्रपाठ के क्रम का ज्ञान न होने से महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आता। उसे पदे-पदे महती कठिनाई का अनुभव होता है, यह हमारा अपना अनुभव है।

४—सिद्धान्तकौमुदी आदि के क्रम से पढ़े हुए छात्र को व्याकरण-शास्त्र शीघ्र विस्मृत हो जाता है। अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़नेवाले छात्र को सूत्रपाठ-क्रम और अनुवृत्ति के संस्कार के कारण वह शीघ्र विस्मृत नहीं होता।

सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया-ग्रन्थों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में अन्य अनेक दोष हैं, जिन्हें हम विस्तरभिया यहां नहीं लिखते।

यहां यह ध्यान में रखने योग्य है कि अष्टाध्यायी-क्रम से पाणिनीय व्याकरण पढ़ने के जो लाभ ऊपर दर्शाए हैं, वे उन्हें ही प्राप्त होते हैं, जिन्हें सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पूर्णतया कण्ठाग्र होती है, और महाभाष्य के अध्ययन-पर्यन्त बराबर कण्ठाग्र रहती है। जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठाग्र नहीं होती, और अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़ते हैं, वे न केवल उसके लाभ से वञ्चित रहते हैं, अपितु अधिक कठिनाई का अनुभव करते हैं। प्राचीन काल में प्रथम अष्टाध्यायी कण्ठाग्र कराने की परिपाटी थी। इत्सिंग भी अपनी भारत-यात्रा पुस्तक में इस ग्रन्थ का निर्देश करता है।

पाणिनीय-क्रम का महान् उद्धारक

विक्रम की १५ वीं शताब्दी से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रक्रियाग्रन्थों के आधार पर होने लगा. और अतिशीघ्र सम्पूर्ण भारत-वर्ष में प्रवृत्त होगया। १६ वीं शताब्दी के अनन्तर अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रायः लुप्त होगया। लगभग ४०० सौ वर्ष तक यही क्रम प्रवृत्त रहा। विक्रम की १९ वीं शताब्दी के अन्त में **महावैयाकरण दण्डी स्वामी विरजानन्द** को प्रक्रियाक्रम से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन में होनेवाली हानियों की उपज्ञा

हुई। अतः उन्होंने सिद्धान्तकौमुदी के पठन-पाठन को छोड़कर अष्टाध्यायी पढ़ाना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के अध्ययन पर विशेष बल दिया। अब अनेक पाणिनीय वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के क्रम को हानिकारक और अष्टाध्यायी के क्रम को लाभदायक मानने लगे हैं।

इस ग्रन्थ के लेखक ने पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी के क्रम से किया है। और काशी में अध्ययन करते हुए सिद्धान्तकौमुदी के पठनपाठन-क्रम का भी परिशीलन किया है, तथा अनेक छात्रों को सम्पूर्ण महाभाष्य-पर्यन्त व्याकरण पढ़ाया है। उससे हम भी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि शब्दशास्त्र के ज्ञान के लिये पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन उसकी अष्टाध्यायी के क्रम से ही करना चाहिये। काशी के व्याकरणाचार्यों को सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से व्याकरण का जितना ज्ञान १०, १२ वर्षों में होता है, उससे अधिक ज्ञान अष्टाध्यायी के क्रम से ४-५ वर्षों में हो जाता है, और वह चिरस्यायी होता है। यह हमारा बहुधा अनुभूत है। इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रिया-ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से प्रधान-प्रधान ग्रन्थकारों का वर्णन आगे किया जाता है—

१. धर्मकीर्ति (सं० ११४० वि० के लगभग)

अष्टाध्यायी पर जितने प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ लिखे गये, उनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ '**रूपावतार**' इस समय उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का लेखक बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति है। यह न्यायबिन्दु आदि के रचयिता प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति से भिन्न व्यक्ति है। धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरणों के उपयोगी सूत्रों का संकलन करके इसकी रचना की है।

धर्मकीर्ति का काल

धर्मकीर्ति ने 'रूपावतार' में ग्रन्थलेखन-काल का निर्देश नहीं किया। अतः इसका निश्चित काल अज्ञात है। धर्मकीर्ति के काल-निर्णय में जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे निम्न हैं—

१. शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति की रचना शकाब्द १०९५ तदनुसार वि० सं० १२३० में की।[1] शरणदेव ने रूपावतार[2] और धर्मकीर्ति[3] दोनों का उल्लेख दुर्घटवृत्ति में किया है।

२. हेमचन्द्र ने लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में धर्मकीर्ति और उसके रूपावतार का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया है।[4] हेमचन्द्र ने स्वीय पञ्चाङ्ग-व्याकरण की रचना वि० सं० ११९६–११९९ के मध्य की है।[5]

३. अमरटीकासर्वस्व में असकृत् उद्धृत मैत्रेयविरचित धातु-प्रदीप के पृष्ठ १३१ में नामनिर्देशपूर्वक 'रूपावतार' का उद्धरण मिलता है।[6] मैत्रेय का काल वि० सं० ११६५ के लगभग है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[7] यह धर्मकीर्ति की उत्तर सीमा है।

४. धर्मकीर्ति ने 'रूपावतार' में पदमञ्जरी का हरदत्त का उल्लेख किया है।[8] हरदत्त का काल सं० १११५ के लगभग है।

यह धर्मकीर्ति की पूर्व सीमा है। अतः 'रूपावतार' का काल इन दोनों के मध्य में वि० सं० ११४० के लगभग मानना चाहिये। हरदत्त का काल आनुमानिक है। यदि उसका काल कुछ पूर्व खिंच जाय, तो धर्मकीर्ति का काल भी कुछ पूर्व सरक जायगा।

रूपावतारसंज्ञक अन्य ग्रन्थ

जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ४५ पर 'रूपावतार' संज्ञक दो पुस्तकों का उल्लेख है। इनका ग्रन्थाङ्क ४५ और ११०९ है। सूचीपत्र में ग्रन्थाङ्क ४५ का कर्त्ता 'कृष्ण दीक्षित' लिखा है। ग्रन्थाङ्क ११०९ का हस्तलेख हिन्दी-भाषानुवाद सहित

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ४८४ टि० १। २. द्र०—पृष्ठ ७१।

३. द्र०—पृष्ठ ३०।

४. वाः वारि रूपावतारे तु धर्मकीर्तिनास्य नपुंसकत्वमुक्तम्। लिङ्गा० स्वोपज्ञविवरण, पृष्ठ ७१, पङ्क्ति १५।

५. देखिए—हैम व्याकरण प्रकरण, अ० १७।

६. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सत्येकच्त्वाद् यङ्ुदाहृतश्चोद्यंत इति। देखो—रूपावतार भाग २, पृष्ठ २०६।

७. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३९६। ८. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३९३, टि० ६।

है। इस पर सूचीपत्र के सम्पादक स्टाईन ने टिप्पणी लिखी है—यह ग्रन्थ सं० ४५ से भिन्न है। विद्वानों को इन हस्तलेखों की तुलना करनी चाहिये।

रूपावतार के टीकाकार

१—शंकरराम

शंकरराम ने रूपावतार की **'नीवि'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके तीन हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम् के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो—सूचीपत्र भाग २ ग्रन्थाङ्क ६२; भाग ४ ग्रन्थाङ्क ४६; भाग ६ ग्रन्थाङ्क ३१।

शंकरराम का देश और वृत्त अज्ञात है।

किसी शंकर के मत नारायण भट्ट ने अपने 'प्रक्रियासर्वस्व' में बहुधा उद्धृत किए हैं।[1] यदि यह शंकर 'रूपावतार' का टीकाकार ही हो, तो इसका काल विक्रम की १७ वीं शती से पूर्व है, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

२—धातुप्रत्ययपञ्जिका-टीकाकार

भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान पूना के व्याकरण विभागीय सूचीपत्र नं० ६१, १२०A, १८८०-८१ पर 'धातुप्रत्ययपञ्जिकाटीका' नाम्नी रूपावतार व्याख्या का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। ग्रन्थकर्त्ता का नाम वा काल अज्ञात है।

३—अज्ञातकर्तृक

भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान पूना के व्याकरण विभागीय सूचीपत्र में सं० ६० पर 'रूपावतार' की एक अज्ञातकर्तृक टीका निर्दिष्ट है। इसमें शंकर कृत नीवि टीका का खण्डन मिलता है। अतः यह उससे परभावी, है इतना स्पष्ट है।

४—अज्ञातनामा

मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सन् १९३७ के छपे हुए सूचीपत्र पृष्ठ १०३९८ पर 'रूपावतार' के व्याख्याग्रन्थ का उल्लेख है।

---

१. प्रक्रियासर्वस्व तद्धित भाग, मद्रास संस्करण, सूत्र संख्या ५६, ६३, १०२०, ११०४॥

इसका ग्रन्थाङ्क १५६१३ है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। यह बड़े आकार के ५२४ पृष्ठों पर लिखा हुआ है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। अत एव उसके काल का निर्णय भी दुष्कर है।

२. प्रक्रियारत्नकार (सं० १३०० वि० से पूर्व)

सायण ने अपनी धातुवृत्ति में 'प्रक्रियारत्न' नामक ग्रन्थ को बहुधा उद्धृत किया है।[1] उन उद्धरणों के देखने से विदित होता है कि यह पाणिनीय सूत्रों पर प्रक्रियानुसारी व्याख्यान-ग्रन्थ है। 'दैवम्' की कृष्णलीलाशुक मुनि विरचित पुरुषकार व्याख्या में भी 'प्रक्रियारत्न' उद्धृत है।[2]

ग्रन्थकार का नाम और देश काल आदि अज्ञात है। 'पुरुषकार' में उद्धृत होने से इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थकार सं० १३०० से पूर्वभावी है। कृष्णलीलाशुक मुनि का काल विक्रम संवत् १२५०–१३५० के मध्य है।[3]

कृष्णलीलाशुक मुनि ने प्रक्रियारत्न को जिस ढंग से स्मरण किया है, उससे हमें सन्देह होता है कि इसका लेखक कृष्णलीलाशुक मुनि है।

वोपदेव के गुरु धनेश्वर कृत **प्रक्रियारत्नमणि** ग्रन्थ का उल्लेख पूर्व पृष्ठ ४०५ पर कर चुके हैं।

३. विमल सरस्वती (सं० १४०० वि० से पूर्व)

विमल सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की प्रयोगानुसारी **'रूपमाला'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस ग्रन्थ में समस्त पाणिनीय सूत्र व्याख्यात नहीं हैं। रूपमाला का काल सं० १४०० से प्राचीन माना जाता है।

४. रामचन्द्र (सं० १४५० वि० के लगभग)

रामचन्द्राचार्य ने पाणिनीय व्याकरण पर **'प्रक्रियाकौमुदी'** संज्ञक ग्रन्थ रचा है। यह धर्मकीर्तिविरचित रूपावतार से विस्तृत है।

---

१. धातुवृत्ति, काशी संस्करण, पृष्ठ ३१, ४१६ इत्यादि।

२. प्रपञ्चितं चैतत् प्रक्रियारत्ने। पृष्ठ ११०। हमारा संस्करण पृष्ठ १०२।

३. द्र०—दैव पुरुषकार का हमारा उपोद्घात पृष्ठ ६।

परन्तु इसमें भी अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का निर्देश नहीं है। पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। अतः ग्रन्थकर्त्ता ने सरल ढंग और सरल शब्दों में मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन प्रक्रियाज्ञान कराना है।

परिचय—रामचन्द्राचार्य का वंश शेषवंश कहाता है। व्याकरण-ज्ञान के लिये शेषवंश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस वंश के अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे हैं। रामचन्द्र के पिता का नाम 'कृष्णाचार्य' था। रामचन्द्र के पुत्र 'नृसिंह' ने धर्मतत्त्वालोक के आरम्भ में रामचन्द्र को आठ व्याकरणों का ज्ञाता, और साहित्यरत्नाकर लिखा है।[1] रामचन्द्र ने अपने पिता कृष्णाचार्य और ताऊ गोपालाचार्य से विद्याध्ययन किया था। रामचन्द्र के ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र शेष कृष्ण रामचन्द्राचार्य का शिष्य था। रामचन्द्र का वंशवृक्ष हम पूर्व दे चुके हैं।[2]

काल—रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के निर्माणकाल का उल्लेख नहीं किया। रामचन्द्र के पोत्र विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसाद नाम्नी व्याख्या लिखी है, परन्तु उसने भी ग्रन्थरचना-काल का संकेत नहीं किया। रामचन्द्र के प्रपौत्र अर्थात् विट्ठल के पुत्र के हाथ का लिखा हुआ प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का एक हस्तलेख पूना के डक्कन कालेज के पुस्तकालय में विद्यमान है। इसके अन्त में ग्रन्थ लेखनकाल सं० १५८३ लिखा है।[3] प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का सं० १५६० का हस्तलेख बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में वर्तमान है।[4] इससे भी पुराना सं० १५३६ का लिखा हुआ प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसके अन्त का लेख इस प्रकार है—

'सं० १५३६ वर्षे माघवदि एकादशी रवौ श्रीमदानन्दपुर-

---

१. देखो—इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह का सूचीपत्र ग्रन्थाङ्क १५६६।

२. देखो—पूर्व पृष्ठ ४०७।

३. देखो—प्र० कौ० के हस्तलेखों का विवरण, पृ० २१।

४. देखो—प्र० कौ० के हस्तलेखों का विवरण, पृष्ठ १७।

रची थी। उसकी रचना संवत् १७१३ वैशाख शुक्ल पक्ष १३ शनिवार को समाप्त हुई थी। दाराशिकोह ने रामानन्द की विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें 'विविधविद्याचमत्कारपारङ्गत' की उपाधि से भूषित किया था।

अन्य ग्रन्थ—रामानन्द ने संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। जिनमें से लगभग ५० ग्रन्थ समग्र तथा खण्डित उपलब्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदी की टीका के अतिरिक्त रामानन्दविरचित लिङ्गानुशासन की एक अपूर्ण टीका भी उपलब्ध होती है। टीका पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर है।[1]

५—रामकृष्ण भट्ट (सं० १७१५ वि०)

रामकृष्ण भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी की '**रत्नाकर**' नाम्नी टीका लिखी है। इसके पिता का नाम तिरुमल भट्ट, और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि भट्ट था। इसके हस्तलेख तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय और जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। जम्मू के एक हस्तलेख का लेखनकाल सं० १७४४ है। देखो—सूचीपत्र पृष्ठ ५०।

भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में इस ग्रन्थ के चार हस्तलेख हैं। देखो—व्याकरणविषयक सूचीपत्र नं० १७०, १७१, १७२, १७३। नं० १७० के हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

'इति श्रीमद्वेङ्कटाद्रिभट्टात्मजतिरुमलभट्टात्मजरामकृष्णभट्टकर्तृके कौमुदी-व्याख्याने सिद्धान्तरत्नाकरे पूर्वार्धम्।

चन्द्रर्षिभूमीषु (१७१५) वत्सरे कौवेरदिग्भाजि रवौ मधौ सिते।
श्रीरामकृष्णः प्रतिपत्तिथौ बुधे रत्नाकरं पूर्णमचीकरद्वरम्॥

इस निर्देश के अनुसार रामकृष्ण भट्ट का काल सामान्यतया सं० १६९० से १७५० तक होना चाहिये।

६—नागेश भट्ट (सं० १७३०–१८१० वि० के मध्य)

नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी की दो व्याख्याएं लिखीं हैं।

---

१. रामानन्द के लिये देखो—आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस १२ वां अधिवेशन सन् १९४४, भाग ४, पृष्ठ ४७-५८।

इनके नाम हैं **बृहच्छब्देन्दुशेखर** और **लघुशब्देन्दुशेखर**। लघुशब्देन्दु-शेखर पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। बृहच्छब्देन्दुशेखर अभी तक अमुद्रित है।[1] इसके हस्तलेख भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। शब्देन्दुशेखर की रचना महाभाष्यप्रदीपोद्योत से पूर्व हुई थी।[2]

नागेश भट्ट के काल आदि का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं।[3]

७—रङ्गनाथ यज्वा (सं० १७४५ वि०)

हमने पूर्व पृष्ठ ५१६ टि० १ पर वामनाचार्यसूनु वरदराजकृत ऋतुवैगुण्यप्रायश्चित्त के श्लोक उद्धृत किये हैं। उनसे जाना जाता है कि रङ्गनाथ यज्वा ने सिद्धान्तकौमुदी की **'पूर्णिमा'** नाम्नी टीका लिखी थी।

रङ्गनाथ यज्वा के वंश और काल का परिचय हम पूर्व पृष्ठ ५१८–५१६ पर दे चुके हैं।

८—वासुदेव वाजपेयी (सं० १७४०-१८०० वि०)

वासुदेव ने सिद्धान्तकौमुदी की **'बालमनोरमा'** नाम्नी टीका लिखी है। यह सरल होने से छात्रों के लिये वस्तुतः बहुत उपयोगी है। बालमनोरमा के अन्तिम वचन से ज्ञात होता है कि इसके पिता का नाम महादेव वाजपेयी, माता का नाम अन्नपूर्णा, और गुरु का नाम विश्वेश्वर वाजपेयी था। यह चोल (तञ्जौर) देश के भोसल-वंशीय शाहजी, शरभजी, तुक्कोजी नामक तीन राजाओं के मन्त्री विद्वान् सार्वभौम आनन्दराय का अध्वर्यु था।

शाहजी, शरभजी और तुक्कोजी राजाओं का राज्यकाल सन् १६८७–१७३८ अर्थात् वि० सं० १७४४–१७९३ तक माना जाता है। बालमनोरमा के अन्तिम लेख में तुक्कोजी राजा के नाम का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि 'बालमनोरमा' की रचना

---

१. इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (सं० २००७) तक। अब यह ग्रन्थ काशी से ३ भागों में छप गया है।

२. शब्देन्दुशेखरे स्पष्टं निरूपितमस्माभिः। महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।२२ पृष्ठ ३६८, कालम २।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४२५-४२७।

तुक्कोजी के काल में हुई थी। अतः बालमनोरमाकार का काल सं० १७४०-१८०० के मध्य मानना चाहिये।

९—कृष्णमित्र

कृष्णमित्र ने सिद्धान्तकौमुदी पर **'रत्नार्णव'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख आफ्रेख्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में किया है। कृष्णमित्र ने शब्दकौस्तुभ की 'भावप्रदीप' नाम्नी टीका लिखी है। इसका वर्णन हम पूर्व पृष्ठ ४८९पर कर चुके हैं। इसने सांख्य पर तत्त्वमीमांसा नामक एक निबन्ध भी लिखा है। देखो—हमारे मित्र माननीय श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री विरचित 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ३१८।

१०—रामचन्द्र

शेषवंशीय रामचन्द्र ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वरप्रक्रिया-अंश की व्याख्या लिखी है। रामचन्द्र के पिता का नाम 'नागोजी' था। जम्मू के रघुनाथ मन्दिरस्थ पुस्तकालय के हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

'इति शेषकुलोत्पन्नेन नागोजीपण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्रपण्डितेन विरचिता स्वरप्रक्रियाव्याख्या समाप्ता । सं० १८४७ वैशाखमासे शुक्लपक्षे ४ वार शनिश्चर।'

एक शेष रामचन्द्र शेष नारायण का शिष्य है, यह हम पूर्व पृष्ठ ४०७, ४०९ पर लिख चुके हैं।

११—तिरुमल द्वादशाहयाजी

तिरुमल द्वादशाहयाजी ने कौमुदी की **'सुमनोरमा'** टीका लिखी है। तिरुमल के पिता का नाम वेङ्कट है। हम संख्या **५** पर रामकृष्णविरचित रत्नाकर व्याख्या का उल्लेख कर चुके हैं। रामकृष्ण के पिता का नाम तिरुमल और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि है। यदि रामकृष्ण का पिता यही तिरुमल यज्वा हो, तो इसका काल संवत् १७०० के लगभग मानना होगा।

सुमनोरमा का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में है। देखो—सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ४२११, ग्रन्थाङ्क ५६४९।

१२—तोप्पल दीक्षितकृत — प्रकाश

१३—अज्ञातकर्तृक — लघुमनोरमा
१४— „ „ — शब्दसागर
१५— „ „ — शब्दरसार्णव
१६— „ „ — सुधाञ्जन

सिद्धान्तकौमुदी की इन टीकाओं के हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो—सूचीपत्र भाग १०, ग्रन्थाङ्क ५६६०-५६६३, ५६६६।

१७. लक्ष्मी नृसिह —विलास

इस टीका का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में है। देखो—सूचीपत्र भाग २६, पृष्ठ १०५७५, ग्रन्थाङ्क १६२३४।

१८. शिवरामचन्द्र सरस्वती — रत्नाकर
१६. इन्द्रदत्तोपाध्याय — फक्किकाप्रकाश
२०. सारस्वत व्यूढमिश्र — बालबोध
२१. वल्लभ — मानसरञ्जनी

इन टीकाओं का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में किया है। संख्या १८ का शिवरामचन्द्र सरस्वती शिवरामेन्द्र सरस्वती ही है। इसने महाभाष्य की भी रत्नाकर नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ४१४ पर कर चुके हैं।

सिद्धान्तकौमुदी के सम्प्रदाय में प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखर और बृहच्छब्देन्दुशेखर आदि पर अनेक टीका-टिप्पणियां लिखी गई हैं। विस्तरभिया हमने उन सबका निर्देश यहां नहीं किया।

प्रौढमनोरमा के खण्डनकर्ता

अनेक वैयाकरणों ने भट्टोजि दीक्षित कृत प्रौढमनोरमा के खण्डन में ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से कुछ एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिताओं का उल्लेख हम नीचे करते हैं—

१. शेषवीरेश्वर-पुत्र (सं० १५७५ वि० के लगभग)

वीरेश्वर अपर नाम रामेश्वर के पुत्र ने 'प्रौढमनोरमा' के खण्डन पर एक ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रौढमनोरमाखण्डन' में किया है। वह लिखता है—

'शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णाख्यपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु च पारमेश्वरं पदं प्रयातेषु कलिकालवशंवदी भवन्तस्तत्र भवद्भिरुल्लासितं प्रक्रिया-प्रकाशमाशयानवबोधनिबन्धनैर्दूषणैः स्वयंनिर्मितायां मनोरमाया-माकुल्यमकार्षुः। सा च प्रक्रियाप्रकाशकृतां पौत्रैरखिलशास्त्रमहार्णवमन्थाचलायमानमानसानामस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां तनयैर्दूषिता अपि ।'[1]

शेष वीरेश्वर के पुत्र और उसके ग्रन्थ का नाम अज्ञात है। उसने प्रौढमनोरमा के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखा था, वह सम्प्रति अप्राप्य है।

२—चक्रपाणिदत्त (सं० १५००-१५५० वि०)

चक्रपाणिदत्त ने भट्टोजि दीक्षित विरचित प्रौढमनोरमा के खण्डन में **'परमतखण्डनम्'** नामक एक ग्रन्थ लिखा है। चक्रपाणिदत्तकृत प्रौढमनोरमा-खण्डन इस समय सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इसका कुछ अंश लाजरस कम्पनी बनारस से प्रकाशित हुआ है। इसके दो हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में हैं। देखो—व्याकरणविषयक सूचीपत्र नं० १४६, १५०। इसके आरम्भ में निम्न श्लोक मिलता है—

'दरितरिपुवक्षोऽन्त्रं सचक्रपाणिं नरहरिं नत्वा।
विद्वन्मण्डलहृदयं तत् परमतखण्डनं तनुते'॥

चक्रपाणिदत्त शेष वीरेश्वर का शिष्य है। इसके विषय में हम पूर्व पृष्ठ ५३२ पर लिख चुके हैं। चक्रपाणिदत्तकृत प्रक्रियाकौमुदी टीका का वर्णन पूर्व पृष्ठ ५३२ पर हो चुका है।

चक्रपाणिदत्त के खण्डन का उद्धार भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा की शब्दरत्नव्याख्या में किया है।

३– पण्डितराज जगन्नाथ (सं० १६१७-१७३३ वि० ?)

पण्डितराज जगन्नाथ ने भट्टोजि दीक्षितकृत प्रौढमनोरमा के खण्डन

---

१. चौखम्बा सीरीज काशी से सं० १९६१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में मुद्रित मनोरमाखण्डन, पृष्ठ १।

में **'कुचमर्दन'** नामक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ सम्प्रति सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इसका कुछ अंश चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में छपा है। पण्डितराज ने भट्टोजि दीक्षित कृत 'शब्दकौस्तुभ' के खण्डन में भी एक ग्रन्थ लिखा था, उसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ४८९ पर चुके हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ४८९, ४९० पर लिख चुके हैं।

६. नारायण भट्ट (सं० १६१७-१७३३ वि०)

केरल देश निवासी नारायण भट्ट ने **'प्रक्रियासर्वस्व'** नामका प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में २० प्रकरण हैं।[1] प्रक्रियासर्वस्व के अवलोकन से विदित होता है कि नारायण भट्ट ने किसी देवनारायण नाम के भूपति की आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा था।[2] प्रक्रियासर्वस्वके टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है कि नारायण भट्ट ने यह ग्रन्थ ६० दिनों में रचा था।[3] इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र यथास्थान सन्निविष्ट हैं। प्रकरणों का विभाग और क्रम सिद्धान्तकौमुदी से भिन्न है। ग्रन्थकार ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और उसकी वृत्ति से महती सहायता ली है।

ग्रन्थकार का परिचय—नारायण भट्ट विरचित **'अपाणिनीय प्रामाणिकता'** के सम्पादक ई० बी० रामशर्मा ने लिखा है कि नारायण भट्ट केरल देशान्तर्गत 'नावा' क्षेत्र के समीप 'निला' नदी तीरवर्त्ती 'मेल्युत्तूर' ग्राम में उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम 'मातृदत्त' था। नारायण ने मीमांसक-मूर्धन्य माधवाचार्य से वेद, पिता से पूर्वमीमांसा, दामोदर से तर्कशास्त्र, और अच्युत से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।

---

१. इह संज्ञा परिभाषा सन्धिः कृत्तद्धिताः समासाश्च। स्त्रीप्रत्ययाः सुबर्थाः सुपां विधिश्चात्मनेपदविभागः तिङापि च लार्थविशेषाः सन्नन्तयङ्यङ्लुकश्च सुब्धातुः। न्याय्यो धातुरुणादिश्छान्दसमिति सन्तु विंशतिखण्डाः॥ ७॥ भाग १, पृष्ठ ३।

२. प्रारम्भिक श्लोक २, ४, ८।

३. ....प्रक्रियासर्वस्वं स मनीषिणामचरमः षष्टिदिनैर्निर्ममे। भूमिका, भाग २, पृष्ठ २ पर उद्धृत।

नारायण भट्ट का काल—पण्डित ई० बी० रामशर्मा ने 'अपाणिनीयप्रामाणिकता' का रचनाकाल सन् १६१८-६१ ई० माना है। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्बशास्त्री ने नारायण का काल सन् १५६०-१६७६ अर्थात् वि० सं० १६१७-१७३३ तक माना है।[1] प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है—'भट्टोजि दीक्षित ने नारायण से मिलने के लिये केरल की ओर प्रस्थान किया, परन्तु मार्ग में नारायण की मृत्यु का समाचार सुनकर वापस लौट गया'।[2] यदि यह लेख प्रामाणिक माना जाय, तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी मानना होगा। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि नारायण ने अपने ग्रन्थ में भट्टोजि के ग्रन्थ से कहीं सहायता नहीं ली। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक ने लिखा है कि कई लोग पूर्वोक्त घटना का विपरीत वर्णन करते हैं। अर्थात् नारायण भट्ट भट्टोजि से मिलने के लिये केरल से चला, परन्तु मार्ग में भट्टोजि की से मृत्यु सुनकर वापस लौट गया।[2] नारायण का गुरु मीमांसक-मूर्धन्य माधवाचार्य यदि सायण का ज्येष्ठ भ्राता हो, तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी मानना होगा। अतः नारायण भट्ट का काल विमर्शार्ह है।

अन्य ग्रन्थ

नारायण भट्ट ने 'क्रियाक्रम, चमत्कारचिन्तामणि, धातुकाव्य, और अपाणिनीयप्रामाणिकता' आदि ३८ ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हैं। धातुकाव्य का वर्णन 'काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' के प्रकरण में किया जायगा।

अपाणिनीय-प्रामाणिकता—इसका वर्णन पूर्व पृष्ठ ४३ तथा १५८ पर हो चुका है।

प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार

'प्रक्रियासर्वस्व' के सम्पादक साम्ब शास्त्री ने तीन टीकाकारों का उल्लेख किया है। एक टीका केरल-कालिदास केरल वर्मदेव ने लिखी है। केरल वर्मदेव का काल सं० १९०१–१९७१ तक माना जाता

१. अंग्रेजी भूमिका भाग १, पृष्ठ ३।
२. देखो—भूमिका भाग २, पृष्ठ २ में उद्धृत श्लोक।

है।[1] दो टीकाकारों का नाम अज्ञात है। ट्रिवेण्ड्रम् से प्रकाशित प्रक्रियासर्वस्व के प्रथम भाग में 'प्रकाशिका' व्याख्या छपी है।[2]

अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी आदि अनेक छोटे-मोटे प्रक्रियाग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण पर लिखे गये। ये सब अत्यन्त साधारण और अर्वाचीन हैं। अतः इनका उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं किया गया।

इस अध्याय में ६ प्रसिद्ध प्रक्रियाग्रन्थों के रचयिता और उनके टीकाकारों का वर्णन किया है। इस प्रकार अध्याय ५-१६ तक १२ अध्यायों में पाणिनि और उसकी अष्टाध्यायी के लगभग १७५ व्याख्याकार वैयाकरणों का संक्षेप से वर्णन किया है।

अब अगले अध्याय में पाणिनि से अर्वाचीन प्रधान वैयाकरणों का वर्णन किया जायगा।

---

१. द्वितीयभाग की भूमिका, पृष्ठ १। २. भूमिका, भाग १, पृष्ठ ४।

सत्रहवां अध्याय

आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण

आचार्य पाणिनि के अनन्तर अनेक वैयाकरणों ने व्याकरण-शास्त्रों की रचनाएं कीं। इन सब व्याकरणों का मुख्य उपजीव्य पाणिनीय व्याकरण है। केवल **कातन्त्र** एक ऐसा व्याकरण है, जिसका आधार कोई अन्य प्राचीन व्याकरण है।[1] पाणिनि से अर्वाचीन समस्त उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में केवल लौकिक संस्कृत के शब्दों का अन्वाख्यान है। अर्वाचीन वैयाकरणों में अधोलिखित ग्रन्थकार मुख्य हैं—

१—कातन्त्रकार	**६—बुद्धिसागर**
२—चन्द्रगोमी	**१०—भद्रेश्वर सूरि**
३—क्षपणक	**११—हेमचन्द्र**
४—देवनन्दी	**१२—क्रमदीश्वर**
५—वामन	**१३—सारस्वत-व्याकरणकार**
६—पाल्यकीर्ति	**१४—रामाश्रम सिद्धान्तचन्द्रिकाकार**
७—शिवस्वामी	**१५—वोपदेव**
८—भोजदेव	**१६—पद्मनाभ**

इनके अतिरिक्त द्रुतबोध, शीघ्रबोध, शब्दबोध, हरिनामामृत आदि व्याकरणों के रचयिता अनेक वैयाकरण हुए हैं, परन्तु ये सब अत्यन्त अर्वाचीन हैं। इनके ग्रन्थ भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, और इन ग्रन्थों का प्रचार भी केवल बंगाल प्रान्त तक ही सीमित है। इसलिये इन वैयाकरणों का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ४४८ पर पाणिनि-परवर्ती निम्न वैयाकरणों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है—

---

१. हमारे मत में कातन्त्र का उपजीव्य काशकृत्स्न तन्त्र है।

व्याघ्रपाद् द्वितीय कृत	दशपादी वैयाघ्रपद्य व्याकरण
यशोभद्र ,,	जैन व्याकरण
आर्यवज्रस्वामी ,,	,, ,,
भूतिबलि ,,	,, ,,
इन्द्रगोमी (बौद्ध) कृत	ऐन्द्र व्याकरण
वाग्भट्ट ,,	,,
श्रीदत्त ,,	जैन ,,
चन्द्रकीर्त्ति ,,	समन्तभद्र ,,
प्रभाचन्द्र ,,	जैन ,,
अमरसिंह ,,	बौद्ध व्याकरण
? ,,	अष्टधातु ,,
सिद्धनन्दि ,,	जैन ,,
भद्रेश्वर सूरि ,,	दीपक ,,
श्रुतपाल ,,	,,
शिवस्वामी वा शिवयोगी ,,	,,
बुद्धिसागर ,,	बुद्धिसागर ,,
केशव ,,	केशवी ,,
वाग्भट्ट (द्वितीय) ,,	,,
विनतीकीर्ति ,,	,,
विद्यानन्द ,,	विद्यानन्द ,,
	यम ,,
	वरुण ,,
	सौम्य ,,

इन ग्रन्थकारों का उल्लेख करके पं० गुरुपद हालदार ने अपने इतिहास के पृष्ठ ४४६ पर लिखा है कि डा० कीलहार्न और पं० सूर्यकान्त के मत में जैन नाम कल्पित है। हालदार महोदय इन्हें कल्पित नहीं मानते।

प्राग्देवनन्दी—जैनव्याकरणकार

जैनेन्द्र व्याकरण के प्रवक्ता देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद ने अपने व्याकरण में **भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन**

और **समन्तभद्र** के मत उद्धृत किये हैं ।[1] पाल्यकीर्ति ने **इन्द्र सिद्ध-नन्दी** और **आर्यवज्र** के मतों का भी उल्लेख किया है ।[2]

श्री नाथूराम प्रेमी और प्राग्देवनन्दी—व्याकरणकार

पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है—'**जहां तक हम जानते हैं, इन छः (भूतबलि, श्री-दत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र) आचार्यों में से किसी का भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके ग्रन्थों में कुछ भिन्न तरह के शब्द प्रयोग किये गये होंगे, और उन्हीं को व्याकरण सिद्ध करने के लिये ये सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटायन ने भी इसी का अनुकरण करके तीन आचार्यों के मत दिये हैं।**'[3]

हमारा मत

प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वैयाकरण-परम्परा के अनुशीलन से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि आचार्य पूज्यपाद और पाल्यकीर्ति ने जिन-जिन आचार्यों के मत स्वीय व्याकरणों में उद्धृत किये हैं, उन्होंने स्व-स्व व्याकरणशास्त्रों का प्रवचन अवश्य किया था।

श्री प्रेमीजी ने इनके विषय में जिस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य और तदनुयायी कतिपय भारतीय व्यक्ति पाणिनि द्वारा स्मृत शाकल्य आदि वैयाकरणों के लिये भी व्यवहार करते हैं। अर्थात् पाणिनि द्वारा स्मृत शाकल्य आदि आचार्यों ने भी कोई स्वीय व्याकरण-ग्रन्थ नहीं लिखे थे, ऐसा कहते हैं। पाणिनि द्वारा स्मृत कई आचार्यों के प्राचीन व्याकरणसूत्रों के उपलब्ध हो जाने से जैसे पाश्चात्य मत निर्मूल हो गया, और उन आचार्यों का व्याकरणप्रवक्तृत्व सिद्ध हो गया, उसी प्रकार कालान्तर

---

१. यथाक्रम—राद् भूतबलेः । ३ । ४ । ८३ ॥ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् । १ । ४ । ३४ ॥ कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य । रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य । ४ । ३ । १८० ॥ वेत्तेः सिद्धसेनस्य । ५ । १ । ७ ॥ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य । ५ । ४ । १४० ॥

२. यथाक्रम—जराया ङस् इन्द्रस्याचि १ । २ । ३७ ॥ शेषात् सिद्ध-नन्दिनः २ । १ । २२९ ॥ ततः प्राग् आर्यवज्रस्य १ । २ । १३ ॥

३. जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृष्ठ १२०; द्वि० सं० पृ० ४७ ।

में प्राग्देवनन्दी जैन वैयाकरणों का व्याकरणप्रवक्तृत्व भी अवश्य सिद्ध होगा। देवनन्दी और पाल्यकीर्ति जैसे प्रामाणिक आचार्य मिथ्या लिखेंगे, यह कल्पना करना भी पाप है। अतः इनका अन्वेषण आवश्यक है।

विक्रम की १७ वीं शताब्दी में विद्यमान कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय का सूचीपत्र गायकवाड़ संस्कृत सीरीज बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। उसमें निम्नलिखित व्याकरणों का उल्लेख मिलता है—

हेमचन्द्र	व्याकरण	यम	व्याकरण
सारस्वत	,,	वायु	,,
कालाप	,,	वरुण	,,
शाकटायन	,,	सौम्य	,,
शाकल्य	,,	वैष्णव	,,
ऐन्द्र	,,	रुद्र	,,
चान्द्र	,,	कौमार	,,
दौर्ग	,,	बालभाषा	,,
ब्रह्म	,,	शब्दतर्क	,,

इनमें शाकल्य और ऐन्द्र ये दो नाम प्राचीन हैं। परन्तु सूचीपत्र में निर्दिष्ट ग्रन्थ प्राचीन हैं वा अर्वाचीन, यह अज्ञात है।

अब हम पूर्वनिर्दिष्ट १६ सोलह मुख्य वैयाकरणों का क्रमशः वर्णन करते हैं—

१. कातन्त्रकार (२००० वि० पू०)

व्याकरण के वाङ्मय में 'कातन्त्र व्याकरण' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके 'कलापक' और 'कौमार' नामान्तर हैं। अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से भी इसका व्यवहार करते हैं।[1] इस व्याकरण में दो भाग हैं। एक—आख्यातान्त, दूसरा—कृदन्त। दोनों भाग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रचनाएं हैं।

कातन्त्र कलापक और कौमार शब्दों का अर्थ

कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार दुर्गसिंह आदि वैयाकरण कातन्त्र शब्द

---

१. कालापिकास्ततोऽन्यत्रापि पठन्ति···। भट्टि जयमङ्गला टीका ३।९।

का अर्थ 'लघुतन्त्र' करते हैं। उनके मतानुसार ईषत्=लघु अर्थवाची 'कु' शब्द को 'का' आदेश होता है।

कलापक—'कलाप' शब्द से ह्रस्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर 'कलापक' शब्द बनता है। कातन्त्र व्याकरण काशकृत्स्न तन्त्र का संक्षेप है, यह हम आगे प्रमाणित करेंगे। काशकृत्स्न तन्त्र का नाम 'शब्द-कलाप' है, यह पूर्व लिखा जा चुका है।[1]

अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय मानते हैं। वे इसका वास्तविक नाम 'कलाप' समझते हैं। कातन्त्रीय वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि महादेव के पुत्र कुमार=कार्तिकेय ने सर्व प्रथम इसे मयूर की पूंछ पर लिखा था, अत एव इसका नाम कलाप हुआ। कई वैयाकरण 'कलापक' शब्द को स्वतन्त्र मानते हैं। वे इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दर्शाते हैं

आचार्य हेमचन्द्र अपने 'धातुपारायण' में लिखता है–'**बृहत्तन्त्रात् कलाः [आ] पिबतीति**'।[2]

पुनः उणादिवृत्ति में लिखता है—'**आदिग्रहणात् बृहत्तन्त्रात् कला आपिबन्तीति कलापकाः शास्त्राणि**'।[3]

हेमचन्द्र से प्राचीन अज्ञातनामा दशपादी उणादि-वृत्तिकार लिखता है–'**सपूर्वस्यापि पा पाने भौ०, आङ्पूर्वः कलाशब्दपूर्वः। बृहत्तन्त्रात्, कलाः [आ] पिबतीति कलापकः शास्त्रम्**'।[4]

हेमचन्द्र और दशपादी उणादिवृत्तिकार की व्युत्पत्तियों से इतना स्पष्ट है कि किसी बड़े ग्रन्थ से संक्षेप होने के कारण कातन्त्र का नाम 'कलापक' हुआ है। वह महातन्त्र काशकृत्स्न तन्त्र था।

कौमार—वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि कुमार कार्तिकेय की आज्ञा से शर्ववर्मा ने इस शास्त्र की रचना की है।[5] हमारा विचार है कि कुमारों=बालकों को व्याकरण का साधारण ज्ञान कराने के लिये प्रारम्भ में यह ग्रन्थ पढ़ाया जाता था। अत एव इसका नाम

---

१. देखो–पूर्व पृष्ठ ११५। २. पृष्ठ ६। ३. पृष्ठ १०।
४. ३।५, पृष्ठ १३०। ५. तत्र भगवत्कुमार-प्रणीत-सूत्रानन्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति। वृत्तिटीका, परिशिष्ट पृष्ठ ४६९।

'कुमाराणामिदं कौमारम्' हुआ। मारवाड़ देश में अभी[1] तक देशी पाठशालाओं में बालकों को ५ पांचों सिधी पाटियां पढ़ाई जाती हैं। ये पांच पाटियां कातन्त्र व्याकरण के प्रारम्भिक पांच पदों का ही विकृत रूप हैं। हम दोनों की तुलना के लिये प्रथम पाटी और कातन्त्र के प्रथम पाद के सूत्रों का उल्लेख करते हैं—

प्रथम सिधी पाटी	कातन्त्र का प्रथम पाद
सिधो बरणा समामुनायाः	सिद्धो वर्णसमाम्नायः।
चत्रुचत्रुदासाः दऊसवाराः	तत्र चतुर्दशादौ स्वराः।
दसे समानाः	दश समानाः।
तेषु दुध्या वरणाः नसीसवरणाः	तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ।
पुरवो हंसवाः	पूर्वो ह्रस्वः।
पारो दीरघाः	परो दीर्घः।
सरोवरणा बिणज्या नामीः	स्वरोऽवर्णवर्जो नामी।
इकारदेणी सींधकराणीः	एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि।
कादीः नीबू बिणज्योनामीः	कादीनि व्यञ्जनानि।
ते विरघाः पंचा पंचा	ते वर्गाः पञ्च पञ्च।
विरघानाऊ प्रथमदुतीयाः संषोसाईचाः घोषा	वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषाः
घोषपितरो रतीः	घोषवन्तोऽन्ये
अनुरे आसकाः निनाणे नामाः	अनुनासिका ङञणनमाः।
अनेसंता जेरेल्लवाः	अन्तस्थाः यरलवाः।
रुकमण संषोसाहाः	ऊष्माणः शषसहाः।
आयतीः विसुरजुनीयाः	अः इति विसर्जनीयः।
कायती जिह्वामूलियाः	ᳵक इति जिह्वामूलीयः
पायती पदमानीया	ᳵप इत्युपध्मानीयः।
आयो आयो रतमसवारोः	अं इत्यनुस्वारः।
पूरबो फल्योरथा रथोपालरेऊपडुपडुः	पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्।
विणज्यो नामीः सरूवरूवरणानेतू	व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्।
नेतकरमैयाः राससलाकीजेतुः	अनतिक्रामयन् विश्लेषयेत्।

१. सन् १९४४ तक।

लेषो: पचाईडा: दुर्गुणसींधी:	**लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः ।**
एती: सींधीसूत्रता: प्रथमापाटी	**इति सन्धिसूत्राणि प्रथमः पादः**
शुभकरता	**शुभं भूयात् ।**

मारवाड़ में सीधी पाटी के न्यूनाधिक अन्तर से कई पाठ प्रचलित हैं । हमने एक का निर्देश किया है ।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में पढ़ाई जानेवाली पांच सीधी पाटियां कातन्त्रव्याकरण के पांच सन्धिपाद हैं । इससे यह भी विस्पष्ट है कि कातन्त्र का कौमार नाम पड़ने का कारण 'कुमाराणामिदम्' (बालकों का व्याकरण) ही है।

अग्निपुराण और गरुड़पुराण में किसी व्याकरण का संक्षेप उपलब्ध होता है ।[1] वह संक्षेप इनमें कुमार और स्कन्द के नाम से दिया है । कई विद्वान् इनका आधार कातन्त्र व्याकरण मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है । उसमें पाणिनीय प्रत्याहारों और संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है । अतः हमारा विचार है कि वह संक्षेप पाणिनीय व्याकरणानुसार है ।

कलाप के सम्बन्ध में विशिष्ट उल्लेख

मत्स्यपुराण की एक दाक्षिणात्य प्रति है । उस में पूर्व और उत्तर दो खण्ड हैं (यह खण्डविभाग अन्यत्र नहीं मिलता) । उस में शिव के कलापित्व का वर्णन करते हुए कलाप का अर्थ शब्द=ध्वनि सम्बन्धिशास्त्र, और कलापी का अर्थ शिव दिया है ।[2]

काशकृत्स्नतन्त्र का संक्षेप कातन्त्र

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के अनन्तर काशकृत्स्न धातुपाठ कन्नड टीका सहित प्रकाश में आया । कन्नड टीका में काशकृत्स्न के लगभग १३५ सूत्र भी उपलब्ध हो गए हैं ।[3] काशकृत्स्न

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३४९-३५९ ; गरुड़पुराण आचारकाण्ड अध्याय २०५, २०६ ।

२. Kalapa is Sastia made of Sounds and Siva is called कलापिन् । द्र०—वी० राघवन का An nuique two Kanda version of the matsya Puran. लेख पुराण पत्रिका १ । १ ।।

३. इनके लिए देखिए—हमारी 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके

धातुपाठ और कातन्त्र धातुपाठ की पारस्परिक तुलना करने से स्पष्ट विदित होता है कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है।[1] इसी प्रकार काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों की कातन्त्रसूत्रों से तुलना[2] करने पर भी यही परिणाम निकलता है कि कातन्त्र काशकृत्स्नतन्त्र का ही संक्षेप है। दोनों तन्त्रों में धातुपाठ की समानानुपूर्विता (कातन्त्र की संक्षिप्तता के कारण छोड़ी गई धातुओं के अतिरिक्त), तथा दोनों तन्त्रों के सूत्रों की समानता, अनुबन्ध, और संज्ञाओं की समानता तथा विशेषकर दोनों धातुपाठों में समानरूप से पढ़ी गई छान्दस धातुएं (पाणिनीय मत में), और स्वरानुरोध से संयोजित 'न्' आदि अनुबन्ध[3] इस मत के सुदृढ़ प्रमाण हैं कि कातन्त्र काशकृत्स्नतन्त्र का संक्षेप है।

काल

कातन्त्र व्याकरण का रचनाकाल अत्यन्त विवादास्पद है। अतः हम उसके कालनिर्णय में जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उन सब का क्रमशः निर्देश करते हैं—

१—कथासरित्सार में लिखा है—शर्ववर्मा ने सातवाहन नृपति को व्याकरण का बोध कराने के लिये कातन्त्र व्याकरण पढ़ाया था।[4] सातवाहन नृपति आन्ध्रकुल का व्यक्ति है। कई ऐतिहासिक आन्ध्रकाल को विक्रम के पश्चात् जोड़ते हैं, परन्तु यह भूल है। आन्ध्रकाल वस्तुतः विक्रम से पूर्ववर्ती है।[5]

२—शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण में कातन्त्र का उल्लेख मिलता है।[6] यह भाण उसी शूद्रक कवि की रचना है, जिसने मृच्छक-

---

उपलब्ध सूत्र' पुस्तिका। १. द्र०—हमारी 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' पुस्तिका, पृ० १७। २. वही, काशकृत्स्न सूत्रों की व्याख्या के साथ निर्दिष्ट कातन्त्र के तुलनात्मक संकेत, तथा पृष्ठ १६।

३. यथा अन् यन् विकरणों में। ४. लम्बक १, तरङ्ग ६, ७।

५. द्र०—पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्करण।

६. एषोऽस्मि बलिभुग्भिरिव संघातबलिभिः कातन्त्रिकैरवस्कन्दित इति। हन्त प्रवृत्तं काकोलूकम्। सखे दिष्ट्या त्वामलूनपक्षं पश्यामि। किं ब्रवीषि? का चेदानीं मम वैयाकरणपारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था। पृष्ठ १८।

टिक नाटक लिखा है। दोनों ग्रन्थों के आरम्भ में शिव की स्तुति है, और वर्णनशैली समान है। 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना से जाना जाता जाना है कि शूद्रक नामा कवि ऋग्वेद सामवेद और अनेक विद्याओं में निष्णात, अश्वमेधयाजी, शिवभक्त महीपाल था।[1] अनेक विद्वान् शूद्रक का काल विक्रम की पांचवीं शताब्दी मानते हैं,[2] यह महती भूल है। महाराज शूद्रक हालनामा सातवाहन नृपति का समकालिक था, और वह विक्रम से लगभग ४००-५०० वर्ष पूर्ववर्ती था।[3]

३—चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—

'सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्।
लघुविस्पष्टसम्पूर्णम् उच्यते शब्दलक्षणम्'॥

इस श्लोक में चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के लिये तीन विशेषण लिखे हैं—लघु विस्पष्ट और सम्पूर्ण। कातन्त्रव्याकरण लघु और विस्पष्ट है, परन्तु सम्पूर्ण नहीं है। इसके मूल ग्रन्थ में कृत्प्रकरण का समावेश नहीं है, अन्यत्र भी कई आवश्यक बातें छोड़ दी हैं। पाणिनीय व्याकरण सम्पूर्ण तो है, परन्तु महान् है, लघु नहीं।

हमारा विचार है कि चन्द्राचार्य ने '**सम्पूर्ण**' विशेषण कातन्त्र की व्यावृत्ति के लिये रक्खा है। चन्द्राचार्य का काल भारतीय गणनानुसार न्यूनातिन्यून विक्रम से १००० वर्ष पूर्व है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ३४१-३४३) लिख चुके हैं।

४—महाभाष्य ४। २। ६५ में लिखा है—

'संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—माहावार्तिकः, कालापकः'।

अर्थात्—सूत्र (ग्रन्थ) वाची ककारोपध प्रातिपदिक से '**तदधीते तद्वेद**' अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का जो लुक्विधान किया है, वह

---

१. ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां, ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषो चोपलभ्य। राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा, लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥

२. संस्कृतकविचर्चा, पृष्ठ १५८-१६१। ३. द्र०—पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्करण, पृष्ठ २९१-३०६।

संख्याप्रकृतिवाले (=संख्यावाची शब्द से बने हुए) प्रातिपदिक से कहना चाहिये। **यथा अष्टकमधीते अष्टकाः पाणिनीयाः, दशका वैयाघ्रपद्याः।** यहां अष्टक और दशक शब्द संख्याप्रकृतिवाले हैं। इनमें अष्ट और दश शब्द से परिमाण अर्थ में सूत्र अर्थ गम्यमान होने पर कन् प्रत्यय होता है।[1] वार्तिक में संख्याप्रकृति ग्रहण करने से 'माहावार्तिकः, कालापकः' में वुञ् का लुक् नहीं होता। क्योंकि ये शब्द संख्याप्रकृतिवाले नहीं हैं।

ये दोनों प्रत्युदाहरण 'संख्याप्रकृतिः' अंश के हैं। इनमें सूत्र-वाचकत्व और कोपधत्व अंश का रहना आवश्यक है। अतः 'कालापकाः' प्रत्युदाहरण में निर्दिष्ट 'कलापक' निश्चय ही किसी सूत्रग्रन्थ का वाचक है, और पूर्वोद्धृत व्युत्पत्ति के अनुसार वह कातन्त्रव्याकरण का वाचक है।

हरदत्त और नागेश की भूल—हरदत्त और नागेश ने महाभाष्य के 'कालापकाः' प्रत्युदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—कलापी द्वारा प्रोक्त छन्द का अध्ययन करनेवाले 'कलाप' कहाते हैं। उन कलापों का आम्नाय 'कालापक' होगा। संख्याप्रकृति ग्रहण करने से 'कालापक आम्नाय का अध्ययन करने वाले' इस अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् नहीं होता।[2]

यह व्याख्या अशुद्ध है। क्योंकि **'चरणाद्धर्माम्नाययोः'**[3] की व्याख्या में समस्त टीकाकार 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद' करते हैं। अतः कालापक आम्नाय सूत्रग्रन्थ नहीं हो सकता। सूत्रत्व अंश के होने पर वह वार्तिक का प्रत्युदाहरण नहीं बन सकता। 'कालापकाः' के साथ पढ़े हुए 'माहावार्तिकः' प्रत्युदाहरण की प्रकृति 'महावार्तिक' शब्द स्पष्ट सूत्रग्रन्थ का वाचक है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य में निर्दिष्ट 'कलापक' शब्द किसी सूत्रग्रन्थ का वाचक है, और वह कातन्त्र व्याकरण ही

---

१. तदस्य परिमाणम्, संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु ।५।१।५७, ५८॥

२. कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापास्तेषामाम्नायः कालापकम्। भाष्य-प्रदीपोद्योत ४। २। ६५॥ ऐसा ही लेख हरदत्त का है।

३. महाभाष्य ४। ३। १२०॥

है। भारतीय गणना के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल विक्रम से लगभग २००० वर्ष पूर्व है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1]

५—महाभाष्य और वार्तिकपाठ में प्राचीन आचार्यों की अनेक संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

अद्यतनी—२।४।३; ३।२।१०; ६।४।११३॥
श्वस्तनी—३।३।१५॥
भविष्यन्ती—३।२।१२३; ३।३।१५॥
परोक्षा—१।२।२, ८; ३।२।१५॥
समानाक्षर—१।१।१; २।२।३४; १।३।८॥
विकरण—अनेक स्थानों में। **कारित**—निरु० १।१३॥

कातन्त्रव्याकरण में भी इन्हीं संज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है। यथा— **परोक्षा**—३।१।१३॥
अद्यतनी—३।१।२२॥ **विकरण**—३।४।३२॥
श्वस्तनी—३।१।१५॥ **समानाक्षर**—१।१।३॥
भविष्यन्ती—३।१।१५॥ **कारित**—३।२।६॥

इसी प्रकार ह्यस्तनी, वर्तमाना, चेक्रीयित आदि अनेक प्राचीन संज्ञाओं का निर्देश कातन्त्रव्याकरण में उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि कातन्त्रव्याकरण पर्याप्त प्राचीन है।

६—महाभाष्य में अनेक स्थानों पर पूर्वसूत्रों का उल्लेख है।[2] ६।१।१६३ के महाभाष्य में लिखा है—

(क) अथवाऽकारो मत्वर्थीयः। तद्यथा–तुन्दः, घाट इति। पूर्वसूत्रनिर्देशश्च चित्त्वान् चित इति।

इस पर कैयट लिखता है—यह 'चितः' निर्देश पूर्वसूत्रों के अनुसार है। पूर्वसूत्रों में जिसको किसी कार्य का विधान किया जाता है, उसका प्रथमा से निर्देश करते हैं।[3]

(ख) पुनः ८।४।७ पर कैयट लिखता है—पूर्वाचार्य जिसको कार्य करना होता है, उसका षष्ठी से निर्देश नहीं करते।[4]

---

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ३३७-३५०।
२. देखो—पूर्व पृष्ठ २४१। ३. पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्देश्यते। ४. पूर्वाचार्याः कार्यभाजान् षष्ठ्या न निरदिक्षन्नित्यर्थः।

पूर्वसूत्रानुसारी निर्देश पाणिनीय व्याकरण में अन्यत्र भी बहुत उपलब्ध होता है। यथा –

अल्लोपोऽनः। ६। ४। १३४ में **अत्** का निर्देश।
ति विंशतेर्डिति। ६। ४।१४२ में **ति** का निर्देश।

पाणिनीय व्याख्याकार इन्हें अविभक्तिक निर्देश मानते हैं। परन्तु ये पूर्वसूत्रानुसार प्रथमान्त हैं। 'ति' निर्देश **सामान्ये नपुंसकम्** न्यायानुसार नपुंसक का प्रथमैकवचन है। इसी प्रकार **ङेर्यः** पाणिनीय सूत्र में ङेः रूप भी ङे का प्रथमैकवचन का है। तुलना करो आगे उद्ध्रियमाण ङेर्यः (२। १। २४) कातन्त्रसूत्र के साथ।

पतञ्जलि और कैयट ने जिस प्राचीन शैली की ओर संकेत किया है, वह शैली कातन्त्रव्याकरण में पूर्णतया उपलब्ध होती है। उसमें सर्वत्र कार्यी (जिसके स्थान में कार्य करना हो उस) का प्रथमा विभक्ति से ही निर्देश किया है। यथा –

भिस् ऐस् वा। २। १। १८॥[1] **ङसिरात्।** २। १। २१॥
ङस् स्य। २। १। २२ **इन् टा।** २। १। २३॥
ङेर्यः। २। १। २४॥ (यहां 'ङे' एकारान्त प्रत्यय है)
ङसिः स्मात्। २। १। २६॥ **ङि स्मिन्।** २। १। २७॥

इससे इतना स्पष्ट है कि कातन्त्र की रचनाशैली अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनि आदि ने कार्यी का निर्देश षष्ठी विभक्ति से किया है।

७ हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख चुके हैं कि कातन्त्र व्याकरण में '**देवेभिः पितरस्तर्पयामः, अर्वन्तौ अर्वन्तः, मघवन्तौ मघवन्तः,**' तथा **दीधीङ् वेवीङ्** और **इन्धी** धातु से निष्पन्न प्रयोगों की सिद्धि दर्शाई है।[2] कातन्त्र व्याकरण विशुद्ध लौकिक भाषा का व्याकरण है, और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः इस में इन प्रयोगों का विधान करना बहुत महत्त्व रखता है। महाभाष्य के अनुसार 'अर्वन्-मघवन्' प्रातिपदिक तथा दीधीङ्-वेवीङ् और इन्धी धातु

---

१. इस सूत्र पर विशेष विचार पूर्व पृष्ठ ३४, ३५ पर देखो।
२. देखो—पूर्व पृष्ठ ३५-३८।

छान्दस हैं।[1] पाणिनि इन्हें छान्दस नहीं मानता। इससे स्पष्ट है कि कातन्त्र व्याकरण की रचना उस समय हुई है जब उपर्युक्त शब्द लौकिकभाषा में प्रयुक्त होते थे। वह काल महाभाष्य से पर्याप्त प्राचीन होगा। यदि कातन्त्र की रचना महाभाष्य के अनन्तर होती, तो महाभाष्य में जिन प्रातिपदिकों और धातुओं को छान्दस माना है, उनका उल्लेख कभी न होता। इससे स्पष्ट है कि कातन्त्र महाभाष्य से प्राचीन है।

यदि कातन्त्र व्याकरण का वर्तमान स्वरूप इतना प्राचीन न भी हो, तब भी यह अवश्य मानना होगा कि कातन्त्र का मूल अवश्य प्राचीनतम है।

कातन्त्र व्याकरण का कर्ता

कथासरित्सागर[2] और कातन्त्रवृत्तिटीका[3] आदि के अनुसार कातन्त्रव्याकरण के आख्यातान्त भाग का कर्ता शर्ववर्मा है। मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने भी कातन्त्र को शर्ववर्मा विरचित लिखा है, और कथासरित्सागर में निर्दिष्ट **'मोदकं देहि'** कथा का निर्देश किया है।[4] पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में शर्ववर्मा को कातन्त्र की विस्तृत वृत्ति का रचयिता लिखा है।[5]

जरनल गङ्गानाथ झा रिसर्च इंस्टीटयूट भाग १, अङ्क ४ में तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है—

"सातवाहन के चाचा भासवर्मा ने 'शङ्कु' से संक्षिप्त किया ऐन्द्र व्याकरण प्राप्त किया, जिसका प्रथम सूत्र **'सिद्धो वर्णसमाम्नायः'** था, और वह १५ पादों में था।[6] इसका वररुचि सस्तवर्मा ने संक्षेप

---

१. महाभाष्य ६।४।१२७, १२८; १।१।६; १।२।६॥

२. लम्बक १, तरङ्ग ६, ७।

३. तत्र भगवत्कुमारप्रणीतसूत्रानन्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति। परिशिष्ट, पृष्ठ ४६६।

४. अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ४१।   ५. द्र०- पृष्ठ ४३७।

६. कातन्त्र के आख्यातान्त भाग में १६ पाद हैं। क्या आख्यातप्रकरण के चार पाद प्रक्षिप्त हैं? सम्भव है १६ के स्थान में १५ संख्या प्रमादजन्य हो।

किया, और इसका नाम कलापसूत्र हुआ। क्योंकि जिन अनेक स्रोतों से इसका संकलन हुआ था, वे मोर की पूंछ के सदृश पृथक्-पृथक् थे। इसमें २५ अध्याय[1] और ४०० श्लोक थे।"

इस लेख के लेखक ने टिप्पणी में लिखा है—तिब्बतीय भाषा में शर्व=सर्व=सप्त=सस्त इस प्रकार सर्व का सस्त रूपान्तर बन सकता है।

हमारा विचार है कि वर्तमान कातन्त्रव्याकरण शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त किया हुआ है। इस संक्षिप्त संस्करण का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ४००-५०० वर्ष प्राचीन है। इसका मूलग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं।

कृदन्त भाग का कर्त्ता—कात्यायन

कातन्त्र का वृत्तिकार दुर्गसिंह कृदन्त के आरम्भ में लिखता है—

वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये॥

अर्थात् कातन्त्र का कृदन्त भाग कात्यायन ने बनाया है।

कात्यायन नामक अनेक आचार्य हो चुके हैं। कृदन्त भाग किस कात्यायन ने बनाया, यह दुर्गसिंह के लेख से स्पष्ट नहीं होता। सम्भव है कि महाराज विक्रम के पुरोहित कात्यायन गोत्रज वररुचि ने कृदन्त भाग की रचना की हो।

कीथ की भूल—कीथ अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखता है—'मूल में उसमें चार अध्याय थे।'[2] दुर्गसिंह के पूर्व श्लोक से स्पष्ट है कि कातन्त्र का चौथा अध्याय कात्यायनकृत है। अतः मूल ग्रन्थ में तीन ही अध्याय थे। कीथ का मूल में चार अध्याय लिखना चिन्त्य है।

कातन्त्रपरिशिष्ट का कर्त्ता—श्रीपतिदत्त

आचार्य कात्यायन द्वारा कृदत्त भाग का समावेश हो जाने पर

१. यहां अध्याय से पादों का अभिप्राय है। कृदन्त भाग मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ में २५ पाद हैं। २. हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५११।

भी कातन्त्र व्याकरण में अनेक न्यूनताएं रह गईं। उन्हें दूर करने के लिये श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र-परिशिष्ट की रचना की। श्रीपतिदत्त का काल अज्ञात है, परन्तु वह विक्रम की ११ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है, इतना स्पष्ट है।

परिशिष्ट-वृत्ति—श्रीपतिदत्त ने स्वविरचित कातन्त्र-परिशिष्ट पर वृत्ति भी लिखी है।

कातन्त्रोत्तर का कर्त्ता—विजयानन्द (१२०० वि० पूर्व)

कातन्त्रव्याकरण की महत्ता बढ़ाने के लिये विजयानन्द ने 'कातन्त्रोत्तर' नामक ग्रन्थ लिखा। इसका दूसरा नाम विद्यानन्द है।[1] डा० बेल्वाल्कर ने कातन्त्रोत्तरपरिशिष्ट के कर्त्ता का नाम त्रिलोचनदास लिखा है। पट्टन के जैनग्रन्थागारों के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र पृष्ठ २६१ पर 'कातन्त्रोत्तर' ग्रन्थ का निर्देश है। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

'दिनकर-शतपतिसंख्येऽष्टाधिकाब्दमुक्ते श्रीमद्गोविन्दचन्द्र-देवराज्ये जाह्नव्या दक्षिणकूले श्रीमद्विजयचन्द्रदेववडहरदेशभुज्यमाने श्रीनामदेवदत्तजह्मपुरीदिग्विभागे पुरराहूपुरस्थिते पौषमासे षष्ठयां तिथौ शौरिदिने वणिक्जल्हणेनात्मजस्यार्थे तद्धितविजयानन्दं लिखितमिति। यादृशं दृष्टं तथा लिखितम्'।

इससे इतना स्पष्ट है कि यह प्रति सं० १२०८ में लिखी गई थी।[2] अतः विजयानन्द विक्रम सं० १२०० से पूर्ववर्ती है।

कातन्त्र का प्रचार

कातन्त्र व्याकरण का प्रचार सम्प्रति बंगाल तक ही सीमित है। परन्तु किसी समय इसका प्रचार न केवल सम्पूर्ण भारतवर्ष में, अपितु उससे बाहर भी था। मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में अभी तक जो 'सीधी पाटी' पढ़ाई जाती है, वह कातन्त्र के प्रारम्भिक भाग का

---

१. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा नं० ६६

२. जैन पुस्तकप्रशस्तिसंग्रह में भी 'पाटण खेतरवसहीप्राठकावस्थित' भाण्डागार के सं० १२०८ के लिखे कातन्त्रोत्तर के हस्तलेख का निर्देश है। पृष्ठ १०६।

विकृत रूप है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण से प्रतीत होता है कि उसके काल में कातन्त्रानुयायियों की पाणिनीयों से महती स्पर्धा थी।[1]

कीथ अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखता है - **कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एशिया की खुदाई से प्राप्त हुए थे। इस पर मूसियोन जरनल में एल. फिनोत ने एक लेख लिखा था। देखो—उक्त जरनल सन् १९११, पृष्ठ १९२।**[2]

कातन्त्र के ये भाग एशिया तक निश्चय ही बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा पहुंचे होंगे। कातन्त्र का धातुपाठ अभी तक उपलब्ध है। इसके हस्तलेख की दो प्रतियां हमारे पास हैं।[3]

कातन्त्र के वृत्तिकार

सम्प्रति कातन्त्र व्याकरण की सब से प्राचीन वृत्ति दुर्गसिंह-विरचित उपलब्ध होती है। उसमें **केचित् अपरे अन्ये** आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन वृत्तिकारों के मत उदधृत हैं। अतः यह निस्सन्दिग्धरूप से कहा जा सकता है कि दुर्गसिंह से पूर्व अनेक वृत्तिकार हो चुके थे, जिनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

१—शर्ववर्मा

श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' के पृष्ठ ४३७ पर शर्ववर्मा को कातन्त्र की 'बृहद्वृत्ति' का रचयिता लिखा है। परन्तु इसके लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया।

२—वररुचि

पं० गुरुपद हालदार ने अपनें ग्रन्थ के पृष्ठ ३९४ और ५७९ पर वररुचि-विरचित कातन्त्रवृत्ति का उल्लेख किया है। पृष्ठ ५७९ पर वररुचिकृत वृत्ति का नाम चैत्रकूटी लिखा है।

---

१. देखो—पूर्व पृष्ठ ५५२ टि० ६।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४३१।

३. जर्मन की छपी क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में शर्ववर्मा का धातुपाठ भी छपा है।

'चन्द्रस्तु सौहृदमिति हृदयस्याणि हृदादेशो न हृदुत्तरपदम्, हृद्भगेत्युत्तरपदादैजभावमाह ।'[1]

चान्द्रवृत्ति ६ । १ । २६ में यह पाठ इस प्रकार है—

'सौहृदमिति हृदयस्याणि हृदादेशो, न हृदुत्तरपदम् ।'

२—वही पुन: लिखता है—

'मन्तूञ्—मन्तूयति मन्तूयते इति चन्द्रः ।'[2]

यह पाठ चान्द्रव्याकरण १ । १ । ३९ की टीका में उपलब्ध होता है।

३—सायणाचार्य ने भी उपर्युक्त पाठ को चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।[3] इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों में वर्धमान और सायण ने इस चान्द्रवृत्ति को चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।

अथवा वह सम्भव हो सकता है कि धर्मदास ने चान्द्रवृत्ति का ही उसी के शब्दों में संक्षेप किया हो। इस पक्ष में भी आचार्य चन्द्र भी स्वोपज्ञवृत्ति का प्रामाण्य तद्वत् ही रहता है।

कश्यप भिक्षु (सं० १२५७)

बौद्ध भिक्षु कश्यप ने सं० १२५७ के लगभग चान्द्र सूत्रों पर वृत्ति लिखी। इसका नाम **'बालबोधिनी'** है। यह वृत्ति लंका में बहुत प्रसिद्ध है।[4] डा० बेल्वाल्कर ने लिखा है कि कश्यप ने चान्द्रव्याकरण के अनुरूप **'बालावबोध'** नामक व्याकरण लिखा, वह वरदराज की लघुकौमुदी से मिलता जुलता है।[5] हम इस के विषय में कुछ नहीं जानते।

३. क्षपणक (वि० प्रथम शताब्दी)

व्याकरण के कतिपय ग्रन्थों में कुछ उद्धरण ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिन से क्षपणक का व्याकरण-प्रवक्तृत्व व्यक्त होता है। यथा—

---

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २२७। २. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २४२। ३. धातुवृत्ति पृष्ठ ४०४।

४. कीथविरचित संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४३१।

५. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैराग्राफ नं० ४६।

'अत एव नावमात्मानं मन्यते इति विगृह्य परत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति नावंमन्ये इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम् ।'[1]

इसी प्रकार तन्त्रप्रदीप में भी **क्षपणकव्याकरणे महान्यासे**[2] उल्लेख मिलता है।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि किसी क्षपणक नामा वैयाकरण ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था।

परिचय तथा काल

कालिदासविरचित 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ में विक्रम की सभा के नवरत्नों के नाम लिखे हैं। उन में एक अन्यतम नाम क्षपणक भी हैं।[3] कई ऐतिहासिकों का मत है कि जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का ही दूसरा नाम क्षपणक है।[4] सिद्धसेन दिवाकर विक्रम का समकालिक है, यह जैन ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। सिद्धसेन अपने समय का महान् पण्डित था। जैन आचार्य देवनन्दी ने अपने जैनेन्द्र नामक व्याकरण में आचार्य सिद्धसेन का व्याकरण विषयक एक मत उद्धृत किया है।[5] उससे प्रतीत होता है कि सिद्धसेन दिवाकर ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था। अतः बहुत सम्भव है, क्षपणक और सिद्धसेन दिवाकर दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों। यदि यह ठीक हो, तो निश्चय ही क्षपणक महाराज विक्रम का समकालिक होगा।

प्राचीन वैयाकरणों के अनुकरण पर क्षपणक ने भी अपने शब्दानुशासन के धातुपाठ, उणादिसूत्र आदि अवश्य रचे होंगे। परन्तु उन का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उज्ज्वलदत्तविरचित उणादिवृत्ति में क्षपणक के नाम से एक ऐसा पाठ उद्धृत है,[6] जिससे प्रतीत

---

१. तन्त्रप्रदीप १ । ४ । ५५ ॥ भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९३ पर उद्धृत। २. तन्त्रप्रदीप, धातुप्रदीप की भूमिका में ४ । १ । १५५ संख्या निर्दिष्ट है, पुरुषोत्तम परिभाषावृत्ति की भूमिका में ४ । १ ।। १३५ संख्या दी है। ३. धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥ २० । १० ॥ ४. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० २४४ ।

५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य । ५ । १ । ७ ॥

६. क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः । पृष्ठ ६० ।

होता है कि क्षपणक ने उणादिसूत्रों की कोई व्याख्या रची थी। वे सूत्र निश्चय ही उसके स्वप्रोक्त होंगे।

स्वोपज्ञवृत्ति

क्षपणक-विरचित उणादिवृत्ति का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उससे सम्भावना होती है कि क्षपणक ने अपने शब्दानुशासन पर भी कोई वृत्ति अवश्य रची होगी। मैत्रेयरक्षित ने तन्त्रप्रदीप में लिखा है—

'अत एव नावमात्मानं मन्यते इति विग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति 'नावंमन्ये' इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्'।[1]

यह पाठ निश्चय ही किसी क्षपणक-वृत्ति से उद्धृत किया गया है।

क्षपणक महान्यास

मैत्रेयरक्षित ने तन्त्रप्रदीप ४। १ १५५ वा १३५[2] में **'क्षपणक महान्यास'** को उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ किसकी रचना है, यह अज्ञात है। 'महान्यास' में लगे हुए **'महा'** विशेषण से व्यक्त है कि 'क्षपणक' व्याकरण पर कोई न्यास ग्रन्थ भी रचा गया था।

क्षपणक-व्याकरण के सम्बन्ध में हमें इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

४. देवनन्दी (सं० ५०० वि० से पूर्व)

आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने **'जैनेन्द्र'** संज्ञक एक शब्दानुशासन रचा है। आचार्य देवनन्दी के काल आदि के विषय में हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।[3]

जैनेन्द्र नाम का कारण

अनुश्रुति—विनय विजय और लक्ष्मीवल्लभ आदि १८ वीं शती के जैन विद्वानों ने भगवान् महावीर द्वारा इन्द्र के लिए प्रोक्त होने से इसका नाम जैनेन्द्र हुआ ऐसा मानते हैं। डा० कीलहार्न ने भी

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ५७८ टि० १। २. द्र० पूर्व पृष्ठ ५७८, टि० २।
३. पूर्व पृष्ठ ४४८-४५५।

कल्पसूत्र की समयसुन्दर कृत टीका और लक्ष्मीवल्लभ कृत उपदेश-माला-कर्णिका के आधार पर इसे महावीरप्रोक्त स्वीकार किया है।[1]

हरिभद्र ने आवश्यकीय सूत्रवृत्ति में और हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में महावीर द्वारा इन्द्र के लिए प्रोक्त व्याकरण का नाम ऐन्द्र है ऐसा लिखा है।[1]

हमारे विचार में ये सब लेख जैनेन्द्र में वर्तमान 'इन्द्र' पद की भ्रान्ति से प्रसूत हैं।

वास्तविक कारण—जैनेन्द्र का अर्थ है—**जिनेन्द्रेण प्रोक्तम्** अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा प्रोक्त। जैनेन्द्र व्याकरण देवनन्दी प्रोक्त है, यह पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद का एक नाम जिनेन्द्र भी था।

जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण

जैनेन्द्र व्याकरण के सम्प्रति दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक **औदीच्य,** दूसरा **दाक्षिणात्य**। औदीच्य संस्करण में लगभग तीन सहस्र सूत्र हैं, और दाक्षिणात्य संस्करण में तीन सहस्र सात सौ सूत्र उपलब्ध होते हैं। दाक्षिणात्य संस्करण में न केवल ७०० सूत्र ही अधिक हैं, अपितु शतशः सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन भी उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी कृत महावृत्ति में बहुत से वार्त्तिक मिलते हैं, परन्तु दाक्षिणात्य संस्करण में वे वार्त्तिक प्रायः सूत्रान्तर्गत हैं। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि पूज्यपादविरचित मूल सूत्रपाठ कौनसा है।

जैनेन्द्र का मूल सूत्रपाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के दाक्षिणात्य संस्करण के संपादक पं० श्रीलाल शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपादविरचित है। उन्होंने इस विषय में जो हेतु दिये हैं, उनमें मुख्य हेतु इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्र १।६ की स्वविरचित 'सर्वार्थसिद्धि' नाम्नी व्याख्या में पूज्यपाद ने लिखा है कि **प्रमाणनयैरधिगमः**' सूत्र में अल्पाच्तर

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ २२-२४ (द्वि० सं०)।

होने से नय शब्द का पूर्व प्रयोग होना चाहिये, परन्तु अभ्यर्हित होने से बह्वच् प्रमाण शब्द का पूर्व प्रयोग किया है। जैनेन्द्र व्याकरण के औदीच्य सस्करण में इस प्रकार का कोई लक्षण नहीं है, जिससे बह्वच् प्रमाण शब्द का पूर्व निपात हो सके। दाक्षिणात्य संस्करण में इस अर्थ का प्रतिपादक '**अर्च्यम्**'[1] सूत्र उपलब्ध होता है। अतः दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है।[2]

पं० श्रीलालजी का यह लेख प्रमाणशून्य है। यदि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपादविरचित होता, तो वे '**अभ्यर्हितत्वात्**' ऐसा न लिखकर '**अर्च्यत्वात्**' लिखते। पूज्यपाद का यह लेख ही बता रहा है कि उनकी दृष्टि में 'अर्च्यम्' सूत्र नहीं है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के '**अभ्यर्हितं च**' वार्तिक को दृष्टि में रखकर 'अभ्यर्हितत्वात्' लिखा है। सर्वार्थसिद्धि में अन्यत्र भी कई स्थानों में अन्य वैयाकरणों के लक्षण उद्धृत किये हैं। यथा—

१—तत्त्वार्थसूत्र ५।४ की सर्वार्थसिद्धि टीका में नित्य शब्द के निर्वचन में '**नेर्ध्रुवे त्यः**' वचन उद्धृत किया है। यह '**त्यब् नेर्ध्रुवे वक्तव्यम्**'[3] इस कात्यायन वार्त्तिक का अनुवाद है। जैनेन्द्र व्याकरण में इस प्रकरण में 'त्य' प्रत्यय ही नहीं है। इसलिये अभयनन्दी ने '**ङ्च स्तुट् च**'[4] सूत्र की व्याख्या में '**नेर्ध्रुवः**' उपसंख्यान करके नित्य शब्द की सिद्धि दर्शाई है। दाक्षिणात्य संस्करण में नित्य शब्द की व्युत्पति ही उपलब्ध नहीं होती।

तत्त्वार्थसूत्र ४।२२ की सर्वार्थसिद्धि में '**द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्**' वचन पढ़ा है। यह पाणिनि के '**तपरस्तत्कालस्य**'[5] सूत्र पर कात्यायन का वार्त्तिक है।

अतः दाक्षिणात्य संस्करण में केवल 'अभ्यर्हितं च' के समानार्थक 'अर्च्यम्' सूत्र की उपलब्धि होने से वह पूज्यपादविरचित नहीं हो सकता। अब हम एक ऐसा प्रमाण उपस्थित हैं, जिससे इस विवाद का सदा के लिये अन्त हो जाता है। और स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है

---

१. शब्दार्णवचन्द्रिका १।३।१५॥ २. शब्दार्णवचन्द्रिका की भूमिका।
३. वार्त्तिक ४।२।१०४॥ ४. ३।२।८१॥
५. अष्टा० १।१।७०॥

कि औदीच्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण। यथा—

'**आदावुपज्ञोपक्रमम्**'[1] सूत्र के दाक्षिणात्य संस्करण की शब्दार्णवचन्द्रिका टीका में '**देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्**' उदाहरण उपलब्ध होता है। यह उदाहरण औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी की महावृत्ति में भी मिलता है। इस उदाहरण से व्यक्त है कि देवनन्दी विरचित व्याकरण में एकशेष प्रकरण नहीं था। दाक्षिणात्य संस्करण में '**चार्थे द्वन्द्वः**'[2] सूत्र के अनन्तर द्वादशसूत्रात्मक एकशेष प्रकरण उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण में न केवल एकशेष प्रकरण का अभाव ही है, अपितु उसकी अनावश्यकता का द्योतक सूत्र भी पढ़ा है—**स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः**'[3]। अर्थात् अर्थाभिधानशक्ति के स्वाभाविक होने से एकशेष प्रकरण नहीं पढ़ा।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि पूज्यपादविरचित मूल ग्रन्थ वही है, जिस में एकशेष प्रकरण नहीं है। और वह औदीच्य संस्करण ही है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण। वस्तुतः दाक्षिणात्य संस्करण जैनेन्द्र व्याकरण का परिष्कृत रूपान्तर है। इसका वास्तविक नाम 'शब्दार्णव व्याकरण' है। पहले हम पूज्यपाद के मूल जैनेन्द्र व्याकरण अर्थात् औदीच्य संस्करण के विषय में लिखते हैं—

जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता

हम ऊपर लिख चुके हैं कि जैनेन्द्र के दोनों संस्करणों की टीकाओं में '**देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्**'[4] उदाहरण मिलता है। इस उदाहरण से व्यक्त होता है कि एकशेष प्रकरण से रहित व्याकरण-शास्त्र की रचना सब से पूर्व आचार्य देवनन्दी ने की है। अतः जैनेन्द्र-व्याकरण की विशेषता 'एकशेष प्रकरण न रखना है'।[5] परन्तु यह

---

१. औदीच्य सं० १।४।९७॥ दा० सं० १।४।११४॥

२. दा० सं० १।३।९६॥ ३. औदीच्य सं० १।१।९७॥ सम्पादक के प्रमाद से मुद्रित ग्रन्थ में यह सूत्र वृत्त्यन्तर्गत ही छपा है। देखो पृष्ठ ५२।

४. औ० सं० १।४।९७॥ दा० स० १।४।११४॥ ५. तुलना करो—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। काशिका २।४।२१॥ चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्। चान्द्रवृत्ति २।२।६८।

विशेषता जैनेन्द्र व्याकरण की नहीं है, और ना ही आचार्य पूज्यपाद की स्वोपज्ञा है। जैनेन्द्र व्याकरण से कई शताब्दी पूर्व रचित **चान्द्र-व्याकरण में भी एकशेष प्रकरण नहीं है।** चन्द्राचार्य को एकशेष की अनावश्यकता का ज्ञान महाभाष्य से हुआ। उसमें लिखा है—**'अशिष्य एकशेष एकेनोक्तत्वात् अर्थाभिधानं पुनः स्वाभाविकम्'**।[1] अर्थात् शब्द की अर्थाभिधान शक्ति के स्वाभाविक होने से एक शब्द से भी अनेक अर्थों की प्रतीति हो जाती है, अतः एकशेष प्रकरण अनावश्यक है। महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की **माथुरी वृत्ति** के अनुसार भगवान् पाणिनि ने स्वयं एकशेष की अशिष्यता का प्रतिपादन किया था।[2] अतः एकशेष प्रकरण को न रखना जैनेन्द्रव्याकरण की विशेषता नहीं है, यह स्पष्ट है। प्रतीत होता है कि टीकाकारों ने प्राचीन चान्द्रव्याकरण और महाभाष्य आदि का सम्यग् अनुशीलन नहीं किया। अतः एव उन्होंने जैनेन्द्र की यह विशेषता लिख दी।

जैनेन्द्र व्याकरण की दूसरी विशेषता अल्पाक्षर संज्ञाएं कही जा सकती हैं, परन्तु यह भी आचार्य देवनन्दी की स्वोपज्ञा नहीं है। पाणिनीय तन्त्र में भी 'घ घु टि' आदि अनेक एकाच् संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं। शास्त्र में लाघव दो प्रकार का होता है—शब्दकृत और अर्थकृत। शब्दकृत लाघव की अपेक्षा अर्थकृत लाघव का महत्त्व विशेष है।[3] अतः परम्परा से लोकप्रसिद्ध बह्वक्षर संज्ञाओं के स्थान में नवीन अल्पाक्षर संज्ञाएं बनाने में किंचित् शब्दकृत लाघव होने पर भी अर्थकृत गौरव बहुत बढ़ जाता है, और शास्त्र क्लिष्ट हो जाता है। अत एव पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा जैनेन्द्र व्याकरण क्लिष्ट है।

जैनेन्द्र व्याकरण का आधार

जैनेन्द्र व्याकरण का मुख्य आधार पाणिनीय व्याकरण है, कहीं-कहीं पर चान्द्र व्याकरण से भी सहायता ली है। यह बात इनकी पारस्परिक तुलना से स्पष्ट हो जाती है। जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्य-

---

१. महाभाष्य १।२।६४॥

२. माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते। भाषावृत्ति १।२।५०॥ देखो पूर्व पृष्ठ ४४२॥

३. देखो पूर्व पृष्ठ २३१, टि० ३।

पाद ने **श्रीदत्त,**[1] **यशोभद्र,**[2] **भूतबलि,**[3] **प्रभाचन्द्र,**[4] **सिद्धसेन**[5] और **समन्तभद्र**[6] इन ६ प्राचीन जैन आचार्यों का उल्लेख किया है। 'जैन साहित्य और इतिहास' के लेखक पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि इन आचार्यों ने कोई व्याकरणशास्त्र नहीं रचा था।[7] हमारा विचार है कि उक्त आचार्यों ने व्याकरणग्रन्थ अवश्य रचे थे।[8]

जैनेन्द्र-व्याकरण के व्याख्याता

जैनेन्द्र व्याकरण पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं रचीं। आर्य-श्रुतकीर्त्ति पञ्चवस्तुप्रक्रिया के अन्त में जैनेन्द्र व्याकरण की विशाल राजप्रसाद से उपमा देता है। उसके लेखानुसार इस व्याकरण पर न्यास, भाष्य, वृत्ति और टीका आदि अनेक व्याख्याएं लिखी गईं।[8] उनमें से सम्प्रति केवल ४, ५ व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

१—देवनन्दी (सं० ५०० वि० से पूर्व)

हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में लिख चुके हैं कि आचार्य देवनन्दी ने अपने व्याकरण पर **जैनेन्द्र** संज्ञक न्यास लिखा था।[9] यह न्यास ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

२—अभयनन्दी (सं० ९७४–१०३५ वि०)

अभयनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी है। यह **'महावृत्ति'** के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय स्व-ग्रन्थ में नहीं दिया। अतः अभयनन्दी का देश काल अज्ञात है। पूर्वापर काल में निर्मित ग्रन्थों में निर्दिष्ट उद्धरणों के आधार पर अभयनन्दी का जो काल माना जा सकता है, उसकी उपपत्ति नीचे दर्शाते हैं। यथा—

---

१. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्। १।४।३४॥ २. कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य २।१।९९॥ ३. राद् भूतबलेः। ३।४।८३॥ ४. रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य। ४।३।१८०॥ ५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य। ५।१।७॥ ६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ५।४।१४०॥

७. द्र० पूर्व पृष्ठ ५४७। ८. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षितिः श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुगं भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्।

९. पूर्व पृष्ठ ४४७।

१—अभयनन्दी कृत महावृत्ति ३ । २ । ५५ में '**तत्त्वार्थवार्तिकमधीते**' उदाहरण मिलता है । तत्त्वार्थवार्तिक भट्ट अकलङ्क की रचना है। अकलङ्क का काल वि० सं० ७०० के लगभग हैं ।[1] यह इसकी पूर्व सीमा है ।

२—वर्धमान ने 'गणरत्नमहोदधि' (काल ११९७ वि०) में अभयनन्दी स्वीकृत पाठ का निर्देश किया है ।[2] अतः अभयनन्दी वि० सं० ११९७ से पूर्ववर्ती है । यह इसकी उत्तर सीमा है ।

३—प्रभाचन्द्राचार्य ने 'शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास' के तृतीय अध्याय के अन्त में अभयनन्दी को नमस्कार किया है । शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास का रचनाकाल सं० १११०—११२५ तक है, यह हम अनुपद लिखेंगे । अतः अभयनन्दी सं० १११० से पूर्ववर्ती है, यह स्पष्ट है ।

४—चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के कर्ता वीरनन्दी का काल सं० १०३५ (शकाब्द ९००) के लगभग है ।[3] वीरनन्दी की गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

श्रीगणन्दी
|
विबुधनन्दी
|
अभयनन्दी
|
वीरनन्दी

यदि वीरनन्दी का गुरु अभयनन्दी ही महावृत्ति का रचयिता हो, तो उसका काल सं० १०३५ से पूर्व निश्चित है ।

---

१. अकलङ्क चरित में अकलङ्क का बौद्धों के साथ महान् वाद का काल विक्रमाब्द शताब्दीय ७०० दिया है। भारतवर्ष का वृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ १२४, द्वि० सं० । सं० साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १७३ में ई० सन् ७५० लिखा है ।

२. जैन अभयनन्दिस्वीकृतौ पितृकमातृकशब्दावपि संगृहीतौ ।

३. जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृष्ठ १११; द्वि० सं०पृष्ठ ३८ ।

५—श्री अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने अभयनन्दी का काल ई० सन् ९६० (=वि० सं १०१७) के लगभग माना है।[1]

६—डा० बेल्वालकर ने अभयनन्दी का काल ई० सन् ७५० (=वि० सं० ८०७) स्वीकार किया है।[2]

इन सब प्रमाणों के आधार पर हमारा विचार है कि अभयनन्दी का काल सामान्यतया वि० सं० ८००-१०३५ के मध्य है। बहुत सम्भव है कि वीरनन्दी का गुरु ही महावृत्तिकार अभयनन्दी हो, उस अवस्था में अभयनन्दी का काल वि० सं० ९७५-१०३५ के मध्य युक्त होगा।

३ प्रभाचन्द्राचार्य (सं० १०७५-११२५ वि०)

आचार्य प्रभाचन्द्र ने जैनेन्द्र व्याकरण पर '**शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास**' नाम्नी महती व्याख्या लिखी है। शब्दाम्भोजभास्कर की पुष्पिका लेख से विदित होता है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस व्याख्या का प्रणयन जयदेवसिंह के राज्यकाल में किया था।[3] प्रभाचन्द्राचार्य मालवा के धारानगरी के निवासी थे।[4] यह व्याख्या अभयनन्दी की महावृत्ति से भी विस्तृत है। परन्तु इस समय समग्र उपलब्ध नहीं होती।

प्रभाचन्द्र ने 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' के तृतीय अध्याय के अन्त में अभयनन्दी को नमस्कार किया है। अतः यह अभयनन्दी से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का कर्त्ता भी यही प्रभाचन्द्र है, क्योंकि उसने इन दोनों ग्रन्थों में निरूपित अनेकान्त

---

१. जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक (१९४१) पृष्ठ ८३।

२. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा ५०।

३. श्रीजयदेवसिंहराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठि-प्रमाणोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन··· शब्दाम्भोजभास्कर की पुष्पिका लेख। द्र० 'श्री जैन सत्यप्रकाश' पत्रिका वर्ष ७ अंक १-२-३ (दीपोत्सवी अंक) पृष्ठ ८३।

४. इसी पृष्ठ की टि० ३, तथा पृष्ठ ५८७ की टि० १-४।

चर्चा का उल्लेख शब्दाम्भोजभास्करन्यास के प्रारम्भ में किया है ।[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्तिम लेख से विदित होता है कि प्रभाचन्द्र ने यह ग्रन्थ महाराज भोज के काल में रचा है ।[2] महाराज भोज का राज्यकाल सं० १०७८-१११० तक है । प्रभाचन्द्र ने आराधनाकथाकोश भोज के उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के राज्यकाल में लिखा है ।[3] शब्दाम्भोजभास्करन्यास की रचना भी महाराज जयचन्द्र के काल में हुई, यह उसकी पुष्पिका के लेख से विदित होता है ।[4]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्र का काल सामान्यतया सं० १०७५-११२५ तक मानना चाहिये ।

४—भाष्यकार ? (स० १२०० वि० से पूर्व)

आर्य श्रुतकीर्ति अपनी पञ्चवस्तु प्रक्रिया के अन्त में लिखता है—

'वृत्तिकपाटसंपुटयुगं भाष्योऽथ शय्यातलम्' ।

इस से विदित होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण पर कोई भाष्य नाम्नी व्याख्या लिखी गई थी । इसके लेखक का नाम अज्ञात है, और यह भाष्य भी सम्प्रति अनुपलब्ध है ।

आर्य श्रुतकीर्ति का काल विक्रम की १२ वीं शती का प्रथम

---

१. कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः............तथा प्रपंचतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिनिरुपितमिह द्रष्टव्यम् ।

२. श्रीमद्भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रमाणार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।

३. श्रीमज्जयदेवसिंहराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना.........श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः ।

४. श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवसिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन । शब्दाभोजभास्करपुष्पिका नो लेख । जैन सत्यप्रकाश वर्ष ७ दोपोत्सवी अंक, पृष्ठ ८३ टि० ३४ ।

चरण है, यह हम इसी प्रकरण में अनुपद लिखेंगे। अतः उसके द्वारा स्मृत भाष्य का रचयिता वि० सं० १२०० से पूर्व भावी होगा, इतना निश्चित है।

५–महाचन्द्र (२० वीं शताब्दी वि०)

पण्डित महाचन्द्र ने लघु जैनेन्द्र नाम्नी एक वृत्ति लिखी है। यह ग्रन्थ विक्रम की २० वीं शताब्दी का है। यह वृत्ति अभयनन्दी की महावृत्ति के आधार पर लिखी गई है।

प्रक्रियाग्रन्थकार

१–आर्य श्रुतकीर्त्ति (सं० १२२५ वि०)

आर्य श्रुतकीर्ति ने जैनेन्द्र व्याकरण पर **'पञ्चवस्तु'** नामक प्रक्रियाग्रन्थ रचा है। कनाड़ी भाषा के चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता अग्गलदेव ने श्रुतकीर्त्ति को अपना गुरु लिखा है। चन्द्रप्रभचरित की रचना शकाब्द १०११ (वि० सं० ११४६) में हुई है। यदि अग्गलदेव का गुरु श्रुतकीर्ति ही पञ्चवस्तुप्रक्रिया ग्रन्थ का रचयिता हो, तो श्रुति-कीर्ति का काल विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रथम चरण होगा।

२–वंशीधर (२० वीं शताब्दी वि०)

पं० वंशीधर ने अभी हाल में जैनेन्द्रप्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इसका केवल पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है।

जैनेन्द्र व्याकरण का दाक्षिणात्य संस्करण

जैनेन्द्र व्याकरण का 'दाक्षिणात्य संस्करण' के नाम से जो ग्रन्थ प्रसिद्ध है, वह आचार्य देवनन्दी की कृति नहीं है, यह हम सप्रमाण लिख चुके हैं। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम **'शब्दार्णव'** है।

शब्दार्णव का संस्कर्त्ता–गुणनन्दी (सं० ६१०-६६० वि०)

आचार्य देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण में परिवर्तन और परि-वर्धन करके उसे नवीन रूप में परिष्कृत करने वाला आचार्य गुणनन्दी है। इसमें निम्न हेतु है—

१—सोमदेव सूरि ने 'शब्दार्णव' पर 'चन्द्रिका' नाम्नी लघ्वी टीका लिखी है। उसके अन्त में वह अपनी टीका को गुणनन्दी विर-

चित शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिये नौका समान लिखता है[1]। टीका का 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नाम भी तभी उपपन्न होता है जब कि मूल ग्रन्थ का नाम 'शब्दार्णव' हो।

२. जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में लिखा है—गुणनन्दी ने जिसके शरीर को विस्तृत किया है, उस शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिये यह प्रक्रिया साक्षात् नौका के समान है।[2]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य गुणनन्दी ने ही मूल जैनेन्द्र व्याकरण में परिवर्तन और परिवर्धन करके उसे इस रूप में सम्पादित किया है और गुणनन्दी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ का नाम 'शब्दार्णव' है। अत एव सोमदेव सूरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में पूज्यपाद[3] के साथ गुणनन्दी को भी नमस्कार किया है। इसी प्रकार 'शब्दार्णव' के धातुपाठ में चुरादिगण के अन्त में गुणनन्दी का नामोल्लेख[4] भी भी तभी सुसम्बद्ध हो सकता है, जब कि शब्दार्णव का सम्बन्ध गुणनन्दी के साथ हो।

काल

जैन सम्प्रदाय में गुणनन्दी नाम के कई आचार्य हुए हैं। अतः किस गुणनन्दी ने शब्दार्णव का सम्पादन किया, यह अज्ञात है। जैन शाकटायन व्याकरण जैनेन्द्र शब्दानुशासन की अपेक्षा अधिक पूर्ण है, उस में किसी प्रकार के उपसंख्यान आदि की आवश्यकता नहीं है।[5] प्रतीत होता है, गुणनन्दी ने जैन शाकटायन व्याकरण की पूर्णता को देख कर ही पूज्यपाद विरचित शब्दानुशासन को पूर्ण करने का विचार किया हो और उस में परिवर्तन तथा परिवर्धन करके उसे इस

१. श्रीसोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दार्णवाब्धौ।

२. सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवनिर्णयं, नावस्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात् स्वयं प्रक्रिया।

३. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमावरव्रतिपूजितपादयुग्मम्।

४. शब्दब्रह्मा स जीयाद् गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशः सुसौख्यः।

५. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने। चिन्तामणि टीका के प्रारम्भ में।

रूप में सम्पादित किया हो। शाकटायन व्याकरण अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल में लिखा गया है।[1] अमोघवर्ष का राज्यकाल सं० ८७१–९२४ तक है। अतः शब्दार्णव की रचना उस के अनन्तर काल की है।

श्रवणबेल्गोल के ४२, ४३ और ४७ वें शिलालेख में किसी गुणनन्दी आचार्य का उल्लेख मिलता है। ये बलाकपिच्छ के शिष्य और गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे। इन्हें न्याय, व्याकरण और साहित्य का महाविद्वान् लिखा है।[2] अतः सम्भव है ये ही शब्दार्णव व्याकरण के सम्पादक हों। कर्नाटककविचरित के कर्त्ता ने गुणनन्दी के प्रशिष्य और देवेन्द्र के शिष्य पम्प का जन्मकाल सं० ९५९ लिखा है। अतः गुणनन्दी का काल विक्रम की दशम शताब्दी का उत्तरार्ध है।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के कर्त्ता वीरनन्दी का काल शक सं० ९०० (वि० सं० १०३५) के लगभग है। वीरनन्दी गुणनन्दी की शिष्य परम्परा में तृतीय पीढ़ी में है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3] प्रति पीढ़ी न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का अन्तर मानकर गुणनन्दी का काल सं० ९६० के लगभग सिद्ध होता है। अतः स्थूलतया गुणनन्दी का काल सं० ९१०—९६० तक मानना अनुचित न होगा।

शब्दार्णव का व्याख्याता — सोमदेव सूरि (सं० ११६२)

सोमदेव सूरि ने शब्दार्णव व्याकरण की 'चन्द्रिका' नाम्नी अल्पाक्षर वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी की सनातन जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

शब्दार्णवचन्द्रिका के प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक से विदित होता है कि सोमदेवसूरि ने यह वृत्ति मूलसंघीय मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजङ्गसुधारक) और उनके शिष्य हरिश्चन्द्र यति के लिये बनाई है।[4]

---

१. इस के विषय में विस्तार से आगे शाकटायन के प्रकरण में लिखेंगे।

२. तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चारित्रचक्रेश्वरः, तर्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः।

३. पूर्व पृष्ठ ५८५।

४. श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधमानोर्मेघेन्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य। राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय॥

काल—शब्दार्णवचन्द्रिका की मुद्रित प्रति के अन्त में जो प्रशस्ति छपी है उन से ज्ञात होता है कि सोमदेव सूरि ने शिलाहार वंशज भोजदेव (द्वितीय) के राज्यकाल में कोल्हापुर के 'अर्जरिका' ग्राम के त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिर में शकाब्द ११२७ (वि० सं० १२६२) में इस टीका को पूर्ण किया।[1]

शब्दार्णवप्रक्रियाकार

किसी अज्ञातनामा पण्डित ने शब्दार्णवचन्द्रिका के आधार पर शब्दार्णवप्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इस प्रक्रिया के प्रकाशक महोदय ने ग्रन्थ का नाम जैनेन्द्रप्रक्रिया और ग्रन्थकार का नाम गुणनन्दी लिखा है, ये दोनों अशुद्ध हैं। प्रतीत होता है, ग्रन्थ के अन्त में 'सैषा गुणनन्दितानितवपुः' श्लोकांश देखकर प्रकाशक ने गुणनन्दी नाम की कल्पना की है।

५—वामन (सं० ३५० वा ६०० से पूर्व)

वामन ने **'विश्रान्तविद्याधर'** नाम का व्याकरण रचा था। इस व्याकरण का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र और वर्धमान सूरि ने अपने ग्रन्थों में किया है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में इस व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं, और वामन को **'सहृदयचक्रवर्ती'** उपाधि से विभूषित किया है।[2]

काल

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। अतः नाम के अनुरोध से कालनिर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पुनरपि काशकुशावलम्ब न्यास से हम इसके कालनिर्णय का प्रयत्न करते हैं—

१. विक्रम की १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान आचार्य

---

१. स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशांतर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थान·········त्रिभुवनतिलकजिनालये·········श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्ड ...... श्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकसप्तविंशति (११२७) तमक्रोधनवत्सरे·········सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिका नामवृत्तिरिति।

२. सहृदयचक्रवर्त्तिना वामनेन तु हेम्नः इति सूत्रेण······। पृष्ठ १६८।

हेमचन्द्र ने हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञटीका में विश्रान्तविद्याधर का उल्लेख किया है।[1]

२. इसी काल का वर्धमान सूरि गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

दिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्या .... वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्त्ता।[2]

३. प्रभावकचरितान्तर्गत मल्लवादी प्रबन्ध में लिखा है—

शब्दशास्त्रे च विश्रान्तविद्याधरवराभिधे।
न्यासं चक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्॥[3]

इस से स्पष्ट है कि मल्लवादी ने वामनप्रोक्त विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर 'न्यास' लिखा था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी हैम व्याकरण की स्वोपज्ञ टीका में इस न्यास को उद्धृत किया है।

इस प्रमाण के अनुसार वामन का काल निश्चय करने के लिये मल्लवादी का काल जानना आवश्यक है। अतः प्रथम मल्लवादी के काल का निर्णय करते हैं—

मल्लवादी का काल—आचार्य मल्लवादी का काल भी अनिश्चित है। अतः हम यहां उन सब प्रमाणों को उद्धृत करते हैं, जिन से मल्लवादी के काल पर प्रकाश पड़ता है।

१. हेमचन्द्र अपने व्याकरण की बृहती टीका में लिखता है—
'अनुमल्लवादिनः तार्किकाः।[4]

२. धर्मकीर्तिकृत न्यायविन्दु पर धर्मोत्तर नामक बौद्ध विद्वान् ने टीका लिखी है, उस पर आचार्य मल्लवादी ने धर्मोत्तरटिप्पण लिखा है। ऐतिहासिक व्यक्ति धर्मोत्तर का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी मानते हैं।[5]

३. पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

---

१. द्र०—आगे हेमचन्द्र के प्रकरण में। २. पृष्ठ १, २।

३. निर्णयसागर सं० पृष्ठ ७८।

४. २।२।३६॥ ५. महोनलाल दलीचन्द देसाईकृत 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ १३६।

'आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकान्तजयपताका' नामक ग्रन्थ में वादिमुख्य मल्लवादी कृत 'सन्मतिटीका' के कई अवतरण दिये हैं, और श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी ने अनेकानेक प्रमाणों से हरिभद्र सूरि का समय वि० सं० ७५७-८२७ तक सिद्ध किया है। अतः आचार्य मल्लवादी विक्रम की आठवीं शताब्दी के पहले के विद्वान् हैं, यह निश्चय है।'[1]

हमारे विचार में हरिभद्रसूरि वि० सं० ७५७ से प्राचीन है।[2]

४. राजशेखर सूरि कृत प्रबन्धकोश के अनुसार मल्लवादी वलभी के राजा शीलादित्य का समकालिक है। प्रबन्धकोश में लिखा है—मल्लवादी ने बौद्धों से शास्त्रार्थ करके उन्हें वहां से निकाल दिया था। वि० सं० ३७५ में म्लेच्छों के आक्रमण से वलभी का नाश हुआ था, और उसी में शीलादित्य की मृत्यु हुई थी।[3] पट्टावलीसमुच्चय के अनुसार वीरनिर्वाण से ८४५ वर्ष बीतने पर वलभीभंग हुआ।[4] कई विद्वानों के मतानुसार वीर संवत् का आरम्भ विक्रम ४७० वर्ष पूर्व हुआ था।[5] तदनुसार भी वलभीभंग का काल वि० सं० ३७५ स्थिर होता है।[6] प्रबन्धकोश के सम्पादक श्री जिनविजयजी ने '**विक्रमादित्य-**

---

१. प्र० सं० पृष्ठ १६४, द्वि० सं० पृष्ठ १६६।

२. हरिभद्रसूरि का वि० सं० ५८५ में स्वर्गवास हुआ था, ऐसी जैन संप्रदाय में श्रुतिपरम्परा है (जैन साहित्य नो सं० इतिहास पृष्ठ १६५) यही काल ठीक है। हरिभद्रसूरि को सं० ७५७-८२७ तक मानने में मुख्य आधार इत्सिग के वचनानुसार भर्तृहरि और धर्मपाल को वि० सं० ७०० के आस पास मानना है। इत्सिग का भर्तृहरि विषयक लेख भ्रान्तियुक्त है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ३६१-३७५ तक) लिख चुके हैं।

हमारा विचार है पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित चीनी यात्रियों की तिथियां भी युक्त नहीं हैं। उन पर पुनः विचार होना चाहिए।

३. पृष्ठ २१–२२। विक्रमादित्य भूपालात् पञ्चर्षित्रिक (३७५) वत्सरे जातोऽयं वलभीभङ्गो ज्ञानिनः प्रथमं ययुः। ४. अत्रान्तरे श्री वीरात् पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशत ८४५ वर्षातिक्रमे वलभीभंगः। पृष्ठ ५०।

५. पट्टावलीसमुच्चय में लिखा है—"श्रीवीरात् ५५० विक्रमवंशः, तदनु वर्ष ३८ शून्यो वंशः"। पृष्ठ १९८। तदनुसार वि० सं० २९५ में वलभी भंग हुआ। हमें पट्टावली का यह लेख अशुद्ध प्रतीत होता है। ६. पृष्ठ १०९।

भूपालात् पञ्चर्षित्रिकवत्सरे' का अर्थ ५७३ किया है, यह **'अङ्कानां वामतो गतिः'** नियमानुसार ठीक नहीं है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' में एक प्राकृत गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

पणसयरी वाससयं तिन्निसयाइं अइक्कमेऊण।
विक्कमकालाऊ तओ वलीहभंगो समुपन्नो॥

यही गाथा पुरातनप्रबन्धसंग्रह में भी पृष्ठ ८३ पर उद्धृत है।

इस गाथा में भी विक्रम से ३७५ वर्ष पीछे ही वलभीभंग का उल्लेख है।

५. अनेकान्तजयपताका (बड़ोदा, सन् १९४०) की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १८ पर एक जैन गाथा उद्धृत है—

वीराओ वयरो वासाण पणसए दससएण हरिभद्दो।
तेरहिं बपभट्टी अट्ठहिं पणयाल वलहि खओ॥

इस गाथा के अनुसार भी वलभीभंग वीर संवत् ८४५ (=वि० सं० ३७५) में हुआ था।

६. प्रभावकचरित में लिखा है—

श्रीवीरवत्सरादथ शतादष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये मल्लवादी बौद्धांस्तद् व्यन्तरांश्चापि॥'

इस के अनुसार महावीर संवत् ८८४ में मल्लवादी ने बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। वीर संवत् के आरम्भ के विषय में जैन ग्रन्थों में अनेक मत हैं। 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' के लेखक ने विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व वीर संवत् का प्रारम्भ मानकर वि० सं० ४१४ में मल्लवादी के शास्त्रार्थ का उल्लेख किया है।

यह काल संख्या ४, ५ के प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि प्रबन्धकोश प्रबन्धचिन्तामणि, और पुरातनप्रबन्धकोश में दिया हुआ ३७५ वर्षमान महाराज विक्रम की मृत्यु के समय से गिना जाय (जिसकी श्लोक और गाथा के शब्दों से अधिक सम्भावना है) तो प्रभावकचरित का लेख उपपन्न हो जाता है। विक्रम का राजकाल लगभग ३९ वर्ष का था।[2]

---

१. निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ७४।

२. *सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में विक्रम का राजकाल*

प्राचीन जैन-परम्परा के अनुसार मल्लवादी सूरि का काल वि० सं० ४०० के लगभग निश्चित है। और विश्रान्तविद्याधर पर न्यास ग्रन्थ लिखनेवाला भी यही व्यक्ति है। यदि प्रबन्धकोश के सम्पादक के मतानुसार संवत् ५७३ में वलभीभंग मानें,[1] तब भी मल्लवादी सं० ६०० से अर्वाचीन नहीं है। तदनुसार विश्रान्तविद्याधर के कर्त्ता वामन का काल वि० सं० ४०० और पक्षान्तर में ६०० से प्राचीन है, इतना निश्चित है।

एक कठिनाई—हमने विश्रान्तविद्याधर के रचयिता वामन का जो काल ऊपर निर्धारित किया है, उस में एक कठिनाई भी है। उस का भी हम निर्देश कर देना उचित समझते हैं, जिस से भावी लेखकों को विचार करने में सुगमता हो। वह है—

वर्धमान 'गणरत्नमहोदधि' में लिखता है—

'भोजमतमाश्रित्य वामनोक्तः कलापिशष्पप्राच्यादिविशेषो नाश्रितः।'[2]

इसके अनुसार वामन सरस्वती-कण्ठाभरण से उत्तरकालिक प्रतीत होता है। परन्तु पूर्व-निर्दिष्ट सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर 'विश्रान्तविद्याधर' का कर्त्ता वि० सं० ६०० से उत्तरवर्ती किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः वर्धमान के लेख का भाव 'वामनोक्त विभाग हमने भोज के मत को आश्रय करके स्वीकार नहीं किया' ऐसा समझना चाहिए

विश्रान्तविद्याधर के व्याख्याता

१—वामन

वर्धमानविरचित 'गणरत्नमहोदधि' से विदित होता है कि वामन ने अपने व्याकरण पर स्वयं दो टीकाएं लिखी थीं। वह लिखता है—

---

६३ वर्ष लिखा है। सम्भव है, उस में वा उस के मूल में (जिसके आधार पर स० प्र० में लिखा है) लेखक प्रमाद से ३६ के अंकों का विपर्यय होकर ६३ बन गया होगा।

१. सम्पादक ने यह कल्पना पाश्चात्यों द्वारा कल्पित वलभी संवत् की अशुद्ध गणना के साथ सामञ्जस्य करने के लिए की है, जो सर्वथा चिन्त्य है।

२. पृष्ठ १८२।

'वामनस्तु बृहद्वृत्तौ यवमाषेति पठति।'[1]

इस उद्धरण में 'बृहत्' विशेषण का प्रयोग करने से व्यक्त है कि वामन ने स्वयं **लघ्वी** और **बृहती** दो व्याख्याएं रची थीं, अन्यथा 'बृहत्' विशेषण व्यर्थ होता है। वामनकृत दोनों वृत्तियां तथा मूल सूत्र ग्रन्थ इस समय अप्राप्त हैं।

२—मल्लवादी

तार्किकशिरोमणि मल्लवादी ने वामनकृत विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर न्यास ग्रन्थ लिखा था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं।[2] इस न्यास का उल्लेख वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कई स्थानों पर किया है।[3] हैम शब्दानुशासन की बृहती टीका में भी यह असकृत् उद्धृत है।

६. भट्ट अकलङ्क (सं० ७००-८००)

भट्ट अकलङ्क ने किसी व्याकरण का प्रवचन किया था। उसके स्वोपज्ञ शब्दानुशासन की **मञ्जरीमकरन्द** टीका के प्रारम्भिक भाग का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसमें प्रथम पाद के अन्त में निम्न लेख है—

'इति श्रीभट्टाकलङ्कदेवविरचितायां स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तेर्भाषामञ्जर्याष्टीकायां मञ्जरीमकरन्दसमाख्यायां प्रथमः पादः।'

द्र० सूचीपत्र भाग २ खण्ड १। इस हस्तलेख की संख्या लिखनी रह गई, परन्तु यह संख्या ५०७६ से कुछ आगे है।

काल

अकलङ्कचरित के अनुसार भट्ट अकलङ्क का बौद्धों के साथ जो महान् वाद हुआ था, उसका काल वि० सं० ७०० है।[4] सीताराम जोशी ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में अकलङ्क का काल ७५० ई०=८०७ वि० स्वीकार किया है।[5]

---

१. पृष्ठ २३७। २. पूर्व पृष्ठ में प्रभावकचरित का श्लोक। ३, विश्रान्तन्यासकृत्तु असमर्थत्वाद् दण्डपाणिरित्येव मन्यते। पृष्ठ ७१। विश्रान्तन्यासस्तु किरात एव कैरातो म्लेच्छ इत्याह। पुष्ठ ६२।
४. द्र० पूर्व पृष्ठ ५८५, टि० १।

७. पाल्यकीर्ति (शाकटायन) (सं० ८७१-९२४)

व्याकरण के वाङ्मय में शाकटायन नाम से दो व्याकरण प्रसिद्ध हैं। एक प्राचीन आर्ष और दूसरा अर्वाचीन जैन व्याकरण। प्राचीन आर्ष शाकटायन व्याकरण का उल्लेख हम पूर्व कर चुके[1]। अब अर्वाचीन जैन शाकटायन व्याकरण का वर्णन करते हैं।

जैन शाकटायन तन्त्र का कर्त्ता

उपलब्ध शाकटायन व्याकरण के कर्तृत्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के जो विचार रहे उनका निर्देश 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' द्वारा प्रकाशित शाकटायन व्याकरण की भूमिका में राबर्ट बिरवे ने किया है। ओपर्ट जिसने १८९३ ई० में शाकटायन व्याकरण को प्रकाशित किया, का मत है कि प्राचीन शाकटायन ही इस वर्तमान शाकटायन व्याकरण का कर्त्ता है। इसके विपरीत बर्नेल कीलहार्न बूहलर आदि का मत है कि यह व्याकरण चान्द्र जैनेन्द्र और काशिका से भी अर्वाचीन है।

शाकटायन व्याकरण का कर्त्ता—इस अभिनव शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता का वास्तविक नाम '**पाल्यकीर्ति**' है। वादिराजसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' में लिखा है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्त्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥

अर्थात्—उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या कहना जो उस के 'श्री' पद का श्रवण करते ही लोगों को वैयाकरण बना देती है।

इस श्लोक में '**श्रीपदश्रवणं यस्य**' का संकेत शाकटायन व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति की ओर है। उसके मङ्गलाचरण का प्रारम्भ '**श्रीवीरममृतं ज्योतिः**' से होता है। पार्श्वनाथचरित की पञ्जिका टीका के रचयिता शुभचन्द्र ने पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

---

१. द्र०—पृष्ठ १९०-१९८।

तस्य पाल्यकीर्त्तेर्महौजसः श्रीपदश्रवणं श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि, तेषां श्रवणमाकर्णनम् ।

इससे स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता का नाम पाल्यकीर्ति था । शाकटायन-प्रक्रिया के मङ्गलाचरण में भी पाल्यकीर्ति को नमस्कार किया है ।

परिचय

आचार्य पाल्यकीर्त्ति को कुछ विद्वान् श्वेताम्बर सम्प्रदाय का मानते हैं, और कुछ दिगम्बर सम्प्रदाय का । परन्तु पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदाय के थे ।[1] यह दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का अन्तरालवर्ती सम्प्रदाय था ।[2] यापनीय सम्प्रदाय के नष्ट हो जाने से दोनों सम्प्रदाय वाले इन्हें अपना आचार्य मानते हैं । पाल्यकीर्ति ने अमोघावृत्ति में **छेदक सूत्र निर्युक्ति** और **कालिक सूत्र** आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों का आदर पूर्वक उल्लेख किया है ।

वंश तथा शाकटायन नाम का हेतु—पाणिनि का एक सूत्र है, **गोषदादिभ्यो वुन्** (५ । २ । ६२) इससे गोषद् आदि से मत्वर्थ में अध्याय अथवा अनुवाक अर्थ गम्यमान होने पर वुन् प्रत्यय होता है । 'गोषद्' शब्द जिस अध्याय अथवा अनुवाक में होगा, वह 'गोषदकः' कहलायेगा । इसी प्रकार **इषेत्वकः देवस्यत्वकः** आदि । पाल्यकीर्ति ने इस गोषदादिगणनिर्देशक सूत्र के स्थान में **घोषदादेर्वुच्**[3] (३ । ३ । १७८) सूत्र पढ़ा है । इस प्रकार उसने प्राचीन परम्परा-प्राप्त 'गोषद्' शब्द को हटाकर 'घोषद्' का निर्देश किया है । यह विशिष्ट परिवर्तन किसी अतिमहत्त्वपूर्ण परिस्थिति का सूचक है । **मैत्रायणी** संहिता १ । १ । २ और काठक संहिता १ । २ का आदि

---

१. यापनीययतिग्रामाग्रणीः । मलयगिरिकृत नान्दीसूत्र की टीका में, पृ० १५ । २. द्र० पं० महेन्दुकुमार न्यायाचार्य की न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ की प्रस्तावना ।

३. शाकटायन व्याकरण की अमोघा तथा चिन्तामणि वृत्तियों में घोषडादेर्वुच् पाठ है । वह अशुद्ध है, क्योंकि 'घोषड' किसी शाखा में उपलब्ध नहीं होता है । हैम ने पाल्यकीर्ति का अनुसरण करते हुए घोषडादि का ही निर्देश किया है ।

मन्त्र है—**गोषदसि**। इसमें 'गोषद' शब्द-समूह श्रुत है। तैत्तिरीय संहिता १।१।२ में पाठ है **यज्ञस्य घोषदसि**। इसमें 'घोषद्' शब्द श्रुत है। मन्त्रों की इस तुलना और पाणिनि तथा पाल्यकीर्ति के सूत्रपाठों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्ति मूलतः तैत्तिरीय शाखा अध्येता ब्राह्मण रहा होगा और इसका गोत्र 'शाकटायन' होगा। ब्राह्मण धर्म का परिवर्तन हो जाने पर भी पाल्यकीर्ति के लिये शाकटायन गोत्रनाम का व्यवहार होता रहा। ऐसी अवस्था में शाकटायन के लिये गोत्र-सम्बन्ध वाचक **शकट-पुत्र** अथवा **शकटाङ्गज** आदि पदों का प्रयोग युक्त है।

काल

'**ख्याते दृश्ये**'[1] सूत्र के अमोघा वृत्ति में '**अरुणद्देवः पाण्ड्यम्**' और '**अदहदमोघवर्षोऽरातीन्**' उदाहरण दिये हैं। द्वितीय उदाहरण में अमोघवर्ष (प्रथम) द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने की घटना का उल्लेख है। ठीक यही वर्णन राष्ट्रकूट के शक सं० ८३२ (वि० सं० ९६७) के एक शिलालेख में '**भूपालान्**[2] **कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह**' के रूप में किया है। शिलालेख अमोघवर्ष के बहुत पश्चात् लिखा गया है। अतः उस काल में उक्त घटना का प्रत्यक्ष न होने से '**अदहत्**' के स्थान पर '**ददाह**' क्रिया का प्रयोग किया है। अमोघा वृत्ति में लङ् लकार का प्रयोग होने से विदित होता है कि पाल्यकीर्ति अमोघवर्ष (प्रथम) के काल में वर्तमान था। इसका एक प्रमाण महाराज अमोघदेव के नाम पर स्वोपज्ञवत्ति का 'अमोघा' नाम रखना भी है। सम्भव है पाल्यकीर्ति महाराज अमोघदेव का सभ्य रहा हो। महाराज अमोघदेव सं० ८७१ में सिंहासनारूढ़ हुए थे। उनका एक दानपात्र सं० ९२४ का उपलब्ध हुआ है। अतः यही समय पाल्यकीर्ति का भी है। तदनुसार निश्चय ही शाकटायन व्याकरण और उनकी अमोघा वृत्ति की रचना सं० ८७१-९२४ के मध्य में हुई।

शाकटायन तन्त्र की विशेषता

इस व्याकरण का टीकाकार यक्षवर्मा लिखता है—

---

१. शाकटायन ४।३।२०७॥

२. शिलालेख का मूलपाठ 'भूपालात्' है, यह प्रत्यक्ष अपपाठ है।

शाकटायन व्याकरण में इष्टियां पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, सूत्रों से पृथक् वक्तव्य कुछ नहीं है, उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र चन्द्र आदि आचार्यों ने जो शब्दलक्षण कहा है वह सब इस में है। और जो यहां नहीं है वह कहीं नहीं है। गणपाठ धातुपाठ लिङ्गानुशासन और उणादि इन चार के अतिरिक्त समस्त व्याकरण कार्य इस वृत्ति के अन्तर्गत है।[1]

इस व्याकरण में पाल्यकीर्ति ने लिङ्ग और समासान्त प्रकरण को समास प्रकरण में और एकशेष को द्वन्द्व प्रकरण में पढ़कर व्याकरण की प्रक्रियानुसारी रचना का बीज-वपन कर दिया था।[2] उत्तर काल में इस ने परिवृद्ध होकर पाणिनीय व्याकरण पर भी ऐसा आघात किया कि समस्त पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थकर्तृ क्रम की उपेक्षा करके प्रक्रियानुसारी बना दिया गया। उससे पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त दुरूह हो गया।

इस व्याकरण के सूत्र पाठ में **आर्यवज्र** (१।२।१३) **सिद्धनन्दी** (२।१।२२९) और **इन्द्र** (१।२।३७) नामक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है। अमोघावृत्ति में **आपिशलि काशकृत्स्न** (३।१।१९९) **पाणिनि वैयाघ्रपद्य** (३।२।१६१) आदि का उल्लेख भी मिलता है।

अन्य ग्रन्थ

१—धातुपाठ, **२—उणादिसूत्र**, **३—गणपाठ**, **४—लिङ्गानुशासन**, **५—परिभाषापाठ** का निर्देश अगले अध्यायों में यथास्थान करेंगे।

---

१. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः प्रथक्। संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने ॥ ९ ॥ इन्द्रश्चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्। तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ १० ॥ गणधातुपाठयोगेन धातून् लिङ्गानुशासने लिङ्गगतम्। औणादिकानुणादौ शेषं निश्शेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥ ११ ॥

२. शाकटायन अमोघावृत्ति की प्रस्तावना में डा० आर बिरवे ने भी शाकटायन व्यकरण को प्रक्रियानुसारी माना है (द्र० सन्दर्भ सं० २५)।

सरस्वतीकण्ठाभरण का आधार

'सरस्वतीकण्ठाभरण' का मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्र-व्याकरण हैं। सूत्ररचना और प्रकरणविच्छेद आदि में ग्रन्थकार ने पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा चान्द्रव्याकरण का आश्रय अधिक लिया है। यह इन तीनों ग्रन्थों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट है। पाणिनीय शब्दानुशासन के अध्ययन करनेवालों को चान्द्रव्याकरण और सरस्वतीकण्ठाभरण का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता

१—भोजराज

भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन की व्याख्या लिखी थी। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१. गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

'भोजस्तु सुखादयो दश क्यज्विधौ निरूपिता इत्युक्तवान्'।[1]

वर्धमान के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भोजराज ने स्वयं अपने ग्रन्थ की वृत्ति लिखी थी। वर्धमान ने यह उद्धरण **'जातिकालसुखादिभ्यश्च'**[2] सूत्र की वृत्ति से लिया है।

२. क्षीरस्वामी अमरकोष १।२।२४ की टीका में लिखता है—
'इल्वलास्तारकाः। इल्वलोऽसुर इति उणादौ श्रीभोजदेवो व्याकरोत्'।

क्षीरस्वामी ने यह उद्धरण सरस्वतीकण्ठाभरणान्तर्गत **'तुल्वलेल्वलपल्वलादयः'**[3] उणादिसूत्र की वृत्ति से लिया है। यद्यपि यह पाठ दण्डनाथ की वृत्ति में भी उपलब्ध होता है, तथापि क्षीरस्वामी ने यह पाठ भोज के ग्रन्थ से ही लिया है, यह उसके 'श्रीभोजदेवो व्याकरोत्' पदों में स्पष्ट है।

वर्धमान और क्षीरस्वामी ने भोज के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं, जो सरस्वतीकण्ठाभरण की व्याख्या से ही उद्धृत किये

---

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ७। २. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।३।१०१॥ ३. सरस्वतीकण्ठाभरण २।३।१२२॥

जा सकते हैं। अतः प्रतीत होता है कि भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन पर कोई वृत्ति लिखी थी।

इसकी पुष्टि दण्डनाथविरचित हृदयहारिणी टीका के प्रत्येक पाद की अन्तिम पुष्पिका से भी होती है। उस का पाठ इस प्रकार है—

'इति श्रीदण्डनाथनारायणभट्टसमुद्धृतायां सरस्वतीकण्ठाभरणस्य लघुवृत्तौ **हृदयहारिण्यां**……………'।

इस पाठ में '**समुद्धृतायां और लघुवृत्तौ**' पद विशेष महत्व के हैं। इनसे सूचित होता है कि नारायणभट्ट ने किसी विस्तृत व्याख्या का संक्षेपमात्र किया है, अन्यथा वह 'समुद्धृतायां' न लिखकर 'विरचितायां' आदि पद रखता। प्रतीत होता है कि उसने भोजदेव की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति का उसी के शब्दों में संक्षेप किया है।[1] अत एव क्षीर वर्धमान आदि ग्रन्थकारों के द्वारा भोज के नाम से उद्धृत वृत्ति के पाठ प्रायः नारायणभट्ट की वृत्ति में मिल जाते हैं।

भोज के अन्य ग्रन्थ—महाराज भोजदेव ने व्याकरण के अतिरिक्त योगशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, साहित्य और कोष आदि विषयों के अनेक ग्रन्थ रचे हैं।

२—**दण्डनाथ नारायण भट्ट** (१२ वीं शताब्दी वि०)

दण्डनाथ नारायणभट्ट नामक विद्वान् ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर '**हृदयहारिणी**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। दण्डनाथ ने अपने ग्रन्थ में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः इसके देश काल आदि का वृत्त अज्ञात है।

दण्डनाथ का नाम-निर्देश-पूर्वक सबसे प्राचीन उल्लेख देवराज की निघण्टु-व्याख्या में उपलब्ध होता है।[2] यह उसकी उत्तर सीमा है।

---

१. त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक ने इस अभिप्राय को न समझकर 'समुद्धृतायां' का संबन्ध काशिकावृत्ति के साथ जोड़ा है। द्र०—चतुर्थ भाग की भूमिका, पृष्ठ १२।

२. निघण्टु टीका पृष्ठ २१८, २९०, २९७ सामश्रमी संस्करण। त्रिवेन्द्रम संस्करण चतुर्थ भाग के भूमिकालेखक के. एस. महादेव शास्त्री ने दण्डनाथ के कालनिर्णय पर लिखते हुए सायण का ही निर्देश किया है, देवराज का उल्लेख नहीं किया है। द्र०—भूमिका, भाग ४, पृष्ठ १७।

देवराज सायण से पूर्ववर्ती है। सायण ने देवराज की निघण्टुटीका को उद्धृत किया है। देवराज का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी उत्तरार्ध माना जाता है।[1] इसलिये दण्डनाथ उससे प्राचीन है, इतना ही निश्चय से कहा जा सकता है।

हृदयहारिणी व्याख्या सहित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक साम्बशास्त्री ने 'दण्डनाथ' शब्द से कल्पना की है कि नारायणभट्ट भोजराज का सेनापति वा न्यायाधीश था।[2]

हृदयहारिणी टीका के चतुर्थ भाग के भूमिका-लेखक के. एस. महादेव शास्त्री का मत है कि दण्डनाथ मुग्धबोधकार वोपदेव से उत्तरवर्ती है। इस बात को सिद्ध करने के लिये उन्होंने कई पाठों की तुलना की है। उनके मत में दण्डनाथ का काल १३५०–१४५० ई० सन् के मध्य है।

हमें महादेव शास्त्री के निर्णय में सन्देह है। क्योंकि मुग्धबोध के साथ तुलना करते हुए जिन मतों का निर्देश किया है, वे मत मुग्धबोध से प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं। यथा निष्ठा में स्फायी को विकल्प से स्फी भाव का विधान क्षीरस्वामी कृत क्षीरतरङ्गिणी में भी उपलब्ध होता है—

'निष्ठायां स्फायः स्फी (६। १। १२) स्फीतः। ईदित्त्वं स्फायेरादेशानित्यत्वे लिङ्गम्—स्फातः। १। ३२६॥'

३—कृष्णलीलाशुक मुनि (सं० १२२५–१३५० वि० के मध्य)

कृष्णलीलाशुक मुनि ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर **'पुरुषकार'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम के हस्तलेख संग्रह में है। देखो—सूचीपत्र भाग ६, ग्रन्थाङ्क ३५। पं० कृष्णमाचार्य ने भी अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है। इस टीका में ग्रन्थकार ने पाणिनीय जाम्बवतीकाव्य के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।[3]

कृष्णलीलाशुक वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य है। इसका बनाया हुआ कृष्णकर्णामृत वा कृष्णलीलामृत नाम का स्तोत्र वैष्णवों

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ २११।
२. द्र०—भाग १, भूमिका पृष्ठ २, ३। ३. द्र०—पृष्ठ ३३६।

में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसने धातुपाठविषयक 'दैवम्' ग्रन्थ पर 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इससे ग्रन्थकार का व्याकरण-विषयक प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है।

कई विद्वान् कृष्णलीलाशुक को बंगदेशीय मानते हैं, परन्तु यह चिन्त्य है। 'पुरुषकार' के अन्त में विद्यमान श्लोक से विदित होता है कि वह दाक्षिणात्य है, काञ्चीपुर का निवासी है। इसका निश्चित काल अज्ञात है। कृष्णलीलाशुक-विरचित 'पुरुषकार' व्याख्या की कई पंक्तियां देवराज-विरचित निघण्टुटीका में उद्धृत हैं।[1] देवराज का समय सं० १३५०-१४०० के मध्य माना जाता है। अतः कृष्ण-लीलाशुक सं० १३५० से पूर्ववर्ती है। यह उसकी उत्तर सीमा है। पुरुषकार में आचार्य हेमचन्द्र का मत तीन बार उद्धृत है।[2] हेमचन्द्र का ग्रन्थलेखन काल सं० ११६६-१२२० के लगभग है। यह कृष्ण-लीलाशुक की पूर्व सीमा है। पं० सीताराम जयराम जोशी ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में कृष्णलीलाशुक का काल सन् ११०० ई० (वि० सं० ११५७) के लगभग माना है,[3] वह चिन्त्य है।

पुरुषकार में 'कविकामधेनु' नामक ग्रन्थ कई बार उद्धृत है। यह अमरकोष की टीका है।[4] इस ग्रन्थ में पाणिनीय सूत्र उद्धृत हैं।[5]

कृष्णलीलाशुक के देश काल आदि के विषय में हमने स्वसम्पादित दैवपुरुषकारवार्तिक के उपोद्घात में विस्तार से लिखा है। अतः इस विषय में वहीं (पृष्ठ ५-८) देखें। कृष्णलीलाशुक मुनि के अन्य ग्रन्थों का भी विवरण वहीं दिया है। पिष्टपेषणभय से यहां पुन नहीं लिखते।

---

१. क्षुप् प्रेरणे, क्षपि क्षान्त्यामिति कथादिषु [अ]पठितेऽपि बहुलमेतन्निदर्शनमित्यस्योदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। क्षपेः क्षपयन्ति क्षान्त्यां प्रेरणे क्षपयेत् इति दैवम्। निघण्टु टीका पृष्ठ ४३। देखो— दैवम् पुरुषकार, पृष्ठ ९५।

२. द्र०—पृष्ठ २२, २४, ३७; हमारा संस्क० पृष्ठ १९,२१, २३।

३. द्र०—पृष्ठ २५६। ४. यथा—प्रसूनं कुसुमं सुमम् (अमर २।४।१७) इत्यत्र कविकामधेनुः षूङ् प्राणिप्रसवे।......पृष्ठ ३३; हमारा संस्क० पृष्ठ २९। ५. 'स्यादाच्छुरितकं हासः.........इत्यमरसिंहश्च (१।६।३५) तच्चैतत् छुर छेदने क्तः। यावादिभ्यः कन् (अष्टा० ५।४।२९) इति कामधेनौ व्याख्यातम्। पृष्ठ १०३; हमारा संस्क० पृष्ठ ९४।

४—रामसिंहदेव

रामसिंहदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर '**रत्नदर्पण**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थकार का देशकाल अज्ञात है।

प्रक्रियाग्रन्थकार(सं० १५०० वि० से पूर्ववर्ती)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में लिखा है—

'तथा च सरस्वतीकण्ठाभरणप्रक्रियायां पदसिन्धुसेतावित्युक्तम्।'[1]

इससे प्रतीत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण पर '**पदसिन्धुसेतु**' नामक कोई प्रक्रियाग्रन्थ रचा गया था। ग्रन्थकार का नाम तथा देशकाल अज्ञात है। विठ्ठल द्वारा उद्धृत होने से यह ग्रन्थकार सं० १५०० से पूर्ववर्ती है, यह स्पष्ट है।

१०. बुद्धिसागर सूरि (सं० १०८० वि०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने '**बुद्धिसागर**' अपर नाम '**पञ्चग्रन्थी**' व्याकरण रचा था। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन विवरण[2] और हैम अभिधानचिन्तामणि[3] की व्याख्या में इसका निर्देश किया है।

परिचय

बुद्धिसागर[4] श्वेताम्बर सम्प्रदाय का आचार्य था। यह चन्द्र कुल के वर्धमान सूरि का शिष्य और जिनेश्वर सूरि का गुरुभाई था। कुछ विद्वान् जिनेश्वर सूरि को बुद्धिसागर सूरि का सहोदर भाई मानते हैं।

काल

बुद्धिसागर व्याकरण के अन्त में एक श्लोक है—

---

१. द्र०—भाग २, पृष्ठ ३१२।

२. उदरम् जाठरव्याधियुद्धानि। जठरे त्रिलिङ्गमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ १०। इसी प्रकार पृष्ठ ४, १०३, १३३ पर भी निर्देश मिलता है।

३. [उदरम्] त्रिलिङ्गोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ २४५।

४. बुद्धिसागर सूरि का उल्लेख पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृष्ठ ९५ के अभयदेव सूरि के प्रबन्ध में मिलता है।

'श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीतिके याति समासहस्रे ।
सश्रीकजाबालिपुरे तदाद्यं दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्' ॥[1]

तदनुसार बुद्धिसागर ने वि० सं० १०८० में उक्त व्याकरण की रचना की थी । अतः बुद्धिसागर का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह स्पष्ट है ।

व्याकरण का परिमाण

ऊपर जो श्लोक उद्धृत किया है, उसमें 'बुद्धिसागर व्याकरण' का परिमाण सात सहस्र श्लोक लिखा है । प्रतीत होता है कि यह परिमाण उक्त व्याकरण के खिलपाठ और उसकी वृत्ति के सहित है । प्रभावकचरित में इस व्याकरण का परिमाण आठ सहस्र श्लोक लिखा है । यथा—

'श्रीबुद्धिसागरसूरिश्चक्रे व्याकरणं नवम् ।
सहस्राष्टकमानं तद् श्रीबुद्धिसागराभिधम्' ॥

मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हर्षवर्धनकृत लिङ्गानुशासन की भूमिका पृष्ठ ३४ पर सम्पादक ने बुद्धिसागरकृत लिङ्गानुशासन का निर्देश किया है । इसके उद्धरण हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के विवरण और अभिधान चिन्तामणि की व्याख्या में दिये हैं ।[2] यह व्याकरण पद्य-बद्ध है ।

११. भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० वि० से पूर्व)

भद्रेश्वर सूरि ने **'दीपक'** व्याकरण की रचना की थी । यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है । गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान ने लिखा है—

'मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः' ।[3]

इसकी व्याख्या में वह लिखता है—**'दीपककर्त्ता भद्रेश्वरसूरिः । प्रवरश्चासौ दीपककर्त्ता च प्रवरदीपककर्त्ता । प्राधान्यं चास्याधुनिकवैयाकरणापेक्षया'** ।[4]

---

१. पं० चन्द्रसागर सूरि सम्पादित सिद्धहैमशब्दानुशासन बृहद्वृत्ति प्रस्तावना, पृष्ठ 'ख' ।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६१३, टि० २, ३ । ३. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १ ।

४. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २ ।

आगे पृष्ठ ९८ पर 'दीपक' व्याकरण का निम्न अवतरण दिया है—

'भद्रेश्वराचार्यस्तु—

किञ्च स्वा दुर्भगा कान्ता रक्षान्ता निश्चिता समा।
सचिवा चपला भक्तिर्बाल्येति स्वादयो दश ॥
इति स्वादौ वेत्यनेन विकल्पेन पुंवद्भावं मन्यते।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भद्रेश्वर सूरि ने कोई शब्दानुशासन रचा था, और उसका नाम **'दीपक'** था। सायणविरचित माधवीया धातुवृत्ति में श्रीभद्र के नाम से व्याकरणविषयक अनेक मत उद्धृत हैं। सम्भव है कि वे मत भद्रेश्वर सूरि के दीपक व्याकरण के हों। धातुवृत्ति पृष्ठ ३७८, ३७९ से व्यक्त होता है कि श्रीभद्र ने अपने धातुपाठ पर भी कोई वृत्ति रची थी। इसका वर्णन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग द्वितीय संस्करण में (पृष्ठ १११ पर) देखिए।

काल

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि की रचना वि० सं० ११९७ में की थी।[1] उसमें भद्रेश्वर सूरि और उसके दीपक व्याकरण का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि भद्रेश्वर सूरि सं० ११९७ से पूर्ववर्ती है, परन्तु उससे कितना पूर्ववर्ती है, यह कहना कठिन है।

पं० गुरुपद हालदार ने भद्रेश्वर सूरि और उपाङ्गी भद्रबाहु सूरि की एकता का अनुमान किया है।[2] जैन विद्वान् भद्रबाहु सूरि को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक मानते हैं।[3] अतः जब तक दोनों की एकता का बोधक सुदृढ़ प्रमाण न मिले, तब तक इनकी एकता का अनुमान व्यर्थ है।

१२. वर्धमान (सं० ११५०-१२२५ वि०)

गणरत्नमहोदधि संज्ञक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के द्वारा वर्धमान

---

१. सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु। वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः ॥ पृष्ठ २५१।

२. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ४५२। ३. जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ३४, ३५।

वैयाकरण-निकाय में सुप्रसिद्ध है। परन्तु वर्धमान ने किसी स्वीय शब्दानुशासन का प्रवचन किया था, यह अज्ञात है।

संक्षिप्तसार की गोयीचन्द्र कृत टीका में एक पाठ है—

चन्द्रोऽनित्यां वृद्धिमाह। भागवृत्तिकारस्तु नित्यं वृद्धयभावम्। 'वौ श्रमेर्वा' इति वर्धमानः।[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वर्धमान ने कोई शब्दानुशासन रचा था। और उसीके अनुरूप उसने गणपाठ को श्लोकबद्ध करके उसकी व्याख्या लिखी थी।

काल

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि के अन्त में उसका रचनाकाल वि० सं० ११९९ लिखा है। वर्धमान ने स्वविरचित 'सिद्धराज' वर्णन काव्य का उद्धरण गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ ९७) में दिया है। आरम्भ में तृतीय श्लोक की व्याख्या के पाठान्तर **स्वशिष्यैः कुमारपालहरिपालमुनिचन्द्रप्रभृतिभिः**[2] में कुमारपाल का स्वशिष्य के रूप में वर्णन किया है। अतः वर्धमान का काल वि० सं० ११५०-१२२५ तक मानना युक्त है।

वर्धमान-विरचित गणरत्नमहोदधि का वर्णन गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता के प्रकरण में करेंगे।

१३. हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५-१२२९ वि०)

प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने **'सिद्धहैमशब्दानुशासन'** नामक एक सांगोपाङ्ग बृहद् व्याकरण लिखा है।

परिचय

वंश—हेमचन्द्र के पिता का नाम 'चाचिग' (अथवा 'चाच') और माता का नाम 'पाहिणी' (पाहिनी) था। पिता वैदिक मत का अनुयायी था, परन्तु माता का झुकाव जैन मत की ओर था। हेमचन्द्र का जन्म मोढवंशीय वैश्यकुल में हुआ था।

जन्म-काल—हेमचन्द्र का जन्म कार्तिक पूर्णिमा सं० ११४५ में हुआ था।

---

१. संधि प्रकरण सूत्र ६। २. पृष्ठ २।

जन्म-नाम—हेमचन्द्र का जन्म-नाम 'चांगदेव' (पाठा० 'चंगदेव') था।

जन्म-स्थान—ऐतिहासिक विद्वानों के मतानुसार हेमचन्द्र का जन्म 'धुन्धुक' ('धन्धुका') जिला अहमदाबाद में हुआ था।

गुरु—हेमचन्द्र के गुरु का नाम 'चन्द्रदेव सूरि' था। इन्हें देवचन्द्र सूरि भी कहते थे। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायान्तर्गत वज्रशाखा के आचार्य थे।

दीक्षा—एक बार माता के साथ जैन मन्दिर जाते हुए चांगदेव (हेमचन्द्र) की चन्द्रदेव सूरि से भेंट हुई। चन्द्रदेव ने चांगदेव को विलक्षण प्रतिभाशाली होनहार बालक जानकर शिष्य बनाने के लिये उन्हें उनकी माता से मांग लिया। माता ने भी अपने पुत्र को श्रद्धापूर्वक चन्द्रदेव मुनि को समर्पित कर दिया। इस समय चांगदेव के पिता परदेश गये हुए थे। साधु होने पर चांगदेव का नाम सोमचन्द्र रखा गया। प्रभावक-चरितकार के मतानुसार वि० सं० ११५० माघसुदी १४ शनिवार के ब्राह्ममुहूर्त में पांच वर्ष की वय में पार्श्वनाथ चैत्य में भागवती प्रव्रज्या दी गई।[1] मेरुतुंगसूरि के मतानुसार वि० सं० ११५४ माघसुदी ४ शनिवार को ९ वर्ष की आयु में प्रव्रज्या दी गई।[2] सं० ११६२ में मारवाड़ प्रदेशान्तर्गत 'नागौर' नगर में १७ वर्ष की वय में इन्हें सूरि पद मिला, और इनका नाम हेमचन्द्र हुआ। कई विद्वान् सूरि पद की प्राप्ति सं० ११६६ वैशाखसुदी ३ (अक्षय तृतीया), मध्याह्न समय २१ वर्ष की वय में मानते हैं।[3]

पाण्डित्य हेमचन्द्र जैन मत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक प्रामाणिक आचार्य है। इसे जैन ग्रन्थों में 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा है। जैन लेखकों में हेमचन्द्र का स्थान सर्वप्रधान है। इसने व्याकरण, न्याय, छन्द, काव्य और धर्म आदि प्रायः समस्त विषयों पर ग्रन्थरचना की है। इसके अनेक ग्रन्थ इस समय अप्राप्य हैं।

सहायक—गुजरात के महाराज सिद्धराज और कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के महान् भक्त थे। उनके साहाय्य से हेमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, और जैन मत का प्रचार किया।

---

१. 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक (१९४१) पृष्ठ ९३, टि० २ [१]। २. वही, पृष्ठ ९३, टि० २ [२]। ३. वही, पृष्ठ ९३, ९४।

निर्वाण—आचार्य हेमचन्द्र का निर्वाण सं० १२२९ में ८४ वर्ष की वय में हुआ। आचार्य हेमचन्द्र का उपर्युक्त परिचय हमने प्रबन्ध-चिन्तामणि ग्रन्थ (पृष्ठ ८३-९५) और मुनिराज सुशीलविजयजी के 'कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य' लेख[1] के अनुसार दिया है।

शब्दानुशासन की रचना—हेमचन्द्र ने गुजरात के सम्राट् सिद्ध-राज के आदेश से शब्दानुशासन की रचना की।[2] सिद्धराज का जयसिंह भी नामान्तर था।[3] सिद्धराज का काल सं० ११५०-११९९ तक माना जाता है।

हैम शब्दानुशासन

हेमचन्द्रविरचित सिद्ध हैमशब्दानुशासन संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का व्याकरण है। प्रारम्भिक ७ अध्यायों के २८ पादों में संस्कृतभाषा का व्याकरण है। इसमें ३५६६ सूत्र हैं। आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि का अनुशासन है। आठवें अध्याय में समस्त १११९ सूत्र हैं। जैन आगम की प्राकृतभाषा का अनुशासन पाणिनि के ढंग पर 'आर्षम्' कह कर समाप्त कर दिया है। इस प्रकार अनेकविध प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने ही लिखा है। जैनप्रसिद्धि के अनुसार हैमशब्दानुशासन की रचना में केवल एक वर्ष का समय लगा था।[4] हैमबृहद्वृत्ति के व्याख्याकार श्री पं० चन्द्रसागर सूरि के मतानुसार हेमचन्द्राचार्य ने हैमव्याकरण की रचना संवत् ११९३-११९४ में की थी।[5] हमारा विचार है कि आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना सं० ११९६-११९९ के मध्य की है। क्योंकि वर्धमान ने सं० ११९७ में गणरत्नमहोदधि लिखी है। यदि सं० ११९७

---

१. जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक (१९४१) पृष्ठ ६१-१०६।

२. प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६०। ३. सं० ११५० पूर्वं श्रीसिद्धराज-जयसिंहदेवेन वर्ष ४९ राज्यं कृतम्। प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ७९। इस का पाठान्तर भी देखें।

४. श्रीहेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानमभिनवं व्याकरणं सपादलक्ष-प्रमाणं संवत्सरेण रचयांचक्रे। प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६०।

५. श्री पं० चन्द्रसागर सूरि प्रकाशित हैमबृहद्वृत्ति भाग १ की भूमिका पृष्ठ 'कौ'।

से पूर्व हेमचन्द्र ने व्याकरण लिखा होता, तो वर्धमान उसका निर्देश अवश्य करता।

हैमव्याकरण का क्रम प्राचीन शब्दानुशासनों के सदृश नहीं है। इसकी रचना कातन्त्र के समान प्रकरणानुसारी है। इसमें यथाक्रम संज्ञा, स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, नाम, कारक, षत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित प्रकरण हैं।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१—हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञा लघ्वी वृत्ति (६००० श्लोक परिमाण)।
२—मध्य वृत्ति (१२००० श्लोक परिमाण)।
३—बृहती वृत्ति (१८००० श्लोक परिमाण)।
४—हैमशब्दानुशासन पर बृहन्न्यास।
इन चारों का वर्णन अनुपद किया जायेगा।
५—धातुपाठ और उसकी धातुपारायण नाम्नी व्याख्या।
६—गणपाठ और उसकी वृत्ति।[1]
७—उणादिसूत्र और उसकी स्वोपज्ञा वृत्ति।
८—लिङ्गानुशासन और उसकी वृत्ति।

इन ग्रन्थों का वर्णन यथास्थान तत्तत् प्रकरणों में किया जायेगा।

हैमव्याकरण के व्याख्याता

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समस्त मूल ग्रन्थों की स्वयं टीकाएं रची हैं। उसने अपने व्याकरण की तीन व्याख्याएं लिखी हैं। शास्त्र में प्रवेश करनेवाले बालकों के लिये लघ्वी वृत्ति, मध्यम बुद्धिवालों के लिए मध्य वृत्ति,[2] और कुशाग्रमति प्रौढ़ व्यक्तियों के लिये बृहती वृत्ति की रचना की है। लघ्वी वृत्ति का परिमाण लगभग ६ सहस्र श्लोक है, मध्य का १२००० सहस्र श्लोक,[2] और बृहती का १८ सहस्र

१. मुनिराज सुशीलविजयजी का लेख जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ८४।

२. जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ६६।

श्लोक। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर ९० सहस्र श्लोक परिमाण का '**शब्दमहार्णव न्यास**' अपर नाम 'बृहन्न्यास' नामक विवरण लिखा था। यह चिर काल से अप्राप्य था। श्रीविजयलावण्य-सूरिजी के महान् प्रयत्न से यह आरम्भ से पञ्चम अध्याय तक ५ भागों में प्रकाशित हो चुका है।

हैमशब्दानुशासन में स्मृत ग्रन्थकार—इस व्याकरण तथा इसकी वृत्तियों में निम्नलिखित प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है—

आपिशलि, यास्क, शाकटायन, गार्ग्य, वेदमित्र, शाकल्य, इन्द्र, चन्द्र, शेषभट्टारक, पतञ्जलि, वार्त्तिककार, पाणिनि, देवनन्दी, जया-दित्य, वामन, विश्रान्तविद्याधरकार, विश्रान्तन्यासकार (मल्लवादी सूरि), जैन शाकटायन, दुर्गसिंह, श्रुतपाल, भर्तृहरि, क्षीरस्वामी, भोज, नारायणकण्ठी, सारसंग्रहकार, द्रमिल, शिक्षाकार, उत्पल उपाध्याय (कैयट),[1] क्षीरस्वामी, जयन्तीकार, न्यासकार और पारायणकार।

अन्य व्याख्याकार

हैमव्याकरण पर अनेक विद्वानों ने टीका टिप्पणी आदि लिखे। उनके ग्रन्थ प्रायः दुष्प्राप्य और अज्ञात हैं। श्री अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने 'मध्यकालीन भारतना महावैयाकरण' शीर्षक लेख में हैम व्याकरण के निम्न व्याख्याकारों का निर्देश किया है[2]—

१. रामचन्द्र सूरि (हेमचन्द्रा-चार्यशिष्य)	लघुन्यास (५३०० श्लोक)
२. धर्मघोष	,, (९००० श्लोक)
३. देवेन्द्र (हेमचन्द्र-शिष्य उदयसागर का शिष्य)	कतिचिद् हैम दुर्गपद व्याख्या
४. कनकप्रभ (देवेन्द्र-शिष्य)	न्यासोद्धार
५. काकल (कक्कल कायस्थ)	हैम लघुवृत्ति
६. सौभाग्य-सागर(सं० १५९१)	हैम बृहद्वृत्ति ढुंढिका
७. विनयचन्द्र	हैम (संस्कृत) ढुंढिका
८. मुनिशेखर	हैम लघुवृत्ति ढुंढिका

१. 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ८६।
२. वही, पृष्ठ ८६।

९. धनचन्द्र	हैम अवचूरि
१०. उदय सौभाग्य (सं० १५९१)	हैम चतुर्थपाद वृत्ति
११. जिन सागर	हैम व्याकरणदीपिका
१२. रत्नशेखर	हैम व्याकरण अवचूरि
१३. वल्लभ (सं० १६६१ ज्ञान विमलशिष्य)	हैम दुर्गपदव्याख्या
१४. श्रीप्रभसूरि (सं० १२८०)	हैम कारकसमुच्चय
" "	हैमवृत्ति

डा० वेल्वालकर ने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' नामक ग्रन्थ में हैम व्याकरण के ७ व्याख्याकारों का उल्लेख किया है। उनमें पूर्व सूची से निम्न नाम अधिक हैं—

१५. विनय विजयगणी	हैम लघुप्रक्रिया
१६. मेघविजय	हैम कौमुदी

डा० वेल्वाल्कर ने अज्ञातनामा व्यक्ति के **शब्दमहार्णव न्यास** का भी उल्लेख किया है, वह वस्तुतः आचार्य हेमचन्द्र का स्वोपज्ञ न्यास है।

१७. काकल कायस्थ कृत लघुवृत्ति--इसका निर्देश हेमहंसगणि के न्यायसंग्रह के न्यास में मिलता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के साहित्यिक कार्य के परिचय के लिए 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक (१९४१) में पृष्ठ ७५-९० तक श्री अम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह का 'मध्य कालीन भारतना महावैयाकरण' लेख, और पृष्ठ ९१-१०६ तक श्री मुनिराज सुशीलविजयजी का 'कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य अने तेमनु साहित्य' लेख देखना चाहिये।

१४. मलयगिरि (सं० ११८८-१२५० वि०)

जैन आचार्य मलयगिरि ने '**शब्दानुशासन**' के नाम से एक साङ्गोपाङ्ग व्याकरण लिखा है। यह शब्दानुशासन सं० २०२२ (मार्च १९६७ ई०) में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक श्री पं०

---

१. काकलकायस्थकृतलक्षणलघुवृत्तिस्थः……। पृष्ठ १८७।

बेचरदास जीवराज दोशी ने आचार्य मलयगिरि का जो परिचय अंग्रेजीभाषा-निबद्ध भूमिका में दिया है, प्रधानतया उसी के आधार पर हम मलयगिरि का परिचय दे रहे हैं—

परिचय

वंश—सम्भवतः मलयगिरि आचार्य मूलतः वैदिक मतानुयायी ब्राह्मण कुल के थे। वैदिक मतानुयायी रहते हुए ही उन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में संन्यास लिया था। इस अनुमान का आधार नाम के अन्त में प्रयुक्त **गिरि** शब्द है। यह ब्राह्मण संन्यासियों के दण्डी आदि १० प्रसिद्ध विभागों में अन्यतम है। संन्यास के सात वर्ष पश्चात् मलयगिरि जैन साधु बने। इन्होंने अपने गुरु वा गच्छ आदि का उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं किया, ना ही अन्य स्रोतों से इस विषय की जानकारी प्राप्त होती है।

जन्म-काल—मलयगिरि का जन्म श्री दोशी जी ने वि० सं० ११८८ माना है।

देश—मलयगिरि-विरचित जैन आगमों की टीकाओं में प्रयुक्त शब्दविशेषों के आधार पर श्री दोशी जी ने इनका जन्मस्थान सौराष्ट्र स्वीकार किया है।

काल—जिनमण्डनगणि (१५ वीं शती वि०) विरचित 'कुमारपाल-प्रबन्ध' में लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र ने देवेन्द्र सूरि और मलयगिरि के साथ गौड़देश के लिये प्रस्थान किया, और वे खिल्लुर ग्राम में पहुंचे।

शब्दानुशासन-रचनाकाल—पुराने वैयाकरणों ने स्वकाल-बोधक विशिष्ट उदाहरण जैसे अपने शब्दानुशासनों में दिये हैं, उसी प्रकार मलयगिरि ने भी **ख्याते दृश्ये** (कृदन्त ३। २३) सूत्र की वृत्ति में **अदहदरातीन् कुमारपालः** विशिष्ट उदाहरण दिया है। इस से स्पष्ट है कि मलयगिरि कुमारपाल के किसी युद्धकाल के समय विद्यमान थे। कुमारपाल ने सं० १२०७ में शाकम्भरि के राजा को पराजित किया था।[1] उसने वि० सं० १२१७-१२२७ के मध्य मल्लिकार्जुन पर

---

१. चित्तौड़ के समिद्धेश्वर मन्दिर का सं० १२०७ का शिलालेख। इसमें शाकम्भरिराज विजयवाले वर्ष में ही कुमारपाल का यहां पूजार्थ आना

विजय प्राप्त की थी, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। चन्द्रावतीराज-विजय इन दोनों के मध्य मानी जाती है। निश्चय ही कुमारपाल की इन तीन प्रधान विजयों में से किसी एक की ओर मलयगिरि का संकेत है, अथवा **अरातीन्** बहुवचन से यह भी सम्भावना हो सकती है कि इस उदाहरण में कुमारपाल की तीनों प्रधान विजयों का संकेत है। इस प्रकार मलयगिरि द्वारा प्रस्तुत व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ टीका की रचना का काल वि० सं० १२२७ के पश्चात् स्वीकार किया जा सकता है। श्री दोशी जी ने भी लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के निर्वाण (सं० १२२९) से कुछ पूर्व मलयगिरि ने स्वीय शब्दानुशासन की रचना की थी। दोशी जी के इस लेख में १४ वर्ष की अवस्था में शब्दानुशासन की रचना बताई गई है। निश्चय ही यहां fourty के स्थान में fourteen शब्द का प्रयोग अनवधानता-मूलक अथवा मुद्रणप्रमादजन्य है। क्योंकि सं० ११८८ में जन्म मानने और आचार्य हेमचन्द्र के निर्वाणकाल सं० १२२९ से पूर्व व्याकरण-रचना स्वीकार करने पर ४० वर्ष की अवस्था में ही व्याकरण-रचना सिद्ध होती है।

निर्वाण—मलयगिरि का कितने वर्ष की अवस्था में कब निर्वाण हुआ, इसका कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। मलयगिरि ने जैन आगमों तथा अन्य जैन ग्रन्थों पर जो लगभग दो लक्ष श्लोक परिमाण का वृत्ति-वाङ्मय लिखा, उसमें स्वीय शब्दानुशासन के सूत्रों का निर्देश होने से स्पष्ट है कि यह अति विस्तृत वृत्ति-वाङ्मय शब्दानुशासन की रचना (सं० १२२८) के पश्चात् लिखा गया है। इतने विशाल वृत्ति-वाङ्मय को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आचार्य मलयगिरि शब्दानुशासन की रचना (सं० १२२८) के पश्चात् २०-२५ वर्ष अवश्य जीवित रहे होंगे। अतः हमने आचार्य मलयगिरि का काल सं० ११८८-१२५० वि० तक सामान्यरूप से माना है।

शब्दानुशासन

आचार्य मलयगिरि ने स्व शब्दानुशासन प्रक्रियाक्रमानुसार

लिखा गया है। नाडेल ग्राम के सं० १२१३ के शिलालेख में भी इस विजय का वर्णन मिलता है।

सन्धि नाम आख्यात कृदन्त और तद्धित ५ भागों में विभक्त करके लिखा है। प्रत्येक विभाग में पादसंज्ञक अवान्तर विभाग हैं, जिनकी संख्या क्रमशः ५+९+१०+६+११ है, अर्थात् ४१ पाद हैं। उपलब्ध ग्रन्थ खण्डित है, अतः सूत्र संख्या कितनी है, यह नहीं कहा जा सकता।

नामान्तर—मलयगिरि-विरचित बृहत् कल्पवृत्ति की पूर्ति क्षेमकीर्ति ने की थी। उसमें इस शब्दानुशासन का उल्लेख **मुष्टि व्याकरण** के नाम से किया है।

स्वोपज्ञवृत्ति—वैयाकरण-सम्प्रदाय के अनुसार मलयगिरि ने भी अपने शब्दानुशासन पर वृत्ति लिखी है। यह शब्दानुशासन के साथ मुद्रित हो चुकी है।

परिमाण—मलयगिरि-रचित शब्दानुशासन एवं उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति का परिमाण पांच सहस्र श्लोक है।

अन्य ग्रन्थ

व्याकरण-सम्बन्धी—मलयगिरि ने शब्दानुशासन से सम्बद्ध **उणादि धातुपारायण गणपाठ** और **लिङ्गानुशासन** की भी रचना की थी, परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। इन्होंने 'प्राकृतव्याकरण' भी रचा था। सम्भव है कि आचार्य हेमचन्द्र के अनुकरण पर उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के अन्त में ही उसे निबद्ध किया हो। यह प्राकृत-व्याकरण भी सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

जैनमत-सम्बन्धी—मलयगिरि ने जैनमत के ९ आगमों, तथा हरिभद्र सदृश आचार्यों के ग्रन्थों पर भी वृत्तियां लिखी हैं। ये वृत्तियां अति विस्तीर्ण और प्रौढ़ हैं। इन वृत्तियों का परिमाण लगभग दो लक्ष श्लोक है।

वृत्ति-लेखन से पूर्व शब्दानुशासन की रचना—मलयगिरि ने अपनी वृत्तियों में स्वीय शब्दानुशासन के सूत्र ही उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि मलयगिरि ने इतने विशाल वृत्ति-वाङ्मय की रचना से पूर्व ही शब्दानुशासन की रचना करली थी।

अत्यर्वाक्कालिक वैयाकरण

आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य मलयगिरि संस्कृत-शब्दानुशासन

के अन्तिम रचयिता हैं। इनके साथ ही उत्तर भारत में संस्कृत के उत्कृष्ट मौलिक ग्रन्थों का रचनाकाल समाप्त हो जाता है। उसके अनन्तर विदेशी मुसलमानों के आक्रमण और आधिपत्य से भारत की प्राचीन धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में भारी उथल-पुथल हुई। जनता को विविध असह्य यातनायें सहनी पड़ीं। ऐसे भयंकर काल में नये उत्कृष्ट वाङ्मय की रचना सर्वथा असम्भव थी। उस काल में भारतीय विद्वानों के सामने प्राचीन वाङ्मय की रक्षा की ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न हो गई थी। अधिकतर आर्य राज्यों के नष्ट हो जाने से विद्वानों को सदा से प्राप्त होनेवाला राज्याश्रय भी प्राप्त होना दुर्लभ हो गया था। अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी तात्कालिक विद्वानों ने प्राचीन ग्रन्थों की रक्षार्थ उन पर टीका-टिप्पणी लिखने का क्रम बराबर प्रचलित रक्खा। उसी काल में संस्कृतभाषा के प्रचार को जीवित-जागृत रखने के लिये तत्कालीन वैयाकरणों ने अनेक नये छोटे-छोटे व्याकरण ग्रन्थों की रचनायें कीं। इस काल के कई व्याकरण-ग्रन्थों में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इस अर्वाचीन काल में जितने व्याकरण बने, उनमें निम्न चार व्याकरण कुछ महत्त्वपूर्ण हैं—

१—जौमर २—सारस्वत ३—मुग्धबोध ४—सुपद्म

अब हम इनका नामोद्देशमात्र से वर्णन करते हैं—

१५. क्रमदीश्वर (सं १३०० वि० से पूर्व)

क्रमदीश्वर ने **'संक्षिप्तसार'** नामक एक व्याकरण रचा है। यह सम्प्रति उसके परिष्कर्त्ता जुमरनन्दी के नाम पर **'जौमर'** नाम से प्रसिद्ध है। क्रमदीश्वर ने स्वीय व्याकरण पर **रसवती** नाम्नी एक वृत्ति भी रची थी। उसी वृत्ति का जुमरनन्दी ने परिष्कार किया। इसीलिये अनेक हस्तलेखों के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

'इति वादीन्द्रचक्रचूडामणिमहापण्डितश्रीक्रमदीश्वरकृतौ संक्षिप्तसारे महाराजाधिराजजुमरनन्दिशोधितायां वृत्तौ रसवत्यां……—।'

परिष्कर्त्ता-जुमरनन्दी

उपर्युक्त उद्धरण से व्यक्त है कि जुमरनन्दी किसी प्रदेश का

राजा था। कई लोग जुमर शब्द का संबन्ध जुलाहा से लगाते हैं, यह चिन्त्य है।

परिशिष्टकार—गोयीचन्द्र

गोयीचन्द्र औत्थासनिक ने **सूत्रपाठ**, **उणादि** और **परिभाषापाठ** पर टीकाएं लिखीं, और उसने जौमर व्याकरण के **परिशिष्टों** की रचना की। इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्कालय में ८३६ संख्या का एक हस्तलेख है, उस पर 'गोयीचन्द कृत जौमर व्याकरण परिशिष्ट' लिखा है।

गोयीचन्द्र-टीका के व्याख्याकार

१—**न्यायपञ्चानन**—विद्यविनोद के पुत्र न्यायपञ्चानन ने सं· १७६६ में गोयीचन्द्र की टीका पर एक व्याख्या लिखी है।

२—**तारकपञ्चानन**—तारक पञ्चानन ने **दुर्घटोद्घाट** नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसके अन्त में लिखा है—

'गोयीचन्द्रमतं सम्यगबुद्ध्वा दूषितं तु यत्।
अन्यथा विवृतं यद्वा तन्मया प्रकटीकृतम्॥'

३—**चन्द्रशेखर विद्यालंकार** ४—**वंशीवादन**

५—**हरिराम**

इन का काल अज्ञात है।

६—**गोपाल चक्रवर्ती**—इसका उल्लेख कोलब्रुक ने किया है।

गोयीचन्द्र टीका के व्याख्याकारों का निर्देश हमने डा० बेल्वाल्कर के 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' के आधार पर किया है।

इस व्याकरण का प्रचलन सम्प्रति पश्चिमी बंगाल तक सीमित है।

१६. सारस्वत-व्याकरणकार (सं० १२५० वि० के लगभग)

सारस्वत व्याकरण के विषय में प्रसिद्ध है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य के मुख से वृद्धावस्था के कारण दन्तविहीन होने से किसी विद्वत्सभा में **पुंसु** के स्थान पर **पुंक्षु** अपशब्द निकल गया। विद्वानों द्वारा अपशब्द के प्रयोग पर उपहास होने पर अनुभूतिस्वरूप ने उक्त अपशब्द के साधत्व ज्ञापन के लिये घर पर आकर सरस्वती देवी से

प्रार्थना की। उसने प्रसन्न होकर ७०० सूत्र दिये। उन्हीं के आधार पर अनुभूतिस्वरूप ने इस व्याकरण की रचना की। सरस्वती देवी के द्वारा मूल सूत्रों का आगम होने से इसी कारण इस का '**सारस्वत**' नाम हुआ।

इस किंवदन्ती में कहां तक सत्यता है, यह कहना कठिन है। पुनरपि इस किंवदन्ती से इतना स्पष्ट है कि मध्यकालीन विद्वान् असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये भी तत्पर हो जाते थे। वस्तुतः आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की रचना में यह प्रमुख भेद है। इसीलिये श्रीदण्डी स्वामी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन एवं अनार्ष ग्रन्थों के परित्याग पर विशेष बल दिया है।[1]

यद्यपि सारस्वत व्याकरण के अन्त में प्रायः '**अनुभूतिस्वरूपाचार्यविरचिते**' पाठ मिलता है, तथापि उसके प्रारम्भिक श्लोक–

'प्रणम्य परमात्मानं बालधीवृद्धिसिद्धये।
सरस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्॥'

से विदित होता है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य इस व्याकरण का मूल लेखक नहीं है। वह तो उसकी प्रक्रिया को सरल करनेवाला है।

सारस्वत सूत्रों का रचयिता

क्षेमेन्द्र अपनी सारस्वतप्रक्रिया के अन्त में लिखता है—

'इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पनं समाप्तम्।'

इससे प्रतीत होता है कि सारस्वत सूत्रों का मूल रचयिता 'नरेन्द्राचार्य' नामक वैयाकरण है। अमरभारती नामक एक अन्य टीकाकार भी लिखता है

'यन्नरेन्द्रनगरिप्रभाषितं यच्च वैमलसरस्वतीरितम्।
तन्मयात्र लिखितं तथाधिकं किञ्चिदेव कलितं स्वया धिया॥'

विठ्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में नरेन्द्राचार्य को असकृत् उद्धृत किया है।

---

१. द्र०—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, पठन-पाठन विधि, पृष्ठ ९६-१०६ (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण)। विशेष द्र०—पृष्ठ ९९।

एक नरेन्द्रसेन वैयाकरण 'प्रमाणप्रमेयकलिका' का कर्त्ता है। इस के गुरु का नाम कनकसेन, और उसके गुरु का नाम अजितसेन था। नरेन्द्रसेन का चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र और पाणिनीय तन्त्र पर पूरा अधिकार था। इसका काल शकाब्द ९७५ अर्थात् वि० सं० १११० है। यद्यपि नरेन्द्राचार्य और नरेन्द्रसेन की एकता का कोई उपोद्बलक प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ, तथापि हमारा विचार है कि ये दोनों एक हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से इतना स्पष्ट है कि नरेन्द्र या नरेन्द्राचार्य ने कोई सारस्वत व्याकरण अवश्य रचा था, जो अभी तक मूल रूप में प्राप्त नहीं हुआ। इस विषय में यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि वर्तमान सारस्वत-व्याकरण की प्रथम वृत्ति तद्धितभाग पर्यन्त है। इस में किंवदन्ती में प्रसिद्ध ७०० सूत्रसंख्या पूर्ण हो जाती ह। अतः इन ७०० सूत्रों का रचयिता नरेन्द्राचार्य हो सकता है।

इस संभावना में यह उपोद्बलक एक प्रमाण और भी है कि सारस्वत व्याकरण की प्रथम वृत्ति के अन्त में अनुभूतिस्वरूप का नाम नहीं मिलता। द्वितीय और तृतीय वृत्ति के अन्त में **'इति**………… **अनुभूतिस्वारूपाचार्यविरचितायां**……… **समाप्तः'** पाठ मिलता है।

अत यह सम्भावना अधिक युक्त प्रतीत होती है कि सारस्वत व्याकरण का प्रथम ७०० सूत्रात्मक भाग नरेन्द्राचार्य विरचित हो, और शेष भाग अनुभूतिस्वरूपाचार्य विरचित। संस्कृत वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके लेखक दो-दो व्यक्ति है। परन्तु पूरा ग्रन्थ उनमें से किसी एक के नाम पर ही प्रसिद्ध हो जाता है। यथा स्कन्द और महेश्वरविरचित निरुक्त टीका स्कन्द के नाम से, बाण और उसके पुत्र द्वारा विरचित कादम्बरी बाण के नाम से, शर्ववर्मा और वररुचि विरचित कातन्त्र शर्ववर्मा के नाम से ही प्रसिद्ध है।

सारस्वत के दो पाठ—जैसे जैनेन्द्र व्याकरण का मूल पाठ आचार्य देवनन्दी प्रोक्त है, और उसका दूसरा **शब्दार्णव** के नाम से प्रसिद्ध पाठ गुणनन्दी द्वारा परिबृंहित पाठ है, उसी प्रकार सारस्वत व्याकरण के भी दो पाठ हैं। इसका दूसरा परिबृंहित पाठ **सिद्धान्त-चन्द्रिका** नाम से प्रसिद्ध है। इस का परिबृंहण रामाश्रम भट्ट ने किया है। दोनों पाठों में लगभग ८०० सूत्रों का न्यूनाधिक्य है।

इसके साथ ही प्रक्रियांश में भी कहीं-कहीं भेद है। इन दोनों के उणादिपाठ में भी अन्तर है। सारस्वत में उणादिसूत्रों की संख्या केवल ३३ है, परन्तु सिद्धान्तचन्द्रिका में उणादिसूत्रों की संख्या ३७० हो गई है। कई विद्वान् दोनों व्याकरणों के वैषम्य को देखकर 'सिद्धान्तचन्द्रिका' को स्वतन्त्र व्याकरण मानते हैं, परन्तु हमारे विचार में उसे सारस्वत का परिबृंहित रूप ही मानना अधिक युक्त है।

सारस्वत के टीकाकार

सारस्वत व्याकरण पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएं रचीं। उनमें से जिनकी टीकाएं प्राप्य वा ज्ञात हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं[1]—

१—क्षेमेन्द्र (सं० १२६० वि० ?)

क्षेमेन्द्र ने सारस्वत पर **'टिप्पण'** नाम से एक लघु व्याख्यान लिखा है। यह हरिभट्ट वा हरिभद्र के पुत्र कृष्णशर्मा का शिष्य था। अतः यह स्पष्ट है कि यह कश्मीर देशज महाकवि क्षेमेन्द्र से भिन्न है।

२—धनेश्वर (सं० १२७५ वि० ?)

धनेश्वर ने सारस्वत पर **'क्षेमेन्द्र-टिप्पण-खण्डन'** लिखा है। यह धनेश्वर प्रसिद्ध वैयाकरण वोपदेव का गुरु था। इसने तद्धित प्रकरण के अन्त में अपनी प्रशस्ति में पांच श्लोक लिखे हैं। उनसे ज्ञात होता है कि धनेश्वर ने महाभाष्य पर 'चिन्तामणि' नामक टीका, 'प्रक्रियामणि' नामक नया व्याकरण, और पद्मपुराण के एक स्तोत्र पर टीका लिखी थी। महाभाष्यटीका का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं।[2]

३—अनुभूतिस्वरूप (सं० १३०० वि०)

अनुभूतिस्वरूप आचार्य ने **सारस्वत-प्रक्रिया** लिखी है।

४—अमृतभारती (सं० १५५० वि० से पूर्व)

अमृतभारती ने सारस्वत पर **'सुबोधिनी'** नाम्नी टीका लिखी है। यह अमल सरस्वती का शिष्य था।

---

१. अगला टीकाकारों का संक्षिप्त वर्णन हमने प्रधानतया डा० बेल्वाल्कर के 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' के आधार पर किया है, परन्तु क्रम और काल-निर्देश हमने अपने मतानुसार दिया है। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४०५।

इसके हस्तलेखों में विविध पाठों के कारण लेखक और उसके गुरु के नामों में सन्देह उत्पन्न होता है। कुछ **अद्वय सरस्वती** के शिष्य **विश्वेश्वराब्धि** का उल्लेख करते हैं, कुछ **ब्रह्मसागर मुनि** के शिष्य **सत्यप्रबोध भट्टारक** का निर्देश करते हैं। इस टीका का सब से पुराना हस्तलेख सं० १५५४ का है। इस का निर्माण **'क्षेत्रे व्यधायि पुरुषोत्तमसंज्ञकेऽस्मिन्'** के अनुसार पुरुषोत्तम क्षेत्र में हुआ था।

५ - पुञ्जराज (सं० १५५० वि०)

पुञ्जराज ने सारस्वत पर **'प्रक्रिया'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह मालवा के श्रीमाल परिवार का था। इसने जिससे शिक्षा ग्रहण की, वह मालवा के बादशाह गयासुद्दीन खिलजी का अर्थ-मन्त्री था। गयासुद्दीन का काल वि० सं० १५२६-१५५७ तक है।

नरसिरुद्दीन द्वारा पुञ्जराज की हत्या—गयासुद्दीन खिलजी का लड़का नरसिरुद्दीन बड़ा कामी(ऐयाश) था। वह राज्य के धन का अपव्यय करता था। पुञ्जराज ने इस अपव्यय की सूचना गयासुद्दीन को दी। इस कारण नरसिरुद्दीन पुञ्जराज का शत्रु बन गया। उसने एक दिन अवसर पाकर घर पर लौटते हुए पुञ्जराज को मरवा दिया। गयासुद्दीन अपने लड़के के इस कुकृत्य पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। इससे भयभीत होकर नरसिरुद्दीन राज्य छोड़कर चला गया। दो तीन वर्ष पश्चात् सैन्य-संग्रह करके 'माण्डू' पर चढ़ाई कर अपने पिता को कैद करके माण्डू का अधिकारी बना।

अन्य ग्रन्थ—पुञ्जराज ने अलंकार पर **शिशु-प्रबोध** और **ध्वनि-प्रबोध** दो ग्रन्थ लिखे हैं।

६—सत्यप्रबोध (सं० १५५६ वि० से पूर्व)

सत्यप्रबोध ने सारस्वत पर एक **दीपिका** लिखी है। इसका सब से पुराना हस्तलेख सं० १५५६ का है। डा० बेल्वाल्कर ने इसका निर्देश नहीं किया है।

७—माधव (सं० १५६१ वि० से पूर्व)

माधव ने **सिद्धान्तरत्नावली** नामक टीका लिखी है। इसके पिता का नाम काह्नू और गुरु का नाम श्रीरङ्ग था। इस टीका का सब से पुराना हस्तलेख सं० १५६१ का है।

८—चन्द्रकीर्ति (सं० १६०० वि० ?)

चन्द्रकीर्ति ने **सुबोधिका** वा **दीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति के अनुसार इसका लेखक जैन मतानुयायी था, और नागपुर के बृहद् गच्छ से सम्बन्ध रखता था। यह हर्षकीर्ति का शिष्य था। प्रशस्ति में लिखा है—

'श्रीमत्साहिसलेमभूपतिना सम्मानितः सादरम्।
सूरिः सर्वकलिन्दि(का)कलितधीः श्रीचन्द्रकीर्तिः प्रभुः॥'

देहली के बादशाह शाही सलीम का राज्यकाल सं० १६०२-१६१० (=सन् १५४५-१५५३) है। अतः चन्द्रकीर्ति ने इसी समय में सुबोधिका व्याख्या लिखी।

चन्द्रकीर्ति विरचित सारस्वत दीपिका का एक हस्तलेख 'कलकत्ता संस्कृत कालेज' के पुस्तकालय में है। उसके अन्त में निम्न पाठ है—

'इति श्रीमन्नागपुरीयतपागगच्छाधीशराजभट्टारकचन्द्रकीर्तिसूरिविरचितायां सारस्वतव्याकरणस्य दीपिकायां सम्पूर्णाः। श्रीरस्तु कल्याणमस्तु सं० १३६५ वर्षे।'

द्र०—सूचीपत्र भाग ८, व्याकरण हस्तलेख संख्या १११। सं० १३६५ को शक संवत् मानने पर भी वि० सं० १५३० होता है, वह भी संभव नहीं है। अतः हमारे विचार में हस्तलेख में जो संवत् दिया है, उसमें लेखकप्रमाद से अशुद्धि हो गई है। यहां सम्भवतः सं० १५६५ देना चाहिए था। **दीपिकायां सम्पूर्णाः** पाठ से भी प्रतीत होता है कि लेखक विशेष पठित नहीं था।

चन्द्रकीर्ति नागपुरीय बृहद् गच्छ के संस्थापक देवसूरि से १५ वीं पीढ़ी में थे। देवसूरि का काल संवत् ११७४ है। अतः चन्द्रकीर्ति का काल १६ वीं शती का अन्त और १७ वीं शती का आरम्भ मानना अधिक युक्त प्रतीत होता है।

९ रघुनाथ (सं० १६०० वि० के लगभग)

रघुनाथ ने पातञ्जल महाभाष्य के अनुकरण पर सारस्वत सूत्रों पर **लघुभाष्य** रचा। इसके पिता का नाम विनायक था। यह प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित का शिष्य था। भट्टोजि दीक्षित का

काल अधिक से अधिक वि० सं० १५७०-१६५० माना जा सकता है। (द्र०—पूर्व पृष्ठ ४८७)। अतः रघुनाथ ने सं० १६०० के लगभग यह भाष्य लिखा होगा। डा० बेल्वाल्कर ने इसका काल ईसा की १७वीं शती का मध्य माना है, वह चिन्त्य है।

१० - मेघरत्न (सं० १६१४ वि० से पूर्व)

मेघरत्न ने **ढुंढिका** अथवा **दीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह जैन मत के बृहत् खरतर गच्छ से संबद्ध श्रीविनयसुन्दर का शिष्य था। इस व्याख्या का हस्तलेख सं० १६१४ का मिलता है।

११—मण्डन (सं० १६३२ वि० से पूर्व)

मण्डन ने सारस्वत की एक टीका लिखी है। इसके पिता का नाम 'वाहद' था। 'वाहद' का एक भाई पदम था। वह मालवा के अलपशाही वा अलाम का मन्त्री था, और वाहद एक संघेश्वर वा संघपति था। यह संकेत ग्रन्थकार ने स्वयं टीका में किया है। इसका सब से पुराना हस्तलेख सं० १६३२ का उपलब्ध है।

१२—वासुदेवभट्ट (सं० १६३४ वि०)

वासुदेवभट्ट ने **प्रसाद** नाम की एक व्याख्या लिखी थी। यह चण्डीश्वर का शिष्य था। वासुदेव ने ग्रन्थरचना-काल इस प्रकार दिया है—

'संवत्सरे वेदवह्निरसभूमिसमन्विते।
शुचौ कृष्णद्वितीयायां प्रसादोऽयं निरूपितः'॥

इस श्लोक के अनुसार सं० १६३४ आषाढ़ कृष्णा द्वितीया को 'सारस्वत प्रसाद' टीका समाप्त हुई।

१३—रामभट्ट (सं० १६५० वि० के लगभग)

रामभट्ट ने **विद्वत्-प्रबोधिनी** नाम्नी टीका लिखी है। इसने अपने ग्रन्थ में अपना और अपने परिवार का पर्याप्त वर्णन किया है। रामभट्ट के पिता का नाम 'नरसिंह' था, और माता का 'कामा'। यह मूलतः तैलङ्ग देश का निवासी था, संभवतः वरङ्गल का। वहां से यह आंध्र में आकर बस गया था। उन दिनों वहां का शासक प्रतापरुद्र था। इसके दो पुत्र थे—लक्ष्मीधर और जनार्दन। उनका विवाह करके ७७ वर्ष की वय में वह तीर्थाटन को निकला। इस यात्रा

में ही उसने यह व्याख्या लिखी। इस कृति का मुख्य लक्ष्य है—पवित्र तीर्थों का वर्णन। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में किसी न किसी तीर्थ का वर्णन मिलता है। यद्यपि यात्रा का पूर्ण वर्णन नहीं है, तथापि इसमें आज से ३५० वर्ष पूर्व के समाज का चित्र अच्छे प्रकार चित्रित है। इसने रत्नाकर नारायण भारती क्षेमंकर और महीधर आदि का उल्लेख किया है।

१४—काशीनाथ भट्ट (सं० १६७२ वि० से पूर्व)

काशीनाथ भट्ट ने **भाष्य** नामक एक टीका लिखी। परन्तु यह नाम के अनुरूप नहीं है। यह सम्भवतः सं० १६६७ से पूर्व विद्यमान था। इस संवत् में बुरहानपुर में इस टीका की एक प्रतिलिपि की गई थी। द्र०—भण्डारकर इंस्टीटच्यूट पूना सन् १८८०-८१ के संग्रह का २६२ संख्या का हस्तलेख।

१५—भट्ट गोपाल (सं० १६७२ वि० से पूर्व)

भट्ट गोपाल की '**सारस्वत व्याख्या**' का एक हस्तलेख सं० १६७२ का मिलता है। उससे ग्रन्थकार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

१६—सहजकीर्ति (सं० १६८१ वि०)

सहजकीर्ति ने **प्रक्रियावार्तिक** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। यह जैन मतावलम्बी था, और खरतर गच्छ के हेमनन्दनगणि का शिष्य था। लेखक ने ग्रन्थलेखनकाल स्वयं लिखा है—

'वत्सरे भूमसिद्धयङ्गकाश्यपीप्रमितिश्रिते।
माघस्य शुक्लपञ्चम्यां दिवसे पूर्णतामगात्॥'

अर्थात् सं० १६८१ माघ शुक्ला पञ्चमी को ग्रन्थ पूरा हुआ।

१७—हंसविजयगणि (सं० १७०८ वि०)

हंसविजयगणि ने **शब्दार्थचन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह जैन मतावलम्बी था, और विजयानन्द का शिष्य था। यह सं० १७०८ में विद्यमान था। यह टीका अति साधारण है।

१८—जगन्नाथ (?)

जगन्नाथ का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस का निर्देश धनेन्द्र नामक टीकाकार ने किया है। इस टीका का नाम '**सारप्रदीपिका**' है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त सारस्वत व्याकरण के साथ दूरतः

सम्बन्ध रखनेवाली कुछ व्याख्याएं और भी हैं। परन्तु वे वस्तुतः सारस्वत के रूपान्तर को उपस्थित करती हैं। और कुछ में तो वह रूपान्तर इतना हो गया है कि वह स्वतन्त्र व्याकरण बन गया है, यथा रामचन्द्राश्रम की **सिद्धान्तचन्द्रिका** ।

सारस्वत के रूपान्तर

अब हम सारस्वत के रूपान्तरों को उपस्थित करनेवाली व्याख्याओं का उल्लेख करते हैं—

१—तर्कतिलक भट्टाचार्य (सं० १६७२ वि०)

तर्कतिलक भट्टाचार्य ने सारस्वत का एक रूपान्तर किया, और उस पर स्वयं व्याख्या लिखी। यह द्वारिका वा द्वारिकादास का पुत्र था। इसका बड़ा भाई मोहन मधुसूदन था। इसने अपने रूपान्तर के लिए लिखा है—

'**इदं परमहंसश्रीमदनुभूतिलिखने क्षीरे नीरमिव प्रक्षिप्तम्** ।'

अर्थात् मैंने अनुभूतिस्वरूप के क्षीररूपी ग्रन्थ में नीर के समान प्रक्षेप किया है। अर्थात् जैसे क्षीर नीर मिलकर एकाकार हो जाते हैं, वैसे ही यह ग्रन्थ भी बन गया है।

ग्रन्थकार ने वृत्तिलेखन का काल इस प्रकार प्रकट किया है—

नयनमुनिक्षितिपांके (१६७२) वर्षे नगरे च होडाख्ये ।
वृत्तिरियं संसिद्धा क्षिति भवति श्रीजहांगीरे ॥

अर्थात्—जहांगीर के राज्यकाल में सं० १६७२ में 'होडा' नगर में यह वृत्ति पूरित हुई।

२—रामाश्रम (सं० १७४१ वि० से पूर्व)

रामाश्रम ने भी सारस्वत का रूपान्तर करके उस पर **सिद्धान्त-चन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

रामचन्द्र का इतिवृत्त अज्ञात है। कुछ विद्वानों के मत में भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित का ही रामाश्रम वा रामचन्द्राश्रम नाम है। इस पर लोकेशकर ने सं० १७४१ में टीका लिखी है। अतः यह उससे पूर्वभावी है, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इसने अपनी टीका का एक संक्षेप '**लघुसिद्धान्तचन्द्रिका**' भी लिखी है।

सिद्धान्त-चन्द्रिका के टीकाकार

(१) **लोकेशकर**— लोकेशकर ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर **तत्त्व-**

दीपिका नाम्नी टीका लिखी है। यह रामकर का पौत्र और क्षेमकर का पुत्र था। ग्रन्थलेखनकाल अन्त में इस प्रकार दिया है—

चन्द्रवेदहयभूमिसंयुते वत्सरे नभसि मासे शोभने।
शुक्लपक्षदशमीतिथावियं दीपिका बुधप्रदीपिका कृता॥

अर्थात् सं० १७४१ श्रावण शुक्लपक्ष दशमी को दीपिका पूर्ण हुई।

(२) **सदानन्द**—सदानन्द ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर **सुबोधिनी** टीका लिखी है। इसने इस टीका का रचनाकाल **निधिनन्दार्वभूवर्षे** (१७९९) लिखा है।

(३) **व्युत्पत्तिसारकार**—हमारे पास सिद्धान्तचन्द्रिका के उणादि प्रकरण पर लिखे गए '**व्युत्पत्तिसार**' नामक ग्रन्थ के हस्तलेख हैं। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। इसने सम्पूर्ण सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका की वा उणादि भाग की ही, यह अज्ञात है। इस का विशेष वर्णन हमने उणादि प्रकरण में (भाग २, पृष्ठ २२० पर) किया है।

३—जिनेन्द्र वा जिनरत्न

जिनेन्द्र वा जिनरत्न ने **सिद्धान्तरत्न** टीका लिखी है। यह बहुत अर्वाचीन है।

निबन्ध-ग्रन्थ

डा० बेल्वाल्कर ने सारस्वत-प्रकरण के अन्त में निम्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का और निर्देश किया है—

१—**हर्षकीर्तिकृत तरङ्गिणी**—यह चन्द्रकीर्ति का शिष्य था। हर्षकीर्ति ने सं० १७१७ में **तरङ्गिणी** लिखी है।

२—**ज्ञानतीर्थ**—इसने कृत तद्धित और उणादि के उदाहरण दिए हैं। इसका एक हस्तलेख सं० १७०४ का मिला है।

३—**माध्व**—इसने सारस्वत के शब्दों के विषय में एक ग्रन्थ लिखा है, सम्भवत: सं० १६८० में।

डा० बेल्वाल्कर की भूल—डाक्टर बेल्वाल्कर ने इसी प्रकरण में लिखा है कि सारस्वत के उणादि परिभाषापाठ और धातुपाठ पर टीकाएं नहीं है। यह लेख चिन्त्य है। परिभाषापाठ के अतिरिक्त धातुपाठ और उणादिपाठ की टीकाओं का वर्णन हम द्वितीय भाग में यथास्थान करेंगे।

१७. वोपदेव (सं० १३२५-१३७० वि०)

वोपदेव ने **मुग्धबोध** नामक लघु तन्त्र की रचना की है।

परिचय—वोपदेव के पिता का नाम केशव था। यह अपने समय का प्रसिद्ध भिषक् था। गुरु का नाम धनेश अथवा धनेश्वर था। यह वही धनेश्वर है, जिसकी 'चिन्तामणि' नाम्नी महाभाष्य व्याख्या का उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ४०५) कर चुके हैं।

वोपदेव की जन्मभूमि आधुनिक दौलताबाद (दक्षिण) के समीप थी। उस समय देवगिरि पर यादवों का राज्य था। हेमाद्रि महादेव और राम राजा का सचिव था। वोपदेव ने हेमाद्रि सचिव के लिये भागवत का संक्षेप किया था।

मल्लिनाथ ने कुमारसम्भव की टीका में वोपदेव को उद्धृत किया है।[1] मल्लिनाथ का काल वि० सं० १४०० माना जाता है।

अन्य ग्रन्थ—वोपदेव ने कविकल्पद्रुम नाम से धातुपाठ का संग्रह किया, और उस पर 'कामधेनु' नाम्नी व्याख्या लिखी। इसका वर्णन धातुपाठ के प्रकरण में किया जायगा। इसके अतिरिक्त मुक्ताफल, हरिलीला विवरण, शतश्लोकी (वैद्यक ग्रन्थ) और हेमाद्रि नाम का धर्मशास्त्र पर निबन्ध लिखा है।

टीकाकार

वोपदेव के मुग्धबोध पर अनेक लेखकों ने व्याख्याएं लिखी हैं, उनमें से जिनका नाम विज्ञात है, अथवा जिनके ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनका निर्देश हम नीचे करते हैं—

१—नन्दकिशोर भट्ट (सं० १४५५ वि०)

नन्दकिशोर भट्ट ने गगननयनकालक्ष्मामित शकसंवत्सर (१३२०=वि० सं० १४५५) में मुग्धबोध के परिशिष्ट लिखे, और मुग्धबोध पर व्याख्या भी लिखी।

२—प्रदीपकार (सं० १५२० वि० से पूर्व)

विठ्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद (भाग २, पृष्ठ १०२) में **मुग्धबोधप्रदीप** नाम्नी किसी व्याख्या को उद्धृत किया है। यह व्याख्या नन्दकिशोर कृत है अथवा अन्यकृत, यह अज्ञात है। यदि

१. डा० बेल्वाल्कर के लेखानुसार।

अन्यकृत हो, तो इसका काल सं० १५२० से पूर्व होगा। क्योंकि विठ्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसाद टीका सं० १५२० के लगभग लिखी थी, यह हम पूर्व (पृष्ठ ५३०) लिख चुके हैं।

३—रामानन्द **४—देवीदास** **५—काशीश्वर**

६—विद्यावागीश **७—रामभद्र विद्यालङ्कार** **८—भोलानाथ**

इन टीकाकारों का उल्लेख दुर्गादास ने अपनी मुग्धबोध की टीका में किया है, ऐसा डा० बेल्वाल्कार ने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' (पैरा ८४) में लिखा है।

इन में से **रामानन्द देवीदास रामभद्र और भोलानाथ** की व्याख्याओं के हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान हैं। द्र०—सूचीपत्र हस्तलेख संख्या क्रमशः ८५२, ८५१, ८६१, ८७०। उक्त सूचीपत्र में भोलानाथ की टीका का नाम **सन्दर्भामृततोषिणी** लिखा है।

९—विद्यानिवास

विद्यानिवास कृत मुग्धबोध टीका का उल्लेख दुर्गादास ने आरम्भ में ही नामोल्लेखपूर्वक किया है। डा० बेल्वाल्कर ने इस नाम का निर्देश क्यों नहीं किया, यह अज्ञात है।

१०—दुर्गादास विद्यावागीश (सं० १६९६ वि०)

दुर्गादास विद्यावागीश की टीका प्रसिद्ध है। दुर्गादास के पिता का नाम वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य है। डा० बेल्वाल्कर ने दुर्गादास का काल ई० सन् १६३९ (वि० सं० १६९६) लिखा है।

इन के अतिरिक्त इण्डिया आफिस के सूचीपत्र में निम्न व्याख्याकारों के हस्तलेख और विद्यमान हैं—

नाम टीकाकार	काल	टीका का नाम	हस्तलेख संख्या
११—श्रीराशर्मा	"		८५३
१२—श्रीकाशीश	"		८५६
१३—गोविन्दशर्मा	"	शब्ददीपिका	८५७
१४—श्रीवल्लभ	"	"	८६१
१५—कीर्तिकेय	"	सुबोधा	८६२
१६—मधुसूदन	"	"	८६९

इनमें संख्या १२ का श्रीकाशीश पूर्वनिर्दिष्ट काशीश्वर (संख्या ५) से भिन्न व्यक्ति है, अथवा अभिन्न यह अज्ञात है।

रूपान्तरकार

इन व्याख्याकारों ने मुग्धबोध के यथावस्थित पाठ पर ही व्याख्या की, अथवा उसमें कुछ रूपान्तर भी किया यह अज्ञात है।

डा० बेल्वाल्कर ने अपने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' में लिखा है—

'इसने (रामतर्क वागीश ने) कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक मुग्धबोध में परिवृद्धि और परित्याग किया।' पैराग्राफ ८४।

परिशिष्टकार

डाक्टर बेल्वाल्कर के मतानुसार विभिन्न लेखकों ने मुग्धबोध के परिशिष्ट लिखे—

१—नन्दकिशोर **२—काशीश्वर** **३—रामतर्कवागीश**

इनमें से रामतर्कवागीश ने उणादि की **वर्णानुक्रम** सूची बनाई। इनके अतिरिक्त—

४—**रामचन्द्र तर्कवागीश** ने परिभाषापाठ की वृत्ति लिखी। इसका काल वि० सं० १७४५ (शक सं० १६१०) है।

१८. पद्मनाभदत्त (सं० १४०० वि०)

पद्मनाभदत्त ने **सुपद्म** नामक एक संक्षिप्त व्याकरण लिखा था। **इस** की उणादिवृत्ति में **सुपद्मनाभ नाम** मिलता है।[1]

पद्मनाभ के पिता का नाम दामोदरदत्त और पितामह का नाम श्रीदत्त था।

काल—पद्मनाभ ने पृषोदरादि-वृत्ति शक सं० १२९२ (वि० सं० १४२७) में लिखी है।[2]

अन्य ग्रन्थ

पद्मनाभदत्त ने स्वीय परिभाषावृत्ति में जिन स्वविरचित ग्रन्थों का उल्लेख किया है,[3] वे निम्न हैं—

---

१. सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं, विधिः समग्रः सुगमं समस्यते। इण्डिया आफिस पुस्तकालय लन्दन का सूचीपत्र, ग्रन्थांक ८९१। द्र०—सं० व्या० इतिहास भाग २, पृष्ठ २२१। २. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पैराग्राफ ९१।

३. द्र०—इसी (सं० व्या० इति०) ग्रन्थ के भाग २, पृष्ठ २७१ में उद्धृत श्लोक।

१—सुपद्मपञ्जिका	७—आनन्दलहरी टीका (माघ पर)
२—प्रयोगदीपिका	८—छन्दोरत्न
३—उणादिवृत्ति	९—आचारचन्द्रिका
४—धातुकौमुदी	१०—भूरिप्रयोग कोश
५—यङ्लुग्वृत्ति	११—परिभाषावृत्ति
६—गोपालचरित	

इनमें व्याकरण-ग्रन्थों का वर्णन यथास्थान किया जायगा।

सुपद्म के टीकाकार

१—**पद्मनाभदत्त**—पद्मनाभ ने अपने व्याकरण पर स्वय **पञ्जिका** नाम्नी टीका लिखी है।

२—विष्णुमिश्र	४—श्रीधर चक्रवर्ती
३—रामचन्द्र	५—काशीश्वर

इन विद्वानों ने भी सुपद्म पर टीकाएं लिखी हैं। इन में विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द टीका सर्वश्रेष्ठ है।

इस व्याकरण का प्रचार बंगाल के कुछ जिलों तक ही सीमित है।

अन्य व्याकरणकार

पाणिनि से अर्वाचीन उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने व्याकरणों की रचना की है। उनमें से निम्न वैयाकरणों के व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध हैं—

१—शुभचन्द्र	चिन्तामणि[1] व्याकरण	९—……………	चैतन्यामृत व्याकरण	
२—भरतसेन	द्रुतबोध ,,	१०—बालराम पञ्चानन	प्रबोधप्रकाश	,,
३—रामकिंकर	आशुबोध ,,	११—विज्जलभूपति	प्रबोधचद्रिका	,,
४—रामेश्वर	शुद्धाशुबोध ,,	१२—विनयसुन्दर	भोज	,,
५—शिवप्रसाद	शीघ्रबोध ,,	१३—विनायक	भावसिंहप्रक्रिया	,,
६—काशीश्वर	ज्ञानामृत ,,	१४—चिद्रूपाश्रम	दीप	,,
७—रूपगोस्वामी	हरिनामामृत ,,	१५—नारायण सुरनन्द	कारिकावली	,,
८—जीवगोस्वामी	हरिनामामृत ,,	१६—नरहरि	बालबोध	,,

ये ग्रन्थ नाममात्र के व्याकरण हैं, और इनका प्रचार भी नहीं है। इसलिये हमने इनका वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया।

---

१. इसका उल्लेख शुभचन्द्र ने पाण्डवपुराण के अन्त में किया है। द्र०—जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह, पृष्ठ ५०, श्लोक १७९।

हमने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' के इस प्रथम भाग में पाणिनि से प्राचीन २६ और अर्वाचीन १८ व्याकरणकार आचार्यों तथा उनके शब्दानुशासनों पर विविध व्याख्याएं रचनेवाले लगभग २६० वैयाकरणों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसके दूसरे भाग[२] में व्याकरणशास्त्र के खिलपाठ (अर्थात् धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, लिङ्गानुशासन), फिट्-सूत्र और प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता तथा व्याख्याताओं का वर्णन होगा। ग्रन्थ के अन्त में व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थों और व्याकरणप्रधान काव्यों के रचयिताओं का भी उल्लेख किया जायगा।

इत्यजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत **विरञ्च्यावासाभिजनेन**
श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोर् आत्मजेन
पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ-महावैयाकरणानां
श्रीब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना
भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन

विरचिते
संस्कृत-व्याकरणशास्त्रेतिहासे
प्रथमो भागः
पूर्तिमगात्।

शुभं भवतु लेखकपाठकयोः।

लेखक-काल	पुनः शोधन-काल	पुनः परिवर्धन-काल
सं० २००३,[१]	सं० २००६[२]	सं० २०१६[३]

पुनः परिष्कार वा परिवर्धनकाल
वि० सं० २०२९[४]

---

२. यह भाग भी प्रकाशित हो चुका है।

१. इसके अनुसार संवत् २००३ के अन्त में लाहौर में ग्रन्थ का छपना आरम्भ हुआ था। १५२ पृष्ठ तक छप पाया था कि देश-विभाजन के कारण छपा हुआ ग्रन्थ वहीं नष्ट हो गया। २. यह संवत् २००७ में प्रकाशित हुआ। ३. सं० २०२० में प्रकाशित हुआ। ४. सं० २०३० में प्रकाशित हुआ।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के
शुद्ध सुन्दर प्रामाणिक प्रकाशन

१. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)**—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेदविषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ जिल्द (**अप्राप्य**)। **द्वितीय भाग–पूर्ववत्**। मूल्य १६–००

२. **ऋग्वेद-भाष्य**-ऋषि दयानन्द कृत (संस्कृत-हिन्दी) हस्तलेखों तथा विविध प्रमाणों से युक्त, पूर्वमुद्रणों में हुई अशुद्धियों को दूर करके विविध टिप्पणियों के सहित शुद्ध संस्करण छापा गया है। **प्रथम भाग** मूल्य २५–००

दूसरा भाग–छप रहा है।

३. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती। पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित, मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मूल्य १२–००

भूमिका पर किये गए आक्षेपों के उत्तर के लिये **परिशिष्ट**। मू १–५०

४. **माध्यन्दिनपदपाठः**—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें यजुर्वेद के मूल प्राचीन पदपाठ का अति शुद्ध पाठ दिया है। प्रारम्भ में ५२ पृष्ठों में पदपाठसम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन, तथा ४ परिशिष्टों में पदपाठ मन्त्रपाठ सम्बन्धी कुछ विशिष्ट विषयों पर विचार किया गया है। सुन्दर टाइप, पक्की जिल्द। मूल्य १५–००

५. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक-स्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मूल्य ५–००

६. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें ऋग्वेद की ऋचाओं की शुद्ध संख्या दर्शाई है। और अनेक विद्वानों द्वारा दर्शाई अशुद्ध ऋक्संख्या की आलोचना की गई है। मूल्य १–१०

७. **वेद-संज्ञा-मीमांसा**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ०–७५

८. देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०–७५

९. वेद और निरुक्त—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०–७५

१०. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०–७५

११. त्वाष्ट्री-सरण्यू आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ले० पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य। मूल्य ०–७५

१२. वेद में आर्य दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन—ले० पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्य। मूल्य ०–७५

१३. संस्कारविधि—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत; अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों से युक्त। मूल्य २–००, सजिल्द २–५०

१४. संस्कार-समुच्चय—लेखक पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या, तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह। सजिल्द मूल्य १२–००

१५. वैदिक नित्यकर्म विधि—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रातः से शयनपर्यन्त समस्त नैत्यिक कर्म, पञ्चमहायज्ञ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, और बृहद्यज्ञ के मन्त्रों के विस्तृत सरल शब्दार्थ भावार्थ सहित। प्रार्थना के मन्त्र, पद्य एवं भजनों से युक्त। मूल्य लागतमात्र १–५०

१६. पंचमहायज्ञविधि—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती। मूल्य ०–३५

१७. शिक्षा-सूत्राणि—आपिशल पाणिनीय चान्द्र शिक्षाओं का संग्रह। मूल्य १–५०

१८. निरुक्त-शास्त्र—पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दी-भाष्य सहित। मूल्य २०–००

१९. निरुक्तसमुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य ५–००

२०. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा परिशोधित संस्करण। मूल्य १—००, साधारण जिल्द १–१५

विशिष्ट संस्करण–विविध पाठ भेद, फिट् सूत्र, उणादिसूत्र, परिभाषा तथा सब ग्रन्थों की सूत्रसूची सहित। मूल्य ३–००।

२१. **धातुपाठः**—अकारादि क्रम से धातुसूची सहित। मूल्य १–००

२२. **संस्कृत-धातुकोषः**—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थ सहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ तथा उपसर्ग योग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ सहित। मूल्य ३–००

२३. **अष्टाध्यायी-भाष्य** (प्रथमावृत्ति)—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति समास अनुवृति, वृत्ति उदाहरण, उदाहरण-सिद्धि सहित, संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में। **मूल्य क्रमशः प्रथम भाग—१५–००, द्वितीय भाग—१२–५०, तृतीय भाग—१२–५०।**

२४. **महाभाष्य**—महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत। पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दी अनुवाद और व्याख्या सहित। भाग २ (अ० १, पाद २-४ तक)। मूल्य २०–००। तीसरा भाग छप रहा है।

२५. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**—चन्नवीर कविकृत कन्नड़ टीका का पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-रूपान्तर। मूल्य ६–२५

२६. **संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा बिना रटे संस्कृतभाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। **प्रथम भाग** मूल्य ४–००

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मूल्य ५–५०

२७. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। नवीन संस्करण, तीन भागों में। मूल्य ६० –००

२८. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—ले० डा० कपिलदेव। मूल्य १०–००

२९. **लिट् और लुङ् लकार की रूपबोधक सरल विधि**—ले० राजा गोविन्दलाल बंसीलाल। मूल्य १–५०

३०. **शब्दरूपावली**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप बिना रटे समझ पूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। मूल्य ०–७५

३१. **संस्कृतवाक्यप्रबोध**—स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत। इस पर पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा किये गये आक्षेपों के उत्तर सहित। मूल्य १–२५

३२. सत्यार्थ-प्रकाशः—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वनी । द्वितीय संस्करण पर आधृत, अन्य प्रकाशकों द्वारा मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित, २५०० टिप्पणियों एवं ११ परिशिष्टों से युक्त शुद्ध मुद्रण। १८ × २३ अठपेजी आकार के ११०० पृष्ठों में सुन्दर सजिल्द संस्करण। मूल्य १२-०० । **साधारण संस्करण** (बिना परिशिष्टों के) २० × ३० सोलह पेजी आकार में। मूल्य ५-००, सजिल्द ६-०० ।

३३. अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगदण्डी—ले० पं० जगन्नाथ पथिक। नाम के अनुरूप योगविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ। मूल्य १०-००

३४. आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्द। दुरंगी छपाई, गुटका आकार। सजिल्द मूल्य १-००। **अंग्रेजी अनुवाद**—मूल्य ३-००; सजिल्द ४-०० ।

३५. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—लेखक पं० सत्यदेव वासिष्ठ। **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र की आध्यात्मिक व्याख्या** संस्कृत तथा हिन्दी में चार भागों में। प्रत्येक भाग का मूल्य १२-५०

३६. वाल्मीकि-रामायण—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द झरिया। बालकाण्ड मूल्य ३-०० । अयोध्याकाण्ड मूल्य ५-००। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मूल्य ६-००। सुन्दर काण्ड मूल्य ३-५०। युद्धकाण्ड मूल्य १०-५० ।

३७. विदुरनीति—युधिष्ठिर मीमांसक कृत पदार्थ तथा विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित मूल्य ४-५०

३८. सत्याग्रहनीतिकाव्य—ले० पं० सत्यदेव वासिष्ठ। मूल्य ५-००

३९. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित्र। मूल्य ०-५०

[बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवावें]

प्रबन्धकः—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)